गोस्वामिश्रीमत्प्रभुचरणप्रादुर्भावितानि

* श्रीमद्वल्लभमहाप्रभुस्तोत्राणि *

सौन्दर्यपद्यम्

श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम्

श्रीवल्लभाष्टकस्तोत्रम्

स्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम्



प्रकाशक :

श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविठ्ठलेशप्रभुचरण आ.हो.ट्रस्ट.
वैभव कॉपरेटिव सोसायटी, पूणे-बेंगलोर हाइवे.
कोल्हापुर. ४०० ०१६.

प्रकाशनवर्ष :

वि.सं.२०६२.

सम्पादक :

गोस्वामी श्याममनोहर.

निःशुल्कवितरणार्थ.

प्रति : १०००

मुद्रक :शैलेष प्रिन्टर्स्

१४, वायू.ए.चुनावाला इंडस्ट्रिअल एस्टेट्,
कोंडिविटा रोड़, जे.बी.नगर,
अंधेरी (पूर्व), मुंबइ :४०० ०५९.

॥श्रीकृष्णाय नमः॥
॥श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः॥

प्राक्कथन

नौमि श्रीवल्लभमहं तत्त्वतस्त्रितयात्मकम्।
नामतोऽष्टाधिकशतस्वरूपं रूपतोऽष्टधा॥
गुणतः सप्तधा चैवं स्वात्मजस्तुतमेव तम्।
पुष्टिभक्त्यब्जमार्त्तण्डं कृष्णानुग्रहविग्रहम्॥
स्तावकावात्मजौ सर्वान् व्याख्याकारांश्च भूरिशः।
कृपयाधिगतास्माभिः येषां स्तोत्रचतुष्टयी॥
बुद्धिप्रेरककृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु।
ध्यानासमर्थजीवानाम् अस्माकं सर्वदा स्वतः॥

(१)उपक्रम :

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणकी तत्त्वतः नामतः रूपतः और गुणतः यों चतुर्विध स्तुतियां विविध व्याख्याओंके साथ यहां एककलेवरमें प्रकाशित होने जा रही हैं. यह वस्तुतः चिरकालसे अन्तःकरणमें दौड़ रहे मनोरथकी केवल भगवत्कृपावश ही होने जा रही सम्पूर्ति है!

इनमें प्रथम स्तोत्र एकपद्यात्मक है. यह महाप्रभुके ज्येष्ठात्मज गोस्वामी श्रीगोपीनाथ प्रभुचरणकी कृति है अथवा द्वितीयात्मज गोस्वामी श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरणकी इसे कह पाना कठिन बात है. क्योंकि प्रस्तुत एकपद्यात्मक स्तुतिके एक व्याख्याकार श्रीगोकुलोत्सवजी (वल्लभवंशवृक्ष : तृतीय/२-सुरत, जन्म वि.सं.१८१६) इसके बारेमें "श्रीमत्प्रभुचरणाः स्वीयानां श्रीमदाचार्यस्वरूपध्यानम् उपदिशन्तः" केवल इतना ही विधान करते हैं. अब सम्प्रदायमें 'प्रभुचरण' पदका प्रयोग प्रायः लघुभ्राता श्रीविठ्ठलनाथजीके बारेमें अधिक प्रचलित है. जबकि दूसरे श्रीयोगी गोपेश्वरजी इसे गो.श्रीविठ्ठलनाथ

प्रभुचरणकृत मानते हैं. फिरभी आनुमानिक निर्णयार्थ अग्रसर होनेपर कुछ तथ्य उल्लेखनीय हो जाते हैं : सर्वप्रथम तो यह कि इस एकपद्यात्मक स्तुतिके उपसंहारमें कर्ताके उल्लेखवाली कोई 'इतिश्री' उपलब्ध नहीं होती अतः श्लोककर्तानें स्वयं एकश्लोकमात्रतया लिखा नहीं होना चाहिये और दूसरे इन्हीं श्रीगोकुलोत्सवजीकी ही एक अन्य कृति 'श्रीवल्लभ(त्रयस्त्रिंशदुत्तरत्रिशत)नामावली'में श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरणविरचित अनेक ग्रन्थोंके नाम जो उपलब्ध होते हैं उनमें 'सौन्दर्य'पद्यका नाम उपलब्ध नहीं होता है. अतः इस पद्यकी व्याख्यामें जो इसे प्रभुचरणविरचित माना गया है, उसके इस तथ्यको जोड़ कर देखनेपर इसे ज्येष्ठभ्राताकी कृति मानना अधिक सम्भावित लगता है.

एक अन्य साक्ष्य भी इस बारेमें उपलब्ध होता है. सुसंशोधित पुष्टिमार्गीय साहित्यप्रकाशनके पथप्रदर्शक श्रीमूलचन्द्र तेलीवालाने वेदान्तभट्टाचार्य श्रीमान् गोवर्धनलाल भट्ट(गट्टुलालाजी)के ग्रन्थागारमें संगृहीत हस्तलिखित प्रतिके आधारपर वि.सं.१९७२में 'पुष्टिभक्तिसुधा' नामिका मासिकपत्रिकाके अङ्क ७-८में "श्रीमद्गोपीनाथानां पद्यानि" शीर्षकके साथ कुछ पद्य प्रकाशित किये थे. उनमें भी यह 'सौन्दर्य...' पद्य वहां पांचवें श्लोकतया संकलित दृष्टिगोचर होता है. अतः इसे श्रीगोपीनाथ प्रभुचरणकी कृति मानना ही उचित लगता है. अब यह यदि सत्य हो तो सम्प्रदायमें एक प्रचलित मूढ़ाग्रह कि अपने पितृचरण महाप्रभुकी तरह श्रीगोपीनाथजी शास्त्रीय मर्यादाओंके अनुरूप पुष्टिभक्तिका स्वरूप 'साधनदीपिका'में प्रतिपादित करना चाहते थे परन्तु श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरणने श्रीदामोदरदास आदि वैष्णवोंके तथा श्रीचैतन्य महाप्रभुके प्रभाववश ही शास्त्रमर्यादातीत भावभावनाओंको वल्लभसम्प्रदायमें बढ़ावा दिया, यह धारणा ध्वस्त हो जाती है! क्योंकि प्रस्तुत 'सौन्दर्य...' पद्य श्रीमदाचार्यचरणकी पुष्टिमार्गीय तात्त्विक स्वरूपभावनाके हेतु ही उपदिष्ट स्तुति है.

अवशिष्ट तीनों स्तोत्र महाप्रभुके द्वितीयात्मज गोस्वामी श्रीविठ्ठलनाथ

प्रभुचरणकी कृतिके रूपमें निर्विवादरूपेण मान्य हैं. महाप्रभु और उनके आत्मज में एकवद्भाव प्रतिपादित करनेको लिखी गयी पूर्वोक्त नामावलीमें भी इन स्तोत्रोंका उल्लेख इंगित हुवा है. जैसा कि गोस्वामी श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरणके नामोंमें एक **"स्व[१] रूप[२] गुण[३] नामोक्ति-स्वीयसौभाग्यवर्धनः"** (श्रीवल्ल.नामा.२३०) नाम दिया गया है. इसमें रूपनिरूपण द्वारा श्रीवल्लभाष्टक, गुणनिरूपण द्वारा स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत; तथा नामनिरूपण द्वारा सवोत्तमस्तोत्र अभिप्रेत हैं. यद्यपि यह अधुनाप्रचलित नाम-रूप-गुण क्रमसे विपरीत है. क्योंकि अधुनाप्रचलित क्रमके अनुसार तो सर्वोत्तमस्तोत्र प्रथम श्रीवल्लभाष्टकस्तोत्र द्वितीय तथा तथा स्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्र तृतीय क्रममें उपलब्ध होते हैं. और अतएव हमने भी इन्हें इसी प्रचलित क्रमके अनुसार संयोजित किये हैं.

(२)प्रस्तुत स्तोत्रचतुष्टयीका महत्त्व :

वैसे ये चारों ही स्तोत्र निचाचार्यके तत्त्व नाम रूप और गुण के केवल स्तुत्यर्थ या कीर्तनार्थ न हो कर महाप्रभुके धर्म और दर्शन सम्बन्धी भी अनेक दुरूह सिद्धान्तोंको इतरत्र दुर्लभ ऐसी विलक्षण रीतिसे प्रकाशित करते हैं.

जैसे कि कहा जाता है **"आदौ ज्ञानाप्तये पश्चात् कृतघ्नत्वनिवृत्तये त्रयश्चैते सदा वन्द्याः (/ध्येयाः) वेदान्तो गुरुः ईश्वरः"** , तदनुसार यदि 'सौन्दर्यपद्य'को पुष्टिमार्गीय आचार्यध्यानार्थ 'ॐ'कारोपम मान कर चलें तो अवशिष्ट सर्वोत्तमादि स्तोत्रत्रयी पुष्टिमार्गीय गायत्रीकी तीन 'भूः भुवः स्वः' रूप व्याहृतियोंके जैसी स्तुतियां हैं. अर्थात् सकल नाम-रूप-कर्मके एकमात्र आधारोपादानभूत ब्रह्मतत्त्वके समष्टिरूपका वाचक यदि यह 'ॐ'काररूप एकाक्षर हो तो; उसी ब्रह्मतत्त्वके व्यष्टिकार्यभूत रूपोंके नामाभिधानार्थ तीन व्याहृतियां होती है. अतएव "ॐ भूर्भुवस्स्वः" जब तक बोले न जायें, तब तक गायत्रीके घटक **"तत्सवितुः वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्"** मन्त्रगत 'तत्'पदसे परामृश्य

पूर्वोपात्त किसी भी पदार्थका भान नहीं हो पाता. इसी तरह स्वयं 'सविता' पद भी अपने रूढ़ार्थमें लोकात्मक सूर्यका वाचक है या यौगिकार्थमें सकलसृष्टिके उत्पत्तिस्थितिलयसमवायी प्रसविता परब्रह्मका वाचक, इसका भी सन्देहरहित भान नहीं हो पाता. ब्रह्मसूत्रके ज्योतिश्चरणाधिकरणमें, अतएव, भाष्यकार कहते हैं **"जैसे वस्त्रके भीतर सुईके कारण सूत भी प्रविष्ट हो पाता है, वैसे ही गायत्रीद्वारा बुद्धि गायत्रीके प्रतिपाद्य तत्त्व ब्रह्मके भीतर प्रविष्ट हो पाती है"** (ब्र.सू.भा.१।१।२४). स्वभावतः ऐसी स्थितिमें बुद्धिप्रेरकतया वरणीय और ध्यातव्य देवताके स्वरूपका निर्णय भी तभी सम्भव हो पाता है जब गायत्र्यन्तर्गत 'तत्'पदद्वारा किस पूर्वोपात्त अर्थका परामर्श हो रहा है, इसका भलीभांति ज्ञान हमें हो पाये. वह स्पष्ट न होनेपर तो मन्त्रप्रतिपाद्य अर्थका भी सन्देहग्रस्त हो जाना स्वाभाविक ही है. इसी तरह महाप्रभुके भक्त्याचारोपदेशार्थ ग्रन्थोंमें मिलते नाना वाक्य भी — कि कैसे पुष्टिजीवकी, कैसे पुष्टिप्रभुमें, कैसी पुष्टिभक्तिरूपा हृदयकी भावना और कर्तव्यबुद्धि होनी चाहिये — पुष्टिभक्तिमयी बुद्धिके प्रेरक गायत्रीरूप होनेसे एक सूचीकी तरह सहायक बोधहेतु बनते हैं. अन्यथा वह दुर्बोध्य तत्त्व भलीभांति बुद्धिगत नहीं हो पाता. अतः तदनुकूल चित्तशुद्धिके हेतु आचार्यस्तोत्रचतुष्टयीको साम्प्रदायिक नित्यस्वाध्याय या जप-पाठ के ग्रन्थोंसे पहले ॐकार + व्याहृतितया प्रारम्भमें संयोजित करनेकी रीति रही है. अतएव जप-पाठका आरम्भ भी इन्हीं स्तोत्रोंसे करनेकी रीति है.

(३) महाप्रभुके उपदेशसे विपरीत भावना रखना इनका दुरुपयोगरूप है :

इन ग्रन्थोंकी ऐसी असाधारण महत्ताकी बात करनेपर सम्प्रति एक महती भीति जो मुझे सताती है, वह यह कि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यद्वारा प्रवर्तित पुष्टिभक्तिमार्गके प्रति निगूढ़ द्वेष रखनेवाले अधुनाप्रचलित वल्लभपन्थके लोग ऐसे विधानोंका कहीं दुरुपयोग न करने लगें! इन छद्मद्वेषी जनोंको, श्रुत्यादिशास्त्राभिप्रेत ब्रह्मवादाश्रित परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णकी

पुष्टिभक्तिका जो कुछ उपदेश महाप्रभुने दिया वह सुहाता नहीं है. अतः उसे छिन्न-भिन्न करनेको केवल महाप्रभुके स्वरूपकी भौंडी भक्तिका भाव प्रचारित करके ये लोगोंको बरगलाते रहते हैं! अर्थात् स्वयं महाप्रभुको ही हत्था बना कर महाप्रभूपदिष्ट श्रीकृष्णभक्तिके विरोधमें स्वयं उनका ही प्रयोग करने लगते हैं! महाप्रभूपदिष्ट भगवत्सेवा आदि सभी कुछका त्याग कर केवल सर्वोत्तमस्तोत्रके पाठकी महत्ता दिखाने लगते हैं. यों लोकछलना करते हैं! अतः सर्वोत्तमस्तोत्रमें उपदिष्ट "*श्रीकृष्णास्यः, अङ्गीकृत्यैव गोपीशवल्लभीकृतमानवः, श्रीकृष्णज्ञानदो, गुरुः*" जैसे महाप्रभुके स्वरूपके प्रति इनका भक्तिभाव प्रकट होनेके बजाय "*प्राकृतानुकृतिव्याज-मोहितासुरमानुषः*" जैसे महाप्रभुके रूपसे ही प्रेरित इनका भक्तिभाव उच्छृंखल प्रवाहित होता दृष्टिगत होता है!

अतः इनके छलप्रपंचमें न फंस जानेकी पूरी सावधानी बरतनेकी चौकसीके रखनेके अनुरोधके साथ कहना चाहूंगा कि श्रुत्यादि सकल शास्त्रोंकी जैसी एकवाक्यता जिस असाधारणरूपमें महाप्रभुने प्रकट की है, तदनुसार उनके उपदेशके निगूढ़ अभिप्रायोंको बुद्धिगम्य बनना हो तो, इस स्तोत्रचतुष्टयीका नित्यपाठ अतीव प्रेरकबल सिद्ध होता है. इसमें किसी तरहकी शंकाको अवकाश नहीं है. अस्तु.

(४) 'सौन्दर्य...'पद्यमें प्रतिपाद्य औपनिषदिक रहस्य है :

उपनिषदोंके अनुसार ब्रह्मको सच्चिदानन्द स्वरूप माना गया है. वहां यह प्रतिपादन भी मिलता है कि सर्वविध बाह्यानुभूतिके अपरिहार्य घटक एवं उनमें गोचर **"नाम रूप और कर्म होते हैं... ब्रह्म ही इन सारे नामोंका... रूपोंका... कर्मोंका भरण करता है. अतः इनके तीन होनेपर भी यह आत्मा तो एक ही रहता है. इसी तरह यह आत्मा एक होनेपर भी इन तीनों रूपोंमें प्रकट होता है."** (बृह.उप.१।६।३) एतावता सिद्ध होता है कि अनन्तविध नाम-रूप-कर्मोंके द्वैत ब्रह्माद्वैतमें एकवद्भावापन्न हो कर रहते हैं और इसी तरह ब्रह्मकी एकमेवाद्वितीयता

ही नाम-रूप-कर्मोंके अनन्तविध द्वैतोंमें अपने-आपको प्रकट करती है. मूलमें ये सारे नाम-रूप-कर्म सच्चिदानन्द ब्रह्मके लीलाविलासमें आत्मानन्दके उपभोगार्थ प्रकट हुवे होनेसे स्वयं आत्मना-विभक्त ब्रह्मको भोग्य-भोक्तृभावापन्नतया प्रकट करते हैं :

"उसे एकाकितया रमण करना न सुहाया... अतएव उसके भीतर अपनेसे भिन्न दूसरेकी अभिलाषा प्रकट हुई... उसने अपने-आपको दो तरह विभाजित कर लिया. अतः पति भी और पत्नी भी वह स्वयं ही बन गया... यह दिखलायी देता सभी कुछ पहले अव्याकृत था. अतः उसने ही स्वयंको अनेक नामों और रूपों में व्याकृत किया. 'तत्तत्-नाम' और 'तत्तद्-रूप' को धारण कर वही यहां वस्तुमात्रमें प्रविष्ट हुवा है" (बृह.उप.१।४।२-७).

अतः आनन्दात्मक नाम-रूप-कर्मोंवाली परमानन्दात्मिका लीलामें आनन्दरूप ब्रह्मद्वारा निजानन्दात्मक भोग ही यह सृष्टि है.

सृष्टिके अन्तर्गत नाम-रूप-कर्मात्मक भोग्यरूप जड़जगत् उस सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदंशमें प्रकट हुवा माना गया है. भोक्तृरूप जीवजगत् ब्रह्मके चिदंशमें प्रकट हुवा माना गया है. इसी तरह सर्वान्तरात्मा सर्वसाक्षिरूप परमात्माके समष्टिरूप और अनेकानेक व्यष्टिरूप ब्रह्मके आनन्दांशमें प्रकट हुवे महाप्रभुद्वारा माने गये हैं :

"वह अनन्तमूर्ति ब्रह्म स्वयं अविभक्त होनेपर भी सर्वभवनसामर्थ्य और सत्यसंकल्प द्वारा विभक्त हो जाता है. अतएव 'बहु स्यां प्रजायेय' श्रुतिवचनमें उसकी इच्छा ही कारणतया उपदिष्ट हुयी है. सृष्टिके आरम्भमें केवल उसकी इच्छामात्रसे उस ब्रह्मके भीतर स्वयंकी अंशभूत

आकाररहित चेतना व्युच्चरित होती हैं. जैसे अग्निमेंसे तिनके व्युच्चरित होते हैं. इसी तरह सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदंशमें से सारे जड़ पदार्थ, चिदंशमें से जीव पदार्थ; और, आनन्दांशमें से निजसृष्टिके भीतर निहित अन्तरात्मा अन्तर्यामी रूप प्रकट होते है. यों जड़ पदार्थमें चिदंश और आनन्दांश तिरोहित रहते हैं. जीव पदार्थमें आनन्दांश तिरोहित रहता है. अन्तरात्मा रूपी पदार्थमें तत्तत् आत्मसृष्ट रूपोंकी नियामकता प्रकट होती है. अतएव आकारसमर्पक आनन्दांशके अन्तर्लीन होने जानेके कारण सदंश और चिदंश में प्रकटी जड़-जीवात्मिका सृष्टि निराकार बन जाती हैं. इसी हेतुके वश इनमें अनुभूत होता आकार या तो कृत्रिम या औपाधिक ही होता है. यों जड़ जीव अन्तरात्मा के त्रिविध रूपोंमें सृष्टिव्यवहार प्रकट होता है" (त.दी.नि.१।२६-३०)

वैसे व्यापिवैकुण्ठमें नित्यलीलाविहारी आत्मरमणशील श्रीकृष्णके सच्चिदानन्दैकरस स्वरूपमें सदंशके प्राधान्यवश साक्षिभाव, आनन्दांशके प्राधान्यवश भोग्यभाव और चिदंशके प्राधान्यवश भोक्तृभाव स्वीकारना, वाल्लभ सिद्धान्तकी साधारण चौखटमें अधिक फिट बैठनेवाली बात लगती है. क्योंकि महाप्रभु इन नाम-रूप-क्रीड़ाओंका त्रैविध्य स्वीकारते हैं "नमो भगवते तस्मै कृष्णाय अद्भुतकर्मणे रूप-नामविभेदेन [१]यः क्रीडति [२]यो जगद् भूत्वा क्रीडति [३]यतो जगत् क्रीडति" (द्रष्ट. : त.दी.नि.१-।१). इसकी विस्तृत विवेचना बादमें हम करेंगे.

अस्तु. सृष्टिमें प्रकट होनेवाले सारे नाम-रूप-कर्मोंके बारेमें, हमें किन्तु, ऐसी आनन्दकी या क्रीड़ाकी अनुभूति होती नहीं है. यह स्वयं हमारी स्वाभाविक अन्तर्निगूढ़ आनन्दात्मकतापर आनन्दरूप भगवान्‌की व्यामोहात्मिका अविद्याके चढ़े आवरणकी प्रबलताके कारण प्रकट हुवा

प्रभाव है. अतएव जीवात्माकी चेतनामें भी आनन्दांश तिरोहित रहता है; अर्थात्, न तो सर्वात्मना अनुभूत होता है और न सर्वात्मना अपनी अर्थक्रियाकारिता ही प्रकट करता है. अतएव उस जीवात्मचेतनामें अनुभूत होते जड़ नाम-रूप-कर्मोंमें चेतनाकी अनुभूति न होना भी उनमें चिदंशका तिरोभाव है. फलतः जीवचेतनामें जड़ पदार्थोंके नाम-रूप-कर्म भोग्यतया भासित होते हैं.

जीवचेतना, परन्तु, आखिर किस विवशताके कारण आत्मचेतनामें सन्तुष्ट न रह कर विषयानुभूति या विषयोपभोग केलिये भोक्त्री होनेका रूप धारण करती है? उपनिषद् इस प्रश्नका समाधान यों देते हैं :

"व्यक्त और क्षयिष्णु भोग्यरूप जड़ तत्त्व तथा अव्यक्त और अविनाशी भोक्तृरूप चेतन तत्त्व, यों उभयविध विश्वका भरण तो एकाकितया परमेश्वर ही करता है. अतएव अपने भोक्तृभावके कारण बंधनमें फंस जानेवाली अविनाशी जीवचेतना जब उस देवको जान या समझ पाती है तभी बंधनमुक्त हो पाती है. यों ज्ञानरहित और ज्ञानसहित जो दो अज हैं, उनके साथ भोग्य-भोक्तृभावापादिका अजा जुड़ी रहती है. वस्तुतः तो विश्वरूप अनन्त आत्मा अपनेसे अन्य किसी तत्त्वका कर्ता न होनेके कारण अकर्ता माना जाता है. यों इन तीनोंको जान लेनेपर सम्पूर्णतया ब्रह्मका स्वरूप समझमें आ जाता है. इनमें जो क्षयिष्णु है, उसे जड़ प्रकृति या प्रधान समझना चाहिये. जो अविनाशी है उसे अमृतरूपा चेतना समझनी चाहिये. इन क्षर और अक्षर दोनोंसे परे उनपर एकाकितया प्रशासन करनेवाला स्वयं परमेश्वर होता है. उस देवके अभिध्यान करनेपर, उस देवके साथ योजित होनेपर; तथा, तत्त्वतः तद्रूप होनेके कारण भी पुनः विश्वमाया निवृत्ति हो जाती

है. अतः भोग्य भोक्ता और प्रेरक-साक्षी इन तीनोंको नित्य ही आत्मसंस्थ जानना चाहिये. इनसे अधिक जानने लायक और कुछ होता नहीं है. इन त्रिविध तत्त्वोंको जान लेनेपर सम्पूर्ण ब्रह्मकी समझ मिल जाती है. दूधमें जैसे घी छिपा रहता है, ऐसे ही सर्वव्यापी परमात्मा सर्वत्र विद्यमान रहता है. यह उस आत्मविद्यातपोमूल ब्रह्मका रहस्य है" (श्वेता.उप.१।६-१६).

इस श्रुतिमें सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदंशमें से आधिभौतिक जड़तत्त्व, चिदंशमेंसे आध्यात्मिक जीवतत्त्व और आनन्दांशमें से प्रेरक-साक्षी आधिदैविक अन्तर्यामितत्त्व के प्रकट होनेकी संगति तो सहज ही सोची जा सकती है. साथ ही साथ, किन्तु, इन आधिभौतिक आध्यात्मिक और आधिदैविक रूपोंके स्तरपर भी क्या भोग्य-भोक्तृ-प्रेरकसाक्षित्वरूप त्रैविध्य होता है या नहीं?

(५)भोग्य भोक्ता और साक्षी के आधिभौतिक आध्यात्मिक और आधिदैविक तीनों प्रकार सम्भव :

इस बारेमें यहां यद्यपि कोई खुलासा मिलता नहीं है जबकि भगवद्गीताके अनेक वचनोंमें न केवल चिदंशभूत जीवात्माओंका अपितु सदंशभूत जड़ इन्द्रियादि करणग्रामोंका तथा आनन्दरूप स्वयं भगवान्का भी भोक्तृ-भोग्यभाव प्रतिपादित हुवा है :

क."इन्द्रियोंका अपने रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दादिरूप अर्थोंमें रागद्वेषात्मक भोक्तृभाव व्यवस्थानुगत रहता है".

ख."बाह्य विषयस्पर्शोंमें जो आसक्तिरहित हो पाता है, वह स्वयं निजात्माके भीतर ब्रह्मयोगमें युक्तात्मा बन पानेके कारण अक्षय सुखका उपभोग करता है".

ग."अपने मनको बाहरी विषयोंमें भटकनेसे रोक कर

जो उन्हें अपने वशमें ला पाता है वह... ब्रह्मके अत्यन्त सुखरूप स्पर्शका उपभोग कर पाता है''.

घ.''मैं सभी यज्ञोंका भोक्ता हूं... मुझे पहचान न पानेके कारण मुझे अविधिपूर्वक भजनेवाले तत्त्वसे च्युत हो जाते हैं.''

ङ.''प्राकृत जड़ शरीरमें बंधा चेतन पुरुषरूप जीवात्मा सुख-दुःखका भोक्ता बन कर उक्त प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंका भोग करता है... इसी शरीरके भीतर, किन्तु, जीवात्माके अलावा परम पुरुष भी उपद्रष्टा अनुमन्ता भर्ता *भोक्ता* महेश्वर और परमात्मा होनेके रूपमें बिराजमान रहता है.''

च.''देहके रूपमें प्रकट होनेवाले तीन गुणोंसे ऊपर उठनेपर देही जीवात्मा जन्म-मृत्यु-रोगादि दुःखोंसे विमुक्त हो कर अमृतत्वका भोग करता है''.(भग.गीता. : क.३।३४ ख.५।२१ ग.६।२६-२८ घ.९।२३-२४ ङ.१३।२०-२२ च.१४।२०)

अतः भोग्य-भोक्तृ-प्रेरक होनेके त्रिकको केवल आधिभौतिकरूपमें परिसीमित मानना उपपन्न नहीं होता. स्पष्ट है कि आधिभौतिक त्रिकमें जड़ विषय भोग्यभावापन्न बनते हैं, तब स्थूलशरीरोपेत जीवात्मा भोक्तृभावापन्न बनता है; और उसमें प्रेरक बनता है परमात्मा. इसी तरह बाह्य विषयोपभोगके हेतुभूत पाञ्चभौतिक शरीरके छूट जानेपर भी सूक्ष्मशरीर द्वारा जीवात्मा शरीरद्वारा कृत कर्मोंके फलरूप सुख-दुःखोंका जो भोग करता है उसे आध्यात्मिक भोग माना जा सकता है. यहां भोग्यभावापन्न बनती हैं चिदंशभूत जीवात्माके सूक्ष्मशरीरके घटक कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय प्राण और अन्तःकरण से जन्य वृत्तिरूप अनुभूतियां या ऐतदौपाधिक धर्मभूत चेतना और भोक्ता बनता है धर्मिभूत चिदंशभूत स्वयं चेतनरूप जीवात्मा, जो इनमें बंधा हुवा होता है. वैसे वैषयिक सुख-दुःखोपभोग

करनेवाला यह देही जीवात्मा स्वयं भी परमात्माकी निजानन्दरमणात्मिका लीलामें भोग्यभावापन्न बन जाता होनेसे उसका भोक्ता परमात्मा ही माना गया है. यह बात ''**अत्ता चराचरग्रहणात्, प्रकरणात् च, गुहां प्रविष्टौ आत्मानौ हि तद्दर्शनात्**'' (ब्र.सू.१।२।९-११) सदृश ब्रह्मसूत्रोंमें प्रतिपादित हुयी है. इसी चराचरके भोक्ता रूपी परमात्माके स्वरूपानन्द और/अथवा लीलानन्द या भजनानन्द का उपभोग जब मुक्तात्मा या भक्तात्मा करते हैं, तब वही परमात्मा भी भोग्यभावापन्न बन जाता है. इसे उल्लिखित भगवद्गीताके ख-ग वचनोंके अलावा तैत्तिरीयोपनिषद्के ''**ब्रह्मवेत्ता परमफलको प्राप्त करता है... ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त रूप होता है. उसे जो अपनी हृदयगुहाके भीतर परमव्योममें अन्तर्निहित जान पाता है, वह विपश्चिद् ब्रह्मके साथ अपनी सारी कामनाओंके अनुसार भोग करने समर्थ हो जाता है**'' (तैत्ति.उप.२।१) इस वचनमें भी प्रतिपादित होता हम पाते हैं. अतः हम देख सकते हैं कि जिस आनन्दमयको परमात्मा माना गया है, उस आनन्दमय परमात्माकी प्राप्तिके बाद भी तैत्तिरीयोपनिषद्में वर्णन आया है कि ''**इस आनन्दमय परमात्माको पा लेनेपर सभी लोकोंमें अपने दिव्य कामोंका उपभोग करता हुवा ब्रह्मज्ञानी अनुसञ्चरण कर पाता है**'' (तैत्ति.उप.३।५). इस कामोपभोगको, अतः, केवल आधिभौतिक या केवल आध्यात्मिक मानना ब्रह्मके स्वरूप और उसके साक्षात्कारके दिव्य रहस्यके बारेमें हमारे अपरिचयका द्योतन है.

एतावता सिद्ध होता है कि भोग्यत्व भोक्तृत्व तथा प्रेरकत्व/साक्षित्व के आधिभौतिक आध्यात्मिक या आधिदैविक तीनों ही रूप हो सकते हैं.

(६) **'सौन्दर्य...'पद्यमें प्रतिपाद्य रहस्य उक्त त्रिविध त्रितयात्मक स्वरूपतया भावनीय है :**

अतः परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णके ऐसे ही आधिभौतिक

आध्यात्मिक और आधिदैविक भोग्य-भोक्तृ-प्रेरक/साक्षिरूपोंकी विवेचना 'सौन्दर्य'पद्यका प्रतिपाद्य विषय है.

इनमें उस परम तत्त्वके परब्रह्म होनेके पहलुमें वह आधिभौतिक क्रीड़ाके अन्तर्गत अपने सदंशोंसे आधिभौतिक वेद्य-भोग्य-कार्यभूत जड़रूपोंको प्रकट करता है. चिदंशोसे जीवोंमें आधिभौतिक वेत्तृ-कर्तृ-भोक्तृभूत चेतनरूपोंको प्रकट करता है. परमात्मा होनेके पहलुमें वह प्रेरक-साक्षिभाव भी प्रकट करता ही है. दशमस्कन्धीय सुबोधिनीकी टिप्पणीमें आता है कि **"स्वयं निजार्थ फलभोगकी अपेक्षासे रहित जो दूसरेको फलभोग समर्पित करनेको उसके अधिकारके अनुसार प्रवर्तक बनता हो उसे 'साक्षी' कहना चाहिये, जैसे परमात्मा."** (सुबो.टिप्प.१०।१८।१). अतः अपने अविकारी सच्चिदानन्द रूपको खोये बिना विरुद्धधर्माश्रय होनेके कारण इनसे विपरीत भी, अर्थात् अविकृतपरिणामी होनेकी सामर्थ्यके वश ही, वह कर्ता-भोक्ता तथा कार्य-भोग्य होनेके रूपोंको भी धारण या प्रकट करता है. भगवान् होनेके पहलुमें इन सभी रूपोंसे अतीत या पर रह कर वह अपनी परमेश्वरता भी प्रकट करता है. यों मध्यपाती परमात्मा होनेके पहलुमें वह प्रेरक-साक्षी होनेकी भी अपनी लीला प्रकट करता है. यह **"उसने सब कुछ बनाया और बना कर वह स्वयं वहां प्रविष्ट हो गया"-"वह सभीके भीतर रह कर सभीका अन्तर्नियमन करता है"-"और अतएव उनसे लिप्त नहीं होता"** (तैत्ति.उप.२।६, बृह.उप.३।७।१५, कठोप.२।२।११) ऐसे श्रुतिवचनोंमें इस इस साक्षिभावका प्रतिपादन सुस्पष्टतया उपलब्ध होता ही है.

तदनुसार श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धकी सुबोधिनीके अट्ठारहवें अध्यायमें महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य भोग्यभावका स्त्रीभावके रूपमें तो भोक्तृभावका पुम्भावके रूपमें प्रतिपादन करते हैं. पूर्वोदाहृत श्रुतिवचनमें भी आत्मविभाजन स्त्री-पुरुषके द्वैतमें प्रतिपादित हुवा. वहां आत्मविभाजनको केवल स्त्री-पुरुषके द्वैतमें सीमित नहीं माना जा सकता. क्योंकि अनेक जीवयोनियां स्त्रीपुरुषके

भेद बिना भी सृष्टिमें प्रजोत्पादिका बनती हैं यह प्रमाणित है. अतः स्त्री-पुरुषात्मक विभाजनको आत्मविभाजनकी अन्यान्य विधाओंका उपलक्षण मानना चाहिये. यों जड़सृष्टिको स्त्रीभावात्मक और चेतनसृष्टिको पुम्भावात्मक माना गया है **"लोहित शुक्ल एवं कृष्ण वर्णवाली अपने समान बहुत सारी प्रजाका सृजन करनेवाली एक अजाका उपभोग अपर अज करता है. वह अतिभोगवश विरत होनेपर उस अजाका त्याग भी कर पाता है"** (श्वेता.उप.४।५).

(७)भोग्यभाव=स्त्रीभाव, भोक्तृभाव=पुम्भाव और साक्षिभाव=तृतीयभाव तीनों प्रकट या गूढ़ हो सकते हैं :

सुबोधिनीमें यहां यह भी प्रतिपादित हुवा है कि प्रत्येक प्रकट पुम्भावके भीतर एक गूढ़स्त्रीभाव निहित रहता है और इसी तरह प्रत्येक प्रकट स्त्रीभावके भीतर एक गूढ़पुम्भाव निहित रहता है. अतएव इस सन्दर्भमें महाप्रभुके ये दोनों वचन :

> [१]**"श्रीकृष्णके भीतर जो स्त्री(=भोग्य)भाव निगूढ़ रहता है. वही पुष्टिमार्गमें परम अभीष्ट स्वरूप 'कृष्ण'पदार्थ है, जिसका विवरण कभी-कहीं प्रकट होता है"** (सुबो.१०।१८-।५).
>
> [२]**"वही परमतत्त्व कभी अपने भीतर रहे परमसौन्दर्यको प्रकट करनेकी इच्छाके वश जब साकार प्रादुर्भूत होता है तब 'श्रीकृष्ण' कहा जाता है"** (त.दी.नि.३।१।१).

यहां हम देख सकते हैं कि श्रीकृष्णके दो तरहके सौन्दर्योंमें से एकको सर्वगोचरतया प्रकट और दूसरेको अधिकारिविशेषैकगोचरतया निगूढ़ माना जा रहा है. साथ ही साथ पूर्वोदाहृत श्रुतिवचनमें जो **"उसने अपने-आपको दो तरह विभाजित कर लिया. अतः पति भी और पत्नी भी वह स्वयं ही बन गया"** (बृह.उप.१।४।२-७) ऐसे पतिपत्नीके

द्वैविध्यमें आत्मविभाजनके निरूपणके कारण श्रीकृष्णके आधिदैविक सौन्दर्यको ऐकान्तिकतया केवल शृंगाररसात्मक आलम्बनविभाव अथवा स्थायिभाव होनेके रूपमें निहारनेका दृष्टिकोण तत्तद् रसिक भक्तोंके हृद्गत भावोंके उद्गारोंके आधारपर प्रस्तुत किया गया है. अतएव गूढ़पुम्भाव और गूढ़स्त्रीभाव को भी केवल शृंगाररसके परिसीमित अर्थमें स्वीकारनेकी और श्रीकृष्णको भी केवल शृंगाररसके नायकके रूपमें प्रस्तुत माननेकी परिपाटि चल पड़ी है.

(८)स्वरूपतो ब्रह्म सर्वरसात्मक परन्तु लीलया एक विशेषरसात्मक भी :

यह परब्रह्म परमात्मा भगवान्‌की श्रीकृष्णावतारकी लीलाके कालमें व्रजगोपिकाओंके सन्दर्भमें कथंचित् उचित या उपपन्न माना जा सकता है. फिरभी इन्हीं श्रीकृष्णके परब्रह्म परमात्मा परमेश्वर क्षराक्षरातीत पुरुषोत्तम भगवान् होनेके दूसरे पक्षमें ऐकान्तिक तथ्यतया मान्य नहीं हो पाता. क्योंकि भाष्यकार सुस्पष्टतम शब्दोंमें कहते हैं "ब्रह्म 'रसो वै स' और 'सर्वरस' जैसे श्रुतिवचनोंके आधारपर सर्वरसात्मक निर्णीत होता है. अतः जिस रसके जैसे या जो भी विभावानुभाव आदि होते हैं, उनसे वह रस सम्पन्न होता है. अतः तन्तुओंके आतान-वितानवश जैसे पट निष्पन्न होता है वैसे ही सभी और किसी भी रसकी अपेक्षित सभी समाग्रियोंसे ब्रह्मका अभेद स्वीकारना ही उचित है" (ब्र.सू.भा.३।३।१०). एतावता शुद्धाद्वैतवादमें श्रीकृष्णको केवल शृंगाररसात्मा नायक स्वीकारनेपर या तो शुद्धाद्वैतवादका प्रत्याख्यान हो जायेगा. अन्यथा औपनिषदिक ब्रह्माद्वैतकी तुलनामें रसशास्त्रीय मानदण्डोंको प्रधान माननेपर तो अवतारकालीन नायक-नायिकारूप द्वैतके प्रकट हो जानेके कारण ही भगवान्‌को शृंगारात्मा माना जा सकता है. अन्यथा अनवतारकालमें भक्तिमयी मनोवृत्तिद्वारा भगवान्‌को शृंगारात्मकतया भावित करनेको रसशास्त्रीय नियमोंको मान्य रखनेपर तो रसाभास ही प्रकट होगा. अतएव पण्डित जगन्नाथ कविराज कहते हैं :

"अब पूछा जाये कि इतने ही रस क्यों माने जाते हैं? क्योंकि भगवान्‌को आलम्बन बना कर प्रकट होनेवाले रोमाञ्च अश्रुपात आदिके द्वारा, अनुभावित हर्ष आदि द्वारा, परिपोषित भागवत आदि पुराणोंके श्रवण करते समय भगवद्भक्तोंको भक्तिरसकी जो अनुभूति होती है, उसका अस्वीकार कैसे शक्य हो सकता है? अतः भगवदनुरागरूपा भक्तिको स्थायिभाव मानना चाहिये... यह उचित नहीं क्योंकि भक्तिकी मनोवृत्ति देव आदिके बारेमें केवल भावके रूपमें प्रकट होती होनेसे रसके रूपमें मान्य नहीं हो पाती... यदि कोई कहे कि ऐसा माननेपर तो कामिनीके बारेमें रतिको भी भाव ही क्यों नहीं मान लिया जाता? इस विषयमें समाधान यह है कि भरत आदि मुनियोंके वचनोंके आधारपर ही किसे केवल भाव और किसे स्थायिभावरूप रस मानना, इस विषयकी व्यवस्था सुनिर्धारित होनेसे स्वच्छन्दकल्पनाओंको प्रामाणिक नहीं माना जा सकता (उदा."इक्+अच्=यण्" और "अवर्ण+अच्=गुण" का नियम व्याकरणैकवेद्य होनेसे "इक्+अच्=गुण" जैसी स्वच्छन्द कल्पना स्वीकार्य नहीं हो पाती)... अतः यथाशास्त्र व्यवस्था मान्य रखनी चाहिये" (रसगंगा.१)

एतावता सिद्ध होता है कि श्रीकृष्णको परब्रह्म परमात्मा परमेश्वर क्षराक्षरातीत पुरुषोत्तम भगवान् मानना हो अर्थात् केवल शृंगाररसनायक लौकिक पुरुष नहीं तो मूलमें आत्मरतिशील परमात्माकी आत्मरति ही श्रीकृष्णके भक्तोंके भीतर प्रकट होती माननी पड़ेगी. क्योंकि श्रुतिमें कहा गया है कि "यही तो इसका परम आनन्द है. इसीके आनन्दकी क्षुद्र मात्राओंका अन्य सारी जीवभूत चेतना उपजीवन करती हैं","यहां कुछ भी अपने-आपमें प्रिय होनेके कारण प्रिय नहीं लगता. प्रत्युत उस परमात्माके प्रिय होनेके कारण प्रिय लगता है" (बृह.उप.४।३।३२,२।४।५).

यह पारमात्मिकी प्रियता न तो शृंगाररसमें परिच्छिन्न स्त्रीपुम्भावात्मिका होती है और न भजनीयकी आराधनामें पर्यसित होती भक्त-भगवद्रूपा भजनात्मिका ही. इनसे सबसे परे यह तो तात्त्विकी प्रियता है. अतः इन वचनोंसे विपरीत कुछ माननेपर तो भक्तिके आलम्बनविभावकी परब्रह्मता या परमात्मता ही निरस्त हो जायेगी.

(९)रसात्मकताके मूलरूपकी विवेचना :

अतः उपनिषद् तथा भागवत के अनुरूप भगवान्के रसरूपताके मूलभूत पक्षकी विवेचना महाप्रभु यों करते हैं :

> १ "अतः स्नेह तो एक पदार्थान्तर ही है. वह भगवन्निष्ठ एव भगवद्विषयक ही होता है. जैसे ज्ञान या ऐश्वर्य भगवान्के साथ सम्बन्ध जुड़नेपर निकटताके कारण अन्यत्र भी प्रकट हो जाते है. उदाहरणतया अग्निकी निकटताके कारण उष्णता अन्यत्र भी संक्रान्त होती है. जो जितना भगवान्के अधिक निकट होता है उतना अधिक स्नेह उसमें प्रकट होने लगता है."
>
> २ "प्रीति तो भगवान्का ऐसा धर्म है जिसे भगवान् सभी जीवात्माओंके बीच उन्हें सुखानुभूतिके हेतु खण्डशः बांटते है. अतः जो जिसे चाहने लगता है उसे वहां सुख मिलने लग जाता है. वस्तुतः तो निजसुख ही स्वयंको मिलता होता है."
>
> (सुबो.१।१९।१६, २।२।७).

स्पष्ट है कि यहां स्नेह या प्रीति के प्रकट होनेकी प्रक्रिया रसशास्त्रीय न हो कर वेदान्तशास्त्रीय अथवा भागवतशास्त्रीय ही है.

अतएव महाप्रभु यह भी कहते हैं कि "भगवान् जब स्वयं जगत्में भोक्ता बन कर जगत्को भोग्यभावापन्न करना चाहते तब सभी कुछ लक्ष्मीरूप बन जाता है. जब भगवान् प्रकट होना चाहते

हैं, तब अनन्त शक्तिओंके बीचमें सर्वप्रथम श्रीरूपा शक्ति जो पहले बल्की तरह भगवान्के भीतर अवस्थित रहती है, वही भगवान्की भोग्य भार्या या प्रिया बन कर प्रकट हो जाती है. वह अपने-आपमें सच्चिद्रूपा होनेपर भी उसका विग्रह अक्षरब्रह्मानन्दरूप होता है. भगवदवतारके समय सभी (ऐसे गुप्तानन्द) भगवद्भोग्य या तो लक्ष्मीरूप होते या उसके आवेशवाले" (सुबो.२।९।१३-१४).

(१०)भक्ति भी स्वतन्त्र रस है :

अतएव इन सारे रहस्योंको ध्यानमें रख कर अवतारवादावलीकार श्रीपुरुषोत्तमजी भी कहते हैं :

> "शृंगारके स्थायिभावतया अभिमत रति भी स्नेहका ही एक प्रकारविशेष होता है. अतः 'शृङ्गारात्मिका रति ही रसरूपा होती है परन्तु केवल स्नेह नहीं' इसमें किसी तरहकी विनिगमना न होनेके कारण दोनोंको पृथक्-पृथक् रस मानना चाहिये. अतः नायिकाकी नायकके बारेमें और नायककी नायिकाके बारेमें रति जैसे (भरतादिमुनिओंके वचनके प्रामाण्यके अनुरोधवश) शृंगाररूपा मानी जाती है, वैसे ही माता आदिका पुत्र आदिके बारेमें और पुत्र आदिका माता आदिके बारेमें स्नेह वात्सल्यरसात्मक (विभानुभावसंचारि-भावोंसे निष्पन्न स्थायिभावके प्रकट होनेकी प्रक्रियाके यहां भी उपपन्न हो जानेके कारण) क्यों रस नहीं माना जा सकता? इसी तरह भगवद्विषयिका निरुपाधिका रतिको भी चाहे वह संयोगात्मिका हो या विप्रयोगात्मिका अलौकिक होनेके कारण मुख्य रस (आत्म-परमात्मरतिरूपा भक्ति) के रूपमें स्वीकारना चाहिये, "रसो वै सः" (तैत्ति.उप.२।७) इस श्रुतिके आधारपर भगवान्को रसरूप माना गया होनेसे. यहां यह उल्लेखनीय है कि मूलतः तो लौकिक रति

ही उपाधिजन्य होनेके कारण स्वयं रत्याभासरूपा होती है"(अव.वादा.भक्तिरस.वा.)

(११)श्रीकृष्णावतारके समय भगवत्स्वरूप सर्वरसात्मक ही प्रकट हुवा :

श्रीपुरुषोत्तमजीका यह प्रतिपादन महाप्रभुके "मल्लानाम् अशनिः..." (भाग.पुरा.१०।४०।१७) के सुबोधिनीगत "**भगवान्ने इस तरह रंगमंचपर प्रवेश किया कि सभीके अपने-अपने अधिकारोंके अनुसार हृदयगत रसभाव परिपुष्ट हो गये. यद्यपि शान्तरसको विशेषतया अभिनेय नहीं माना गया फिरभी नाट्यशास्त्रमें रसोंकी संख्याको किसी विशेष अभिप्रायवश आठमें परिसीमित रखा गया है. अन्यथा भक्तिरसका भी अभिनय रसदृष्टिमें अति निपुणोंद्वारा तो शक्य होता ही है**" (सुबो.१०।४०।१७), इस वचनसे सुसंगत लगता ही है. अतएव पण्डितराजकी अनुपपत्तिका भी समाधान यहां इस तरह मिल जाता है कि जहां सांसारिक रसोंका अभिनय करना उपयुक्त हो वहां भरतादि मुनियोंद्वारा निर्धारित रसोंकी आठ संख्याका कोई नाट्यशास्त्रीय औचित्य होता होगा पर असांसारिक दिव्य भगवत्स्वरूपका श्रवण-कीर्तन-अभिनय या भावन करना हो तो उपनिषद् एवं भागवतपुराण के आधारपर रसोंको आठसंख्यामें परिसीमित नहीं माना जा सकता.

अतएव, विभावानुभावादिके भेदोंके अप्रासंगिक होनेके कारण, परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णके सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदवर्जित स्वरूपको केवल शृंगाररसात्मक भी माना नहीं जा सकेगा.

(१२)ब्रह्मस्वरूप सर्वात्मक पर श्रीकृष्ण सर्वरसात्मक :

ये सारे विभावानुभावादि सदृश भेद तो आत्मना आत्माके भीतर आत्मरूप प्रकट किये गये ऐच्छिक भेदके कारण लीलामें ही प्रसक्त हो पाते हैं. यदि उपपत्तिकल्पके समाश्रयणद्वारा व्यापिवैकुण्ठमें नित्यलीलाके सन्दर्भमें इन्हें प्रसक्त मानना हो तब भी रसशास्त्रीय मर्यादाओंसे बाहर

जा कर ही इनका उपपादन शक्य बन पायेगा, क्योंकि लोकमें बाह्य आलम्बनविभाव तथा आभ्यन्तर स्थायिभाव, अर्थात् प्रिय और प्रेम, के बीच अभेद सम्भव नहीं जबकि ब्रह्मके आभ्यन्तर रसात्मक होनेपर भी बाह्य आलम्बनविभावात्मक स्वरूपके साथ आत्यन्तिक भेद शक्य नहीं होता. अतः रसशास्त्रीय मर्यादाओंके आत्यन्तिक अनुरोध या प्रामाण्य के साथ बंधनेपर तो ब्रह्ममें नाट्यशास्त्रीय रसात्मकता ही अकल्पनीय हो जाती है. अर्थात् श्रीकृष्णके परब्रह्म परमात्मा भगवान् होनेके औपनिषदिक या भागवतीय पक्षके अनुरोधवश ही उनका स्वरूप रसात्मक माना जा सकता है, लीलामें किन्तु ऐच्छिक भेदके प्राकट्यवश रसात्मकता अवश्य उपपन्न हो पाती है. इसके अलावा ब्रह्मसूत्रभाष्यगत ब्रह्मके सर्वरसात्मक होनेके प्रतिपादनके जागरुक रहनेके कारण भी यही उचित लगता है.

(१३)लीलार्थ श्रीकृष्ण शृंगारैकरसात्मा हो सकते हैं फिरभी सर्वात्मभावपूर्वक भजनार्थ तो भक्तिरसात्मा ही :

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रहस्य इस विषयमें यह एक और मननीय है कि एकत्र ही नहीं, निरपवादरूपेण सर्वत्र, महाप्रभुने भगवान्‌की परमानुभूति सर्वभावैकगम्य स्वीकारी है. अतएव वे कहते हैं कि "**व्रजाधिपमें सर्वभाव रखते हुवे सर्वदा भजन करना चाहिये**"-"**देहसे प्रारम्भ कर ईश्वर पर्यन्त जिस-किसी भावके अनुसार जितने भी भजनीय होते हैं, वे सारे भाव भगवान्में ही पर्यवसित करके भगवद्भजन करना चाहिये. इन सारे भावोंको भी भक्तिभाव रखते हुवे ही भजनौपयिक बनाने चाहिये** " (चतु.श्लो.१-सुबो.३।३२।२२). ऐसी स्थितिमें भगवान्‌का भजन केवल शृंगाररसात्मक भक्तिभावके रूपमें अधिकारिविशेषके लिये ही अनुमोदनीय सिद्ध होता है. फिरभी भी भक्तिरसात्मक शृंगारभाव या केवल शृंगाररसात्मक भाव के रूपमें भगवद्भजन अनवतारकालमें या प्रमेयबलसे स्वतो-अप्राकट्यकाल में अनुमोदनीय नहीं रह जाता. अतएव महाप्रभु कहते हैं "**ज्ञानप्रतिपादक और भक्तिप्रतिपादक दोनों**

तरहके शास्त्रोंमें भगवान्‌को ज्ञान या भक्ति रूपी साधनसे प्राप्य माना गया है. इन साधनोंकी तरह ही, किन्तु, स्वयं भगवान्‌का स्वरूप भी स्वप्राप्तिमें लीलार्थ स्वतःसाधन बन सकता है. क्योंकि ज्ञान या भक्ति रूपी साधनोंकी भगवदाविर्भावार्थ ही उपयोगिता होती है. अतः भगवान्‌के स्वतः आविर्भूत होनेपर तो ये दोनों साधन अकिञ्चित्कर हो जाते हैं अन्यथा नहीं. वर्षाकालमें जल सर्वत्र सुलभ हो जाता है एतावता नदी-कूप-तड़ाग आदिको सर्वथा निरुपयोगी नहीं माना जा सकता'' (सुबो.१०।२६।१३). अतएव अनवतारकालमें महाप्रभुको भक्तिका, जो माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ़ सर्वतोऽधिक स्नेहात्मक, स्वरूप मान्य है वह तो पारमात्मिकी आत्मरतिके बिना सर्वथा अशक्य ही है. जीवात्माके भीतर तत्त्वतः सहजसिद्ध ही परमात्मरति माहात्म्यज्ञानसे संवलित या अनावृत हो कर प्रकट होनेपर भक्तिरसरूपा बन जाती है. अतएव मूलमें तो भजनीय भगवान्‌की शृंगाररसात्मकता भी भक्तिभावके संचारिभावके विषयतया ही अनुमोदनीय हो पायेगी. अतएव शृंगाररसात्मक स्थायिभावके संचारिभावतया भक्तिभाव पुष्टिभक्तिमार्गमें अनुमोदनीय नहीं माना जा सकता. भक्तिके स्थायी भावके अन्तर्गत अर्थात् सञ्चारिभावतया शृंगारात्मिका रति भी, विरोधाभास न होनेके कारण अनुमोदनीय बन जाती है.

(१४)सर्वरसात्मा श्रीकृष्णके गूढ़भावात्मक श्रीवल्लभ भी आचार्यतया प्रकट होनेसे भक्तिरसात्मा हैं :

अतः सिद्ध होता है कि प्रस्तुत 'सौन्दर्य...' पद्यमें भी मूलभूत भगवत्स्वरूपका परम सौन्दर्य और उस सौन्दर्यके बारेमें प्रकट होती मूलभूत रति भी केवल शृंगाररसात्मिका मानी नहीं जा सकती. क्योंकि मूलभूत होनेपर तो सर्वरसात्मिका मानना ही उपपन्न है. आचार्यचरणके अनुसार भगवान्‌के अक्षरब्रह्मानन्दात्मक भार्योपम विविधभाववाले अक्षरांशरूप भक्तोंके विविधभावों और उन भावोंके अन्तर्गत अनुभूत होती संयोग-विप्रयोगात्मिका रतिका भी अतएव केवल शृंगाररसमें अन्तर्भाव माना नहीं जा सकता. क्योंकि ऐसी रतिका सर्वात्मभावमें उदात्तीकरण

ही आचार्यचरणको अधिक अभिप्रेत प्रक्रिया लगती है. क्योंकि श्रीमदाचार्यचरण कहते हैं ''भेदको पारमार्थिक निरूपित करनेवाले शास्त्रको प्रधान मान कर तमो-रजस्-सत्त्वगुणोंके प्रभेदवश भिन्न-भिन्न तीन तरहके भक्तिमार्ग; और हम जिसका प्रतिपादन करना चाहते हैं, ऐसा निर्गुणभक्तिमार्ग यों कुल मिला कर चारों तरहके भक्तिमार्गोंका भगवान्‌ने स्वयं प्रतिपादन किया है'' (सुबो.३।३२।३७). अतएव किसी आधिदैविक शृंगाररसात्मिका रतिके स्थायिभावके सञ्चारिभावतया भक्तिका प्रतिपादन अवतारलीलामें मान्य होनेपर भी पुष्टिभक्तिमार्गीय आराधनाप्रणालीमें महाप्रभुके मतसे विपरीतकथा है. अतएव प्रस्तुत पद्यकी व्याख्यामें जो ऐसी शृंगारात्मिका रतिके प्रकट और गूढ़ पुम्भावोंकी विवेचना मिलती है उसे दशमस्कन्धीयलीलाके सन्दर्भमें ही भावनीय समझनी चाहिये. अनुसरणीय पुष्टिभक्तिमार्गीय भजनके प्रकारतया नहीं.

यहां अवधेय है कि जगत् और जगदीशके बीच भेदमूलक सगुणभक्तिभावके बजाय अभेदमूलक निर्गुणभक्तिभाव ही निरुपाधिक सर्वात्मभावमें स्वाभाविकतया विकसित हो सकता है. अन्यथा लौकिक नायिकाके बारेमें लौकिक नायकके शृंगाररसात्मक ''सा सा सा सा जगति सकले कोऽयम् अद्वैतवादः'' (अमरु.शत.१०२) सदृश सर्वात्मभावसे अलौकिक शृंगाररसनायक भगवान् और उनके प्रति प्रकट होनेवाले सर्वात्मभावका शुद्धाद्वैतवादमें कोई तुलनात्मक उत्कर्ष सिद्ध नही हो पायेगा. तत्त्वतः एकमेवाद्वितीय ब्रह्म ही अनेक नाम-रूप-कर्मात्मना क्रीड़ा कर रहा है, ऐसा स्वीकार लेनेके बाद भावतः उसका केवल किसी एक ही रूपमें विभावन अथवा केवल अनेकविध नाम-रूप-कर्मोपिततया ही विभावन, या तो लीला या फिर स्वरूप के अस्वीकारमें ही पर्यवसित हो जाता है.

वैसे तो लौकिक नायकके बारेमें भी आठोंमेंसे अन्यतम किसी भी स्थायिभावमें ब्राह्मिकी विरुद्धधर्माश्रयता जैसी विरुद्धधर्माश्रयता रसशास्त्रमें

स्वीकारी ही गयी है, जैसाकि 'दशरूपक'कार कहते हैं "विरुद्ध या अविरुद्ध भावोंके कारण जिसका विच्छेद नहीं हो पाता प्रत्युत उन्हें अपने भीतर जो एकवद्भावापन्न कर पाता हो ऐसा सागरके जैसा स्थायी भाव होता है" (दशरू.४।३४). फिरभी ब्रह्मगत सर्वभावात्मकता, सर्वभावविभानीयता एवं सर्वभावोंके अनुरूप स्वयंके स्वरूप प्रकट करनेकी सामर्थ्यकी तुलना करनेपर लौकिक स्थायिभावोंके भी सर्वात्मक होने एवं सर्वभावोंको आत्मलीन कर पानेके तथ्यको ब्रह्मकी तुलनामें तो क्षुद्र मानना ही पड़ता है, "जो निश्चिततया भूमा (देश-काल-स्वरूपतो अपरिच्छिन्न) होता है वही सुखरूप होता है. अल्पमें किसी तरहका सुख नहीं होता. भूमा ही सुखरूप होता है." (छान्दो.उप.७।२३।१) और "इसी महान् तत्त्वकी क्षुद्र मात्राओंका अन्य सभी उपजीवन करते हैं." (बृह.उप.४।३।३२) जैसे श्रुतिवचनोंके आधारपर देश-काल-स्वरूपतो अपरच्छिन्न ब्रह्मानन्दकी तो क्षुद्रतम मात्राओंके ही सारे लौकिक स्थायिभाव उपजीवी होते हैं. ब्रह्मका स्वरूपानन्द जब स्वप्रादुर्भावित भक्तोंके भावके अनुरूप रसशास्त्रीय विभावानुभावसञ्चारिभावोंकी सहकारिता पा कर किसी एक तरहके स्थायिभावके रूपमें लीलापरिकरोंके हृदयमें रूढ़ हो पाता है, तब उस रसात्मकताके कारण उस आनन्दरूप भगवान्के बारेमें प्रकट होता आनन्दात्मक प्रेम मोद और प्रमोद ब्रह्मानुभूतिमान्को परमानन्दात्मिका बना देता है (द्रष्ट.तैत्ति.उप.२।६). इसमें जीवात्माके रसभावोंके अनुकूल अधिकारकी दृष्टिसे तारतम्य होनेपर भी भगवत्स्वरूपकी दृष्टिसे भेद माननेपर भागवतके जिस वचनके साथ विरोधाभाव उपस्थित होगा वह वचन यों है :

"अपने प्राण मन और नयनों को संयत कर दृढ़योग करनेवाले योगी जिस परमात्माका आन्तर ध्यान लगाये रहते हैं, द्वेषभाववश निरन्तर आन्तर स्मरण करनेवाले शत्रु भी उस परमात्माको पा लेते हैं. परमप्रमेयरूप चरणसरोजके मकरन्दके पान करनेका आन्तर भाव रख कर हम प्रमाणरूप

श्रुतियां जिन भगवान्में परायण रहती हैं, उन्हींकी लम्बी-चौड़ी भुजाओंको कामभाववश बाह्यदृष्टि रख निरखनेवाली स्त्रियां भी पा लेती हैं! क्योंकि भगवान् तो अपने सभी भक्तोंको समदृष्टिसे निहारते हैं" (भाग.पुरा.१०।८४।२३).

इसकी सुबोधिनीमें ही महाप्रभुने यह स्पष्टता की है कि मर्यादामार्ग निषिद्धमार्ग पुष्टिमार्ग और प्रवर्तकमार्ग यों चारोंमें से किसी भी एक मार्गके अनुसार भगवान्का भजन करनेवाले भगवान्के लिये समान होनेपर भी, जैसे प्रकारसे भजन करनेपर हम भगवान्के आत्मीय बन पायें उस प्रकार भजन करना श्रेष्ठ होता है. इनमें थोड़ी देरकेलिये मर्यादामार्ग और निषिद्धमार्ग के बारेमें कुछ भी कहे-सोचे बिना केवल पुष्टिमार्ग और प्रवर्तकमार्ग के वैलक्षण्यका विचार करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रुतिरूपा और ऋषिरूपा गोपिकाओंका भी भगवान्को बाह्यदृष्टिवाले कामभावसे भजना भगवान्की वैसी लीलात्मिका पुष्टि या कृपा के कारण अनुमोदनीय हो सकता है परन्तु उन श्रुतिरूपा गोपिकाओंके द्वारा प्रवर्तित भक्तिमार्गके भीतर तो आन्तर भाववाली भक्ति ही अनुमोदनीय होती है. अन्यथा इसे 'प्रवर्तकमार्ग' कहना निरर्थक सिद्ध होगा. इस सन्दर्भमें उद्धवजीके वचन "उत्तमश्लोक भगवान्में आप गोपीजनोंने जो उत्कृष्टतम भक्तिका प्रवर्तन किया वह तो मुनियोंको भी दुर्लभ है" (भाग.पुरा.१०।४४।२५) तथा महाप्रभुके "...गोपीजन गुरु कहे जाते हैं उनका भाव वैसी भावना करनेपर सिद्ध होगा, अन्य किसी साधनकी अपेक्षा नहीं" (संन्या.निर्ण.८) अनुसन्धेय हैं. यहां ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि तब तो शृंगारभाव और उसका आलम्बनविभाव ही पुनः गलेपतित होगा. क्योंकि प्रभुचरणने इसका स्पष्टीकरण दिया है "इन गोपीजनोंका मूलमें तो आत्मभावमूलक निरुपधि स्नेह ही भगवान्के बारेमें था, बाह्य वस्तुविषयक कामभावमूलक नहीं. वह तो स्वयं भगवान्ने ही उनकी निरुपधि आत्मरतिके भावको अपने वेणुवादन एवं शृंगाररसात्मक स्वरूपद्वारा कामोपाधिक बनाया था" (सुबो.प्रक्षे.१०।२६।-

४३).

एतावता सिद्ध होता है कि जीवात्माकी दृष्टिसे द्वेषमूलक सर्वात्मभावकी तुलनामें कामभावात्मक सर्वात्मभाव श्रेष्ठ होता है, ऐसे ही शान्तरसात्मक ध्यानभावकी तुलनामें सर्वभावोंको अपनेमें समा सकनेवाला भक्तिरसात्मक भाव श्रेष्ठतम होता है. स्वरूप और लीला में ऐसी विरुद्धधर्माश्रयता प्रकट करनेवाले ब्रह्मके बारेमें, अतएव, कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग, जो या तो लीलागत भेद अथवा स्वरूपगत अभेद की प्रधानताका अवलम्बन कर प्रकट होते हैं, इनके बजाय भक्तिमार्ग अधिक उपयुक्त होता है. क्योंकि यह भक्तिरस माहात्म्यज्ञानवाले अंशद्वारा सर्वविध भेदोंमें अनुगत होते ब्रह्मके स्वरूपाभेदको जैसे इस ओर उपपन्न करता है वैसे ही उस ओर सुदृढ़-सर्वतोऽधिक स्नेह अंशद्वारा उस अभेदकी पृष्ठभूमिके पुरोभागमें प्रकट होते विशेषस्वरूप और विशेषलीला के भेदको भी उपपन्न कर देता है. अतएव किसी अधिकारिविशेषकी सर्वविध नाम-रूप-कर्मोमें अपने भजनीय स्वरूपको निहारनेकी अरुचिका, अथवा अपने भजनीय स्वरूपके विशेष नाम-रूप-कर्मोके अलावा अन्यान्य नाम-रूप-कर्मोकी विभावनामें अरुचिका, भक्तिमार्गीय औचित्य भावभेदवश उपपन्न होनेपर भी, तत्त्वतः अपने भजनीयको किन्हीं विशेष नाम-रूप-कर्मोमें परिच्छिन्न मानना, यथा भगवान्‌को केवल शृंगाररसात्मा मानना महाप्रभुके सिद्धान्तकी चौखटमें फिट नहीं बैठ पाता. यही बात भाष्यकार साधनाध्यायके तृतीयपादमें इस सुसूक्ष्म रहस्यका विश्लेषण करते हुवे कहते हैं :

[१] "उपासनाके विषय अखिल स्वरूप, अविशिष्टतया एक ही ब्रह्मके अनेक रूप होते हैं, ऐसे ज्ञानके साथ जो किसी एकतम स्वरूपकी उपासना करता हो उसकेलिये अपने उपास्य स्वरूपमें अखिल नाम-रूप-कर्मोके समाहित होनेकी विराट्‌ताकी विभावना निर्दोष होती है (अर्जुनको प्रदत्त दिव्यदृष्टिवश मिले विराट्‌के साक्षात्कारकी तरह). जो उपासक, परन्तु, भगवान्‌के अनन्त विभूतिरूपोंके बीच किसी एकतम रूपके साथ ही अपने उपास्य होनेका नाता निभाना चाहता हो उसे अपने उपास्य स्वरूपसे अविरुद्ध नाम-रूप-कर्मोकी विभावना करनी चाहिये विरुद्धोंकी नहीं. यह उपासनामार्गीय व्यवस्था है. पर भक्तिमार्गीया व्यवस्था आगे दिखलायी जायेगी."

[२] "ब्रह्मके व्यापक होनेके कारण तथा लीलाके भी ब्रह्मके साथ अभेदभाव होनेके कारण किसी एक भक्तके साथ प्रकट हुयी विशेषलीलामें अन्य भी लीला प्रकट होने लगेंगी... व्यापक धर्मीके अनागन्तुक धर्म तो व्यापक हो सकते है परन्तु निजेच्छैकवश प्रकट होनेवाले सभी गुणधर्मलीलाओंका सर्वत्र धर्मीके प्रकट होनेपर स्वयं भी प्रकट होना अनिवार्य नहीं होता."

[३] "जिस जीवात्माका भगवान्‌ने भक्तिमार्गार्थ स्वीयत्वेन वरण किया हो ऐसे जीवको भजनानन्दके अनुभव बिना होता भगवान्‌का आत्मत्वेन (या सर्वरूपत्वेन) भान उसकी भक्तिमयी मनोवृत्तिमें व्यवधानरूप बन सकता है. अतः ऐसा भान भगवान् प्रकट नहीं होने देते. अतः जैसे स्त्री-पुत्र-गृह-धनमें आसक्ति ब्रह्मानन्दमें बाधक बनती है, वैसे ही भजनानन्दमें व्यवधान प्रकट करनेवाले भगवान्‌के आत्मत्वेन भानके बारेमें भी समझ लेना चाहिये."
(ब्र.सू.भा.३।३।२, ब्र.सू.भा.३।३।१०-११का भावानुवा. ब्र.सू.भा.३।३।३५-३६).

इन वचनोंका सावधानीके साथ विमर्श करनेपर यह निश्चिततया सिद्ध हो जाता है कि भक्तविशेष अपने विशिष्ट भावके अनुरोधवश अपने भजनीयको केवल अन्तरात्मा या बाह्याभ्यन्तर सर्वनामा सर्वरूप या सर्वकर्मा न माने तो कोई आपत्तिजनक बात न होनेपर भी तत्त्वतः भगवान्‌के उक्तविध होनेका अस्वीकार शक्य नहीं. इस विषयकी सुविशद

मीमांसा हमने पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारके विवरणमें की है. विशेष जिज्ञासा होनेपर वहां देखा जा सकता है. फिरभी इतना स्पष्टीकरण आवश्यक लगता है कि मूलाचार्योंकी निरूपणरीतिमें अथवा परवर्ती व्याख्याकारोंकी निरूपणरीतिमें जहां भी मूलरूपमें या परमतत्त्व होनेके रूपमें भगवान्के शृंगारात्मा होनेका उल्लेख किया गया है, वहां कहीं तो वैसे लीलाप्रसंगके अनुरोधवश की जाती व्याख्या है; अथवा कहीं उन महानुभावोंकी अपने विभावनीय स्वरूपके प्रति प्रकट हुयी एकरुचि या तन्मयता है. हमें जो विवक्षित है वह उन विधानोंके प्रामाण्यका निरसन नहीं परन्तु 'प्रकृतैतावत्त्वप्रतिषेध'(ब्र.सू.३।२।२२)न्यायेन अपने भजनीयके विशिष्ट नाम-रूप-कर्मकी भजनीयताके प्रामाण्यकी तरह तदितर नाम-रूप-कर्मोंकी भजनीयताके प्रामाण्यकी उपपत्ति है. अतः ऐसे किसी मूलवचन या व्याख्यावचन का दण्ड इस हमारे प्रतिपादनपर पातनीय नहीं बन पाता!

फिरभी एक आशंकाका यह उठ सकती है कि सुबोधिनीमें त्रिविध सुधाके तारतम्यका निरूपण करते समय सर्वाभोग्या सुधाके बारेमें महाप्रभुने—

"दिव्य क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति के समेत भगवान् सरस शृंगारात्मा बन कर वेणुवादन करने लगे... इन वेणुवादनरत भगवान्की सर्वाभोग्या सुधा सबको भगवदीय बनाती है. यह आनन्दमेंसे ही द्रवीभूत हो कर प्रकट होती है और ब्रह्मानन्दसे भी अधिक आनन्दसारभूता होती है... इस सर्वाभोग्या सुधारसके अन्तःप्रविष्ट होनेपर जीवात्मा प्रपञ्चको भूल-भाल कर सर्वात्मना भगवत्स्वरूपके भजनमें निरुद्ध हो जाता है. सृष्टिमें उत्पन्न होनेवाले किसी भी अधिकारीका दिव्यभोग इससे अधिक न हो कर इसीमें पर्यवसित होनेवाला होता है. बादमें सृष्टिसे विमोचन तथा स्वाश्रयभावमें प्रत्यापत्ति होती है. यह ब्रह्मानन्दके साक्षात्कारके बाद ब्रह्मभावापत्तिरूप आधिदैविकताके सम्पन्न होनेपर अक्षरब्रह्मानन्दात्मिका लक्ष्मीकी तरह मुख्य रसभोग है जो लक्ष्मीके अंशभूत जीवात्माओंके उदाहरणमें भी सम्भव है. अतएव निरोधको 'महाफल' कहा जाता है. अतएव भगवान्के द्वारा जीवात्माके गुप्तानन्दके उपभोगके बाद ही, जीवात्मा अगणितानन्दरूप भगवदानन्दका भोग करने समर्थ हो पाती है. अतएव इस फलप्रकरणमें स्त्रियोंको निरूपण किया गया है. क्योंकि पुरुषरूप भगवान्का उपभोग तो स्त्रीरूपेण ही शक्य होता है." (सुबो.१०।१८।२-५)

यहां यह आशंका हो सकती है : सुबोधिनीके अनुसार प्रमेयरूप भगवान् और प्रमाणरूपश्रुतिरूपा गोपिकाओंके प्रमेय-प्रमाणभावात्मक स्नेहको भगवान्ने अपने वेणुवादनद्वारा शृंगारात्मक बनाया, यह फलितार्थ स्पष्ट होनेसे रासलीला जो प्रमुखतः शृंगाररसात्मिका ही है, उसमें ऋषिरूपा कुमारिका गोपिकाओंकी तरह, इन श्रुतिरूपा अन्यविवाहिता गोपिकाओंको भी समानरूपेण प्रवेश मिला है. साथ ही साथ भेदबुद्धि रखनेवाली जारभाववती गोपिकाओंको प्रवेश न मिलना, ऐसे इन तथ्योंकी भलीभांति समीक्षा करनेपर एक और रहस्य यहां अनावृत होता है. वह यह कि नित्यलीलामें साक्षात् लक्ष्मी या राधा आदि स्वामिनिओंके भोग्यरूप भगवान्की भी कोई असाधारण महत्ता होनेके कारण ही सर्वोत्तमस्तोत्रमें भी "श्रीभागवतपीयूषसमुद्रमथनक्षमः तत्सारभूतरासस्त्रीभावपूरितविग्रहः... रासलीलैकतात्पर्यः" (सर्वो.१६-१७) ऐसे महाप्रभुके नाम उनके आत्मजने प्रकट किये हैं. अतः लौकिक शृंगारसे परे आधिदैविक शृंगाररसकी प्रधानता, तदनुरूप वैसे ही भगवत्स्वरूपकी भी प्रधानता; और तदर्थ जीवात्माके भीतर वैसे भजनद्वारा अलौकिक शृंगाररसात्मक भगवान्के दिव्य उपभोगकी अनन्यसाधारण महत्ताका अस्वीकार शक्य नहीं लगता जबकि प्रस्तुत प्रतिपादनमें उसे गौण बनाया जाना कैसे स्वीकार्य हो पायेगा?

एतदर्थ थोड़े-बहुत मुद्दोंका विचार कर्तव्यप्राप्त होनेसे उसके हेतु प्रवृत्त होते हैं : इनमें सर्वप्रथम भजनीय भगवान्‌के स्वरूप और लीला का विचार. द्वितीय उस लीलामें परिकररूप गोपीजनोंके स्वरूप और भाव का विमर्श. तृतीय उस लीलाके कारण आधुनिक पुष्टिजीवोंके लिये अनुसरणीय भाव और अनुकरणीय भजनरीति का स्वरूप और इन सबका आपसी तारतम्य.

भजनीय भगवान्‌के स्वरूपके बारेमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि वह विरुद्धधर्माश्रय "उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्" (ब्र.सू.३।२।२७-२८) न्यायेन साकार=परिच्छिन्न पुरुषोत्तमरूप तथा निराकार=अपरिच्छिन्न अक्षरब्रह्म धामरूप उभयविध है. इतना ही केवल नहीं प्रत्युत जैसे वह सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदवर्जित है वैसे ही अपनी एकमेवाद्वितीयताको निभाते हुवे लीलार्थ सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदोंको प्रकट भी कर सकता है. अतएव शास्त्रोंमें एकमेवाद्वितीय तत्त्वके अनेकवद्भावापन्न होनेकी क्रमिक उत्पत्तिप्रक्रिया जैसे निरूपित हुयी है उसी तरह सत्कार्य-सत्कारणवाद और तादात्म्यवाद के समाश्रयणद्वारा जिस कार्यके उसमेंसे कारणात्मकतया उत्पन्न होनेकी बात कही जाती है वह सभी कुछ उसमें उत्पत्तिसे पूर्व भी अव्यक्तरूपेण वहां विद्यमान भी माना गया है. यों उपपत्तिप्रक्रियाके अनुसार सर्वविध धर्मोंसे उसे उपपन्न माना गया है. अतएव उसे एकरस और सर्वरस यों उभयविध श्रुतियोंमें स्वीकारा गया है. अतएव वह शृंगाररसात्मा है भी और नहीं भी है, अतएव जिस विशिष्ट अधिकारीके समक्ष वह अपना जैसा स्वरूप प्रकट करता है वैसा ही उसका स्वरूप वस्तुतः उस अधिकारीके हेतु बन जाता है. अन्यके लिये अन्यविध भी हो सकता है. अतः उसका स्वरूप सर्वरसातीत एवं सर्वरसात्मक होनेके बावजूद अधिकारिविशेषके हेतु लीलार्थ एकरसात्मक भी हो सकता है. यही कारण है कि देश-कालमें प्रकट हुयी उसकी लीलाका देश-कालातीत व्यापिवैकुण्ठस्थ-नित्यलीलात्मक रूप भी स्वीकारा ही गया है. क्योंकि

उसकी निखिलद्वैतवर्जित आत्मरति ही प्रिया-प्रियतमवाली शृंगाररतिके द्वैतमें अपने-आपको प्रकट करती है.

ऐसे ही व्रजमें गोपालरूपेण लीलाके परिकररूप स्वयं उसकी क्रियाशक्ति एवं ज्ञानशक्ति का गोपीजनोंके रूपमें मूर्तिमान् होना स्वीकारा गया है. क्रियाशक्तिरूपा गोपिकाओंको ऋषिरूपा कुमारिका माना गया है और ज्ञानशक्तिरूपा गोपिकाओंको श्रुतिरूपा अन्यविवाहिता माना गया है. प्रथम प्रकारकी गोपिकायें अपने प्रियतम गोपराजकुमारके साथ साधन-फलभावके सम्बन्धका उदाहरण हैं. भगवान्‌की बहिर्भावापन्न मूर्तिमती शक्ति ही विशेषनाम-रूप-कर्मात्मना प्रकट कात्यायनी देवी है. उसकी व्रत-अर्चनारूप साधनाद्वारा ये ऋषिरूपा गोपिकायें पाना तो तन्नाम-रूप-कर्मात्मा श्रीकृष्णको ही चाहती हैं देवीको नहीं. दूसरे प्रकारकी गोपिकायें गौणभाववश अन्यान्य गोपजनोंसे विवाहित या संगत होनेपर भी अपने परम तात्पर्यविषयीभूत प्रमेय श्रीकृष्णके साथ संगत होना चाहती हैं. क्योंकि एक ही प्रमेयभूत श्रीकृष्णतत्त्व अनेकविध नाम-रूप-कर्मोंके रूपमें अनेकविध गोपजनोंके रूपमें प्रकट होनेसे प्रकटार्थ गौण तथा प्राकट्यकारी मूलतत्त्व परमतात्पर्यविषयीभूत रहता माना गया है. अतएव आत्मरति ही शृंगाररत्यात्मना रासलीलामें प्रकट हुयी है. इस बारेमें श्रीमद्भागवतमें दो महत्त्वपूर्ण बातें स्वयं [१]गोपीजनोंके वचन तथा [२]शुकदेवजीके वचन रूपेण यों मिलती हैं :

[१]"आप हमारे ही केवल नहीं परन्तु प्रत्येक देहधारीके ईश प्रेष्ठ बन्धु और आत्मा सभी कुछ हो. अतएव कुशल व्यक्ति तो आपमें ही अपनी रति निभाते हैं" (भाग.पुरा.१०।२-६।३२-३३).

[२]"गोपिजनोंके और उनके पति गोपजनोंके ही नहीं अपितु प्राणिमात्रके भीतर परमात्मरूपेण बिराजमान तत्त्व ही श्रीकृष्णरूपेण लीला प्रकट करनेको बाहर प्रकट हुवा

है. वह तो केवल अपने अनुग्रहवर्षाको बरसानेको ही मानुषदेह धारण कर प्रकट हुवा है.''(भाग.पुरा.१०।३०।३६-३७).

यहां हम देख सकते हैं कि स्वयंकी नहीं प्रत्युत सकल देहधारियोंके अन्तरात्मा भगवान्के होनेका भान गोपीजनोंको भगवत्प्रदत्त कामभावमें व्यवधान नहीं बन पाया.

तृतीयतया आधुनिक पुष्टिजीवोंके लिये ऐसे व्रजाधिपके प्रति अनुसरणीय भाव और अनुकरणीय भजनरीति में भक्तिरसात्मकतया भगवान्के भावनको प्रधान मानना या शृंगाररसात्मकतया? इसका समाधान खोजना हो तो महाप्रभूपदिष्ट उपदेशात्मक ग्रन्थोंके गम्भीर अवगाहन बिना कुछ स्पष्ट नहीं हो सकता. तदनुसार श्रीयमुनाष्टककी फलश्रुतिमें महाप्रभु शृंगारात्मिका रति न कह कर सामान्य रति ही सिद्ध होनेका वरप्रदान कर रहे है. बालबोधमें भी भगवान्के प्रति शरणागति और समर्पण की अर्थात् अन्याश्रय और अन्यासक्ति के त्यागकी बात कर रहे हैं. सिद्धान्तमुक्तावलीमें ब्रह्मवादके आधारपर श्रीकृष्णमें अपनी बुद्धिको जोड़ कर माहात्म्यज्ञान और अपने तन-मन-धनके विनियोगरूप भजनकी बात कर रहे हैं. पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदमें भी भगवान् अपने गुण और/स्वरूप के प्रभेदवश जैसे भी भूतलपर प्रकट हों वैसे भगवान्को फलतया स्वीकारनेका उपदेश दे रहे हैं. अर्थात् केवल शृंगाररसात्मक भगवान्को नहीं. सिद्धान्तरहस्य-नवरत्न-अन्तःकरण-विवेकधैर्याश्रय-कृष्णाश्रयमें सकल चिन्ता-ओंके त्यागपूर्वक सेवकभाव रखते हुवे अपने आत्मात्मीय सर्वस्वके समर्पणद्वारा श्रीकृष्णसेवाको या श्रीकृष्णप्रपत्तिको विवेक धैर्य तथा अनन्याश्रय के साथ निभानेका उपदेश दे रहे हैं. चतुश्लोकीमें सर्वभाव — नकि शृंगारात्मिका रतिके भावसे — से सर्वसमर्थ प्रभुको सर्वात्मना हृदयमें धारण कर उनके स्मरण-भजनको निभानेका उपदेश दिया गया है. भक्तिवर्धिनीमें भक्तिरसकी अभिवृद्धिके उपायों — नकि शृंगारात्मिका रतिकी

अभिवृद्धिके उपायों — का उपदेश है. जलभेद-पञ्चपद्यानिमें भक्तिरसकी अभिवृद्धिके उपायतया आवश्यक भगवान्के स्वरूप-गुण-लीलाओंके श्रवण-कीर्तन किस अधिकारीके साथ निभाना इसका उपदेश है. संन्यासनिर्णयमें भी भक्तिकी कैसी अवस्थामें भगवान्के भक्तिरसीय वियोगके अनुभवार्थ — केवल गोपीजनोंके गृहत्यागको ही नहीं प्रत्युत कौण्डिन्य ऋषिके — गृहत्यागको भी आदर्शतया अनुसरनेकी बात है. ऐसी भक्तिके निरोधावस्थामें परिपाकके लिये केवल शृंगारभाववती गोपीजनोंकी भावना ही नहीं प्रत्युत श्रीनन्दयशोदा आदि सभी व्रजवासियोंके विविधरसात्मक भावोंकी भावना सेवा और/अथवा कथा में अनुसरणीय बतायी गयी है. वेणुगीतमें शृंगाररसात्मक सर्व बाह्याभ्यन्तर कर्म-ज्ञानेन्द्रियोंके भगवान्में विनियोग अवश्य दिखाया है परन्तु प्रस्तुत निरोधलक्षणमें भक्तिरसमें भी वह कैसे शक्य बन सकता यही उपदेश्य है. अन्तमें सेवाफलमें इस प्रकारकी भक्तिरसात्मिका सेवामें प्रकट होती फलानुभूतिके तीन प्रभेद तनुनवत्व सायुज्य और नवतनुत्व के दरसाये हैं. कहीं शृंगाररसकी अपरिहार्यता दिखलायी नहीं गयी है. एतावता सिद्ध होता है कि प्रेम-आसक्ति-व्यसनदशा-निरोध-सर्वात्मभावके उत्तरोत्तर अभिवृद्ध होते रूपोंमें जैसे गोपीजनोंकी शृंगारात्मिका रति विकसित हुयी, वैसे ही श्रीनन्दयशोदाकी वात्सल्यभावात्मिका रति भी विकसित हुयी, वैसे ही गोपसखाओंकी सख्यभावात्मिका रति भी विकसित हुयी, अन्य व्रजके गृहदासदासिओंकी दास्यभावात्मिका रति भी विकसित हुयी. उनके भावोंको हमारी भक्तिभावात्मिका रतिमें संचारिभावतया भावन करनेसे हमारी भक्ति ही संयोग-विप्रयोगात्मिका एवं प्रकट/गूढ़ भोग्य-भोक्तृ-साक्षिभावोंमें भी विकसित हो पायेगी. यही महाप्रभुको अभिप्रेत लगता है. अतएव लीलादृष्ट्या निरोधकी प्रधानता होनेपर भी स्वरूपदृष्ट्या मुक्ति और आश्रयस्वरूपमें प्रत्यापत्ति का अस्वीकार शक्य नहीं. अतः परमफल यहां चरमफल नहीं रह जाता है और चरमफलके परमफल होनेका भाव भक्तहृदयमें दृढ़ नहीं हो पाता. अतएव प्रभुचरण कहते हैं **''भगवान्की स्वामिनिओंको अर्थात् गोपीजनोंको तो भगवान्का बाह्य प्रकट रहना ही अभीष्ट लगता है, क्योंकि तभी**

इन्हें ईश्वरवाद उपपन्न लगता है अन्यथा तो शून्यवादके प्रमाणिक होनेकी भावना उभरने लगती है'' (सुबो.टिप्प.१०।२६।७). अतएव ''भगवान्‌की लीला बाह्य और आभ्यन्तर उभयविधा होती है, जिनमें आन्तर लीला परमफलरूपा होती है'' (सुबो.१०।२६।०कारि.५) कहनेवाले महाप्रभु ही यह भी विधान निःसंकोच करते हैं कि ''बाह्यके बिना केवल आभ्यन्तर भगवदनुभूति व्यर्थ होती है'' (सुबो.१।६।०कारि.२).

अस्तु प्रकृत विषयके पुनः अनुसन्धानार्थ इन भावोंके द्वैविध्यमें अविकृततया परिणत होनेवाले देश-काल-स्वरूपतः अपरिच्छिन्न अनन्त या आनन्द रूपी ब्रह्मका साक्षिभाव विलुप्त नहीं हो जाता. ब्रह्मके साक्षिरूप या साक्षिभाव का प्रतिपादन उपनिषद् और भगवद्गीता के ''साक्षी चेता केवलो निर्गुणः च''-''गतिः भर्ता प्रभुः साक्षी'' (श्वेता.उप.६।११ - भग.गीता.९।१८) वचनोंमें भी उपलब्ध होता ही है. इस साक्षिभावौपयिक स्वरूपको ही अन्तर्यामी माना गया है. यह साक्षिभाव भी तीनों आधिभौतिक आध्यात्मिक एवं आधिदैविक रूपोंमें शक्य क्यों नहीं हो सकता?

इस विषयको भलीभांति बुद्धिगत कर लेनेपर अब सुखेन यह कहा जा सकता है कि भोग्य-भोक्तृ-साक्षिभावोंकी त्रितयी, साथ ही साथ इनके इतरेतरनिहित गूढ़ स्त्रीभावों और प्रकट पुम्भावों, यों गूढ़-प्रकट साक्षिभावों के षट्क होते हैं. अतः वह केवल शृंगाररसके अलावा अन्यत्र सम्भव नहीं ऐसे रूढ़ाग्रहका त्याग भी कर्तव्यापतित बन जाता है.

(१५)इन सभी भावोंके भीतर गूढ़भाव भी भरे रहते हैं :

अर्थात् [१]प्रकट भोक्तृभाव या पुम्भाव [२]प्रकट भोग्यभाव या स्त्रीभाव [३]गूढ़ भोक्तृभाव या पुम्भाव [४]गूढ़ भोग्यभाव या स्त्रीभाव [५]प्रकट साक्षिभाव तथा [६]गूढ़ साक्षिभाव यों छह भाव सरलतासे सोचे जा सकते हैं. अतएव प्रत्येक प्रकट पुम्भावके भीतर एक गूढ़ स्त्रीभाव और गूढ़

साक्षिभाव रहता है. प्रत्येक प्रकट स्त्रीभावके भीतर एक गूढ़ पुम्भाव और गूढ़ साक्षिभाव रहता है. इसी तरह प्रत्येक प्रकट साक्षिभावके भीतर भी एक गूढ़ पुम्भाव और गूढ़ स्त्रीभाव भी रहता ही है. भावोंके ये प्रभेद सर्वत्र होते हैं. इसीलिये शृंगाररससम्बन्धी पुम्भाव स्त्रीभाव और साक्षिभाव के भीतर भी गूढ़ पुम्भाव गूढ़ स्त्रीभाव और गूढ़ साक्षिभाव शक्य बन पाते हैं. प्रत्येक व्यवसायात्मिका अनुभूतिके बारेमें गूढ़ अनुव्यवसायात्मिका अनुभूति प्रत्येक द्रष्टाको अपनी अनुभूतियोंका साक्षी भी सिद्ध करती है. प्रत्येक कर्ताको भी इसी तरह अपने कृताकृत या अन्यथाकृत का अनुव्यवसाय होता ही है जो कर्ताके भीतर भरे गूढ़ साक्षिभावकी गवाही देता है. इसी तरह प्रत्येक सुख-दुःख-उपेक्षाभावोंके भोक्ता या रत्यादि स्थायिभावोंके रसभोक्ता के भीतर भी थोड़ेसे प्रयासके द्वारा गूढ़ साक्षी बोलता सुनायी देता है. अतएव वह स्वयंकी ऐसी भोगनियति या ऐसी भोगरति के कारण जान पाता है.

(१६)ब्रह्म परमात्मा और भगवान् होनेके रूपोंमें भी प्रकटभाव और गूढ़भाव :

अतः औपनिषदिक परब्रह्मके स्वरूपलक्षणरूप **'सच्चिदानन्दत्व'**में, कार्यलक्षणरूप **'जगदुत्पत्तिस्थितिलयाभिन्ननिमित्तोपादानत्व'** में, अन्तर्यामीके लक्षणरूप **उपद्रष्टृत्व अनुमन्तृत्व भर्तृत्व भोक्तृत्व महेश्वरत्व परमात्मत्वमें** भी सुखेन इतरेतरनिहित प्रकट/गूढ़ स्त्रीभाव/पुम्भावको परख पाना कठिन नहीं. इसी तरह श्रीमद्भागवतके भी सर्ग-विसर्ग-स्थान-पोषण-ऊति-मन्वन्तर-ईशानुकथा-निरोध-मुक्ति-आश्रयरूप दशविध लीलाओंमें भी प्रकट/गूढ़ पुम्भावों/स्त्रीभावों को परखा जा सकता है.

(१७)सच्चिदानन्द ब्रह्मके प्रकट और गूढ़ पुम्भाव=भोक्तृभाव, स्त्रीभाव=भोग्यभाव तथा साक्षिभाव :

सर्वाद्यतया ब्रह्मके सच्चिदानन्दके सदंशका विचार करनेपर श्रुतियोंमें

ऐसा स्पष्ट उल्लेख पाते हैं कि "असत्में सत् प्रतिष्ठित है, सत्में भूत प्रतिष्ठित है, भूत भावीमें आहित है; और भावी भूतमें प्रतिष्ठित होता है" (अथर्वसंहि.१७।१।१९). अतः सिद्ध होता है कि प्रकट सत्के भीतर एक गूढ़ असत् अन्तर्निहित रहता है. इसी तरह प्रकट असत्, अर्थात् भूत और भव्य में, में एक गूढ़ सत् अन्तर्निहित रहता है. इनसे ब्रह्म अनभिज्ञ नहीं रहता क्योंकि भागवतमें आता है कि "आधिदैविक आनन्दांशरूप साक्षिभूत अन्तर्यामी और आध्यात्मिक चिदंशरूप भोक्तृभावापन्न जीवात्मा के बीच आधिभौतिक सदंशरूप भोग्यभावापन्न यह देह विभाजक उपाधि बन कर प्रकट होता है. इनमें मुक्तिवशात् भोक्ताके न रह जानेपर; अथवा प्रलयवशात् भोग्यके न रह जानेपर, त्रिककी अनुभूति न तो भोक्ता और न साक्षी में सम्भव रह जाती है. तबभी इन तीनोंके मूलसाक्षिरूप परब्रह्म परमात्मा भगवान्को त्रिककी उपलब्धि अविकल बनी रहती है. ऐसे उसे 'स्वाश्रयाश्रयात्मा' कहा जाता है" (द्रष्ट. : भाग.पुरा.२।१०।८-९).

इसी तरह सच्चिदानन्दगत चिदंशके विचारसे भी श्रुति हमें यह दरसाती है "उसने चाहा कि 'मैं एक अनेक बन जाऊं'... उसने यह सब कुछ रचा... इसकी रचना कर वह स्वयं इसमें अनुप्रविष्ट हो गया. अनुप्रविष्ट हो कर... विज्ञान और अविज्ञान भी... वही बन गया." (तैत्ति.उप.२।६) अर्थात् ब्रह्मके प्रकट चिदंशमें ही किसी तरहके गूढ़ अविज्ञान छिपा हुवा रहता है. और ऐसे प्रकट अविज्ञानमें ब्रह्मका गूढ़ विज्ञान भी अन्तर्निहित रहता है. अतएव महाप्रभु कहते हैं "विद्या और अविद्या दोनों ही श्रीहरिकी शक्तियां हैं" (त.दी.नि.१।३१). यही बात "उस ऐसी इस आत्मामेंसे आकाश बना... उसमेंसे वायु... उसमेंसे अग्नि... उसमेंसे जल... उसमेंसे पृथिवी... उसमें ओषधियां... उनसे अन्न... और अन्नसे पुरुष बने" (तैत्ति.उप.२।१) यों परमात्मामें अन्तर्निहित आकाशादि पुरुषान्त महाभूतोंकी जड़सृष्टि ही नहीं प्रत्युत इन आत्मसृष्ट अन्नमय पुरुषादिके भीतर व्युत्क्रमेण प्राणमय मनोमय

विज्ञानमय और अन्तमें आनन्दमय ब्रह्मकी भी उत्तरोत्तरमें अन्तर्निगूढ़ स्थिति श्रुतिमें वर्णित हैं (द्रष्ट. : तैत्ति.उप.२।२-५). अतएव महाप्रभु कहते हैं "अखण्डरूपमें निहारनेपर यहां सभी कुछ श्रीकृष्णात्मक ही है. क्योंकि वह प्रभु स्वयं ही अपने-आपको सृष्टा और सृज्य बनाता है. वही विश्वात्मा होनेसे अपने-आपको त्राता और त्रेय बनाता है. वही परमेश्वर होनेसे अपने-आपको संहर्ता और संहार्य बनाता है" (त.दी.नि.२।१८३).

अतएव प्रत्येक प्रकट सृज्य वस्तुमें गूढ़ सृष्टा प्रभु अन्तर्निहित होता है. प्रभुमें यदि गूढ़ प्रभाव्य या सृज्य अन्तर्निहित न होता तो श्रुति ऐसा क्यों कहती कि "जैसे मकड़ी अपने भीतरसे जाला निकाल कर बाहर उसे बुनती है, ऐसे ही इसी आत्माके भीतरसे सारे प्राण लोक देव और भूत व्युच्चरित होते हैं" (बृह.उप.२।१।२०)? अतः सिद्ध हो जाता है कि उसी आत्मप्रकट ब्रह्मके भीतर अन्तर्निगूढ़ प्रत्येक सृज्य पदार्थ भी रहते ही हैं. अतएव प्रत्येक प्रकट भोग्यवस्तुके भीतर भी वह गूढ़ भोक्तृभावेन और साक्षिभावेन अन्तर्यामी बन कर बिराजमान रहता ही है "सभी भूतोंके भीतर रहता हुवा सभीको अपने शरीरकी तरह धारण करता है" (बृह.उप.३।७।१५). इसी तरह उस सर्वत्राता विश्वात्माके भीतर सर्वविध त्रेयरूप विश्वात्मक शरीर गूढ़तया रहते हैं. और उनमें पुनः गूढ़तया विश्वात्मा भी निहित रहता है. यही बात संहार्य और संहर्ता के बीच भी परस्पर प्रकटरूप और गूढ़रूपों की सरलतया समझी जा सकती है. प्रकट संहार्यके दुःख-मोह-शोकमें गूढ़ संहर्ताका आनन्द भरा रहता है. इसी तरह प्रत्येक प्रकट संहर्तके भीतर गूढ़ शोकमोहजनक संहार्यके विद्यमान होनेकी आनन्दात्मिका लीलाको विद्यमान माना गया है.

स्वरूपलक्षणके बाद ब्रह्मको कार्यलक्षणकी दृष्टिसे देखनेपर यह त्रिक वहां भी पहचाना जा सकता है. क्योंकि उपनिषदोंके अनुसार

सृष्टि-स्थिति-संहृतिकी लीला ब्रह्मके भीतर एक ऋजुरेखाकी तरह ऐकान्तिक आद्यन्तभाव लिये नहीं होती. वह तो निरन्तर चक्रवत् वर्तुलाकृतिवाली होती है. अतः प्रत्येक उत्पत्तिमें स्थिति-संहृति, प्रत्येक स्थितिमें उत्पत्ति-संहृति और प्रत्येक संहृतिके भीतर उत्पत्ति-स्थिति गूढ़भावेन निहित रहती ही हैं. और यह प्रक्रिया किसी अचेतन पदार्थके भीतर चलती नहीं मानी गयी है. आत्मचेतनामें ही चलती मानी जाती होनेके कारण इनके भीतर साक्षी भी अन्तर्निगूढ़ रहता ही है.

(१८)सकल सृष्ट जीवात्माओंके भीतर शरीरमें विद्यमान अन्तर्यामी :

इस अन्तर्यामीके भी ऐसे उभयविध रूप निरूपित हुवे हैं : जैसे द्रष्टा रूपी जीवात्माके भीतर उपद्रष्टा रूपी अन्तरात्मा और उस उपद्रष्टा रूपी अन्तरात्माके भीतर द्रष्टा रूपी जीवात्मा परस्पर उपदर्शनके सम्बन्धमें अन्तर्निहित रहते हैं. वैसे ही मन्ताके भीतर अनुमन्ता और उसके भीतर मन्ता निहित रहते हैं. अतएव **"जो परमेश्वरका भरण अपने भीतर करता हो उसका भरण परमेश्वर अपने भीतर करता है"** (तैत्ति.आर.३।१४।१) जैसे श्रुतिवचनोंमें उस गूढ़ भार्यभूत भगवान्को प्रकट भर्ता रूपी जीवात्माके भीतर और गूढ़ भर्तृभूत भगवान्के भीतर प्रकट भार्य जीवात्माको माना गया है. इसे अन्य भी सभी रूपोंका उपलक्षण मान कर निहारनेकी सूझ-बूझ रखनेके प्रयत्न करनेपर बात अधिक स्पष्ट हो सकती है. भोग्यके भीतर भोक्ता और भोक्ताके भीतर भोग्य का निरूपण तो हमने देख ही लिया. ईशितव्यके भीतर ईश्वर और इस ईश्वरके भीतर ईशितव्य भी रहता ही है. इसे भगवान्के भक्ताधीन होने और भक्तभावानुरोधी स्वरूपधारण करनेके निरूपणोंके आधारपर समझा जा सकता है. वैसे भगवान्के विराट् स्वरूपमें ये सभी कुछ उसके भीतर भी भरा माना गया है. अतएव भगवद्गीतामें **"सारे व्यक्त भूत मुझ अव्यक्तके भीतर अवस्थित हैं मैं किसीके भीतर नहीं... इन्हें मैं कल्पके आदिमें प्रकट और कल्पके अन्तमें आत्मलीन करता रहता हूं पर अनासक्त और उदासीन की तरह साक्षिभावसे ही इस सृष्टि-प्रलयको निहारता होनेसे ये कर्म मेरेलिये बन्धनकारी नहीं हो पाते"** (भग.गीता.९।४-९). ऐसा निगूढ़ साक्षिभाव प्रतिपादित हुवा है.

(१९)भागवतप्रतिपादित दशविध लीलाओंमें भी ऐसे गूढ़ और प्रकट भाव :

ब्रह्ममेंसे जड़जगत्की उत्पत्ति-स्थिति-संहृति और ऐसे उस जगत्में बंध जानेवाले जीवकी मुक्ति उस ब्रह्मके कार्यतया तथा श्रवण-मनन-निदिध्यासनरूप मोक्षप्रद साधनाके रूपमें भी उपदिष्ट हुयी हैं. श्रीमद्भागवतपुराण, परन्तु, उत्पत्तिको सर्ग-विसर्गलीलाके रूपमें, स्थितिको स्थान-पोषण-ऊति-मन्वन्तर-ईशानुकथा और निरोध लीलाओंके रूपोंमें, मुक्ति-संहृतिको मुक्ति-आश्रयभावापत्तिकी लीलाओंके रूपमें स्वीकारता है. यह भक्तोंकेलिये भगल्लीलाश्रवण भगवल्लीलाकीर्तन और भगवल्लीलास्मरण करानेके भक्तिरूप प्रयोजनवश प्रतिपादित हुवा है. महाप्रभु कहते हैं **"इस भागवतरूप शास्त्रका साकल्येन प्रतिपाद्य विषय आनन्दरूप भगवान्की परमानन्दात्मिका लीला हैं. अतएव इसे भक्ति प्रकट करनेवाली संहिता जाननी चाहिये. सृष्टि आदिको भगवान्की लीलाके रूपमें जाननेपर ही भक्ति प्रकट हो पाती है, जैसे ब्रह्मके कार्यतया सृष्टिको जाननेपर ज्ञान प्रकट होता है"** (सुबो.१।१।४) महाप्रभु सुस्पष्ट शब्दोंमें यह प्रतिपादन भी करते हैं कि **"श्रीकृष्ण परमानन्दरूप हैं, दशविध लीलाओंमें सदा विहार करते रहते हैं. और सभी भक्तोंके समुद्धारार्थ वे विस्फुरित होते हैं"** (त.दी.नि.३।१।१). यह भगवल्लीलावर्णन भागवतमें दो तरहसे किया गया है : १.श्रीकृष्णके परब्रह्म होनेके पहलुमें जो सृष्ट्यादि लीला प्रकट होती हैं, २.सृष्टिमें प्रकट होनेवाली अवतारी श्रीकृष्णकी अवतारलीलाओंके रूपमें. प्रथम प्रकार भगवत्प्रयुक्त एवं भगवत्सापेक्ष सृष्टिलीलाका है. द्वितीय प्रकार सृष्टिलीलाप्रयुक्त एवं सृष्टिलीलासापेक्ष भगवान्के गुण धर्म रूप एवं चरित्र का है. क्योंकि धर्मस्थापन अधर्मनिराकरण साधुत्राण और असाधुविनाशन या भक्तमनोरथपूरण सभी तरहके

भगवत्प्रादुर्भावोंमें जीवात्मा प्रार्थनाकर्ता या आशावान् कर्ता होनेके रूपमें प्रयोजककर्ता बनता है. परमात्मा प्रयोज्यकर्ता बनते हैं. अतएव सर्गादिलीलाओंमें भगवान्मेंसे सृष्टिका प्रादुर्भाव और ऐसी सृष्टिमें प्रकटे पदार्थ या पुरुषों मेंसे भगवत्प्रादुर्भाव भी निरूपित हुवे हैं. इस गूढ़भावकी समझ ही भक्तिभावकी जनक बनती है. इसी तरह स्थितिलीलाके चरमोत्कर्षरूप निरोधके भी दोनों ही प्रकार : भगवान्का जीवात्माओंके बीच प्रकट होना साधनरूप निरोध माना गया. जीवात्माओंका प्रपञ्चको भूल कर भगवान्में तन्मय होना फलरूप निरोध माना गया. इसी तरह मुक्ति-आश्रयलीलाओंके अन्तर्गत भी दोनों तरहसे भगवन्मुक्ति भी और जीवमुक्ति भी मानी गयी हैं. इसी तरह आश्रयभावापत्तिमें भी जीवकी भगवद्भावापत्ति और प्रकट सच्चिदानन्दात्मक भगवत्स्वरूपमें चल रही नित्यलीलामें भगवान्की दिव्य जीवभावापत्ति भी वर्णित हुयी है. यों जीवात्माओंके भीतर गूढ पुम्भाव और परमात्माके भीतर गूढ़स्त्रीभाव स्वीकारे गये है.

महाप्रभुने यह भी स्पष्टीकरण दिया है कि **''वेदान्तोपनिषदोंमें जिस श्रीकृष्णके ब्रह्म होनेके पहलुकी प्रधानता है, गीतामें उसके परमात्मा होनेकी प्रधानता है और भागवतमें उसीके भगवान् होनेके पहलुकी प्रधानता है. तदनुसार मैं भी इन-इन शास्त्रोंमें सिद्ध इन तीन पहलुओंका प्रतिपादन अपने ग्रन्थमें भी करूंगा''** (त.दी.नि.१।६).

(२०)प्रस्तुत विमर्शका फलितार्थ :

ऐसे श्रीकृष्णके मुखारविन्दके अवताररूपेण महाप्रभुको स्वीकारा गया है. अतः श्रीकृष्णके इन त्रिविध स्वरूप और दशविध लीलाओं को भुलाना उचित नहीं. यों लीलाविशेषमें प्रकट होते श्रीकृष्णके [१]गूढ़स्त्रीभाव, लीलापरिकरोंके भीतर प्रकट होते विशेष [२]गूढ़पुम्भाव; और, श्रीकृष्णके विशेष प्रकटपुम्भाव एवं लीलापरिकरोंके विशेष प्रकटस्त्रीभावों के विशेष [३]साक्षिभाव भावोंमें महाप्रभुको परिसीमित क्यों मानना चाहिये? क्यों न इसके

बजाय साकल्येन ही स्वीकार लेना?

सर्वोत्तमस्तोत्रमें **''श्रीभागवतपीयूषसमुद्रमथनक्षमः-तत्सारभूतरासस्त्री-भावपूरितविग्रह''** (सर्वो.स्तो.१६) नामोंमें भागवतको पीयूषसमुद्र मान कर, रासमें भगवान्की शृंगारात्मिका रसानुभूति करनेवाली गोपिकाओंके भावको उसका सार माना गया है. ऐसी शब्दावलीके प्रयोगके कारण हम बहक जाते हैं परन्तु दूसरी जो बात महाप्रभुके बारेमें उन्हें 'रासलीलैकतात्पर्य' (सर्वो.स्तो.१७) माननेके बाद प्रभुचरण कहते हैं कि **'विरहानुभवैकार्थसर्वत्या-गोपदेशकः'** (सर्वो.स्तो.१८) उसपर ध्यान नहीं देते. इन नामोंके आधारपर निरूपित होती महाप्रभुकी उभयविधताको स्वीकारनेसे कतराना उचित नहीं.

क्योंकि सम्पूर्ण श्रीमद्भागवतके परित्यागपूर्वक रासलीलाप्रकरणका ऐकान्तिक परिग्रह अथवा रासलीलाप्रकरणके परित्यागपूर्वक सम्पूर्ण भागवतके श्रवण-कीर्तन-स्मरणका आत्यन्तिक दुराग्रह यों दोनों ही महाप्रभुके मत और रुचि से विपरीत जाती कथा है.

यह तो ठीक ही है कि अभिहितार्थकी तुलनामें तात्पर्यविषयीभूत अर्थ प्रधान होता है परन्तु उस तात्पर्यविषयीभूत अर्थका सौन्दर्य भी प्रकट होता है, अभिधावृत्तिद्वारा इंगित होनेपर ही! अर्थात् शब्दकी अतिमुखर अभिधावृत्तिसे प्रकट होनेपर नहीं! क्योंकि तात्पर्यविषयीभूत अर्थका अभिधावृत्तिद्वारा निरूपण किये जानेपर निरूप्यमाण अर्थ अपना सारा सौन्दर्य खो देता है!! अतएव तात्पर्यविषयीभूत अर्थ भी प्रकट होता है अभिहितार्थके प्रकट होनेके बाद उसके माध्यमद्वारा ही!!! जैसे तात्पर्य या व्यञ्जना से रहित अभिधावृत्ति रसात्मिका चमत्कृति प्रकट नहीं कर पाती, वैसे ही उस तात्पर्यविषयीभूत व्यङ्ग्यार्थका अभिधासे निरूपण भी केवल रसाभास ही प्रकट करता है, रसात्मक चमत्कार नहीं.

अतः उस एकमेव अद्वितीय परम तत्त्वका अनेकवद्भावापन्न होना जैसे सृष्टिलीला है वैसे ही आत्मना विभक्त अनेकोंके बीच अन्तर्यामितया अनुप्रविष्ट उस गूढ़ एकमेवाद्वितीयका पुनः स्वारसिक एकत्वको निभाते हुवे अनेकरूपोंमें प्रकट हो जाना ही रासलीलाका प्रमुख तात्पर्यविषयीभूत स्थायिभाव है. वह दशमस्कन्धकी पञ्चाध्यायीमें शृंगारात्मिका लीलाके अभिधानद्वारा निरूपित हुवा. उसका भी परमतात्पर्य तो उपनिषद्में प्रकटरूपेण अभिहित एकमेवाद्वितीय तत्त्वके नाम-रूप-कर्मोंके अनन्तभेदोंमें प्रकट हो जानेपर उनमें निगूढ़ एकत्वकी रसानुभूति ही है. अतएव अनेक परमात्माद्वारा निजानन्दके उपभोगार्थ अनेक रूपोंको धारण कर सम्पन्न की गयी रासलीलामें भोक्तृभावापन्न श्रीकृष्णके स्वरूपके बजाय उन अनेक रूपोंके समक्ष अपने निगूढ़ भोग्यभावको प्रकट करनेवाले श्रीकृष्णको महाप्रभुने धर्मीरूप माना है. अतएव तीसवें अध्यायको धर्मिलीलाप्रतिपादक माना है, जबकि बत्तीसवें अध्यायमें प्रतिपादित लीलाको "आन्तरन्तु परं फलम्" (सुबो.१०।२६।०का.५) के रूपमें बिरदानेके बावजूद उसे केवल ज्ञानरूप गुणधर्म माना है. अतएव "**जितनी गोपिकायें थी उतने अपने रूप धारण कर** आत्माराम भगवान्ने **उनके** साथ **रमणकी** लीला **की**" (भाग.पुरा.१०।३०।२०) यों गूढ़स्त्रीभाव अर्थात् भोग्यभाव प्रकट करनेवाले श्रीकृष्णको ही महाप्रभु धर्मिरूप पूर्णानन्द मानते हैं.

यहां शंका उठ सकती है कि तो युगलगीतमें प्रतिपादित होती भगवल्लीलाकी आन्तर अनुभूतिको 'परमफल' क्यों माना? इस प्रसंगमें यह अवधेय है कि तामसफलप्रकरणके तीसवें अध्यायमें धर्मिप्रतिपादिका लीलामें भगवान्की बाह्यभोग्यता जैसे निरूपित हुयी है. ऐसे ही बत्तीसवें अध्यायमें आभ्यन्तर भोग्यताका निरूपण होनेसे वहां परमफलता मानी जाती है. वैसे यह बात यहींपर थम नहीं जाती है. क्योंकि यह तो भगवान्की कृपाका वर्णन है. इसे प्रमेयबल या फलबल माना गया है और उसके कारण सम्पन्न हुयी लीला है. व्युत्क्रमेण भगवान्ने उन्हीं गोपिकाओंको प्रमाण या साधन के बलसे अनुभूत होनेवाली

लीलाओंका भी अनुभव अग्रिम राजसप्रमेयप्रकरणमें कराया है. अतएव साधनरूप विरहानुभवार्थ सर्वफलानुभावक सामग्रियोंके त्यागका भगवत्प्रदत्त उपदेश भी महाप्रभुने समझाया है "**अपनी कृपा दरसानेको मैं अपनी पूर्णताको निभाते हुवे प्राप्त हो गया परन्तु फिरभी साधनोंकी पूर्णताके बिना मुझे पा लेना मेरी अपूर्ण अनुभूति ही होनेसे साधनोंकी पूर्णता विरहानुभूतिमें स्वीकारनी चाहिये**" (सुबो.१०।४४।३७). जहां प्रमाण और प्रमेय अथवा साधन और फल भिन्न होते हों उन्हें महाप्रभु मर्यादाकी भगवल्लीला मानते हैं. जहां, परन्तु, ये दोनों इतरेतरात्मक हों वह भगवान्की पुष्टिलीला मानी जाती है. ऐसी स्थितिमें प्रमाण/प्रमेय अथवा साधन/फल की चतुष्टयीमेंसे किसी एकका दुराग्रह भगवान्की इतरेतरात्मकताका अस्वीकार होनेसे उन्हें पुष्टिरूपसे प्रच्युत कर देता है. महाप्रभु केवल रासलीलैकतात्पर्यवश रासलीलाकी कथा प्रदान करनेवाले ही नहीं है अपितु विरहानुभवैकार्थ सर्वत्यागोपदेशक भी है. अतएव इस बारेमें सारे विसंवाद और सन्देह के निवारणार्थ जो वचन स्वयं भगवान्ने गोपिकाओंके प्रश्नोंके समाधानार्थ कहे उनकी सुबोधिनीके भावानुवादका अवलोकन अतीव उपकारक होगा :

> "**भजनार्थ भगवान्का उपयोग चार तरहसे शक्य है : "[१]भगवान् हमारी कामना पूर्ण करनेवाले हैं इस कारण उन्हें अपना भोग्य मानना, [२]हमारी कामनाओंकी पूर्तिके अनुबन्धमें भगवान्को बांधे बिना अर्थात् स्वतन्त्र रखते हुवे उन्हें भोग्य मानना, [३]भगवान्ने जो कुछ हमारेलिये सुलभ बनाया हो, उसे भक्तिभावके साथ भगवान्को समर्पित कर उसके भोक्ता भगवान्को मानना, [४]जैसे हम विषयोंका भोग करते हैं, वैसे ही भगवान् भी हमारा भोग या हमारे विषयोंका भोग करनेवाले हमारे जैसे क्षुद्र भोक्ता हैं.**
>
> **[१]प्रथम प्रकार तो सर्वथा भजनके स्वारसिक भाव या**

स्वभाव का ही विनाशक होता है. क्योंकि भगवान्‌का स्वरूप कितना भी दिव्य क्यों न दरसाया जाये पर विषयतया स्वीकारनेपर उन्हें कालमें परिच्छिन्न अल्प ही मानना पड़ेगा भूमा नहीं. [२]भगवदितर वस्तुविषयक हमारी कामनाओंको भगवान् पूर्ण करें या न करें पर हमें तो भगवान्‌का भजन केवल भक्तिरसके अनुभवार्थ ही करना हो, तदर्थ भगवान्‌को भोग्य मानना पड़ता हो तो कोई दोष नहीं. [३]इसी तरह ऐसी भक्तिके वश निज आत्मात्मीयको भगवान्‌को समर्पित करते हैं उनके भोक्ता भगवान्‌को माननेमें भी कोई दोष नहीं. [४]परन्तु भक्तिभावके भोक्ता माननेके स्थानपर भगवान्‌को स्वयं हमारी तरह विषयोंका भोक्ता मानना भगवान्‌के आत्मरमणके स्वभावके बारेमें नितान्त अपरिचयको उजागर करना होता है.

अतः ऐसे अवर्जित भावोंके अनुसार भगवान्‌को भोग्य या भोक्ता माननेवालोंको अपने हृदयमें निरूढ़ भावके अनुरोधवश ही कभी, भगवान्‌को सर्वरसभावोंसे भोग्य अथवा सर्वरसभावोंका भोक्ता माननेपर, भक्तको अपने भक्तिभावकी रसावर्जनामें व्यवधान अनुभूत होता है. अतः ऐसा भक्त तो अपने भावके अनुसार किसी एकतमरीतिकी त्रितयात्मकताका भावन अवश्य कर सकता है. उसमें कोई विप्रतिपत्ति या आपत्तिजनक बात नहीं. एतावता यहां प्रतिपादित सर्वरसात्मक स्वरूपके अन्तर्गत झलकते इन गूढ़पुम्भाव गूढ़स्त्रीभाव और साक्षिभाव का प्रत्याख्यान कथमपि शक्य नहीं.

यों पुष्टिमार्गीय गायत्रीके बीजरूप ब्रह्मवादाश्रित पुष्टिभक्तिमार्गीय ॐकारोपम 'सौन्दर्य'पद्यकी मीमांसा होनी चाहिये. इसे अग्रिम व्याहतिरूप सर्वोत्तमस्तोत्र श्रीवल्लभाष्टक और स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत के ही नहीं अपितु सकल महाप्रभूपदिष्ट ग्रन्थरूप गायत्रीके बीजरूपेण समझ रखना आवश्यक

है.

(२१)<u>सर्वोत्तम, श्रीवल्लभाष्टक और स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत स्तोत्रोंके प्रमुख प्रतिपाद्य विषय</u> :

इन तीनों स्तोत्रोंमें, जैसा कि हम देख चुके, क्रमशः महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके एक सौ आठ नाम, अष्टविध रूप तथा षड्विध गुणधर्म और एक धर्मी मिला कर सप्तविध स्तुति उनके द्वितीयात्मज गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरण द्वारा प्रकट की गयी हैं.

इन सभी स्तोत्रोंमें प्रमुख प्रतिपाद्य विषय तो प्राचीन उपनिषदादि शास्त्रोंमें उपदिष्ट आदर्श ही है. जैसा कि वहां उपलब्ध होता है :

१."जो पुरुष आचार्यवान् होता है वही इसे जान पाता है"(छान्दो.उप.६।१४।३).

२."वे देव बोले हमने देवविद्या और आत्मविद्या का उपदेश तो दिया परन्तु गति तो आचार्य ही समझा सकता है" (छान्दो.उप.४।१४।१).

३."आचार्यके बारेमें उसके देव होनेका भाव रखना चाहिये" (तैत्ति.उप.१।११).

४."जिसे देवमें परा भक्ति होती और जैसी देवमें हो वैसी ही गुरुमें भी हो तब इन बातोंको कोई समझ पाता है"(श्वेता.४।२३).

५."आचार्यको साक्षात् ब्रह्मकी मूर्ति समझना चाहिये" (भाग.पुरा.६।७।२९).

६."आचार्यके चैत्यवपुद्वारा परमात्मा अपनी गति इंगित करता है" (भाग.पुरा.११।२९।६).

अतः इस प्राचीन आदर्शके अनुसार गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरण भी अपने जनक आचार्य महाप्रभुके साक्षात् श्रीकृष्ण होनेका प्रतिपादन

इन तीनों स्तोत्रोंमें करते हैं. इसे किसी एक रूपमें परिसीमित रखनेके बजाय महाप्रभुकी भगवद्रूपताका प्रतिपादन अनेकधा इन स्तोत्रोंमें किया गया है. यह बात भी पुनः समझमें तभी आ सकती है जब 'सौन्दर्यं...'पद्यमें प्रतिपादित गूढ़पुम्भाव गूढ़स्त्रीभाव और साक्षिभाव का रहस्य भलीभांति बुद्धिगत ही नहीं अपितु हृद्गत भी हो गया हो.

तदनुसार प्रत्येक आराध्य भगवद्रूपके भीतर उसकी आराधनाके उपदेशक आचार्यका गूढ़रूप निहित रहता है और इसी तरह प्रत्येक आचार्यके भीतर वह जिस प्रकारकी भगवदाराधनाका उपदेश प्रदान करता होता है तदनुरूप आराध्यदेवका गूढ़रूप निहित होता है. चाहे फिर वह जरथूस्ट्र बुद्ध महावीर मॉजेस् ईसा या महम्मद पयगंबर हों या फिर श्रीशंकर श्रीअभिनव गुप्त श्रीरामानुज श्रीमध्व आदि वेदान्ताचार्य हों अथवा श्रीकबीर श्रीनानक श्रीतुलसीदास श्रीज्ञानेश्वर श्रीतुकाराम श्रीसमर्थ रामदास जैसे सन्त उपदेशक हों.

सर्वोत्तमस्तोत्र : में हम देख सकते हैं कि यहां बहुत सारे नामोंके युग्मोंमें इस तरहका इतरेतरान्तर्निहित इतरेतरके प्रकटभाव और गूढ़भाव की प्रक्रिया उभर कर दृष्टिगत होती है : यथा सर्वप्रथम नामयुग्म 'आनन्द-परमानन्द' की ही मीमांसा करें तो इनका स्वरूपानन्द-लीलानन्दके प्रभेदके अनुसार तात्पर्यावगाहन करें या अक्षरब्रह्मानन्द-पुरुषोत्तमानन्दके प्रभेद, अथवा लोकवेदप्रथित-लोकवेदातीतपुरुषोत्तमके प्रभेद, अथवा सृष्टिलीला-अवतारलीलाके प्रभेद, अथवा भगवन्माहात्म्यज्ञान-भगवद्विषयकसुदृढ़स्नेहके प्रभेद, अथवा स्वरूपानन्द-भजनानन्दके प्रभेद, अथवा भगवत्प्रपत्ति-भगवद्भक्तिके प्रभेद, अथवा भगवत्सेवा-भगवत्कीर्तनके प्रभेद, अथवा भगवान्की संयोगानुभूति-वियोगानुभूतिके प्रभेद, भगवद्भक्ति-भगवन्निरोधके प्रभेद, ऐहिकतनुनवत्व-पारलौकिकनवतनुत्वके प्रभेद जैसे जितने भी प्रभेद विचारे जायें उनमें यत्किञ्चित् अन्तर्दृष्टि हो इतरेतरके प्रकटभावोंके भीतर इतरेतरके गूढ़भावोंको

सुखेन खोजा जा सकता है. एतावता स्वमार्गमें भावुकोंके बीच निज-निज भावोंकी सरस तन्मयताके कारण विलसित होती विसम्मति अथवा विचारकोंके बीच निज-निज रूढ़ धारणाओंके नीरस दुराग्रहके कारण उच्छलित होते विवाद दोनोंके बीच एकवाक्यता खोजी जा सकती है.

यह प्रक्रिया केवल आद्य नामोंके युग्मका ही रहस्य है, ऐसे नहीं मान लेना चाहिये क्योंकि सर्वोत्तमस्तोत्रान्तर्गत अन्य भी अनेक नामोंके युग्मोंके बारेमें इतरेतरमें निगूढ़तया विद्यमान रहनेकी इस प्रक्रियाका निदर्शन हमें मिल सकता है. उदाहरणार्थ :

श्रीभागवतगूढार्थप्रकाशन-साकारब्रह्मवादस्थापन
वेदपारंगतता-मायावादनिराकरण
दैवोद्धारप्रयत्न-आर्तिनाशकस्मृति
ब्रह्मवादस्थापन-मायावादनिराकरण
आचार्यांगीकृतिमूलकगोपीशवल्लभीकरण-समर्यादांगीकृति
महोदारचरित्र-प्राकृतानुकृतिव्याजासुरमोहन
वैश्वानर-वल्लभ
सद्रूपता-सद्धितकृति
भक्तद्विड्रोषदृक्पातसम्प्लव-भक्तसेव्यता
सुखसेव्यता-दुराराध्यता
पूर्णानन्दता-पूर्णकामता
स्ववंशाशेषमाहात्म्यस्थापन-स्मयनिवारण
भक्तिमार्गे सर्ववैलक्षण्यानुभूतिकृत्-पृथक्शरणमार्गोपदेष्टा
सर्वानासक्ति-भक्तमात्रासक्ति
यज्ञभोक्तृता-यज्ञकर्तृता

इन नामोंकी इस सन्दर्भमें विशद विवेचना यहां शक्य न होनेसे केवल संकेत दिया जा रहा है. परन्तु इसे भलीभांति हृदयगत रखनेपर प्राचीन व्याख्याकारोंद्वारा दिये गये बहुविध तात्पर्यविवेचनमें मूलकारके

तात्पर्यके अनवगाह्य होनेकी कुण्ठासे अवश्य बाहर निकला जा सकता है.

दोषदृष्टि रख कर भगवद्वाणी या आचार्यवाणी में एक किसी वचनकी तुलनामें दूसरे वचनका कोई उत्कर्ष सोचना या दिखलाना निश्चय अपराध होता है. किसी वचनमें, किन्तु, प्रकट होनेवाले विशेष गुणके विशेष आसक्तिके भावकी रसानुभूतिमें विशेष चमत्कृति स्वीकारना यदि दोषावह न हो तो कहना चाहूंगा कि न केवल श्रीमत्प्रभुचरणकी अन्यान्य कृतिओंकी तुलनामें अपितु सकल पुष्टिमार्गीय स्तोत्रोंमें सर्वोत्तम स्तोत्र वस्तुतः सर्वोत्तमस्तोत्र है! क्योंकि जिस तरह इस स्तोत्रमें महाप्रभुके धर्म-दर्शनसम्बन्धी रहस्योंको गुम्फित किया गया है वह वस्तुतः अतीव विलक्षण है. इसे सर्वोत्तमस्तोत्रके तात्पर्यनिर्धारक उपक्रमोपसंहार अभ्यास अपूर्वता फलश्रुति निन्दास्तुति तथा उपपत्ति रूपी अंगोंकी मीमांसा करनेपर भलीभांति समझा सकता है. अतएव ग्रन्थकार कहते हैं "**महाप्रभुकी वाणी अतीव दुर्बोध होनेपर भी वह सुबोध बन पाये एतदर्थ अवबोधार्थ असामर्थ्यकारी अघोंको हरनेवाले महाप्रभुके अष्टोत्तरशत नाम मैं प्रकट कर रहा हूं**" (सर्वो.स्तो.४).

हम देख सकते हैं कि अतएव प्रभुचरण मंगलाचरणमें ही महाप्रभुके दर्शनका सार सर्वप्रथमतया निर्दिष्ट कर रहे हैं. महाप्रभुने अपने मतकी संग्रहकारिका स्वयं यों कहनी चाही है :

> **साकारं ब्रह्म शुद्धं हि माया तच्छक्तिः उत्तमा।**
> **तया सर्वत्र सम्मोहः साक्षाद् भक्तिश् च मोचिका॥**
> (सुबो.१।७।४)

यही बात प्रभुचरणने भी सर्वोत्तमस्तोत्रके मंगलाचरण तथा अनुबन्धप्रतिपातिपादक श्लोकोंमें समझा दी है : "**जिसमें किसी भी तरहका कोई प्राकृत धर्म होता नहीं परन्तु जो स्वयं अप्राकृत धर्मरूप**

हो ऐसे वेदवेदान्तसूत्रगीताभागवतादि शास्त्रोंमें प्रतिपाद्य शुद्ध साकार तत्त्वकी स्तुति करता हूं" (सर्वो.स्तो.१). हम देख सकते हैं कि यहां महाप्रभूक्त संग्रहकारिकामें, मायाके उत्तमशक्ति होनेपर भी मोहिका होनेका उल्लेखके अलावा अन्य सारी बातें साकारब्रह्मको शुद्ध कह कर तथा ऐसे ब्रह्मकी स्तुतिरूपा भक्तिको भी इंगित कर जता दी हैं. ब्रह्मको स्वयं गुणधर्मात्मक, अर्थापत्त्या गुणधर्मोंके ब्रह्मात्मक होनेके उल्लेखद्वारा, शक्तिरूपा मायाका स्वयं गुणधर्ममें अन्तर्भाव स्वीकार लिया गया है. अतएव पृथक्तया मायाका अनुल्लेख भी शक्ति और शक्तिमान् के बीच तादात्म्यकी अवधारणापर अवलम्बित ध्वनित हुवा है. साकारब्रह्मको शुद्ध कहनेमात्रसे ब्रह्मके मायिक आकारका व्यावर्तन भी सिद्ध हो जानेके कारण प्रभुचरण उसका उल्लेख करना आवश्यक नहीं मानते.

इसी तरह 'सौन्दर्य'पद्यमें प्रतिपाद्य ब्रह्मके माहात्म्यज्ञान प्राप्त हो जानेपर उसके प्रति सुदृढ़सर्वतो अधिकस्नेहके गूढ़भावोंवाली भक्तिके प्रादुर्भाव करनेको जिस या जैसे सौन्दर्यके रहस्यका विवरण उपदिष्ट हुवा है उसे भी, प्रभुचरण कितनी मनोरम रीतिके साथ—

> "[१]**कलिकालतमश्छन्नदृष्टित्वाद् विदुषामपि सम्प्रति अविषयः तस्य माहात्म्यं समभूद् भुवि,** [२]**दयया निजमाहात्म्यं करिष्यन् प्रकटं हरिः** [३]**वाण्या यदा तदा स्वास्यं प्रादुर्भूतं चकार हि.** [४]**ऋषिः अग्निकुमारस्तु...** [५]**श्रीकृष्णास्यं देवता च** [६]**बीजं कारुणिकः प्रभुः.** [७]**विनियोगो भक्तियोगप्रतिबन्धविनाशने.** [८]**कृष्णाधरामृतास्वादसिद्धिः अत्र न संशयः.**"
> (सर्वो.स्तो.३-६).

यहां प्रस्तुत स्तोत्रके अधिकारी विषय सम्बन्ध और प्रयोजन रूपी अनुबन्धचतुष्टयके प्रतिपादनके व्याजसे कितनी अद्भुत रीतिसे प्रभुचरण क्या-कुछ द्योतित नहीं कर दिया!

सर्वप्रथम अधिकारी विषय सम्बन्ध और प्रयोजन की जिज्ञासाके उपशमनार्थ हम देख सकते हैं कि जैसाकि महाप्रभुका सिद्धान्त है "इस मार्गमें सभीका फलमुख अधिकार हो नहीं सकता. क्योंकि जिसपर भगवत्कृपा बरसी हो, जिसका पूर्ववद् अनुमान पुष्टिभक्तिमार्गके बारेमें रुचिसातत्यकी सरिताके वश होता है, उसीका फलमुख अधिकार होता है" (द्रष्ट. : त.दी.नि.प्र.२।२२६) तदनुरूप प्रभुचरण भी [२-३] हरिः दयया निजमाहात्म्यं वाण्या प्रकटीकरिष्यन् स्वास्यं प्रादुर्भूतं चकार" प्रतिपादनद्वारा भगवान्की दया जिनपर बरसी हो उन्हें ही अधिकारी मान रहे हैं.

द्वितीयानुबन्ध विषयके बारेमें महाप्रभु कहते हैं "शास्त्रोंमें ब्रह्ममेंसे सृष्टिकी उत्पत्तिका निरूपण अनेकधा जो किया गया उसका अभिप्राय यही है कि कथञ्चिद् ब्रह्मके माहात्म्यके निरूपणद्वारा जीवके भीतर माहात्म्यज्ञान प्रकट करना. ऐसे माहात्म्यके भीतर ब्रह्मका पारमात्म्य भी गूढ़भावसे निहित रहता होनेसे बीजभावके रूपमें परमासक्ति भी निगूढ़ रहती है. इसका भान होनेपर जीवात्माके भीतर अनौपाधिक पारमात्मिक स्नेह अंकुरित होने लगता है. इसे शास्त्रोंमें जीवात्म-परमात्माके बीच अभेदोपदेशद्वारा सम्पन्न किया जाता है. यों भक्तिके दो अंश माहात्म्यज्ञान और अनौपाधिक स्नेह के प्रादुर्भावार्थ समग्र शास्त्रोंकी एकवाक्यता मिल पाती है. प्रभुचरण भी, अतएव, विषयसूचनार्थ कहते हैं [७] "विनियोगो भक्तियोगो प्रतिबन्धविनाशने" अर्थात् प्रतिबन्धरहित भगवद्भक्ति ही इस स्तोत्रका प्रधान विषय है.

तृतीयानुबन्ध सम्बन्धके बारेमें महाप्रभु कहते हैं "इस भगवत्कृपाके कारण मिलते मार्गका आदिम साधन श्रीकृष्णसेवापर, दम्भादिरहित और श्रीभागवततत्त्वज्ञ पुरुषका गुरुभावसे भजन ही है" (त.दी.नि.प्र.२।२२७). तदनुरूप प्रभुचरण भी अग्रिम प्रकट किये जाने 'जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृत्' 'सर्वलक्षणसम्पन्न' 'श्रीकृष्णज्ञानद' 'गुरु' नामोंसे अभिधेय महाप्रभुका यहां [२-३-५-६] "निजमाहात्म्यं वाण्या प्रकटीकरिष्यन् हरिः स्वास्यं प्रादुर्भूतं चकार.

देवता श्रीकृष्णास्यं, कारुणिकः प्रभुः बीजम्" कह रहे हैं.

चतुर्थानुबन्ध प्रयोजनके बारेमें स्वयं महाप्रभु जैसे कहते हैं "अब कलियुगके कारण अन्य सभी मार्गोंके अनुसरण करनेके अधिकार निवृत्त हो गये होनेपर भी कोई भक्तिके साथ श्रीकृष्णसेवा करता हो तो यही कलियुग फलप्रद भी हो सकता है... सारे श्रुतिवचन और गीताभागवतादिका प्रमुख अर्थ तो यही है. बाकि तो मतमतान्तरोंद्वारा परिकल्पित अर्थ हैं... अतएव सात्त्विक लोग भी मतान्तरोंके प्रति मोहित हो कर श्रीकृष्णभजनसे कहीं विमुख न हो जायें उसी प्रयोजनवश मेरा यह प्रयास है" (त.दी.नि.१।१९-२२). तदनुरूप प्रभुचरण भी [१,८] "सम्प्रति विदुषामपि कलिकालतमश्छन्नदृष्टित्वात् तस्य माहात्म्यम् अविषयः समभूद्... अत्र कृष्णाधरामृतास्वादसिद्धिः न संशयः" यों शब्दान्तरमें वही बात कह रहे हैं.

महाप्रभुके मतकी विशिष्ट कौन सी ऐसी बात है जो प्रभुचरणने यहां कह न दी हो! सर्वप्रथम तो भक्तिका महाप्रभुको अभिप्रेत स्वरूप कि वह माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ़सर्वतोऽधिकस्नेहरूप है वह. दूसरे ऐसी भक्तिका साधनके बजाय कृपालभ्य होनेका सिद्धान्त. तीसरे भक्ति अपनी फलावस्थामें भगवान्में रहे गूढ़ भोग्यभावको प्रकट करनेवाली बन जाती है. चौथे महाप्रभुकी वाणीमें भगवन्मुखारविन्दरूप वैश्वानरके प्रकट हो जानेकी व्याख्या. पांचवें स्वयंके बारेमें 'अग्निकुमार' होनेके उल्लेखद्वारा पुष्टिभक्तिमार्गमें गूढ़ भोक्तृभाववाले ऋषिगण जो श्रीरामके रसरूप दर्शनके बाद सारी साधनाओंकी चरमनिष्पत्तिको भगवद्रसानुभूतिमें गूढ़भावोंके आविष्करणार्थ स्वीकार लेने प्रेरित हो गये! उनका अनुकरण करते हुवे सारे आधिभौतिक आध्यात्मिक या आधिदैविक उपायोंका अनुष्ठान श्रीकृष्णभक्त्यर्थ करनेका सिद्धान्त. पांचवें श्रीकृष्णमें रहा गूढ़ भोग्यभाव, जो भगवान्ने तामसप्रमेयप्रकरणमें अपने वेणुवादनद्वारा श्रुतिरूपा गोपिकाओंमें जगाया, उसे इस स्तोत्रकी सिद्धिके रूपमें बिरदा कर

प्रकट किया गया है. छट्ठे इस सिद्धिको प्राप्त करनेवाले अधिकारीके विशेषणतया '**स तदेकमना**' (सर्वो.३५) पदके प्रयोगद्वारा महाप्रभुके द्वारा प्रशस्त भक्तिके क्रियात्मक स्वरूप भगवत्सेवाके मानसी होनेके रूपमें अभीष्ट होनेकी बात तथा भक्तिके भावात्मक स्नेहके व्यसनावस्थामें विकासकी बात भी प्रभुचरणने इंगित कर दी है. क्योंकि भक्तके तदेकमना हुवे बिना न तो मानसी सिद्ध हो पाती है और न व्यसनावस्था ही. 'व्यसन'पदद्वारा जो प्रिय लगता हो उसके बिना रहा न जाता हो तो वह स्नेहकी व्यसनावस्था कहलाती है. यों महाप्रभुको अभिप्रेत क्या कुछ प्रभुचरणने कह नहीं दिया! मंगलाचरणमें स्तुतिविषयके निर्देशमें ही महाप्रभुके दार्शनिक मतको तथा अवशिष्ट उपक्रमांग श्लोकोंमें महाप्रभुके धर्मसाधनाके बारेमें सभी महत्त्वपूर्ण बातोंको किस विलक्षण रीतिसे प्रभुचरणने गुम्फित कर दिया, यह देख कर चकित ही हो जाना पड़ता है!

इसी तरह अष्टोत्तरशत नामोंके प्रतिपादनमें स्तोत्रके उपसंहारमें भी जहां प्रभुचरण यह विधान करते हैं कि "**इस स्तोत्रमें निरूपित हुवे आचार्यनामोंद्वारा प्रकट होते महाप्रभुके वास्तविक स्वरूप चरित्र और सिद्धान्त के बारेमें सच्ची श्रद्धाके कारण जिनकी बुद्धि विशुद्ध हो गयी हो ऐसे तदेकमना हो कर इस स्तोत्रका नियमतः पाठ करनेवालेको ग्रन्थारम्भमें कही सिद्धि मिल जायेगी कि जिसके मिलनेपर मुक्ति अर्थहीन प्रतीत होती है तथा जिसके न मिल जानेपर भी मुक्ति अर्थहीन लगने लगती है!**" (सर्वो.स्तो.३४-३५) इस विधानका वास्तविक अभिप्राय उसीको समझमें आ सकता है जो महाप्रभुके "**अब हम पुष्टिजीवोंके फलका निरूपण करते हैं: पुष्टिजीवोंके लिये फल तो इस भूतलपर अपने गुणोंको अथवा अपने स्वरूपको प्रकट करनेवाले स्वयं परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ही होते हैं**" (पु.प्र.म.१६-१७) इस वचनके भाव और फलितार्थ को जो भलीभांति अपने अन्तःकरणमें स्थिर कर पाया हो. अर्थात् जो सृष्टि भगवान्ने अपने स्वरूपानन्द और भजनानन्द के प्रदानार्थ प्रकट की हो उसकी फलानुभूति भगवत्स्वरूपके

हृदयके भीतर धारण और बाहर भगवत्स्वरूपके भजनके अलावा और तो कुछ हो ही नहीं सकती (द्रष्ट. : चतुश्लो.३-४). अतः इस भगवत्स्वरूपानन्द और भगवद्भजनानन्द के भूतलपर उपलब्ध होनेपर मुक्तिकी निरर्थकता और न उपलब्ध होनेपर भी मुक्तिकी निरर्थकता, यही पुष्टिप्रवाहमर्यादा=चतुश्लोकी और सर्वोत्तमस्तोत्र की परस्पर एकवाक्यताके द्वारा प्राप्त होता अभिप्राय है.

यों उपक्रमोपसंहारके बाद तात्पर्यनिर्धारक अवशिष्ट अंग अभ्यास है. वह जैसा कि महाप्रभु "**अतः ब्रह्मवादके अनुसार श्रीकृष्णमें अपनी बुद्धि जोड़नी चाहिये**" (सिद्धा.मुक्ता.१२) कहते हैं तदनुसार प्रभुचरणने सर्वाधिक पुनःपुनरावर्तन — 'हरि' 'श्रीकृष्णास्यं देवता' 'कृष्णाधरामृतास्वाद...' 'श्रीकृष्णास्य' 'गोपीशवल्लभ' 'कृष्णभक्तिकृत्' 'श्रीकृष्णज्ञानद' '...श्रीकृष्णप्रेमा' 'कृष्णनाम...' 'श्रीकृष्णहार्द...' 'व्रजप्रिय' 'प्रियव्रजस्थिति' 'गोवर्धनस्थिति...' 'कृष्णरसार्थीभिः' — पदोंके प्रयोगमें 'श्रीकृष्ण' या उसके पर्याय या सम्बन्धी पदोंके अभ्यासद्वारा किया है. इसी तरह 'ब्रह्मवाद' और 'भक्ति' का भी पुनःपुनरावर्तनरूप अभ्यास — 'साकारब्रह्मवाद...' 'ब्रह्मवादनिरूपकः' 'भक्तिमार्गाब्ज...' '...भक्तिकृद्...' 'भक्त्याचारोपदेष्टा' 'भक्तिमार्गैक...' 'भक्त्याचारोपदेशार्थ...' 'भुवि भक्तिप्रचारैककृते...' 'अनन्यभक्तेषु...' 'भक्तिमार्गे...' 'भक्तेच्छापूरकः' — पदोंके प्रयोगद्वारा किया है.

अपूर्वता रूपी अंगकी जिज्ञासा होनेपर देखा जा सकता है कि वह इस ग्रन्थकी यही है कि मार्गप्रवर्तक आचार्यके नामोंद्वारा नामपाठकर्ताओंके भीतर स्वमार्गीय आचार्यद्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तमें मार्गके अनुगामीको सन्निष्ठ बनानेको उसके बोध भाव तथा अनुसरण को सन्देहरहित एवं सुदृढ़ करना.

फलश्रुतिके बारेमें महाप्रभुका सुस्पष्ट अभिप्राय भक्तिवर्धिनी और विवेकधैर्याश्रय में प्रकट हुवा है : "**भक्ति जिस प्रकार वृद्धिंगत हो वैसे उपाय कहता हूं... भगवत्सेवा या भगवत्कथा में जिसकी आसक्ति**

सुदृढ़ होगी उसका कभी नाश नहीं होगा" , "इस तरह भगवदाश्रय सर्वदा हितकारी ठहरता है क्योंकि कलियुगमें भक्त्यादिमार्ग दुःसाध्य बन गये हैं" (भ.व.१-९ वि.धै.आ.१७). तदनुसार प्रभुचरण भी श्रीकृष्णमें गूढ़भोग्यभाव श्रीकृष्णाधरामृतास्वादनरूपा भक्तिकी सिद्धिके हेतु आचार्यनामोंके आश्रय बना कर उसे ही फलतया समझा रहे हैं.

निन्दास्तुतिरूप अर्थवाद भी इस स्तोत्रमें "**भगवन्माहात्म्यका अज्ञान, मायावादनिराकरण, सर्ववादिनिरसन मायावाददाहन**" पदोंके द्वारा श्रीकृष्णके प्रति अभक्ति या भक्तिविरोधी भावों और सिद्धान्तों की प्रकट की गयी निन्दा है. स्तुति भी साकारब्रह्मवादके स्थापनके द्वारा अन्य सारे मार्गोंकी तुलनामें श्रीकृष्णकी भक्तिके मार्गमें वैलक्षण्यके उल्लेखद्वारा प्रकट की गयी है.

तात्पर्यनिर्धारक अन्तिम अंग उपपत्तिके बारेमें महाप्रभु कहते हैं "**वृथैव जीवनं लोके भक्तिज्ञानोत्सवैः विना कृष्णैकतानचित्तत्वं मुक्तेरपि अधिकं मतम्**"(सुबो.१।१०।७). यही बात प्रभुचरण भी उल्लिखित ग्रन्थोपसंहारात्मिका कारिकाओंमें कह रहे हैं.

यों महाप्रभुके नामोंके उपदेशद्वारा सर्वोत्तम ग्रन्थ महाप्रभुके विविध ग्रन्थोंके वास्तविक स्वारस्यको समझनेमें अतीव उपकारी बन जाता है. यह फलित हुवा.

इस तरह प्रस्तुत सर्वोत्तमस्तोत्रकी सर्वोत्तमता ही अपने प्रादुर्भावके समयसे आज तक सभी पुष्टिमार्गानुगामिओंके लिये अनेकविध आधिदैविक प्रयोजनोंके पूरणार्थ अतीव आदर श्रद्धा विश्वास और निष्ठा से भी आगे बढ़ कर स्वमार्गकी साक्षाद् दिव्यानुभूतिकी गवाही देती रही है!

अतएव इस स्तोत्रपर जितना वैविध्यपूर्ण साहित्य उपलब्ध होता

उतना अन्य किसी स्तोत्रपर नहीं. इस स्तोत्रपर संस्कृतभाषामें लिखित प्रकाश्यमान सात व्याख्याओंके अलावा व्रजभाषामें भी व्याख्या उपलब्ध होती हैं. न केवल गद्यात्मक व्याख्या अपितु पद्यात्मक व्याख्या भी व्रजभाषामें तथा गुर्जरभाषामें धौलपदोंके रूपोंमें उपलब्ध होती हैं. यह परम्परा स्तोत्रके प्रादुर्भावकालसे ले कर वर्तमानकाल तक अविच्छिन्न प्रवाहके रूपमें बहती रह है. वर्तमानकालमें भी नि.ली.गो.श्रीमाधवरायजी (पोरबन्दर) ने सर्वोत्तमस्तोत्रोंका पद्यानुवाद किया है. श्रीतुलसीरामायणकी तर्जपर दोहा-चौपाईमें लिखे 'श्रीविठ्ठलायन' ग्रन्थमें श्रीरूपचन्द खण्डेलवाल (जबलपुर)ने भी इस ग्रन्थके भीतर सर्वोत्तमके अष्टोत्तरशत नामोंका मिश्रित अवधिभाषामें अनुवाद किया है. इसी तरह गुजराती भाषामें अभी तक गेयपदोंके रूपमें तथा दोहा-छन्दके रूपमें कई सारे अनुवाद प्रकट होते रहे हैं. इनके आलावा इस स्तोत्रकी रंगीन मनोरम चित्रात्मक व्याख्या भी नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषण लालजी महाराजश्री (तृतीयपीठाधीश)ने तथा परमभगवदीय श्रीद्वारकादास परीख ने मिल कर प्रत्येक नामकी महाप्रभुके चरित्रके साथ संगति प्रदर्शित करनेवाली व्याख्या प्रकट की है. एकमेवाद्वितीयकी अनेकवद्भावापत्ति प्रकट करनेवाला अर्थात् सभी नामोंकी एककलेवरमें व्याख्या प्रदर्शित करनेवाला चित्र भी बनवाया गया है. ये चित्र तृतीयपीठके कुशल चित्रकार श्रीदामोदरदास शर्माके द्वारा निर्मित करवाये गये हैं.

यहां एक बात सविशेषतया उल्लेखनीय लगती है कि सर्वोत्तमस्तोत्रके नामोंकी हिन्दी तथा गुजराती भाषाओंमें महाप्रभुके गवेषणापूर्ण चरित्रके नयनाभिराम चित्रात्मक विवरणके साथ संगति दिखानेवाला यह अनूठा प्रयास सभी तरह अभिनन्दनीय है. फिरभी "**साकारब्रह्मवादैकस्थापको वेदपारगः मायावादनिराकर्ता सर्ववादिनिरासकृद्**" (सर्वो.स्तो.८-९) नामोंकी जो चरित्रसंगति दिखायी गयी है वह ऐतिहासिक दृष्टिसे उपपन्न नहीं है. क्योंकि महाप्रभु और कृष्णदेवराय के समकालिक होनेपर भी जब महाप्रभु ग्यारह वर्षकी अवस्थामें विद्यानगर पधारे माने जाते हैं तब

कृष्णदेवराय वहां शासक नहीं बन पाये थे; और, जब वे शासक हुवे तब महाप्रभुकी दक्षिणयात्राके वृत्तान्त मिलते नहीं हैं. अपनी आयुके ग्यारहवें वर्ष अर्थात् शकसंवत् १४११ में महाप्रभुके द्वारा कृष्णदेवरायको वैष्णवधर्ममें दीक्षित करनेकी किवदन्ती सम्प्रदायमें बहुप्रचारित है. जबकि शकसंवत् १४५० तक कृष्णदेवराय **"शकाब्दे शालिवाहस्य सहस्रेण चतुःशतैः प्रसंख्याते विरोध्यब्दे... परमहंसपरिव्राजकाचार्यमुमुक्षवे भस्मधूलिगात्राय रुद्राक्षावलिधारिणे... सदाशिवसरस्वत्यै गुरवे शिवरूपिणे"** (कांचीकामकोटि-पीठाधीशको कृष्णदेवरायद्वारा प्रदत्तताम्रपत्रकी पंक्ति : ६७-८६) स्वयंके गुरुके रूपमें कांचीपीठके श्रीशंकराचार्यको ही स्वीकार रहे हैं.

यदि सचमुचमें ऐसे किसी शास्त्रार्थमें विजय पानेके कारण महाप्रभुको आचार्यपदवी मिली होती इन तीनोंमेंसे किसी न किसी स्तोत्रमें उसका उल्लेख मिलना उचित होता. बादमें कभी चल पड़ी किंवदन्तीके आधारपर जैसे मूलपुरुषकार श्रीद्वारकेशजी **"सुलभतें दक्षिण पधारे ग्यारे बरसको वपु धरे, देख मामा हरखके आदर कियो आवो घरे. विद्यानगर कृष्णदेव राजा बहुत मत ही जहां मिले... कनकाभिषेक करावही... बांट दीनो करि विनति मोहि शरणजु लीजिये कृपा करके शरण लीनो... तहांते पंढरपुरजु सिधारे... भीमरथीके पार मिले जब"** (मू.पु.६-९) कहते हैं. अथवा श्रीहरिरायजी भी **"...भगवान् वामनः... तथैव श्रीलक्ष्मणराजकुमारः... पण्डितसमूहं विजित्य आचार्यपदवीं च प्राप्य विद्यानगराधीश्वरम् अनुगृह्य... कनकाभिषेकाप्तयशःप्रसारेण... इति वामनसाम्यम्"** (श्रीमदाचार्यसकलावतारसाम्यं : ४०) तथा गो.श्रीगोकुलोत्स-वजी भी श्रीवल्लभनामावलिमें **"भक्तिमार्गप्रचारार्थविद्यानगरपावनः 'कृष्णदेवा'ख्यसद्राजसभाचरणधारकः... अनेकभूतिशोभाढ्यः चराचरनमस्कृ-तः"** (श्रीवल्ल.नामा.११-१४) कहते हैं. ऐसा ही मार्गारम्भके समयसे ही यह इतिवृत्त प्रकट होना आवश्यक था.

इन तीन स्तोत्रोंकी बातको छोड़ दें तबभी महाप्रभुके सेवक

भक्तकविओंके अथवा प्रभुचरणके सेवक भक्तकविओंके द्वारा विरचित महाप्रभुके बधाई या गुणगान के पदोंमें भी ऐसी कोई घटनाका उल्लेख मिलता नहीं है.

महाप्रभुके चरित्रग्रन्थोंमें प्राचीनतम माने जा सकते श्रीगदाधरदासविरचित 'सम्प्रदायप्रदीप'की भी दो सौसे वर्षसे प्राचीन मातृकाओंमें तुलापुरुषदानका प्रसंग मिलता परन्तु परवर्ती हस्तप्रतिओंमें इस तुलापुरुषके दानके प्रसंगकी जगह कनकाभिषेकका वृत्तान्त प्रक्षिप्त हो गया लगता है. दूसरे चरित्रनिरूपक ग्रन्थ 'श्रीवल्लभाख्यान' जो प्रभुचरणके सेवकने लिखा. वे श्रीगोपालदासजी कहते हैं **"कनकस्नान शतमण सुवर्णे कराव्युं महीपाल ते मूकि वेगे चालिया राय दृष्टि न पाछी वाळ. त्यांथी दक्षिण पांउ धारिया पांडुरंग श्रीविठ्ठलनाथ"** (श्रीवल्ल.२।१४) जबकि विद्यानगरसे पंढरपुर तो उत्तरदिशामें है दक्षिणदिशामें नहीं! तीसरा चरित्रग्रन्थ श्रीयदुनाथजीविरचित माना जाता है 'श्रीवल्लभदिग्विजय'. इस ग्रन्थमें यह उल्लेख मिलता होनेपर भी वह किस हस्तलिखित प्रतिके आधारपर प्रकाशित हुवा था, उसका स्पष्टीकरण न तब प्रकाशनके समय दिया गया; और न अबभी वह ज्ञात हो पाता है. प्रभुचरणकी द्वितीयात्मजा श्रीयमुनाके प्रपौत्र श्रीविठ्ठलनाथ रेहीके नामके साथ जुड़े पुष्टिमार्गीय विश्वकोशोपम 'सम्प्रदायकल्पद्रुम' नामक चरित्रग्रन्थ जो तृतीयपीठके विद्याविभागद्वारा सचित्र-चरित्रसंगति व्याख्यामें आधारभूत माना गया है, वह सम्प्रदायकल्पद्रुम स्वयं ग्रन्थकारके अनुसार संवत् १७२९में विरचित (द्रष्ट. : सम्प्र.कल्प.१२।३९) दिखलाया गया है. ग्रन्थकार कहते हैं **"श्रवण सुन्यो हरिरायमुख, करन लिख्यो नृप मान"** (सम्प्र.कल्प.१२।३१). परन्तु इसी ग्रन्थमें **"भक्तिभानु सेवा जु विधि आत्मवाद सुखदान, भक्तिरत्न टीकाजु युत कीन नवार्थी मान"** (सम्प्र.कल्प.११।७५) दोहामें जिन श्रीगोपेश्वरजीके द्वारा विरचित ग्रन्थोंका उल्लेख किया गया है वे तो संवत् १८३५ में जनमें श्रीगोकुलोत्सवसुत योगी श्रीगोपेश्वरजीविरचित हैं! एतावता इस ग्रन्थकी प्रामाणिकतापर न केवल प्राचीन हस्तप्रति उपलब्ध न होनेके कारण प्रत्युत इस आन्तरिक

विरोधाभासके कारण भी प्रश्नचिह्न लग जाता है. श्रीमुरलीधरदासलिखित 'श्रीमद्वल्लभाचार्यचरितम्' में तो महाप्रभुका राज्यके दानाध्यक्ष अपने मामाके यहां अप्रसन्न होना फिर स्वतः राजसभामें पधारना और शास्त्रार्थमें विजयी होनेका उल्लेख मिलता होनेपर भी विद्यानगरके बजाय वहां विशाखानगर (विशाखापट्टनम्!) में हुयी यह घटना मानी गयी है. श्रीद्वारकादास पारीखद्वारा सम्पादित 'श्रीमहाप्रभुजीकी प्राकट्यवार्ता'में जहां इस शास्त्रार्थ और कनकाभिषेक का वर्णन विद्यानगरके कृष्णदेवरायकी राजसभाकी घटनाके रूपमें वर्णित है, वहां भी विद्यानगर राज्यके वृत्तान्तके उपसंहारमें अकस्मात् **"सो राजा रामचन्द्रने हुकम कियो... या बाततें ओरछा देशमें बहोत मायावादको खण्डन भयो"** ऐसी पंक्तिओंका अकस्मात् उभर आना सर्वथा असमञ्जस लगता है.

मुझे जो मनोवृत्ति सर्वथा अप्रिय लगती है, अर्थात् इस सन्दर्भमें खटकती है, वह यह कि श्रीशंकराचार्य श्रीरामानुजाचार्य श्रीमध्वाचार्य आदि किसी भी आचार्यको राजाओंद्वारा या अन्यमतीय विद्वानोंद्वारा प्रदत्त आचार्यपदवीभाग् नहीं माना गया है. उनकी आचार्यता राज्याश्रित नहीं स्वीकारी गयी है. फिर क्या कारण है कि हमारे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके बारेमें ही हम ऐसी राज्याश्रित आचार्यताकी हीन कल्पना करते हैं!

अतः मेरी अपनी समझके, जो ग़लत भी हो सकती है परन्तु प्रबल प्रमाणके अभावमें लगती तो नहीं है, उसके अनुसार श्रद्धातिरेकवश आचार्यचरणसे जुड़ी हर किंवदन्तीको ऐतिहासिक दृष्टिसे प्रामाणिक मान लेनेकी यह हमारी गतानुगतिकता है. इस अपवादको छोड़ कर यह सचित्र-चरित्रसंगतिरूपा सर्वोत्तमव्याख्या अतीव अभिनन्दनीय कृति है.

यहां प्रसंगोपात्त यह कह देना भी उचित ही होगा कि महाप्रभुके जन्मस्थलके बारेमें भी ऐसी ही अनैतिहासिक कपोलकल्पना सम्प्रदायमें

चल पड़ी है. हालमें बने छत्तीसगढ़ राज्यके रायपुर नगरके समीप चम्पारण्य मान लिया गया है. यह भी प्राचीन उपलब्ध सभी इतिवृत्तोंमें मिलते उल्लेख (यथा "चम्पारण्यमही जब आये... नगर चौड़ामे बसे" मू.पु.२-३) कि जन्मस्थल भीमारथी नदीके तटपर था. जबकि वस्तुतः भीमारथी महाबलेश्वर पर्वतमालासे निकल कर पंढरपुर होती हुयी महाप्रभुके पूर्वजोंके निवासदेशमें बहनेवाली कृष्णा नदीमें आन्ध्रप्रदेशमें मिल जाती है. तथाकथित आधुनिक चम्पारण्यसे दोसौ-तीनसौ मील दक्षिणमें है. उसके तटपर एकदिनमें जा कर पुनः लौटा जा सके इतनी दूर कहीं समीपमें ही चौड़ानगर होना चाहिये. उल्लेखनीय है कि आन्ध्रप्रदेशके राजा 'चौड़ा/चौळा' नामवाले होते थे. अतः पांच सौ ग्रामोंवाला प्रदेश चौड़ामण्डल माना जाता था :

"Of the place-names mentioned in the grant of Kulottunga Cholamandalam and Uttamchola Velnadu were the administrative divisions".
(History of Medieval Andhra page 5,by M.Krisnakumari).

"The temple is constructed...is named after the Velnati chief Rajendr Choda I as Choda Narayan temple".
(ibd.85)

"A record of the velnadu king... Kulottunga-Choda Gonkaraja."
(Inscription of the Madras Presidency by V.Rangacharya.522 page.810).

अतः लगता है कि महाप्रभुके पूर्वजोंके मूलस्थान गुंटुर तालुकामें कहीं चौड़ा नगर होगा. जो भीमारथी नदीके कृष्णा नदीमें संगमके स्थलसे अधिक दूर हो नहीं सकता. अतएव भी वर्तमान जन्मस्थलके रूपमें प्रचारित स्थल सर्वथा अस्वीकार्य ही लगता है. चौड़ानगरमें

श्रीलक्ष्मन भट्टजीके सगे-सम्बन्धिओंके महाप्रभुके प्राकट्यके वृत्तान्तसे हर्षित होनेके उल्लेख भी कुछ ग्रन्थोंमें मिलते होनेसे उनका वर्तमान छत्तीसगढ़में होना सम्भव नहीं लगता. अस्तु.

प्रकृत विषयके अनुन्धानमें तृतीयपीठके विद्याविभागद्वारा प्रकाशित 'शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्गीय संस्कृत वाङ्मय : साहित्य और विश्लेषणात्मक परिचय'(प्रका.वर्ष.वि.सं.२०२०) ग्रन्थरत्नकार पो.श्रीकण्ठमणि शास्त्रजीने पृष्ठ २०७-२१९ पर इस स्तोत्रपर उपलब्धानुपलब्ध प्रकाशिताप्रकाशित साहित्यका गवेषणापूर्ण परिचय प्रदान किया है. उनमेंसे कुछ तो यहां पुनःप्रकाशित हो रहे हैं कुछ व्याख्या तब अप्रकाशित होनेपर भी अब यहां इदम्प्रथमतया प्रकाशित होने जा रही हैं.

कालिक क्रमके आकलनार्थ न तो पूर्ण सामग्रीका अन्वेषण हो पाया है और न वह प्रस्तुत लेखनमें अभीष्ट ही है. परन्तु व्याख्याकार व्यक्तिओंके क्रमके बारेमें कुछ कहना हो तो इतना तो कहा ही जा सकता है कि प्रभुचरणकी खवासीकी सेवा करनेवाले श्रीगोविन्ददासजीने इन नामोंपर सर्वप्रथम गेयपद लिखे. यह दो सौ बावन वैष्णवोंकी ३३वीं वार्ताके गो.श्रीहरिरायजीकृत भावप्रकाशमें उल्लेख मिलता है कि **''तब गोविन्ददास श्रीआचार्यजीके पद करन लागे सो सुनिके श्रीगुसांईजी बोहेत प्रसन्न भये''** . एक व्याख्या प्रभुचरणके तृतीयात्मज श्रीबालकृष्णजीकी भी कही जाती है. वह किन्तु उपलब्ध नहीं होती. अतः चतुर्थात्मज श्रीगोकुलनाथजी व्याख्याकारोंके क्रममें प्रथम आते हैं. इनके नामपर एक विस्तृत टीका और व्रजभाषामें तथा भ्रष्टसंस्कृतभाषामें भी मिलती है. मुझे लगता है कि व्रजभाषावाली बड़ी टीका कदाचित् प्रामाणिक भी हो परन्तु उसका संस्कृत रूपान्तर तो शुद्ध उपद्रव ही है 'लोकनाथशास्त्री' नामक व्यक्तिका भी कहा-माना जाता है. द्वितीय टीका श्रीरघुनाथजीकी है, जो प्रभुचरणके पञ्चमात्मज हैं. तृतीय चाचा गोपेशजी प्रभुचरणके सप्तमात्मज श्रीघनश्यामजीके पुत्र माने जाते हैं. चतुर्थ टीकाकार श्रीहरिरायजीने

चार तरहसे प्रस्तुत स्तोत्रपर साहित्य प्रकट किया है : [१]विस्तृत विवृति [२]नामयोजना तथा [३]सर्वोत्तमस्तोत्रके नामोंके आधारपर महाप्रभुका भगवान्‌के सकल भागवतोक्त अवतारोंके साथ साम्य [४]इस सर्वोत्तमस्तोत्रके नामोंको ही कहीं शब्दान्तरद्वारा तो कहीं नूतननामोंकी उद्भावना भी. इनमेंसे यहां आद्य तीन व्याख्याओंको यहां प्रकाशित किया जा रहा है. पांचवी टीका लेखकार श्रीवल्लभजीकी है. छट्ठी व्याख्या श्रीवल्लभजी 'वदनानलदास' द्वारा विरचित है. सातवीं व्याख्या श्रीमथुरानाथात्मज श्रीद्वारकेशजी 'धन्नुजी' की है. इन्होंने भी सर्वोत्तमस्तोत्रपर व्याख्या [१]महाप्रभुके नामोंके माध्यमसे श्रीभागवतके दशम और एकादश स्कन्धवर्णित लीलाओंके अनुसन्धानार्थ लिखी है. [२]व्रजभाषाके प्रांजल दोहोंमें भी दूसरी व्याख्या लिखी है [३]'सर्वोत्तमनामोद्धार' है, इस व्याख्यामें भागवतके किन-किन श्लोकोंमें इन एक सौ आठ नामोंको खोजा सकता है यह दिखलाया है. सुबोधिनीके सम्पादनकर्ममें मेरे सहयोगी श्रीअसित ज.शाहने भी सर्वोत्तमस्तोत्रमें प्रमाणादिचतुष्टय तथा ऐश्वर्यादिसप्तक के वर्गीकरण दरसाये हैं, जिन्हें यहां समाविष्ट किया गया है. इनके अलावा श्रीगिरिधरजीकृत बधाई, श्रीव्रजभूषणजीकृत धमार, उल्लिखित श्रीगोविन्ददासजीके १०८ पद, उल्लिखित श्रीद्वारकेशजीके दोहे, श्रीव्रजभूषणजीकृत सर्वोत्तमधौल तथा भारतेन्दु बाबु श्रीहरिश्चन्द्रकृत सर्वोत्तमके नामोंका भाषानुवाद, यों यह सारा साहित्य परिशिष्टमें योजित किया है. मूलमें अधिकांशमें यह संकलन तृतीयपीठके विद्याविभागद्वारा प्रकाशित उल्लिखित सचित्र-चरित्रसंगति व्याख्यामें उपलब्ध है, जहांसे अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हुवे हम भी यहां समाविष्ट कर रहे हैं.

श्रीवल्लभाष्टकस्तोत्र : जैसाकि पहले हम देख चुके श्रीवल्लभाष्टकके आठों श्लोक महाप्रभुके रूपवर्णनार्थ हैं. यह रूप वेषभूषावर्णाकृतिके आशयमें नहीं परन्तु आराधनोपदेशक और आराध्यभगवद्रूप से जुड़े 'सौन्दर्य'पद्यमें प्रतिपादित प्रकट/गूढ़ अथवा पुंभाव/स्त्रीभाव के ही अष्टविध रूप हैं :

[1] तदनुसार प्रथम श्लोकमें यह दिखलाया गया है कि भूतलपर प्रकट होनेवाली सन्मुष्याकृतिवाले रूपके भीतर महाप्रभुका एक निगूढ़ रूप भी है. वह है भगवान्‌के भीतर अवस्थित गूढ़ भोग्यभाव या गूढ़ स्त्रीभाव का अनुभावक रूप, जो श्रीकृष्णावतारके समय वृन्दावनमें की गयी रासलीलाके समय कथंचित् बाहर प्रकट हुवा था. महाप्रभुके इस प्रकट मनुष्याकृतिवाले रूपके भीतर भी वही निगूढ़तया अवस्थित है और स्वयं मनुष्याकृतिवाला रूप भी उसका एक वैसा अनुभाव है.

[2] अतएव परमानन्दात्मक भगवान्‌के उस गूढ़भावके अनुभवके अधिकारी जो दैवी जीव हों उनमें गूढ़भोक्तृभाव रहता है परन्तु महाप्रभु श्रीवल्लभ जैसे उद्भावकके बिना वह, जीवात्मा और परमात्मा के बीच आत्यन्तिक केवलाद्वैतवादकी झोंकके कारण बिन्दु जैसे सागरमें विलीन हो जाये वैसे, ब्रह्मात्म्यैक्यमें विलीन हो जाता है. अथवा आत्यन्तिक द्वैतवादके बोझमें पिस कर इस तरह दब जाता है कि प्रकट भोग्यभावसे ऊपर उठनेका साहस ही जुटा नहीं पाता. अतः इन दोनों अवस्थाओंमें दैवी जीवात्माओंके भीतर भरा ब्रह्मके स्वरूपानन्द और भजनानन्द के रसास्वादन कराने समर्थ गूढ भोक्तृभाव निरर्थक हो जाता यदि महाप्रभुका भूतलपर प्राकट्य न होता तो. यही बात स्तुतिमुखसे द्वितीय श्लोकमें प्रतिपादित हुयी है.

[3] श्रुतिरूपा प्रकट वाणीके अभिहितार्थके भीतर गूढ़तया अवस्थित तात्पर्यविषयीभूत अर्थ तो यह है कि जीवात्माकी क्रियाशक्ति ज्ञानशक्ति और भावशक्ति यों तीनों ही, उस सच्चिदानन्द ब्रह्मका अपने सच्चिदंशमें प्रकट हुवे आंशिक अनुभाव हैं.

इसकी अनुभूति, परन्तु, वेदके पूर्वकाण्डकी श्रुतिविधिओंद्वारा कर्तव्यत्वेन अनुष्ठेय कर्मोंके अननुष्ठान या साधनाभिमानके सहित किये जाते अनुष्ठान

द्वारा भी शक्य नहीं. वह सकल नाम-रूप-कर्मोंको केवल सद्रूप या केवल असद्रूप माननेसे भी शक्य नहीं बनता. हमारी क्रियाशक्तिके भीतर प्रकट हो पानेवाले ब्रह्मके गूढ़ कर्मरूपका ही अनुभाव हमारे द्वारा अनुष्ठित कर्मोंमें प्रकट होता है, ऐसा मान कर निःसाधनभावपूर्वक कर्मसाधनाके अनुष्ठानद्वारा कर्मोंमे भी ब्रह्मानुभाव प्रकट हो पाता है. इसे सकल नाम-रूप-कर्मोंके उपादानभूत ब्राह्मिक सद्द्रव्यके कारण ही स्वीकारनेपर अर्थात् अब्रह्मात्मक कर्मकी ब्रह्मतया केवल उपासना ही **"ब्रह्मरूप अग्निमें ब्रह्मरूप कर्मकर्ताद्वारा ब्रह्मरूप हविकी ब्रह्मरूपा आहुति ब्रह्मरूप देवको पहुंच पाती है, यह कर्मानुष्ठानमें गूढ़तया अवस्थित ब्रह्मसमाधि है"** (भग.गीता.४।२४) इस भगवद्वचनमें कही गयी है, ऐसा माननेपर नहीं. यह केवल **"कर्म उस वेदसे प्रकट हुवा है जो स्वयं अक्षरब्रह्मसे प्रकट हुवा है, अतः सर्वगत नित्य ब्रह्म यज्ञात्मक कर्ममें प्रतिष्ठित रहता है"** (भग.गीता.३।१५) इस वचनके आधारपर वाक्पति महाप्रभुद्वारा श्रुतिरूपा वाक्के **"यज्ञरूपो हरिः पूर्वकाण्डे"** (त.दी.नि.१।११) रूप ब्रह्मकी क्रियाशक्तिका गूढाशयका प्रकाशन है.

इसी तरह वेदके उत्तरकाण्डरूप उपनिषदोंमें उपदिष्ट ब्रह्मकी ज्ञानशक्तिके बारेमें कही जा सकती है. क्योंकि सुख-दुःख-मोहात्मिका सकलविध अनुभूतिओंमें अनुस्यूत उस सर्वसाक्षिभूत चैतन्यकी अनुभूति भी केवल बाह्यविषयको पारमार्थिक मान कर अथवा केवल आन्तरचेतनाको ही पारमार्थिक माननेपर शक्य नहीं. वह तो बाह्याभ्यन्तर उभयत्र **"यह दृश्यमान सभी कुछ इस ब्रह्मके साथ तादात्म्यभावापन्न है... वही तुम भी हो"** (छान्दो.उप.६।८।७) श्रुतिवचनके अनुसार स्वीकारनेपर ही शक्य बनती है. इस तरहके सर्वविध द्वैतोंमें अनुस्यूत ब्रह्मके एकत्वके अनुदर्शन करनेपर ही श्रुतिवचनोंमें कहा गया है कि **"वही सभीके भीतर और वही सभीके बाहर है ...ऐसे उसके एकत्वको सभीमें अनुगततया जान लेनेपर कोई भी शोक या मोह पैदा हो नहीं सकता:"** (केनोप.५-७). महाप्रभुको श्रुतिकी ऐसी वाणीके पति होनेके कारण ही यह आशय

स्वयं श्रुतिवचनोंने जानाया. एतावता वेदके उत्तरकाण्डमें उपदिष्ट ब्रह्मकी ज्ञानशक्तिका अनुभाव ही जीवात्माके भीतर ब्रह्मज्ञानके रूपमें प्रकटता होनेसे ब्रह्मकी अपरिच्छिन्नताको अपने परिच्छिन्न क्षुद्र अहंकारकी परिधिमें सिकोड़नेके बजाय अपने इदमास्पद सकल पदार्थोंकी तरह अहमास्पद के भी भीतर-बाहर अनुस्यूत मानना चाहिये. इसी अर्थमें "मैं ब्रह्म हूं" सदृश वचन ब्राह्मिक अहंकारके अनुभावतया सार्थक हो पाता है.

इसके बाद क्रिया-ज्ञान रूपिणी उभयविध शक्तिओंसे विशिष्ट ब्रह्म धर्मीके स्वरूपके प्रति श्रुतिके निगूढ़ाशयरूप भक्तिभावके उपदेशार्थ महाप्रभु कहते हैं "**इस श्रुतिवचनके आद्यांशमें सभी जड़ वस्तुओंकी ब्रह्मात्मकता समझा कर, जड़वस्तुओंकी जड़ताके कारण प्रतीत होते दोषका परिहार कर, द्वितीयांशमें जीवको भी उसी ब्रह्मका चिदंशरूप दिखलाया गया है**" (त.दी.नि.१।६१). सर्वत्र ही इस तरह ब्रह्मकी तादात्म्यानुभूति शक्य हो जानेपर "तत् त्वम् असि" (छान्दो.उप.६।८।७) वचन मुक्त्यर्थ न हो कर भक्त्यर्थ है, वस्तुतः तो मुक्ति भी भक्त्यर्थ हो सकती है यह "**ब्रह्मभाव सिद्ध हो जानेपर अन्य किसी विषयकी कामना शेष नहीं रह जाती और नहीं किसी तरहका शोक ही. सभीमें ब्राह्मिकी समताको निहार पानेके कारण जीव जगदीशकी परा भक्तिको पा लेता है**"(द्रष्ट. : भग.गीता.१८।५४) इस श्रुतिसाररूपा भगवद्वाणीने अपना निगूढ़ आशय महाप्रभुके समक्ष प्रकट किया. अतएव महाप्रभु कहते हैं "**ब्रह्ममेंसे अनेकविध प्रकारोंसे सृष्टिकी उत्पत्तिके निरूपणद्वारा वेद अन्तमें तो ब्रह्मका माहात्म्य ही प्रतिपादित करना चाहते हैं. ऐसे ब्रह्मके साथ पुनः जीवके अभेदके उपदेशद्वारा उस ब्रह्मके बारेमें आत्मभावमूलक स्नेह ही वेद बढ़ाना चाहते हैं**" (त.दी.नि.प्र.१।४१). अतएव यह सृष्टि उस देश-कालादिके परिच्छेदसे रहित ब्रह्मकी देश-कालादिमें परिच्छिन्न आकृतिओंमें आविर्भाव होनेसे ब्रह्म साकार भी है और अपरिच्छिन्न भी. अतः जब ऐसे ब्रह्मके आनन्दाकारकी कोई भक्ति

करने लगता है तब जागतिक राग-द्वेष-मोहादिके दुःखप्रद भावोंको लीलया प्रकट करनेवाले भूमासुखरूप परमानन्दकी अनुभूति शक्य हो पाती है. निष्कर्षतः भगवद्भक्ति भगवान्के स्वरूपानन्दका ही भक्तके भीतर प्रकट होता अनुभाव होनेसे उसे 'पुष्टिभक्ति' या 'निःसाधनभावरूपा भक्ति' कहा जाता है. इसी आशयका स्तुतिमुखेन निरूपण इस तृतीय श्लोकमें किया गया है.

[४] तृतीय श्लोकमें श्रुतिवाणीने अपने अंशद्वयीरूप पूर्वोत्तरकाण्डों और समग्र अंशिरूप अलौकिकशब्दराशिके रूपमें अपना निगूढ़ाशय महाप्रभुको जिस तरह जताया उसके आधारपर श्रुतिवाणीकी पत्नीरूपता और महाप्रभुकी वाणीके पतिरूप होनेके, अतएव भगवन्मुखारविन्दरूप भी होनेके, तथ्यको प्रभुचरणने उपपन्न किया. अब इस चतुर्थ श्लोकमें भगवद्भजनके प्रकट उपदेशकरूप महाप्रभुके मुखारविन्दमें भजनीय श्रीकृष्णका मुखारविन्द कैसे गूढभावके साथ अवस्थित है, यह स्तुतिमुखेन समझाया गया है. महाप्रभुके उपदिष्ट प्रकारसे भजन करनेवाला भक्त जो भी स्वभोग्य स्रग् गन्ध वसन आभूषण नैवेद्य आदि भगवान्को भावके साथ समर्पित करता है, उसका भगवान् अपने साक्षिभावमें निगूढतया अवस्थित भोक्तृभावके प्राकट्यद्वारा साक्षाद् उपभोग करते हैं. एतावता ऐसा लगता है कि स्वयं भगवान्ने ही महाप्रभुके मुखारविन्दसे अपना निगूढ़ भोक्तृभाव प्रकट किया होनेसे स्वयं महाप्रभु अपने ही मुखारविन्दसे भक्तोंद्वारा समर्पित भोगके भोक्ता होनेका बन्धन स्वीकार रहे हैं!

[५] पांचवें श्लोकमें प्रभुचरण यह समझा रहे हैं कि जब भगवल्लीलाके उपदेशार्थ महाप्रभुकी वाणी प्रवृत्त होती है तब वह अतीव शीतलता प्रदान करनेवाली वृष्टि जैसी (द्रष्ट. : "मुखाद् इन्द्रः" पुरु.सू.६) अर्थात् आप्यायक होनेपर भी भगवान्के प्रति भक्तिभावके विरोधिओंके लिये अतीव प्रदाहिका बन जाती है. अतएव महाप्रभुद्वारा स्वयंस्वीकृत स्वयंकी अग्निरूपता (द्रष्ट. : "अग्निः चकार तत्त्वार्थदीपं भागवते" त.दी.नि.प्र.१।०।३)

प्रकट भौतिक अग्निके अर्थमें न हो कर श्रुति-स्मृति-पुराणोंमें प्रतिपादित "मुखाद्... अग्निः"(पुरु.सू.६), "अहम् अग्निः"(भग.गीता.९।१६), "लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्तात् लोकान् समग्रान् वदनैः ज्वलद्भिः" (भग.गीता.११।३०), "मुखम् अग्निः इद्धः"(भाग.पुरा.२।१।२९), "अथो अनन्तस्य मुखानलेन दंदह्यमानं स निरीक्ष्य विश्वम्" (भाग.पुरा.२।२।२६) ऐसे भगवन्मुखारविन्दरूप अग्निके निगूढ़ाशयमें लेनी आवश्यक है. प्रभुचरण कहते हैं कि अन्यथा श्रीकृष्णके मुखके दर्शन न होनेपर व्रजजनोंके भीतर प्रज्वलित होते विप्रयोगके तापको हर पानेकी मुखारविन्दकी लीला और भगवान्के सहज यशोरूप गुणसे अपरिचित जागतिक विषयोंके आकर्षणरूप दावानलके तथा भगवान्के स्वरूपको जान न पानेके अज्ञानरूप दावानल के भी पान करनेकी लीला भगवान् अपने मुखारविन्दमें क्यों प्रकट करते! अतः महाप्रभुको भगवन्मुखारविन्दरूप विरुद्धधर्माश्रय अग्नि मानना चाहिये!

[६]पांचवें श्लोकमें कही गयी भगवन्मुखारविन्दरूप अर्थात् आनन्दात्मक अग्निके निगूढ़ाशयवश यदि महाप्रभुने अपना कवितात्मक निरूपण न किया मानें तो न तो 'तत्त्वार्थदीप' नामक ग्रन्थ, शब्दात्मक होनेके कारण, भौतिक अग्निद्वारा प्रकट हुवा माना जा सकता है और न भौतिक अग्नि शब्द प्रकट ही होता है. अतः स्वीकारना पड़ता है कि महाप्रभु आनन्दात्मक भगवन्मुखारविन्दस्थित आनन्दात्मक अग्निरूप हैं. अतएव सृष्टिकी उत्पत्तिके निरूपणमें जहां भौतिक जलतत्त्व भौतिक अग्निमें से प्रकट हुवा दिखलाया गया है कार्य-कारणमें वैजात्य अनुभूत होता है. महाप्रभुरूप अग्निमेंसे प्रकट होनेवाला श्रीकृष्णकी सेवाका रसात्मक सागर अपने उपादानरूप आनन्दात्मक अग्निसे विजातीय न हो कर सजातीय ही है.

[७]इस श्लोकमें प्रकट संयोगमें गूढ़ विप्रयोग और प्रकट विप्रयोग में गूढ़ संयोग के इतरेतरनिहित होनेकी बात बहोत अच्छे ढंगसे उभर

कर बाहर आयी है. भगवन्मुखारविन्दके प्रकट मूर्तिमान् अनुभावके रूपमें महाप्रभुके मुखारविन्दको निहारनेवाला एक बार भी भावपूर्वक यदि उनके दर्शन पा लेता है या मुखारविन्दसे भावपूर्वक उपदेशग्रहण कर पाता है तो भगवान् श्रीकृष्णके व्रजमें प्रकट होनेवाले रूपके बारेमें उसके भीतर तीव्र विप्रयोग प्रकट हो जाता है. यह, किन्तु, इतने भारी विस्मयकी बात नहीं है जितनी कि इनके अधिकाधिक दर्शन या अधिकाधिक उपदेशश्रवण करनेवालेके भीतर व्रजाधिप भगवान्के अत्यधिक विप्रयोगका बढ़ जाना विस्मयकारी है.

एतावता प्रभुचरणने यह सुस्पष्ट कर दिया कि महाप्रभुके साक्षात् पुरुषोत्तम होनेका भाव उनके प्रति कृतज्ञ पुष्टिजीवमें तो श्रीकृष्णासक्तिको बढ़ाता है, कृतघ्न अपुष्टिजीवोंमें नहीं. क्योंकि महाप्रभु स्वयं यह आज्ञा करते हैं **"यही तो महामोह है कि शास्त्रवचनोंको स्वयं सुनने-जाननेके बाद भी किसीका श्रीकृष्णभजनमें प्रवृत्त न होना! यह निश्चित ही अतिशय निष्ठुर प्रतारणा अर्थात् वंचना है कोई शास्त्राभ्यासी किसी अशास्त्रज्ञको श्रीकृष्णके भजनसे विमुख करे"** (त.दी.नि.१।१६). प्रकट पुष्टिभक्तिके उपदेशक आचार्य बनना, स्वयं अपनी भक्तिके प्रवर्तनार्थ नहीं प्रत्युत श्रीकृष्णकी भक्तिके प्रवर्तनार्थ है. अतएव त्रितयात्मकरूपके गूढ़ होनेका प्रयोजन भी यही है. अपने आत्मानुभावार्थको प्रकट करनेको प्रकटतया भजनीय भगवान्के भीतर गूढ़ आचार्यभाव भी अतएव निहित होता ही है. वह केवल भक्त्युपदेशग्रहणार्थ न हो कर मन-वचन-तनसे भक्ति कर पाने जीवको समर्थ बनता है. शरीरपर त्वचावरण एक ही होता है परन्तु वह चरणतलपर स्थूल एवं कठोर होता है. यह भूतलपर चरणविन्यासार्थ हमें सक्षम बनाता है. नयन-कर्ण आदि इन्द्रियोंपर महीन एवं कोमलतम त्वचावरण होता है. यह हमें दर्शन-श्रवणादिके हेतु सक्षम बनाता है. इसी तरह आचार्यरूपमें पुरुषोत्तमका प्राकट्य भजनार्थ न हो कर भजनोपदेशार्थ होता है और भजनीय रूपका किसी अधिकारिविशेषको उपदेशार्थ प्रवृत्त होना केवल भजनोपदेशार्थ

न हो कर शुद्ध भजनार्थ ही होता है.

'अतएव भक्तोंको प्रिय लीला करनेवाले अप्रकट भगवान्को आलम्बन बना कर जीवात्माके भीतर प्रकट होनेवाले प्रेमके स्थायिभावके भीतर आलम्बनविभावात्मा भगवान्का रूप गूढतया अन्तर्निहित रहता है. इसी तरह ऐसे प्रेमात्मक स्थायिभावके प्रकट होनेसे पहले भी महाप्रभुके पुष्टिभक्तिमार्गीय उपदेशोंको अनुसरते हुवे जो अपने भजनीय भगवद्रूपको महाप्रभुके भावात्मक मान कर, प्रेमप्राकट्यार्थ भगवद्रुचिके भी दृढ़ होनेसे पहले, अर्थात् केवल माहात्म्यज्ञानके वश या माहात्म्यज्ञानजनिका भजनक्रियाके रूमें जो भजनमें प्रवृत्त होता है, उस माहात्म्यज्ञान और भजनक्रिया के भीतर उसका आलम्बन बननेवाला भगवद्रूप अन्तर्निगूढ़ होता है. इसी तरह भक्तिभावके आलम्बनविभावरूप भजनीय स्वरूपमें भगवत्प्रेम भगवदासक्ति और भगवद्व्यसनभाव में परिपक्व होनेवाली भक्तिका स्थायिभाव भी गूढ़तया अन्तर्निहित रहता है. भगवान्के माहात्म्यके अज्ञानको प्रशमित करनेवाली ऐसी पटुताके कारण महाप्रभुका अग्निके रूपमें वर्णन उपपन्न ही है. फिरभी ऐसे भगवद्भजनके उपदेशक आचार्यके भीतर गूढ़तया भगवत्स्वरूप अन्तर्निहित होता है तथा आचार्यचरणके भक्तिभावसम्बन्धी भावोंके अनुरूप भावात्मक होनेसे उस स्वरूपके भीतर महाप्रभु अन्तर्निगूढ़ होते हैं. इस कारण है कि प्रत्येक पुष्टिजीवके भीतर गूढ़तया अवस्थित महाप्रभुका भजन उन्हें साक्षात् गोकुलेश श्रीकृष्ण मान कर करना ही सच्ची पुष्टिमार्गीय बुद्धिमत्ता है.

इस तरह हम देख सकते हैं 'सौन्दर्य...'पद्यमें उपदिष्ट बीजरूप भाव श्रीवल्लभाष्टकके आठ श्लोकोंमें कैसे अंकुरित हुवा. उस बीजरूपमें से अंकुरित होनेवाले अष्टविध रूपोंका ही वर्णन श्रीवल्लभाष्टकमें किया गया है.

इस स्तुतिरूप ग्रन्थपर सर्वप्रथम व्याख्या प्रभुचरणके चतुर्थात्मज

श्रीगोकुलनाथजीद्वारा विरचित है. उनकी व्याख्यापर पुनः श्रीपुरुषोत्तमजीने भी व्याख्या लिखी है. द्वितीय व्याख्या श्रीरघुनाथजी द्वारा विरचित है. ये सभी पूर्वमें प्रकाशित ही हैं और उन संस्करणोंके सम्पादक-प्रकाशकोंके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हुवे ही हम यहां उन्हें पुनः प्रकाशित कर रहे हैं.

<u>स्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्र</u> : जैसा कि हमने देख ही लिया कि यह स्तोत्र ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य और सातवें इन गुणधर्मोके धर्मिरूपके रूपमें महाप्रभुकी स्तुतिके रूपमें प्रकट हुवा ग्रन्थ है. अतएव आचार्यके रूपमें प्रादुर्भूत हुवे महाप्रभुके ये ऐश्वर्यादि छह गुणधर्म आचार्योचित ऐश्वर्य, आचार्योचित वीर्य, आचार्योचित यश, आचार्योचित श्री, आचार्योचित ज्ञान और आचार्योचित वैराग्य, प्रकटतया आचार्यके गुणगानार्थ वर्णित होनेपर भी गूढ़भावकी दृष्टिसे पुष्टिमार्गीय जीवोंके भीतर कृष्णभक्तिके दृढ़ीकरणार्थ ही हैं. महाप्रभुने अतएव सर्वनिर्णयनिबन्धमें यह समझाया है :

> "वेदके पूर्वोत्तरकाण्ड भगवान्की क्रियासामर्थ्य और ज्ञानसामर्थ्य के उपदेशार्थ प्रकट हुवे हैं. जबकि वैसे उभयविध क्रिया और ज्ञान के सामर्थ्यवाले स्वयं भगवान्का निरूपण तो गीता और भागवत में हुवा है. इन दोनों शास्त्रोंकी अपूर्वता क्रियाशक्ति-ज्ञानशक्तिविशिष्ट पुरुषोत्तमकी शरणागति और भक्ति के उपदेशोंमें प्रकट हुयी है. यह श्रीकृष्णकी प्रपत्ति और भक्ति का मार्ग अन्य सभी मार्गोंकी तुलनामें उत्तम है... जिसपर श्रीकृष्णकी कृपावृष्टि बरसी हो वही इस मार्गको खोज पाता है. जो इस ऐसे सर्वोत्तम मार्गको खोज रहा हो उसके लिये आदिम साधन है : कृष्णसेवापर दम्भादिरहित भागवततत्त्वज्ञ पुरुषको खोज कर उसके द्वारा मिलते उपदेशके अनुसार भगवान् श्रीकृष्णकी सेवामें तत्पर

हो जाना'' (त.दी.नि.प्र.२।२२०-२२७)

अतएव इस स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत ग्रन्थमें हम देख सकते हैं कि महाप्रभूक्त इस गुरुलक्षणको महाप्रभुके ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य रूपी गुणधर्मोंके रूपमें बिरदाया गया है :

[१] इस स्तोत्रके प्रथम श्लोकमें महाप्रभूपदिष्ट गुरुके लक्षणके अन्तर्गत प्रथम गुणधर्म कृष्णसेवापरता जो महाप्रभुमें आचार्योचित ऐश्वर्यके रूपमें प्रकट होती है उसका वर्णन है. कैसे महाप्रभुद्वारा अनुष्ठित भगवान् व्रजाधिप श्रीकृष्णंकी सेवा शुष्क क्रियानुष्ठान या कर्मकाण्ड न हो कर भगवान्‌की व्रजलीलाओंके सागरकी हिलोरोंमें सतत लहराते रहनेका आनन्द है. पुष्टिमार्गमें भगवल्लीलाकी कथाके श्रवण कीर्तन और स्मरण यदि भक्तके भीतर अपने गृह-परिवारमें बिराजते भगवत्स्वरूपकी सेवाके रूपमें जीवनमें क्रियान्वित न हो पाता हो तो पुष्टिप्रभुने ऐसे पुष्टिजीवकी आत्मा और अन्तःकरण का अंशेन ही वरण किया मानना चाहिये सर्वांशेन नहीं. क्योंकि सर्वांशेन पुष्टिभक्त्यर्थ वरण किया हो तो महाप्रभु कहते हैं **''स्वतन्त्र गूढ़ भोक्तृभावोपेत व्रजगोपिकाओंके जैसे भक्तोंके सभी बाह्य कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय, आन्तर मनो-बुद्धि-अहंकार-चित्तरूपी करण तथा आत्मस्वरूपसे ही केवल नहीं अपितु गृहस्थित ममतास्पद परिजनोंके समेत भी, भजनानन्दके अनुभवके सुलभ बन जानेके कारण, जीवन्मुक्तिसे भी अधिक स्पृहणीय फल मिल जाता है''** (त.दी.नि.प्र.१।५१).

[२] पूर्वश्लोकमें पुष्टिभक्तिमार्गीय आचार्यका वास्तविक ऐश्वर्य लौकिक धन-वैभव या तदर्थ श्रीकृष्णसेवाका व्यावसायिक प्रदर्शन नहीं प्रत्युत निजगृहमें निजतनुवित्त-परिजनोके साथ भगवत्सेवाका निर्वाह ही उसका वास्तविक ऐश्वर्य होता है. यह दिखला कर अब द्वितीय श्लोकमें गुरुलक्षणान्तर्गत द्वितीय श्रीभागवततत्त्वज्ञताको प्रभुचरण महाप्रभुके आचार्योचित वीर्य गुणके रूपमें बिरदा रहे हैं. कैसे महाप्रभु भगवत्सेवामें भागवतकी

दशमस्कन्धवर्णित लीलाओंमें निरन्तर विहार करते रहनेपर भी सेवाके अनवसरमें तो श्रीमद्भागवतोपदिष्ट भगवान्‌की दशविध लीलाओंका इतनी तन्मयताके साथ अवगाहन करते रहते हैं कि आपके श्रीअंग श्रीमद्भागवतके प्रत्येक पदोंके आभूषणोंसे विभूषित रहते है! किसी भी धर्म-सम्प्रदायके धर्माचार्यका अपने धर्मके उपदेशरूप शास्त्रोंके निरन्तर अवगाहनसे अपने-आपको मण्डित रखना उसका स्वयंके ही नहीं अपितु उस सम्प्रदायकी अनुगामिजनोंके भी सौभाग्यरूप बन जाता है. परन्तु अपने धर्मके उपदेशरूप शास्त्रके मौलिक तत्त्वसे अनभिज्ञ होना न केवल धर्मगुरुका अपना दुर्भाग्य है पर उस सम्प्रदायके अनुगामिओंका भी दुर्भाग्यरूप होता है!

[३] गुरुलक्षणान्तर्गत तृतीय गुण परवञ्चनार्थ दम्भ, वैषयिक सुखोंके कामवश भगवत्सेवा या भगवत्कथा में प्रवृत्ति, आर्थिक लोभवश आजीविकाके उपायतया भगवत्सेवा या भगत्कथा का अनुष्ठान, या सुप्रतिष्ठित अन्य धर्माचार्योंके साथ प्रतिस्पर्धावश प्रतिष्ठार्थ भगवत्सेवा या भगवत्कथा का अनुष्ठान, ऐसे दुर्गुण आधुनिक जघन्यकोटिके धर्माचार्योंमें प्रकट होनेवाले महाप्रभुमें तो प्रसक्त ही न होनेसे उनका प्रतिषेध भी अप्रासंगिक हो जाता है. अतएव अतएव आचार्यभावोचित प्रपन्न अनुगामी जनके प्रति करुणा, स्वधर्मके दृढ़ अनुराग; तथा भगवान्‌के प्रति भक्तिभावके दिव्य सम्मोहके वश, महाप्रभु भगवत्सेवार्थ पुष्टिजीवोंकी श्रद्धा विश्वास तत्परता या निष्ठा का खण्डन करनेवाले मतवादोंका निराकरण करते हैं. यों कैसे अद्भुत श्रीकृष्णसेवाके मार्गका प्रवर्तन तथा उपदेश महाप्रभुने दिया कि जो दुष्प्राप्य था वह इनके सभी अनुगामिओंको स्वयं उनके सांसारिक गृह-परिवारोंमे ही सुलभ हो गया! अतएव भक्तकविओंने गुणगानमें महाप्रभुके इस अद्भुत गुणको बिरदाते हुवे कहा है **''कौन रस भूतल प्रकट भयो! जो रस निगम-अगम हु अगोचर सो सब सद्य लह्यो. घर-घर नन्दसुवनफल फूल्यो सेवाविधि सिखयो!''**

[४] पुष्टिमार्गीय गुरुपदके योग्य पुरुषकी योग्यताके निरूपण करते

समय सर्वप्रथम गुण जो महाप्रभुको स्फुरित हुवा वह तो गुरुका कृष्णसेवामें परायण होना ही है. और अतएव महाप्रभु कहते हैं **"जो गुरु श्रीकृष्णसेवाका उपदेश देता है वह स्वयं उसे उत्तम मानता हो तो उपदेश देनेसे पहले स्वयं ही क्यों श्रीकृष्णकी सेवामें तत्पर नहीं हो पाता? अतः श्रीकृष्णकी सेवामें तत्पर होना गुरु हो पानेकी योग्यताकी सर्वप्रथम अनिवार्यता है"** (तत्रैव). इसी बातको प्रभुचरण भी कह रहे हैं कि गुरुका विद्वान् होना आवश्यक होनेपर भी बहोत सारे विद्वान् अपनी विद्वत्ताके बावजूद वेदादि शास्त्रोंका अध्ययन भलीभांति नहीं कर पाते हैं. अन्य कुछ वेदादि शास्त्रोंके अध्ययन किये होनेपर भी वेदादि शास्त्रोंके अनुसार अपने आचरण नहीं संवार पाते. इनमें भी अन्य कुछ अपने आचरणोंको वेदादि शास्त्रोंके अनुसारा संवार पानेके बावजूद वैष्णव सम्प्रदायके नहीं होते. कुछ इनमें वैष्णव होनेपर भी व्रजाधिपके प्रति हृदयमें भरी रतिके अनुभावके रूपमें भगवत्सेवा करते नहीं होते हैं. अतः इन सभी गुणोंसे परिपूर्ण महाप्रभुकी जैसी शोभा या श्री अन्यत्र दुर्लभ है. यों आचार्योचित श्री गुणका निरूपण इस श्लोकमें प्रतिपादित हुवा!

[५]इस श्लोकमें प्रभुचरण महाप्रभुके धर्मिरूपका वर्णन कर रहे होनेके कारण गुरुलक्षणान्तर्गत तीनों या चारों बातोंको एकहेलया यहां संकलित करते हैं. सर्वप्रथम भगवत्सेवाके मनोभावमें प्रतिबन्धक मतवादोंके निराकरणमें असामर्थ्यरूप रूप दुर्गुणसे रहित होना. द्वितीय वेदपारंगामी पाण्डित्यका श्रीभागवतगूढार्थके प्रकाशनमें विनियोग कर पानेके सामर्थ्य. तृतीय निरुपाधिक भक्तिभावके साथ स्वयं श्रीकृष्णकी सेवामें तत्पर रहते हुवे अन्य भी जो पुष्टिजीव हों, उन्हें श्रीकृष्णकी सेवा वे निभा पायें ऐसे उपदेश दे पानेकी सामर्थ्य, श्रीमद्वल्लभ महाप्रभुमें अनितरसाधारण ही है! यों यहां सभी गुणोंके समाहारके प्रतिपादनद्वारा धर्मीका निरूपण ही प्रभुचरण करना चाहते हैं. रासलीलैकतात्पर्य महाप्रभुके अनुसार तामसफल प्रकरणमें भी पांचवा अध्याय धर्मीका बोधक माना गया है. यह

अद्भुत साम्य इस श्लोकमें धर्मीका प्रतिपादन स्वीकारनेपर ही समझमें आ सकता है.

[६]यों गुरुलक्षणोपदेशके बाद **"ऐसे गुरुके समक्ष जिज्ञासु जन आदरके साथ प्रपन्न हो कर, उसके उपदेशके अनुसार स्वयं भी भगवत्सेवामें तत्पर हो जानेको, ऐसे गुरुकी आदरके साथ अनुवृत्ति करे"** (त.दी.नि.प्र.२२७) यह बात महाप्रभुने समझायी है. तदनुसार छट्ठे श्लोकमें प्रभुचरण भी महाप्रभुके आचार्योचित वैराग्य गुणका प्रतिपादन करते हुवे कहते हैं कि भगवन्माहात्म्यबोधके प्रादुर्भावके हेतु अपने मस्तकपर तथा भगवान् श्रीकृष्णमें सुदृढसर्वतोऽधिक स्नेहके प्रादुर्भावार्थ अपने हृदयपर कोई महाप्रभुके चरणकमलके चरणामृतका कोई लेपन करता हो उसे कलियुगसे भयभीत होनेकी आवश्यकता रह नहीं जाती. उसमें तो इन्दिराप्रभृति सभीके उपास्य व्रजाधिपतिको प्रसन्न कर पानेकी क्षमता प्रकट हो जाती है. अर्थात् स्वरूपानन्द तथा भजनानन्द के प्रदान करनेवाले भगवान्में भोग्यभावको प्रकट करानेवाली भगवान्की भक्तपराधीनता भी प्रकट हो पाती है. महाप्रभु कलियुगके दुष्प्रभावसे पुष्टिजीवको मुक्त कर स्वयं अपनी सेवामें नहीं परन्तु श्रीकृष्णकी सेवामें परायण बनाना चाहते हैं. अतएव स्वयं भी श्रीकृष्णकी सेवामें तत्पर रहते हैं. क्योंकि महाप्रभुने स्वयं ही यह स्वीकारा है कि श्रीहरिकी भक्तिभावसे सेवाद्वारा उन्हें सुख-सन्तोष प्रदान करनेकी मनोवृत्ति वैराग्यका उत्कर्ष है. यही तो पुष्टिभक्तिमार्गीय वैराग्यका उत्कर्ष महाप्रभुमें सर्वातिशायी होनेसे प्रभुचरण भी महाप्रभुकी अनुगति या अनुवृत्ति की मनोभिलाषा प्रकट कर रहे हैं 'तदनुगत्वमेव मे अस्तु!"

[७]इस अन्तिम श्लोकमें आचार्योचित ज्ञानरूप गुणका निरूपण है. वृन्दावनविहारीके परोक्षमें भी उनकी लीलाकी व्रजस्थ भक्तोंको हुयी अपरोक्षानुभूतिके जैसा ज्ञान यहां विवक्षित है. तदनुसार अपने सर्वजनगोचर प्राकट्यकालमें भगवद्भक्तिमय अपने रूप गुणधर्म और चरित्र के निर्वाहद्वारा महाप्रभु श्रीकृष्णभक्तिके भावसे स्वरूपेण पुष्टिजीवको

भरपूर बनाते हैं. सर्वजनगोचर न होनेवाले अप्राकट्यकालमें अपनी वाणीद्वारा भी महाप्रभु पुष्टिजीवोंके भीतर श्रीकृष्णभक्तिके भावोंकी वैसी ही वृष्टि करते होते हैं. अतः वीक्षणरूप ज्ञानगुणका निरूपण यहां विवक्षित है. यह बात स्वयं महाप्रभुने भी—

> **"कलियुगके बलवान् होनेपर ऐसे लक्षणवाला गुरु कभी न मिलता हो तब भी स्वयं ही श्रीकृष्णकी मनोभिलषित मूर्तिको अपना भजनीय स्वरूप बना कर भगवत्सेवा तो करनी ही चाहिये"** (त.दी.नि.२।२२८).

क्योंकि साकारब्रह्मवादावालम्बित पुष्टिभक्ति करनेको सर्वव्यापी सर्वोपादान सर्वनाम-रूप-कर्माधार होनेके रूपमें भजनीय स्वरूप पुष्टिभक्तके पास ब्रह्मात्मना आलम्बनविभावके रूपमें उपलब्ध ही है. पुष्टिजीवके भीतर भगवद्रुचि भगवत्स्नेह भगवदासक्ति और भगवद्व्यसन पर्यन्त उत्तरोत्तर अधिकाधिक आस्वादनीय भक्तिके स्थायिभावात्मक रूपमें भी परमात्मा स्वतःउपलब्ध होता जाता है. व्रजभक्तोंके बीच जैसे भगवान् प्रकट हुवे उनकी वैसी लीलाओंके अनुभावनार्थ उनके नामात्मक अपररूपेण श्रीभागवतात्मना भी भगवान् उपलब्ध हैं ही. उस श्रीभागवतके निगूढ़ाशयसे अपनी कृति मति और रति को सच्ची दिशामें अग्रगामी बनानेको स्वयं वाक्पति भी अपनी ग्रन्थात्मिका वाणीके रूपमें उपलब्ध ही हैं (द्रष्ट. : त.दी.नि.प्र.२।२२८).

फिरभी महाप्रभुके स्वरूप और वाणी के बीच भेदभाव करनेपर तो न केवल भगवान् और भागवत के बीच भी वह प्रतिबन्धक बनने लगा अपितु श्रीमदाचार्यचरण और उनके वंशजोंके बीच भी वह भेदभाव पुष्टिप्रभुकी पुष्टिभक्तिभावात्मिका सेवा-कथामें पुष्टिजीवकी पुष्टिमार्गीय अंगीकृतिमें भी प्रतिबन्धक बन कर उठ खड़ा होगा! अतः पुष्टिप्रभु परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णके सार्वदेशिक-सार्वकालिक

सर्वपुष्टिजीवोंके वरणके रूपमें पुष्टिमार्गको मान्य करना स्फुरत्कृष्णप्रेमामृतके पानद्वारा अपने आपके बारेमें अमृत होनेका महाप्रभुप्रदत्त आश्वासन है **"बीजं तद् उच्यते शास्त्रे दृढं यद् नापि नश्यति... सेवायां कथायां यस्य आसक्तिः दृढा भवेद् यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापि इति मतिः मम"** (भक्तिवर्धिनी ४-९).

(२२)<u>उपसंहार</u> :

आजसे २६ वर्ष पहले कि बात है जब किशनगढ़ (राजस्थान) में श्रीवल्लभपञ्चशती महोत्सव मनानेकी मेरी उत्कण्ठा जागी, तब पितृचरणके ग्रन्थसंग्रहमेंसे मुझे मिली सर्वोत्तमस्तोत्रकी नाथद्वारा-नडियादसे प्रकाशित तीन मुद्रित व्याख्यायें तथा अन्य अप्रकाशित व्याख्याओंकी हस्तलिखित प्रतियां थी. सो बड़ी उमंगके साथ इन्हें ले कर मैं वहां गया था. वैसे उस समय सार्वजनिक प्रवचन करनेसे मैं कतराता था. फिरभी उस महोत्सवको मनानेकी ठानी होनेके कारण मैंने सर्वोत्तमस्तोत्रकी इन प्रकाशिताप्रकाशित व्याख्याओंके आधारपर प्रवचन करनेकी योजना मनमें संजो कर संशोधित प्रारूप तैयार किया था जो भविष्यमें मुद्रणार्थ भी उपयोगमें आ पाये. वहां जानेपर किन्तु मेरे सेव्यस्वरूप और वहांके निवासस्थल को सार्वजनिक देवालयके रूपमें सरकारी खातोंमें दर्ज करानेको चलती सरकारी कारवाईमें सरकारकी ओरसे आयी नोटीसमें दर्शन करने आनेवाली जनताके अबाधित अधिकारका मुद्दा उछाला गया था. सो मैंने अपने सेव्यस्वरूपकी सेवाके जनताको दर्शन बंद करनेका तात्कालिक निश्चय लिया. तब सरकारी दावोंमें सन्दर्भमें मेरा पक्ष लेनेवाले वहांके कतिपय वैष्णव भी मेरे विरोधी बन गये! ऐसी स्थितिमें सर्वोत्तमस्तोत्रपर उन अनधिकारिओंको सुनानेके बजाय महाप्रभुके सेवासम्बन्धी सिद्धान्त ही सुनानेका निर्णय लेना पड़ा. बादमें वहांसे लौटनेपर अखिल भारतीय स्तरपर पञ्चशती माननेके अंगरूपेण महाप्रभुके ग्रन्थोंके पुनःप्रकाशनकी योजना श्रीमद्वल्लभवंशज गोस्वामि-परिषद्ने बनायी और मुझे वह उत्तरदायित्व सोंपा गया. सो एकके बाद दूसरे ग्रन्थ

तथा अन्यान्य हेतुओंके कारण उठते विवादोंमें भी उलझते चले जानेके कारण इनका प्रकाशन बहोत प्रबल इच्छाके बावजूद शक्य न बन पाया. सो अब वह इतने वर्षोंकी लम्बी अवधिके बाद पूर्ण होने जा रही मेरी महत्त्वाकांक्षा है! वस्तुतः महाप्रभु तथा प्रभुचरण की कृपाके बिना यह कथमपि मुझे शक्य नहीं लगता.

बीच-बीचमें जब भी या जहांसे भी मुझे इस विषयकी हस्तलिखित सामग्री मिलती रही मैं जुटाता रहा. कितने सारे गोस्वामी महानुभावोंने मुझे अपने-अपने हस्तलिखित संग्रहोंमें से प्रतिलिपि दी उनके उस उदारभावको कैसे भुलाया जा सकता है! इनमें सर्वप्रथम नि.ली.गो.प्रथमेश श्रीरणछोड़ाचार्य (कोटा-मुंबई), नि.ली.गो.तृतीयपीठाधीश श्रीव्रजभूणलालजी तथा उनके आत्मज तृतीयपीठाधीश गो.श्रीव्रजेशकुमार (कांकरोली-बड़ौदा), नि.ली.गो. पंचमपीठाधीश श्रीगिरिधरलालजी (कामां), गो.श्रीशीलुबावा (पोरबन्दर), इसी तरह अन्यान्य हस्तलिखित ग्रन्थागारोंके अध्यक्ष, इन सभी प्रतिलिपि प्रदान करनेवालोंका आभार स्वीकारते समय अपनेको कृतज्ञताके भावोंसे विभोर पाता हूं. इन हस्तलिखित प्रतियोंके आधारपर प्रेसकॉपी बनाने और उद्धरणवचनोंको खोजनेमें सहयोग प्रदान करनेवालोंमें श्रीकिशोरचन्द्रजी (जुनागढ़), श्रीरघुनाथलालजी (गोकुल-पार्ला), चि.श्रीशरद्कुमारजी (मांडवी) का भी मुझे पूर्ण सहयोग प्राप्त हुवा. पाठभेदनिर्धारणार्थ तुलनात्मक वाचन तथा कंप्युटरमें रफ ड्राफ्टको फीड् श्रीभोगीलाल र. शाहने किया. तुलनात्मक पाठभेदके निर्धारणार्थ मातृकाओंके सहवाचनमें सहयोगी श्रीअसित ज. शाह, श्रीमनीष बाराई श्रीरसिक र. शाह, श्रीतिलक पारेख तथा श्रीमहेन्द्र पलीचा आदि थे. बादमें हालमें अन्तिम वाचनामें मिल कर बांचनेवालोंमें श्री-श्रीमती धर्मेन्द्र तथा पद्मिनी झाला, श्री-श्रीमती परेश तथा मनीषा, श्रीमती बीना पलीचा, श्रीजगदीश, श्रीअनिल भाटिया, सुश्री ख्याति मेहता आदिने सहयोग दिया. आवरकचित्र सुश्री ख्याति मेहताने कम्प्युटरमें बनाया है. मुद्रणोपयोगी सारी दौड़धाम पूर्वके अन्य सभी प्रकाशनोंकी तरह श्रीमनीष बराईने

सम्हाली है.

अनेक प्रकारसे इस कार्यमें सहयोग प्रदान करनेवालोंको इस चिरप्रतीक्षित प्रकाशनके समय कैसे भूला जा सकता है! हालमें गो.श्रीमन्दार बावाने भी कुछ प्रतिलिपि प्रदान की तदर्थ उनके प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूं.

इतने सारे जनोंके सहयोगवश ही सम्पन्न होनेवाली इस उपलब्धिमें **"तत्र एवं सति कर्तारम् आत्मानं केवलस्तु यः पश्यति अकृतबुद्धित्वात् न स पश्यति दुर्मतिः"** इस भगवद्वचनके रहते अपने-आपको श्रेय देने जैसा कुछ भी बच नहीं जाता. फिरभी इन सभीका सहयोग मुझे पुष्टिप्रभुकी कृपासे उपलब्ध हुवा तदर्थ अपनेको धन्य माननेके भावका संगोपन भी शक्य नहीं है.

प्रसीदेतां मयि श्रीमद्व्रजेशचरणाश्रये।
स्वामिनौ वल्लभाधीशविट्ठलेशाभिधौ सदा॥

हमारे घरमें बिराजते ठाकुरकी सेवामें निरन्तर तत्पर रह कर नामसेवार्थ मुझे अवकाश प्रदान कर ग्रन्थसम्पादनके उत्तरदायित्वमें मेरे भीतर गूढ़भावसे अवस्थितका प्रकट सम्पादक...

वैशाखकृष्णा एकादशी
वि.सं.२०६२

गोस्वामी श्याम मनोहर
(पार्ले मुंबई-किशनगढ़)

पाठशोधनार्थ आश्रित मातृका

(१)'सौन्दर्य...'पद्यव्याख्या

मुद्रित मातृका :

(क)व्याख्यात्रयोपेत संस्करण प्रकाशक : गोस्वामी श्रीजीवनेशाचार्य पुष्टिसिद्धान्तकार्यालय, श्रीलालबावामन्दिर, भुलेश्वर मुंबई २. प्रकाशन संवत् १९७८. सम्पादक-श्रीकेशवराम काशीराम शास्त्री.

(ख)अणुभाष्यप्रकाशरश्मि (४।३।१६) अन्तर्गता ततो उद्धृता.

(२)सर्वोत्तमस्तोत्रव्याख्या

प्रभुचरणके चतुर्थात्मज श्रीगोकुनाथकृत (१)व्याख्या

मुद्रित मातृका :

(क)सर्वोत्तमस्तोत्रव्याख्या : प्रकाशक गो.ति.श्रीगोवर्धनलाल महाराजका विद्याविभाग नाथद्वारा प्रकाशनवर्ष-वि.सं.१९८०. सम्पादक-श्रीनन्दकिशोर शास्त्री.

(ख)सर्वोत्तमस्तोत्रव्याख्या : प्रकाशकसम्पादक-श्रीत्रिभुवनदास पीताम्बरदास. नड़ियाद प्रकाशनवर्ष-वि.सं.१९७४.

हस्तलिखितमातृका/ज़ेरोक्सप्रतिलिपि :

(ग-घ)हस्तलिखित मातृका गोस्वामी श्रीदीक्षितजीमहाराजसंग्रहस्थ.

(ङ-च)ज़ेरोक्सप्रतिलिपि जुनागढ़संग्रहस्थ.

(छ)ज़ेरोक्सप्रतिलिपि आत्रेय श्रीगोपीनाथात्मजश्रीदेवकीनन्दनस्य वि.सं.१८१९. जुनागढ़संग्रहस्थ.

(ज)ज़ेरोक्सप्रतिलिपि श्रीगोकुलालंकारस्य.जुनागढ़संग्रहस्थ.

(झ)फोटोप्रतिलिपि इंडिया ऑफिस् लायब्रेरी.

(ञ)फोटोप्रतिलिपि रोयल एशियाटिक सोसायटीसंग्रह कलकत्ता.

(ट)भो.जे.ग्रन्थागारसंग्रहसं.४३२७.अहमदाबाद.

प्रभुचरणके पञ्चमात्मज श्रीरघुनाथकृत (२)व्याख्या

मुद्रित मातृका :

(क)प्रकाशकसम्पादक-श्रीत्रिभुवनदास पीताम्बरदास. नड़ियाद प्रकाशनवर्ष-वि.सं.१९७४.

हस्तलिखितमातृका/ज़ेरोक्सप्रतिलिपि :

(ख)हस्तलिखित प्रति. गोस्वामी श्रीदीक्षित महाराजसंग्रहस्थ.

श्रीघनश्यामात्मज चाचा श्रीगोपेशकृता (३)व्याख्या

मुद्रित मातृका :

(क)प्रकाशक गो.ति.श्रीगोवर्धनलाल महाराजका विद्याविभाग नाथद्वारा प्रकाशनवर्ष-वि.सं.१९८०. सम्पादक-श्रीनन्दकिशोर शास्त्री.

हस्तलिखितमातृका/ज़ेरोक्सप्रतिलिपि :

(ख-ग)२ प्रतियां गो.श्रीदीक्षितजी महाराज संग्रहस्थ.

(घ)आत्रेय श्रीदेवकीनन्दनस्य जुनागढ़संग्रस्थ.

(ङ)लेखनकाल संवत् १९८५.

(च)मुंबई वि.वि.ग्रन्थागार क्रमसंख्या ४९२ लेखनकाल संवत् १९६९.

(छ)गोस्वामिश्रीजगन्नाथस्य मांडवीसंग्रहस्थ.

(ज)ज़ेरोक्सप्रतिलिपि गो.श्रीप्रथमेशसंग्रहस्थ.

(झ)ज़ेरोक्सप्रतिलिपि गो.श्रीव्रजाभरणात्मजश्रीव्रजालंकारस्य (कामवन/जुनागढ़?)संग्रहस्थ.

(ञ)ज़ेरोक्स प्रतिलिपि आत्रेय श्रीगोपीनाथात्मजदेवकीनन्दनस्य जुनागढ़संग्रहस्थ.

श्रीकल्याणरायात्मज-श्रीहरिरायकृत

(४/क)नामहेतुनिरूपण/नामयोजना

हस्तलिखित मातृका :

(क)(४/क)ज़ेरोक्सप्रतिलिपि मुंबई वि.वि.ग्रन्थागारस्थ क्रमसं.४९२६.

(ख)(४/क)ज़ेरोक्सप्रतिलिपि गो.श्रीव्रजभूषणात्मज श्रीगिरिधरस्य कांकरोली-संग्रहस्थ.

(४/ख)भाववर्धिनी व्याख्या

(क-ख-ग)३ हस्तलिखित प्रतियां गोस्वामी श्रीदीक्षितजी महाराज संग्रहस्थ.

(घ)ज़ेरोक्सप्रतिलिपि गोस्वामी श्रीशीलुबावा पोरबंदर संग्रहस्थ.

(ङ)हस्तलिखित गोस्वामी श्रीजगन्नाथस्य मांडवी संग्रहस्थ.

(च)ज़ेरोक्सप्रतिलिपि श्रीघनश्यामात्मजगोवर्धन भट्ट (श्रीगट्टुलालाजी) हस्तलिखितग्रन्थसंग्रहस्थ मुंबई.

(छ)ज़ेरोक्सप्रतिलिपि गो.श्रीप्रभुजी बगसरा संग्रहस्थ.

(ज-झ)२ प्रतियां (ज)प्रति गो.श्रीमथुरानाथात्मजद्वारिकेशसुत श्री...स्य कामवन संग्रहस्थ.

(ञ)प्रतिलिपि भो.जे.हस्तलिखितग्रन्थसंग्रह अहमदाबाद.

(ट)ज़ेरोक्सप्रतिलिपि जुनागढसंग्रहस्थ.

लेखकार श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृता (५)व्याख्या

हस्तलिखिता मातृका :

(क-ख-ग-घ)ज़ेरोक्सप्रतिलिपि गोस्वामी श्रीदीक्षितजी संग्रहस्थ..

(ङ)ग्रन्थकारके निजहस्ताक्षरमें लिखितप्रतिकी ज़ेरोक्सप्रतिलिपि कांकरोलीसंग्रहस्थ.

(च)ज़ेरोक्सप्रतिलिपि पञ्चमपीठ कामवनस्थ संग्रहस्थ.

(छ)ज़ेरोक्सप्रतिलिपि मुंबई वि.वि.ग्रन्थागार क्रमसं.४९२५.

(ज)श्रीगट्टुलालाजी हस्तलिखितसंग्रह मुंबई.

(झ)ज़ेरोक्सप्रतिलिपि स्रोत विस्मृत

वदनानलदास श्रीवल्लभकृता (६)व्याख्या

हस्तलिखिता मातृका :

(क)ज़ेरोक्सप्रतिलिपि कांकरोलीसंग्रहस्थ.

(ख)ज़ेरोक्सप्रतिलिपि गो.श्रीप्रथमेशसंग्रहस्थ.

श्रीमथुरानाथसुत श्रीद्वारकेश (घनुजी) कृत १०-११ स्कन्धानुसारिणी (७)व्याख्या

हस्तलिखित मातृका :

(क)हस्तलिखितप्रति गो.श्रीदीक्षितजी महाराजसंग्रहस्थ.

(ख)ज़ेरोक्सप्रतिलिपि मांडवी संग्रहस्थ.

(ग)मुंबई वि.वि.ग्रन्थागारसंग्रहस्थ क्रमसं.४९९३

(३)श्रीवल्लभाष्टकस्तोत्रव्याख्या

प्रभुचरणके चतुर्थात्मज श्रीगोकुलनाथकृत (१)व्याख्या

तदुपरि श्रीपुरुषोत्तमकृतं विवरणम्

पञ्चमात्मज (२)श्रीरघुनाथकृत व्याख्या

मुद्रित मातृका :

(क)प्रकाशक-सम्पादक : त्रिभुवनदास पीताम्बरदास प्रकाशनवर्ष वि.सं.१९७४ नडियाद.

(४)स्फुरत्कृष्णप्रेमामृतसोत्रव्याख्या

अज्ञातकर्तृका व्याख्या

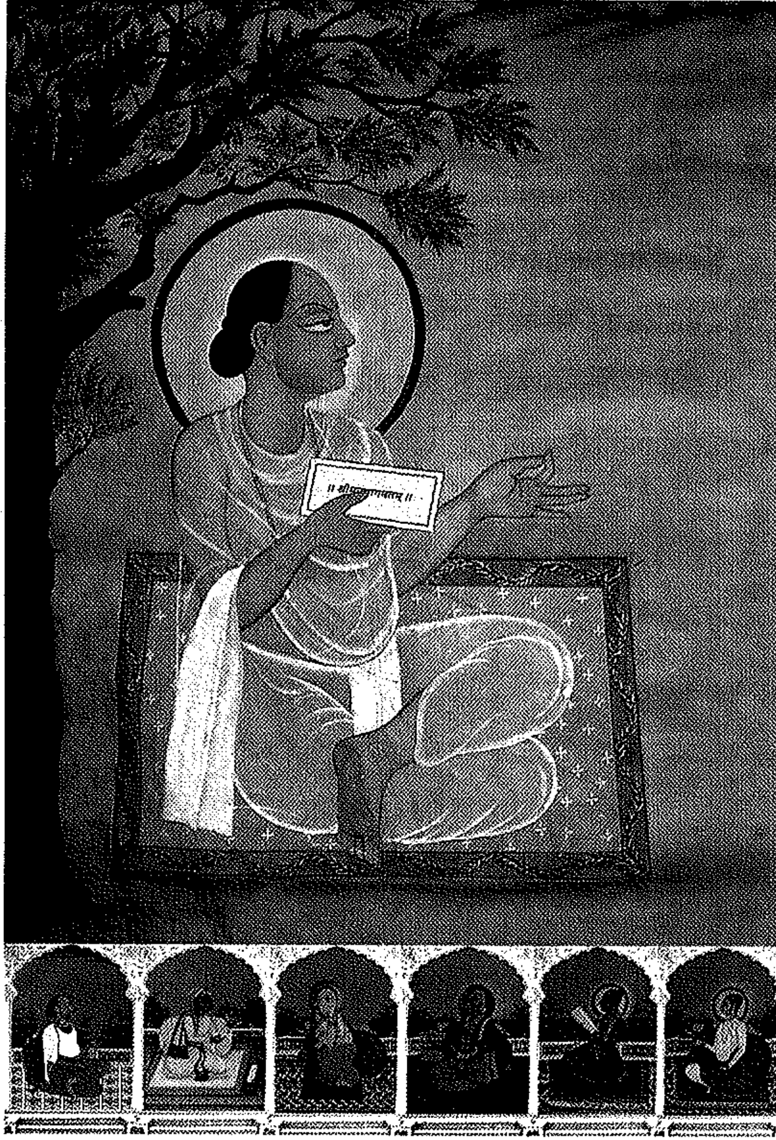
मुद्रित मातृका :

(क)प्रकाशक-सम्पादक श्रीकेशवलाल गोर्धनदास प्रकाशनवर्ष वि.सं.१९९१ संखेडा

इन सभी पूर्वसम्पादक-प्रकाशकों तथा अपने-अपने संग्रहोंमें विद्यमान हस्तलिखित प्रतियोंको अत्युदारभावेन प्रदान करनेवालोंके प्रति हमारी हार्दिक कृतज्ञताका ज्ञापन करते हुवे...

प्रस्तुत संस्करणके सम्पादक तथा प्रकाशक

विषयानुक्रमणिका



महाप्रभुश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणाः

लेखकाराः	महानुभावाः	प्रभुचरणाः	प्रभुचरणाः	मा.ति.रक्षकाः	नामरत्नाः
श्रीवल्लभाः	श्रीहरिरायाः	श्रीविट्ठलनाथाः	श्रीगोपीनाथाः	श्रीगोकुलेशाः	श्रीरघुनाथाः

क्वचित् पाण्डित्यं चेन्न निगमगतिः सापि यदि न
क्रिया सा सापि स्याद् यदि न हरिमार्गे परिचयः।
यदि स्यात् सोऽपि श्रीव्रजपतिरतिर्नेति निखिलैः
गुणैः अन्यः को वा विलसति विना वल्लभवरम्!॥

(श्रीमत्प्रभुचरणाः)

॥ श्रीनवनीतप्रियो जयति ॥

'सौन्दर्यं...'पद्यम्

(विवरणचतुष्टयोपेतम्)

सौन्दर्यं निजहृद्गतं प्रकटितं स्त्रीगूढभावात्मकं

श्रीगोकुलोत्सवकृतं प्रथमविवरणम्

(१)अतिकृपया निगूढमपि श्रीमदाचार्यरूपं ध्यानार्थं प्रकाशयन्ति **सौन्दर्यम्** इति. अत्र **प्रावीविशद्** इति क्रियानिरूपितमुख्यप्रयोगकर्तृत्वं कृष्णस्य अस्तीति कृष्णरूपमेव प्रकृतत्वाद् वक्तृबुद्धिस्थम् इति **'निज'**पदेन कृष्णरूपं ग्राह्यम्. तथाच **निजहृद्गतं** कृष्णहृद्गतं यत् **सौन्दर्यम्**, अर्थाद् मुख्यस्वामिनीरूपसौन्दर्यं सर्वसौन्दर्ययुक्तस्वामिनीरूपम् इति यावत्. स्वामिनीरूपस्य भगवद्भावात्मकत्वाद् भगवद्हृद्गतत्वम्. भावत्वं च श्रीहरिरायचरणैः स्फुटम् उक्तं "**यथाहि सर्वभावात्मा कृष्णः सा चापि तादृशी**" (मूलरू. संश.निरा.८) इति. मुख्यस्वामिन्याः अन्यासां च सर्वासां भावात्मा भगवान् यथा अस्ति तथा सापि मुख्यस्वामिन्यपि तादृशी सर्वभावात्मा इति अर्थः. अत्र 'सर्व'पदेन भगवान् लीलास्थभक्ताः च ज्ञेयाः. तद्भावात्मत्वं स्वामिन्याअपि रसरूपत्वं स्फुटं ज्ञापयितुम् आवश्यकम्. तथाच **निजहृद्गतं सौन्दर्यम्** इत्यस्य भगवद्हृदयस्थस्थायिभावात्मकं स्वामिनीरूपम् इति व्याख्यानं स्फुटम्. मूलेतु अतिगोप्यत्वज्ञापनाय स्वामिनीरूपं न स्फुटम् अभिहितम्. एवञ्च कृष्णो **निजहृद्गतं सौन्दर्यं प्रकटितं** प्रादुर्भावितं **स्वप्रिये** कृष्णप्रिये **प्रावीविशत्** प्रवेशितवान् इति सम्बन्धः. **प्रकटितम्** इत्यस्य "**लोहितोष्णीषाः... ऋत्विजः प्रचरन्ति**" (षड्विं.ब्राह्म.४।२।२२) इतिवद् विधेयविशेषणत्वात् तादृशं रूपं प्रकटितं कृत्वा प्रवेशितवान् इति अर्थाद् लभ्यते.

श्रीगोकुलोत्सवकृतं द्वितीयविवरणम्

(२)श्रीमत्प्रभुचरणाः स्वीयानां श्रीमदाचार्यस्वरूपध्यानम् उपदिशन्तः तदुपजीव्यतया तावत् स्वरूपं निरूपयन्ति **सौन्दर्यम्** इत्यादिना. यद्यपि श्रीवल्लभाष्टकादौ स्वरूपं निरूपितं, तत्र सूचितः च अयं प्रकारः; तथापि बुद्धिदोषात् कदाचिद् न भासयतीति पाक्षिकदोषपरिजिहीर्षा निरुपधिकृपालुता वा निरूपणबीजम्.

अत्र इदं हृदयं : साक्षात् पुष्टिरसामृतप्रेप्सुव्रजरत्नकदम्बेषु स्वलावण्यामृतदित्सया अनिर्वचनीयानन्दरसमयः श्रीकृष्णः प्रादुर्बभूव इति. "**तदेव कदाचित् 'परमसौन्दर्यं स्वगतं प्रकटीकरिष्यामि' इति साकारं प्रादुर्भूतं सत् श्रीकृष्णः...**" (त.दी.नि.१।१) इत्यादिनिबन्धाद्युक्तदिशा अवगम्यते. तत्र भगवति अस्ति भावद्वयं [१]पुरुषभावः [२]स्त्रीभावः इति. एवमेव श्रीमुख्यस्वामिन्यामपि भावद्वयं तद् उक्तं श्रीहरिरायचरणैः ""**यथाहि सर्वभावात्मा कृष्णः सापि च तादृशी**" (मूलरू.संश.निरा.८) इति. तत्रच यदि उभयत्र विरुद्धयोः स्त्रीपुम्भावयोः स्थायित्वमेव चेत् तदा संयोगरसे पुम्भावद्वयस्य स्त्रीभावद्वयस्य च प्रतीत्या रसाभासः स्याद्. अतः संयोगसमयविशेषे भगवतः स्वामिनीतः च पृथक् स्थितं यद् भावद्वयं तत् श्रीमदाचार्यवर्यस्वरूपम्.

ननु भावस्य अत्र धर्मात्मकत्वेन अमूर्तत्वात् कथं भक्ताभिलषितसाकारस्वरूपत्वसिद्धिः? तदसिद्ध्या च ध्यानस्य निर्विषयत्वापातः च इति चेद् अत्र एवं ज्ञेयं : भगवद्धर्माहि भगवति लौकिकत्वेन प्रतीयमानाअपि लोकविलक्षणाः नित्याएव स्वरूपाभिन्नाएवेति न लौकिकन्यायेन निरूपयितुं योग्याः, येन तद्दृष्टान्तेन अमूर्तत्वादिकं तत्र सम्भाव्येतापि. तद् उक्तं गीतायां "**सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्**" (भग.गीता.१४।१३) इत्यादि. सर्वाणि यानि इन्द्रियाणि चक्षुर्वागादीनि तद्ग्राह्याः गुणाः च अलौकिकाः यथा सन्ति तथैव स्वयमेव शुद्धमेव ब्रह्म भासते. ब्रह्मैव कर्मेन्द्रियज्ञानेन्द्रियरूपेण अवभासते इति अर्थः. एवं सति ईश्वरीयज्ञानादिधर्माणामपि सच्चिदानन्दरूपत्वाद्

पुंरूपञ्च पुनस्तदन्तरगतं प्रावीविशत् स्वप्रिये ॥

श्रीगोकुलोत्सवकृतं प्रथमविवरणम्

भगवतो अतिप्रेमास्पदत्वात् प्रियत्वरूपेण लीलायां तद्रूपस्य प्रसिद्धिः नतु नामान्तरेणेति **'प्रिय'**पदोक्त्या ज्ञापितम्. अतएव तत्र निजहृदयगतस्वरूपप्रवेशनोद्यमो भगवतः इति भावः. किञ्च यथा स्वप्रिये निजहृदयस्थायिभावस्वामिनीरूपं प्रवेशितवान् तथा व्रजस्त्रीहृदयस्थायिभावात्मकं स्वकीयं पुरुषरूपं च स्वप्रिये प्रवेशितवान् इति निरूपयन्ति **स्त्रीगूढभावात्मकम्** इति, **स्त्रीणां** व्रजस्त्रीणां हृदयगतो **गूढो यो भावः** शृङ्गारस्थायिरूपः तदात्मको अतएव **तदन्तरगतं** व्रजस्त्रीणां यद् **अन्तरं** हृदयं तत्र **गतं** गुप्तम् इति अर्थः. तादृशं यत् स्वकीयं पुंरूपं तदपि स्वप्रिये **प्रावीविशत्** प्रवेशितवान्.

श्रीगोकुलोत्सवकृतं द्वितीयविवरणम्

आनन्दमात्रकरपादमुखोदरत्वादिब्रह्मधर्मत्वं निक्षुण्णमेव सिद्ध्यति. एतदेव उक्तं **''सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतो अक्षिशिरोमुखम्''** (भग.गीता.१३।१३) इत्यादिना. तथाच लोके मूर्तित्वेन अप्रसिद्धस्यापि भावस्य प्रकृते मूर्तत्वादिधर्मवत्त्वं श्रौतमर्यादया सुप्रसिद्धमेव. अतः सुष्ठूक्तम् ''उपदर्शितभावद्वयस्वरूपत्वम् आचार्याणाम्'' इति. अतएव शब्दात्मकत्वाद् अमूर्तत्वेन प्रसिद्धानामापि वेदानां **''वेदाः यथा मूर्तिधराः त्रिपृष्ठे''** (भाग.पुरा.१।१९।२३) इति वाक्ये शब्दब्रह्मात्मकमूर्तिमत्त्वेन स्मरणं सङ्गच्छते. एतच्च टिप्पण्यां साधनाध्यायभाष्ये च असकृद् उक्तमिति विशेषजिज्ञासायां तत्र द्रष्टव्यम्.

प्रकृतम् अनुसरामः : किञ्च तादृशस्वामिनीभगवत्स्वरूपयोः यथावदनुभवकर्तृस्वरूपमपि अपेक्षितमेव, अनुभावकाभावे रसे चमत्कारानुदयात् तथा. तदेव 'साक्षिकस्वरूपम्' इति उच्यते. एतच्च ज्ञातृकस्वरूपं **''स्वयमेव आत्मना आत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तमः''** (भग.गीता.१५।१०) इति वाक्यात् यथावत्स्वरूपज्ञातृत्वं स्वस्यैव न अन्यस्येति पुरुषोत्तमस्वरूपाभिन्नमेव वक्तव्यम्.

संश्लिष्टावुभयोर् बभौ रसमयः कृष्णो हि तत्साक्षिकं
रूपं तत् त्रितयात्मकं परमभिध्येयं सदा वल्लभम्॥१॥

श्रीगोकुलोत्सवकृतं प्रथमविवरणम्

ततः किम्? अतः आहुः **संश्लिष्टौ** इति. **उभयोः** भगवद्हृदयभक्तहृदयस्थितयोः स्वामिनीभगवद्रूपयोः एकत्र स्वप्रियरूपाधारे **संश्लिष्टौ** सत्यां संयोगे सति **बभौ** . संयोगः शृङ्गारात्मा आलम्बनविभावादिसहितः **कृष्णो बभौ** अधिकशोभां प्राप्तवान्. तद् उक्तं **''व्यरोचिताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिः यथा''** (भाग.पुरा.१०।२९।१०) इति. एवं रूपद्वयस्य प्रिये प्रवेशम् उक्त्वा इदानीं परस्परस्य भावरूपयोः अधिकरणभूते प्रियस्य रूपे विशेषं कञ्चन बोधयितुम् आहुः **तत्साक्षिकं रूपम्** इति. इदं रूपद्वयाधारत्वेन निरूपितं यत्प्रियरूपं तत्साक्षिकमपि रूपद्वयलीलासाक्षिकमपि त्रितयात्मकमेव भगवतो **वल्लभं** प्रियं रूपं **ध्येयम्** इति सम्बन्धः. स्वामिनीरूपं भगवतो रूपं तत्प्रियं रूपं च इति त्रितयात्मकमेव ध्येयं भक्तैः इति विशेषः*.

श्रीगोकुलोत्सवकृतं द्वितीयविवरणम्

तथाच एवं श्लोकान्वयः : **स्त्रीगूढभावात्मकं सौन्दर्यं पुंरूपं** च सौन्दर्यं निजहृद्गतं यद् अस्ति इति शेषः. यच्च **पुनः** तदेव सौन्दर्यद्वयं **तदन्तरगतं** स्वामिनीहृद्गतम् अस्ति तद् उभयत्र गतम् उभयविधं सौन्दर्यं **स्वप्रिये** श्रीवल्लभे कृष्णः सदानन्दः **प्रावीविशत्** प्रवेशितवान्. ततः प्रवेशान्तरं एतद्रूपत्रितयात्मकं श्रीमदाचार्यस्वरूपं **ध्येयम्** इति, **उभयोः** स्त्रीपुम्भावयोः

-----*-----

* लेखोऽयं 'श्रीगोकुलोत्सव'नाम्ना प्रसिद्धो अस्मन्महाराजश्रीजीवनेशपुस्तकालयस्थप्रतिफलके अभिनवो दृश्यते. श्रीगोकुलोत्सवप्रणीतविवरणे **''एतदेव रूपत्रयं श्रीवल्लभाष्टकादौ सूचितम्''**. इत्यग्रे समाप्तिपर्यन्तं समानमिति ततो अवगन्तव्यम् (आद्यसम्पादकीयम्).

श्रीगोकुलोत्सवकृतं द्वितीयविवरणम्

संश्लिष्टौ सत्यां शृङ्गाररसमयः **कृष्णः** बभौ स्वप्रियस्वरूपेण एकरसत्वं प्राप्य **बभौ** इति अर्थः.

एतावता रूपद्वयं **तत्साक्षिकं** मध्यस्थं च अपरं **रूपम्** एतद्रूपत्रितयात्मकं **वल्लभं सदा** ध्येयम्. एतदेव रूपत्रयं श्रीवल्लभाष्टकादौ सूचितम्.

तत्र ''**वस्तुतः कृष्णएव**'' (श्रीवल्ल.स्तो.८) इत्यादिना पुंरूपत्वं, ''**रासस्त्रीभावपूरितविग्रहः**'' (सर्वो.स्तो.१६) ''**प्रिया गोपीभर्तुः**'' (स्फु.कृ.-प्रे.स्तो.१) इत्यादौ स्त्रीरूपत्वम्. ''**राधावल्लभसेवया तदुचितप्रेम्णा उपदेशैः**'' (स्फु.कृ.प्रे.स्तो.५) इत्येवमादौ साक्षिकत्वं च इति. अत्र **'निजहृद्गतम्'** इति पदेन स्वासाधारणधर्मरूपत्वं सौन्दर्यं सूचितम्. **स्त्रीगूढभावात्मकम्** इति, **स्त्रीणां** व्रजरत्नात्मिकानां **गूढो** यो **भावः** स्त्रीत्वरूपः, तदात्मकत्वं गूढत्वं तादृशभावस्य अन्यत्र अप्रसिद्धतयैव. **पुंरूपम्** इति पुंस्त्वरूपम् इति अर्थः. पुमान् रूप्यते ज्ञाप्यते अनेन इति व्युत्पत्या वा. पुंस्त्वाख्यधर्मस्य अभेदेन सौन्दर्ये अन्वयः इति उक्तमेव. **तदन्तरगतम्** इति. **'तत्'**पदेन स्वामिन्यभिधानं स्त्रीपदसान्निध्यात् परोक्षवादबोधनाय च तथा कथनम्. **प्रावीविशद्** इति **'विशतेः'** णिजन्तस्य लुङि रूपम्. **स्वप्रिये** इति कथनाद् 'वल्लभः' इति नाम्नो भगवत्प्रियत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तम् इति उक्तं **संश्लिष्टौ** इति, **'श्लिषेः'** आलिङ्गनार्थकस्य भावार्थक'क्तिन्'प्रत्यये रूपम्. तथाच न अत्र तुष्णीं संयोगमात्रं विवक्षितं किन्तु तत्तद्रससामयिक-तल्लीलानुकूलतया रसानुभवो विवक्षितं भवति. तत्रापि तत्तत्क्रीडोपयोगि-तत्तत्सामग्रीविशिष्टएव स तथा इति **'सम्'** उपसर्गार्थः. अतएव **बभौ रसमयः कृष्णः** इति.

एतावता ''नमामि हृदये शेषे लीलाक्षीराब्धिशायिनं लक्ष्मीसहस्र-

लीलाभिः सेव्यमानं कलानिधिम्'' (भाग.सुबो.१०।१।१) इति श्लोकोक्तः प्रकारः सर्वोऽपि सूचितो ज्ञेयः. **तत्साक्षिकम्** इति. एतेन जीवात्मसम्बन्धिज्ञाने-च्छाकृतीनां तत्कर्तृकभोगस्य च अन्तर्याम्यधीनत्वं तत्साक्षिकत्वं च यथा, तथा भगवल्लीलानां रसभोगस्य च श्रीमदाचार्याधीनत्वं तत्साक्षिकत्वं च इति सूचितम्. ''**एते देवाः साक्षिणः**'' (भाग.सुबो.१०।१८।१) इति वेणुगीतसुबोधिनीविवरणे टिप्पण्यां साक्षिपदार्थो विवृत*इति ततो ज्ञेयम् अधिकजिज्ञासायाम्. **ध्येयम्** इति **'यत्'**प्रत्ययेन ध्यानस्य एतद्रसादित्सूनाम् आवश्यकत्वम् उक्तम्. **सदा** इति कर्मणीव न अत्र कालनियमः इति सूचितम्. **ध्येयम्** इत्यनेन यद् रूपम् अत्र दर्शितं तद् न प्रकाशनीयं सर्वत्र किन्तु ध्येयमेव अन्तरङ्गभक्तैः इति सूचितम्. **वल्लभम्** इति तृतीयलिङ्गनिर्देशो रूपाभिप्रायेण इति ज्ञेयम् इति सर्वं रमणीयम्.

इति श्रीहरिरायाणां कृपाबलम् उपाश्रितः।
श्रीकृष्णवल्लभं रूपं व्यावृणोद् गोकुलोत्सवः॥

इति गोस्वामिश्रीगोकुलोत्सवकृतं 'सौन्दर्यं निजहृद्गतम्'
इति पद्यस्य विवरणं सम्पूर्णम्

---*---

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः॥

(३)श्रीमत्प्रभुचरणाः स्वीयानां ध्येयं श्रीमद्वल्लभाचार्यस्वरूपं निरूपयिष्यन्तः तत्र प्रथमं ''**रसो वै सः**'' (तैत्ति.उप.२।७) इति ''**सर्वकामः...**'' (छान्दो.उप.३।१४।२) इत्यादिश्रुतिनिरूपितरसरूपभगवतो रसरूपत्वं यथा तथा

''*स्वार्थं तदपेक्षारहितः फलभोगसमर्पको यथाधिकारं तत्र प्रवर्तकः च साक्षी भवति, यथा परमात्मा.'' (सुबो.टिप्प.१०।१८।१).

निरूपयन्ति **सौन्दर्यम्** इति श्लोकेन. यतो रसरूपतन्निरूपणपूर्वकमेव रसमयतन्निरूपणसम्भवः **सौन्दर्यं निजहृद्गतं प्रकटितम्** इति.

श्रीगोकुलादौ नित्यलीलासत्त्वेऽपि "सर्वे मां पश्यन्तु!" इति इच्छायां भगवता निजहृदेकगतं सौन्दर्यं प्रथममेव व्रजे बहिः प्रकटितम्. तत्स्वरूपम् आहुः **स्त्रीगूढभावात्मकम्** इति भगवतः स्त्रीविषयको यो गूढभावः तदात्मकम्. अग्रे **पुंरूपम्** इति कथनाद् इदं द्वितीयं रूपम् अर्थसिद्धम्. द्वितीयस्वरूपप्राकट्यम् आहुः **पुंरूपं च तदन्तर्गतम्** इति. **च पुनः** तदनन्तरं तस्य बहिःप्रकटितसौन्दर्यस्य हृदेकगतं पुंरूपं सौन्दर्यं परमशोभनसमये व्रजे बहिः प्रकटितम्. तत्स्वरूपम् आहुः **स्त्रीगूढभावात्मकम्** इति. स्त्रीणां भगवद्विषयको यो गूढभावः तदात्मकम्. बहिः प्रकटितस्वरूपद्वयस्य अनिर्वचनीयशोभावत्त्वात् 'सौन्दर्य'शब्देन तद्द्वयम् उक्तम्. बहिःप्रकटितसौन्दर्यद्वयस्य पुनः परस्परं स्वस्वप्रिये स्वरूपे प्रवेशम् आहुः **पुनः प्रावीशत् स्वप्रिये** इति. पूर्वं स्वस्वहृदयाद् बहिः प्रकटितं भावरूपं सौन्दर्यद्वयं पुनः परस्परं स्वस्वप्रिये स्वरूपे भावात्मकं भगवान् **प्रावीविशत्** प्रवेशं कारितवान्. अतएव श्रीहरिरायमहाराजकृतपदे **"भावरूपको भावरूप"** ("भाग्यन श्रीवल्लभ जनम भयो" पदसं.५३४।पंक्तिसं.४उत्त.) इति उक्तं तैः. उभयत्र तस्य स्थायिभावरूपत्वात् स्वस्थानात् कदापि नैव चलति. एवम् अन्तःस्थितभावरूपस्वरूपेण उभयोः स्वरूपयोः वैशिष्ट्ये सति यद् निष्पन्नं तद् आहुः **संश्लिष्टौ उभयोः बभौ रसमयः कृष्णो हि** इति. उभयोः बहिःस्थितभावरूपयोः अन्तस्थितभावात्मकस्वरूपेण संश्लिष्टौ सत्यां वैशिष्ट्ये सति रसमयः शृङ्गाररसरूपः कृष्णो बभौ. **हि** इति प्रमाणसिद्धिः. एकमेव रूपं द्विधा भूतमिति रसमय'कृष्ण'शब्दवाच्यत्वम् उभयत्रापि समानम्. श्रीपुरुषोत्तममहाराजकृतभावरूपकृष्णाश्रयव्याख्याने —

"अभेदवादानुरोधेन रसस्वरूपरुचिरे रसावलम्बनं द्वयाभिन्नरसात्मा स्वयं भवति. उपबृंहितं च इदं ब्रह्मवैवर्तीयश्रीकृष्णजन्मखण्डे गर्गवाक्येषु 'वर्द्धते सा व्रजे राधा शुक्ले चन्द्रकला यथा, श्रीकृष्णतेजसोऽर्द्धेन साच मूर्तिमती सती. एका मूर्तिः द्विधा भूताऽभेदो वेदे निरूपितः, इयं स्त्री वा पुमान् किंवा सा वा कान्ता पुमान् अयम्' **(ब्रह्मवै.पुरा.४।१३।९६-९७)** इति."

(स्वधर्मपितृनाम्ना लिखिते कृष्णाश्रयद्वितीयविवरणे.१)

एवं रसप्रचुरं भगवत्स्वरूपं निरूप्य अग्रे श्रीमद्वल्लभवरस्वरूपं स्वकीयानां ध्यानार्थं निरूपयन्ति **तत्साक्षिकं रूपम्** इत्यादिना. यत् तयोः बहिःस्थितयोः स्वरूपयोः **साक्षिकं** हृदि स्थितं भावरूपं सर्वथा तन्मुखरूपेण निरूपणात् तद्रूपम् अतएव प्रभोः **वल्लभं रूपं तत्त्रितयात्मकं सदा** कालापरिच्छेदेन **अभिध्येयं** सर्वभावेन चिन्त्यम्. तन्मुखरूपत्वात् सर्वभक्तानाम् अतीव वल्लभम्. अतएव नामापि तदेव अस्ति. नखशिखपर्यन्तस्वरूपरसरूपत्वेऽपि मुखगतो रसः कश्चिद् विलक्षणएव. तद्रूपं पुनः कीदृक्? **परम्** इति. यदपेक्षया अन्यद् अपरं संयोगात्मस्वरूपात् परम् इति अर्थः. **त्रितयात्मकम्** इति बहिःस्थितभावरूपस्वरूपद्वयरूपम्. तदन्तःस्थितं भावरूपं च. सर्वेषां वल्लभत्वात् तत्प्रकटितमार्गाङ्गीकृतैः सदा स्वसर्वस्वतया ध्येयम्. यथा जीवानां सर्वा प्रवृत्तिः तद्भावश्च साक्ष्यधीनः तथा श्रीगोकुलनाथवृन्दावनचन्द्रप्रभोः सर्वापि लीलाकृतिः श्रीवल्लभवराधीना. सर्वोत्तमे **'श्रीकृष्णास्यः'** (सर्वो.स्तो.७) इति, **'रासस्त्रीभावपूरितविग्रहः'** (सर्वो.स्तो.१६) इति. श्रीवल्लभाष्टके **"वस्तुतः कृष्णएव"** (श्रीवल्ल.स्तो.८) इति. श्रीपुरुषोत्तमचरणकृतकृष्णाश्रयव्याख्याने **"तथा सति** आचार्याणामपि **'वैश्वानराद् वाक्पतेः' (सुबो.१।१।१का.)** 'वस्तुतः कृष्ण एव' **(श्रीवल्ल.स्तो.८) इति वाक्यद्वयविचारे पूर्वोक्तरीत्या उभयमुखारविन्दात्मकत्वम् उभयात्मकं च सिद्ध्यति"** (कृष्णा.स्तो.द्विती.विव.१।) इति उक्तम्. भावरूपस्यापि मुखारविन्दस्य **"सर्वतः पाणिपादान्तम्"** (भग.गीता.१४।१३) इति श्रीभगवद्गीतावाक्याद् आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिमत्त्वम्. सर्वांशैः भावात्मस्वरूपप्रवेशे स्वरूपयोग्यतापेक्षा आवश्यकी. यथा काष्ठाद् वह्निप्राकट्येऽपि काष्ठन्तु काष्ठमेव पुनः तत्र तस्य सम्यक्प्रवेशे वह्नित्वं स्यात् तथा भक्तहृदयाद् बहिःप्रकटेऽपि भगवति तद्देहो यथा पूर्वमेव. पश्चात् सएव भगवान् विरहदशायां परमानन्दरूपतया क्लेशैः यथा-यथा हृदि प्रविशेत् तथा-तथा आमघटपाकवत् कालेन

अलौकिकदेहरूपयोग्यतायां सर्वांशे प्रविशेत्. अत्रतु आनन्दमात्रकरादिमत्त्वं रसरूपत्वं सर्वं सिद्धमेव. तत्र प्रवेशे कुतो विलम्बः?

इति श्रीमन्महतां दासानुदासबालबुद्धिसाचीहर(साचोरा)
गोपालकृतं 'सौन्दर्यम्' इत्यस्य व्याख्यानं सम्पूर्णम्

सौन्दर्यपद्यव्याख्या

श्रीयोगिगोपेश्वरैः विरचिता

"भक्तिमार्गेतु भक्त्या तत्र प्रकटः" (ब्र.सू.भा.४।३।१६) इति वक्ष्यमाणभाष्यात् सन्निधानकारणीभूताः जन्याः विविधाः भावाः निरूप्यन्ते गोस्वामिभिः —

सौन्दर्यं निजहृद्गतं प्रकटितं स्त्रीगूढभावात्मकं
पुंरूपञ्च पुनस्तन्तर्गतं प्रावीविशत् स्वप्रिये।
संस्पृष्टावुभयोर्बभौ रसमयः कृष्णो हि यत्साक्षिकं
रूपं तत्त्रितयात्मकं परमभिध्येयं सदा वल्लभम्॥

सौन्दर्यम् इत्यादिना. यद् वल्लभाष्टकादौ रूपं निरूपितं तदेव बुद्धिप्रवेशसौकर्याय अत्र उपनिबद्धच निरूपितम्. **"मद्भक्तपूजाभ्यधिका"** (भाग.पुरा.११।१९।२१), **"आचार्यं मां विजानीयात्"**, (भाग.पुरा.११।१७।-२७), **"आचार्यवान् पुरुषो वेद"** (छान्दो.उप.६।१४।३) इत्यादिवाक्येभ्यः. आदौ वस्तुनिर्देशात्मकमङ्गलार्थम् अत्र पुष्टिरूपं स्वयञ्ज्योतीरूपं ध्यानविषयत्वेन उक्तं भविष्यति. **परं** विशेष्यम्. एतट्टीकायामपि ज्ञेयम्. **परम् अभिध्येयम्** इति **परं** विशेष्यम्. कथम्भूतं परं? **तत् त्रितयात्मकम्** उभयरूपं साक्षिकरूपं चेति **त्रितयात्मकम्**. कथम्भूतं साक्षिकं रूपं **वल्लभम्** अत्यन्तानुग्रहभाजनरूपम्. "वल्लेन अज्ञानसंवरणेन भाति" इति तं **वल्लभम्**. **सदा** 'वल्लभं'

नाम यस्य इति वा. "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छान्दो.उप.६।१।४) इत्यत्र इति ज्ञापनाय. कथम्भूतं तद् उभयं **रसमयो बभूव हि** इति. कस्यां सत्याम्? इति चेत् न, **उभयोः संस्पृष्टौ** सत्याम्. कथं रसमयत्वम्? इत्यतः आहुः **कृष्णः** इति. **कृष्णो हि प्रावीविशत्** किं? **"तदेव कदाचित् परमं सौन्दर्यं स्वगतं प्रकटं करिष्यनिति साकारं प्रादुर्भूतं सत् श्रीकृष्णः"** (त.दी.नि.प्र.३।१।१) इत्यादि निबन्धाद्युक्तदिशा साक्षात् पुष्टिरसामृतप्रेप्सुव्रजवररत्नकदम्बेषु स्वलावण्यामृतदित्सया अनिर्वचनीयानन्दरसमयः श्रीकृष्णः प्रादुर्बभूव इति **सौन्दर्यम्**. कथम्भूतं सौन्दर्यम्? **निजस्य** स्वस्य **हृद्गतं** मनोगतं, पुनः कथम्भूतं? **स्त्रीगूढभावात्मकम्**. अस्ति भावद्वयं भगवति पुम्भावः स्त्रीभावः च इति. एवमेव श्रीमुखस्य स्वामिन्यामपि भावद्वयम्. तद् उक्तं **"यथाहि सर्वभावात्मा कृष्णः सापि च तादृशी"** (मू.रू.सं.नि.८) इति श्रीहरिरायैः. ब्रह्मत्वे सर्वभावात्मत्वं **"सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म"** (तैत्ति.उप.२।१), **"सत्यं विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म"** (बृह.उप.३।९।२८) इति श्रुतिभ्याम्. यद्यपि द्वितीया श्रीयमुनाजित् तत्त्वपरा तथापि तत् पौराणं मतं; श्रौते मते ब्रह्मानन्दत्वं यत्र तत्र श्रुतिप्रवृत्तिः. पुनः कथम्भूतम्? **(प्रकटितं)**, रसाभासप्रसक्तिः पुंद्वये स्त्रीद्वये च अतः उभाभ्यां पृथक् स्थितं रूपद्वयं प्रकटितं स्वेच्छया. तद्भावोदयं श्रीमदाचार्यवर्यस्वरूपम्. **तृतीयं** साक्षिकम् अनुभवितृ. तथाच **"द्वौ सुपर्णौ भवतः"** (?) गोपालतापनीये उक्तौ तौ एतौ भवतः. कथम्भूतम्? **पुंरूपम्**. **चः** समुच्चये. **पुनः तदन्तर्गतं** स्वामिन्यन्तर्गतं भगवद्रूपं स्त्रियाः पूर्वम् उक्तत्वात्. क्व? इति चेत् न, **स्वप्रिये**. कदा? इति चेत् न, **सदा**. तादृशं रूपं **ध्येयम्**. **"अग्निः चकार तत्त्वार्थदीपं भागवते महत्"** (त.दी.नि.प्र.१।०।का.३) इति अग्निरूपभावभक्तिजन्या भक्तिः स्मरणादिरूपा अत्र. अत्र विरहाग्निः स्वयञ्ज्योतीरूपः **स्वप्रिये** यद् सत्यज्ञानात्मकं तत्र अनन्तानन्दं ब्रह्म पूर्णानन्दरूपं स्वगतभक्तविरहशामकं स्वगतसंयोगश्रीमदाचार्यगतविप्रयोगात्मकं [स्वोपज्ञटिप्प. : विप्रयोगप्रदानेच्छया आविर्भूतं. अन्तर्विप्रयोगे बहिःसंयोगे आविर्भावांगीकारात् सुबोधिन्यादौ] यत् श्रीकृष्णः [कर्म इदम्] **प्रावीविशद्** अत्र विरहो अग्निः [सूक्ष्मात्मा] ज्योतिः अग्निः [परमात्मा ज्ञानाग्निरूपः तत्र परमात्मा

आत्मोपनिषदुक्तो ज्ञानाग्निः गर्भोपनिषदि] हृद्दर्शनाग्निः [''पश्यति अनेन इति दर्शनं'' सूक्ष्मात्मा गर्भोपनिषद्युक्तः] पूर्णानन्दोऽपि आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपः [अन्तर्यामी] सर्वेन्द्रियगुणाभासः सर्वेन्द्रियविवर्जितः च अतो दर्शनाग्निरूपः श्रीमदाचार्यसूक्ष्मदेहः. गर्भोपनिषदि **''दर्शनाग्निरूपाणां दर्शनं करोति''** (गर्भोप.५) इति श्रुतिः. त्रिविधात्मस्वात्मोपनिषदुक्तं द्वयम् उक्तम्. तृतीयो हि परमात्मान्तरात्मा बाह्यात्मसु बाह्यात्मा गर्भोपनिषदुक्तेषु द्वयम् उक्तम्. तृतीये ज्ञानाग्निदर्शनाग्निकोष्ठाग्निषु कोष्ठाग्निः तद्रूपः इतरत्तु विरहाग्निकारणं, तेन कारणविशिष्टो विरहाग्निः बीजं वृक्षविशिष्टमिव. तथाच भाष्यं **''सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्''** (ब्र.सू.१।२।१) इति अधिकरणस्य ध्यानादि-समाध्यन्तरूप-निदिध्यासनरूपं मनसि सर्वतो निवृत्तव्यापारे स्वयम् उपलब्धनिजसुखानुभवरूपं ब्रह्म. इदमेव ब्रह्मज्ञानमिति स्वयम्प्रकाशत्वाद् ब्रह्मज्ञानम्. मनसा तज्जननेऽपि तथा मनसः सत्यज्ञानात्मकत्वेन अक्षरब्रह्मत्वात्. अतएव अधिकरणसप्तम्यन्तं मनःपदम् उक्तं, **''स मानसीन आत्मा''** (चित्युप.११।१।२) इति श्रुतावपि एवम्. एवंसति **''यतो वाच''** (तैत्ति.उप.२।४) इत्यस्यां पुष्टिश्रुतौ **''आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्''** (तैत्ति.उप.२।४) इत्यनेनापि उक्तम्. पुष्टिजीवस्यतु ब्रह्मोपनिषदि **''यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह आनन्दम् एतद् जीवस्य यद् ज्ञात्वा मुच्यते बुधः''** (ब्रह्मोप.) इति. **''सूक्ष्मं प्रमाणतः च''** (ब्र.सू.४।२।९) इति सूत्रभाष्ये उदाहृता पुष्टिश्रुतिः. एतत्त्रयं [आत्मोपनिषदि आत्मत्रैविध्याद् गर्भोपनिषदि अग्नित्रैविध्याद् एतत् त्रयम्, ''अङ्गति इति अग्निः''] ध्यानविषयत्वेन उक्तम् इतरत्तु ऋते अर्थं प्रतीयमानत्वाद् माया शरीरादि. यत्तु **''आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति''** (भाग.पुरा.११।२९।६) इत्यत्र वपुः तदिदं यद् आचार्यं मां विजानीयाद्'' (भाग.पुरा.११।१७।२७) तदपि वपुरात्मा च इदम्.

इति श्रीयोगिगोपेश्वरैः विरचिता भाष्यप्रकाशरश्म्यन्तर्गता
सौन्दर्यपद्यव्याख्या

परिशिष्टम्

श्रीमदाचार्यचिन्तनम्

अथ श्रीवल्लभाचार्यध्यानम् अत्र निरूप्यते ।।
निवार्य सर्वसन्देहान् तत्स्वरूपे कृपाबलात् ।।१।।

व्रज - स्त्री - हृदयं कृष्ण - वियोग - भर - भावितम् ।।
व्रज-स्त्रियोऽपि विरह-भाव-प्राप्ति-फलास् तथा ।।२।।

नान्तर्गृहगता लक्ष्मीस् तदंशाअपि नैव हि ।।
अधिष्ठानं विचिन्त्यैवं कृष्णं तत्र विभावयेत् ।।३।।

भावात्मानं तत्र तापभावम् आस्यं विचिन्तयेत् ।।
साकारं कोटि-कन्दर्प-लावण्यं कृष्ण-मूर्ति-मत् ।।४।।

''सर्वतः पाणिपादान्तम्'' इति गीतावचोबलात् ।।
मन्तव्यावयवानां हि सर्वेषां कृष्णरूपता ।।५।।

यथा विशिष्टं कृष्णस्य रूपं चावयवास्तथा ।।
स र्वा व य व-रू पा णां क र-पा दा दि-यु क्त ता ।।६।।

भावात्मानो ह्यवयवास् तथाभूतात्मका हि ते ।।
अतः श्रीकृष्ण-विरह-स्त्री-भावाग्निः प्रभुर्मतः ।।७।।

तत्स्वरूपं यथा कृष्णस् तथैवेति विभाव्यताम् ।।
सहि गूढः स्थायिभावः स्त्रीणामिति विनिश्चयः ।।८।।

तन्मुखं श्रीमदाचार्यास् तथाभूता न संशयः ।।
कृष्णत्वेनैव तद्ध्यानं स्त्रीभावात्मतया ह्यतः ।।९।।

व्रज - स्त्री - हृदय - स्थायि - कृष्ण - वक्त्रतया तथा ।।
मुखारविन्द-रूपत्वात् ताप-भक्त्यात्मनापि च ।।१०।।

पूर्ववत् कृष्णरूपत्वं भक्तेरपि विभाव्यताम् ।।

कृष्णसम्बन्धि यत् किञ्चित् तत् तद्रूपमिति ध्रुवम्॥११॥

मुखत्वादेव रास-स्त्री-भाव-पूरिततोच्यते॥
व्रज-स्त्री-हृदयानन्द-दायकत्वं तथा पुनः॥१२॥

प्राकट्यं भुवि भक्तार्थं भक्तिरूपतया वचः॥
"इति श्रीकृष्णदासस्ये"त्यादि सर्वत्र युज्यते॥१३॥

यथा भगवतो वाक्यं विपरीतरसे पुनः॥
तथा तद्भावसेवायाम् आचार्याणां वचोऽमृतम्॥१४॥

तस्माच्छ्रीवल्लभाचार्याः प्रभुरेवं हि चिन्त्यताम्॥
सर्व-लीला-कृतिः सर्व-लीला-भोगाश्रयः सदा॥१५॥

श्रीकृष्णास्यं सदानन्दः आनन्दैकपदादिकः॥
व्रज-स्त्री-वृन्द-मध्यस्थः पुष्टि-मार्ग-प्रकाशकः॥१६॥

रास-स्त्री-हृदय-स्थायि-ताप-भावात्मको हरिः॥
सर्व-लीलाश्रयः सर्व-लीला-रस-तदात्मकः॥१७॥

स्वान्तःस्थ-कृष्ण-लीलाब्धिः स्वानन्द-भर-सम्भृतः॥
सोऽस्मत्प्रभुः सदा श्रीमद्वल्लभाख्यो विचिन्त्यताम्॥१८॥

स्वतन्त्रभक्तिसम्बन्धं साक्षात् कारयितुं स्वयम्॥
प्रतिबन्धायोग्यतादिदोषं व्यावर्तितुं तथा॥१९॥

कृष्णाधरामृतास्वादफलं दातुं स्ववृत्ति यद्॥
प्रकटो दैवजीवानां सदा निःसाधनात्मनाम्॥२०॥

अस्मद्-भाग्य-निधिर् नूनं निजपक्षैकपोषकः॥
अपार-करुणा-सिन्धुर् दैवोद्धृति-परायणः॥२१॥
भक्ति-मार्ग-प्रकटनः सर्व-सन्देह-वारकः॥
एवंविधः सदा श्रीमदाचार्यश् चिन्त्यतां हृदि॥२२॥

इति श्रीमद्हरिरायविरचितः श्रीवल्लभाचार्यचिन्तनप्रकारः

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ सर्वोत्तमस्तोत्रम् ॥

(विविधटीकोपेतम्)

::मङ्गलाचरणानि::

(१)श्रीमद्गोकुलेशकृता विवृतिः

नत्वा पितृपदाम्भोजम् ऐहिकामुष्मिकार्थदम्॥
तत्प्रोक्ताचार्यनामानि विवरिष्ये यथामति॥१॥
यद्यप्ययोग्यएवाहं तन्नामविवृतौ स्वतः॥
स्वीयत्वेनैव कृपया योग्यतां मयि दास्यति॥२॥
इति विश्वासतो नूनं प्रवृत्तोऽहं न चान्यथा॥
अतस्तएव शरणं मम सर्वार्थसिद्धये॥३॥

(२)श्रीमद्रघुनाथकृतं विवरणम्

यत्कृपादृष्टिमालम्ब्य समुत्तीर्णा भवाम्बुधिम्॥
गृहान्धकूपमण्डूकाः तं वन्दे वल्लभात्मजम्॥१॥
उद्धर्तुरग्रे सोऽभूद् यो जीवान् श्रीवल्लभाभिधः॥
तन्नामाष्टोत्तरशतं निर्वक्ष्यामि यथामति॥२॥

(३)चाचा-श्रीगोपेश्वरकृतविवृतिः

प्रवर्धयत्कृपाम्भोधिबिन्दुरेकोऽपि यं स्पृशेत्॥
मज्जन् रसाब्धौ तपते स तं वन्देऽनलप्रभुम्॥१॥
व्रजपतिनवलीलाभावसर्वस्वरूपः

सुललितगतिराधाराधनासक्तचित्तः ॥
तदुभयरसलीलानन्दसन्दोहपूर्णः
स भवतु मम सर्वं विठ्ठलेशः सुवेषः ॥२॥
यदुक्तन्तु यदुक्तेन फलितं स्यात् स्वमार्गिणः ॥
तमग्निं तत्कुमारं च प्रणमाम्येकरूपिणम् ॥३॥

(४)श्रीमद्हरिरायकृता सर्वोत्तमभावविवर्धिनी

यत्पादाब्ज-रजो-ध्यान-धनिनां गोपिकापतिः ॥
पतित्वं वृणुते तान् स्वानाचार्यान् नौमि सन्ततम् ॥१॥
कृष्णदर्शनभावैकसिद्धिदान् साधनैर्विना ॥
श्रीविठ्ठलेशपादाब्जरेणून् नौमि तदाप्तये ॥२॥
मया तदीयबलतः तद्भावासक्तचेतसा ॥
सर्वोत्तमस्य भावैकविवृतिः क्रियते स्फुटा ॥३॥
तद्भावा दुर्लभाएव ज्ञातुं किं कथने पुनः ॥
तथापि स्वीयतां मत्वा स्वयं मे ज्ञापयिष्यति ॥४॥

(५)श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृता विवृतिः

अनन्यशरणे श्रीमदाचार्यचरणाम्बुजे ॥
नत्वा तन्नामविवृतिं करोमि तदनुग्रहात् ॥१॥

(६)श्रीवदनानलदासश्रीवल्लभकृता विवृतिः

नुमो विच्छिन्नमाहात्म्यज्ञानानां विदुषाम्बुधेः ॥
भूमाविर्भातस्वास्यानां नामदर्शान् सुधाकरान् ॥१॥
शश्वत्प्रियासितापाङ्गध्यानावस्थितचेतसा ॥
प्राप्ततन्निजरूपाय गोविन्दाय नमो नमः ॥२॥

(७)श्रीमद्द्वारकेशविरचिता सर्वोत्तम-विवृतिः

श्रीमद्वल्लभ-विठ्ठलौ निजगुरून् गोवर्द्धनेशं प्रियं
श्रीमन्तं नवनीतभोजनपरं सप्तस्वरूपैर्युतम् ॥
श्रीमन्तं ललितत्रिभङ्गमखिलं श्रीराधिका-स्वामिनीं

नत्वाहं विवृणोमि चातिसरसं स्तोत्रं हि सर्वोत्तमम् ॥१॥

:: उत्थानिका ::

(१)श्रीमत्पितृचरणाः श्रीमदाचार्याणाम् अलौकिकनामानि प्रकटयितुम् आचार्याणां स्वरूपं तत्प्राकट्यहेतुं च वक्तुम् आचार्यैकप्रकटित-भक्तिमार्ग-प्रतिपाद्यं सर्व-श्रुति-श्रीभागवत-गीताद्यनेकालौकिक-प्रमाणसिद्धं पूर्वोक्तप्रमेयमूलभूतं साक्षात्पुरुषोत्तमस्वरूपं सर्वमूलत्वेन मङ्गलार्थं स्तुवन्ति —

(२)आदौ सकलशिष्टसम्मततया स्तुतिरूपं मङ्गलं प्रतिजानते —

(३)अथ प्रथमं श्रीमदाचार्याणाम् अलौकिकनामानि निरूपयन्तः तेषां स्वरूपमपि ईदृशम् अलौकिकानन्दरूपमेव इति स्वीयानां ज्ञापयितुम् अलौकिकपूर्णगुणम् आनन्दमात्रस्वरूपं, तत् साक्षात्पुरुषोत्तमं ब्रह्म श्रीमत्प्रभुचरणाः परममङ्गलरूपं स्तुवन्ति —

(४/क)...

(४/ख)यदाहि विविधमार्गपरिभ्रमणतापोपतपमानानां क्वचिदपि श्रीगोकुलाधीशसाक्षात्कारम् अलभमानानां श्रीमदाचार्यचरणसेवनं विना केवलं स्वार्थप्रकटितदैवानां स्वाचार्यस्वरूपज्ञानेन तत्प्राप्त्यर्थं तद्भावप्रतिबन्धनिवारणैकस्वरूपं तन्नामाष्टोत्तरशतं वक्तुं प्रतिजानते. ननु भगवद्भक्तिप्रतिबन्धनिराकरणार्थम् अनेकसाधनानि श्रूयन्ते किं नामप्राकट्येन? तथाच श्रीभागवते "**दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः श्रेयोभिः विविधैश्च अन्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते**" (भाग.पुरा.१०।४७।२४) इति. तत्र उच्यते मर्यादामार्गे साधनैरेव भवति परं नतु पुष्टौ. पुष्टिमार्गेतु सर्वसाधनसम्पत्तिसिद्धौ सत्यामपि सर्वाज्ञातमन्त्रजपएव कृतो व्रजकुमारिकाभिः "**कात्यायनी...**" (भाग.पुरा.१०।१९।४) इत्यादि. तथा अत्रापि फलप्राप्तौ तद्भावएव उच्यते. तस्मात् सर्वाज्ञातैतन्नामप्राकट्यातिरिक्तसाधनासाध्यत्वं ज्ञात्वैव तत्प्राकट्यकरणम् इति अर्थः. सर्वाज्ञातप्राकट्यकरणसामर्थ्यसाम्यता तत्फलप्राप्तिसाम्यता च प्रकटीकरिष्यति. स्वस्य अग्निकुमारत्वनिरूपणेन एतन्नामसिद्धिनिरूपणप्रस्तावे तज्जपकरणफलाप्त्या च तेन एतद्भावप्रतिबन्धापगमो, न साधनान्तरैः इति एतत्प्राकट्यकरणम् इति भावः. तत्र प्रथमं तत्स्वरूपेणैव मङ्गलम् आचरन्ति —

(५)अथ श्रीमदग्निकुमाराः स्वस्यैव श्रीमदाचार्याखिलमाहात्म्याभिज्ञत्वं स्थापयितुं निःसाधनदीनदैवान् उद्धर्तुं च तत्प्रतिपादक-तन्नामाष्टोत्तरशतेन तान् स्तुवन्ति. तत्र आदौ लोकवेदातीतस्तोत्रम् इति तादृशपुरुषोत्तमाख्य-वस्तुनिर्देशात्मकमेव मङ्गलम् आचरन्ति —

(६)ग्रन्थारम्भे वस्तुनिर्देशरूपं मङ्गलम् आचरन्ति —

(७)अथ श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणाः स्वीयानां श्रीमदाचार्योक्त-दुर्बोधत्व-क्लेशम् असहमानाः तदुक्ति-सुबोधत्वं साधयितुं तदुपाय-भूतानि तन्नामानि वदन्तः शास्त्रार्थ-बोधनपूर्वकं मङ्गलम् आचरन्ति —

:: मूलम् ::

प्राकृतधर्मानाश्रयम् अप्राकृतनिखिलधर्मरूपम् इति ।।
निगमप्रतिपाद्यं यत् तच्छुद्धं साकृति स्तौमि ।।१।।

:: टीका ::

(१)प्राकृतधर्मानाश्रयम् इति, **प्राकृताः** प्रकृतिजन्याः ये सत्त्वादयो **धर्माः**, तेषाम् **अनाश्रयं** तद्धर्मसम्बन्धमात्ररहितम् इति अर्थः. ननु प्राकृतधर्मानाश्रयत्वोक्त्या तदितरधर्माप्रसिद्धेः स्वरूपस्य निर्धर्मकत्वम् आयाति इति शङ्काव्युदासार्थम् आहुः **अप्राकृतनिखिलधर्मरूपम्** इति, **अप्राकृताः** प्रकृतिसम्बन्धरहिताः अलौकिकाः आनन्दमयाः ये **निखिलाः** सर्वे **धर्माः** देहेन्द्रियप्रभृतयः, **तद्रूपं** तत्स्वरूपम् इति अर्थः. अत्र देहेन्द्रियादीनामपि तद्रूपत्वोक्त्या तेषामपि स्वरूपवद् आनन्दरूपत्वमेव, नतु लौकिकशरीरवद् आत्मानात्मकृतभेदोऽपि अत्र अस्ति इति अर्थः. **इति निगमप्रतिपाद्यम्** इति, **'इति'**शब्दो अत्र प्रकारवाची, तेन अनेन प्रकारेण पूर्वोक्तेन **यत्** श्रुतिप्रतिपाद्यं पुरुषोत्तमस्वरूपं; **शुद्धम्** आनन्दमात्र-करपादमुखोदरादिरूपं; तदपि **साकृति** आकारसहितं नतु मायावादादिभ्रान्तशास्त्रप्रतिपादितब्रह्मवद् निराकारम्. **तत् स्तौमि** स्तुतिविषयं करोमि इति अर्थः ।।१।।

(२)**प्राकृतधर्मानाश्रयम्** इति, **प्राकृताः** लौकिकाः ये **धर्माः**

कामक्रोधादयः, **तान् न आश्रयते** न भजते, ते एनं न आश्रयन्ते इति वा. ननु सर्वधर्मनिराकरणात् किं निर्धर्मकं तत्? न इति आहुः **अप्राकृत...** इति, प्राकृताप्राकृतभेदेन पदार्थद्वैविध्यस्वीकाराद् ईश्वरे प्राकृतधर्मनिषेधेऽपि अलौकिकधर्मवत्त्वम् अविरुद्धम्. अतो **अप्राकृताः** ये **निखिलाः** सर्वे **धर्माः** ऐश्वर्यादयो **रूपं** स्वरूपं च यस्य. **'इति'**शब्दः प्रकारार्थः. तेन एवम्प्रकारकं **यद्** वस्तु **तत् स्तौमि** इति अन्वयः. तदेव विशिष्यते **निगम...** इति, काण्डत्रयात्मकेऽपि वेदे **प्रतिपाद्यं** निर्णेतव्यम्. **शुद्धं** निर्मलम्. **साकृति** आकृत्या विग्रहेण सहितं, नतु अन्तरा स्वीकृतम् ।।१।।

(३)**प्राकृतधर्म...** इति, अत्र स्तुतिस्तु स्वीयानाम् उपरि एतादृशस्वरूपप्राकट्यकरणेन महती दया कृता इति विज्ञापनार्थं, नतु ग्रन्थनिर्विघ्नार्थं, तत्र कालादीनामपि विघ्नकर्तृत्वाशक्तेः. एतादृग्**धर्म**विशिष्टस्य **निगमप्रतिपाद्य**त्वनिरूपणपूर्वकं **यद्** ब्रह्म इति उक्तं **तद्** ईदृशमेव, तद् इति ज्ञापितम् ।।१।।

(४/क)...

(४/ख)**प्राकृत...** इति, स्वाचार्यस्वरूपं **स्तौमि** स्तुतिविषयं करोमि इति सम्बन्धः. **प्राकृताः** प्रकृतिजन्याः ये लौकिकाः **धर्माः**, तेषाम् **अनाश्रयः** तद्धर्मरहितः इति अर्थः. यद्वा **प्र**कर्षेण पुरुषोत्तमस्वरूपेण **अकृताः प्राकृताः** ये **धर्माः** कर्मादि-नवधा-मर्यादाभक्त्यादि-धर्माः तैरपि तथा इति अर्थ. ननु मर्यादादिभक्ति**धर्मा**णां वेदोक्तत्वात् कथं पुरुषोत्तमाकरणत्वम्? तत्र उच्यते, तथाच उक्तं श्रीमदाचार्यवर्यैः **"वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चयः"** (पु.प्र.म.९) इति. तस्माद् अकरणत्वात् तथैव इति भावः. ननु सर्वधर्मराहित्येन स्वरूपस्य निर्धर्मकत्वं स्याद्? इति चेत् तत्र आहुः **अप्राकृत...** इति, **अप्राकृताः** प्रकृतिसम्बन्धरहिताः केवलम् आनन्दमयाः निर्दोषपूर्णगुणविग्रहाः ये **निखिलाः** सर्वे **धर्माः**, **तद्रूपम्** इति अर्थः. अथवा **अप्राकृतस्य** भगवतो ये **धर्माः**, **तद्रूपम्** इति अर्थः. एतेन यथा आधिदैविकस्वरूपं विना सर्वपदार्थानाम् अपूर्णत्वं तथा श्रीमदाचार्यस्वरूपं विना पुरुषोत्तमस्यापि स्वरसरमण-तापशान्तिः न. नच अन्येष्वपि तद्दानम् इति अर्थः. ननु एतेषां स्वरूपम् एतादृशं चेत्, पुरुषोत्तमस्वरूपमिव वेदादिषु कथं न प्रतिपाद्यते? तत्र उच्यते **निगमप्रतिपाद्यम्** इति, **निगमो** वेदः पुष्टिमार्गीयश्रुतयः, ताभिरपि भगवत्प्रेमाधिक्येन सर्वभावेन **प्रतिपाद्यम्** इति अर्थः. अन्यथा तासाम्

अन्यभावस्फूर्तेः सापत्न्यादिना प्रतिपादनं न भवति. अतएव शृङ्गार-द्विदलात्मकाधिदैविकत्वम् उच्यते. तद् उक्तम् अस्मत्प्रभुचरणैः प्रेमामृते स्त्री-पुं-विशेषणेन, "'**हृदि सुभगमूर्तिः सकरुणा**'-'**श्रीवल्लभभानुः**'" (स्फु.कृ.प्रे.१-३) इति च. पुष्टिश्रुतीनामेव पुरुषोत्तमस्वरूपं ज्ञेयं, न अन्यासां मर्यादाश्रुतीनाम् इति ज्ञापनाय आस्ते '**निगम**'पदम्. नितरां गमयति, ब्रह्म बोधयति इति निगमः. नितरां बोधनसामर्थ्यं पुष्टिश्रुतीनामेव. तद् उक्तं ताभिरेव वेणुगीतप्रस्तावे, "**अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः**" (भाग.पुरा.१०।१८।७) इत्यत्र. मर्यादाश्रुतयस्तु, "**नेति नेति**" (बृह.उप.२।३-।६), "**आत्मलाभात् न परं विद्यते**" (...स्मृति. ।) इत्याद्युक्तवत्यः. स्वरूपापरिज्ञानात् कथम् अन्यबोधनं भवति ताभिः इति '**निगम**'पदेन व्यज्यते. अतएव पुष्टिरूपस्य श्रीभागवतस्यापि निगमकल्पतरुफलत्वम् उक्तम्. अतएव समाधिभाषाम् अन्तरेण न कस्यापि फलत्वम्. तेन यत्र फलप्राप्तिः तत्र पुष्टिश्रुतिबोधनं विना न इति अर्थः. अतएव अस्मत्प्रभुचरणैः उक्तं "**नहि व्रजवधूनां पादाम्बुजपरागरागं विना**" (. । ।) इति. तेन आचार्यस्वरूपं पुष्टिश्रुतिभिरेव सर्वभावेन प्रतिपाद्यम् इति अर्थः. प्रतिपादनेऽपि अस्ति भावद्वयं : भगवतः श्रीमदाचार्यवश्यत्वेन तासां मानकृतदोषेण तासु भगवति अप्रसन्ने कृपां कारयति इति एकम्. स्वस्य तदीयत्वेन स्वधर्मत्वेनापि तथा इति अर्थः. ननु तासां तदीयत्वम् अनुचितमिव आभाति? त्रेधा न अनुचितं : तादृशभगवत्कृपायाम् अनधिकारिणी इति फलप्रकरणीय-द्वितीयाध्याये "**दृप्ता केशवम् अब्रवीत्**" (भाग.पुरा.१०।२७।३७) इत्यस्य विवरणे, "**नहि एतादृशं तासु वक्तुं शक्नोति ईशं विना**" (सुबो.टिप्प.१०।२७।३७) स्वाचार्यस्वरूपज्ञानेनापि श्रीमत्प्रभोः कृपाधिक्येनापि इति भावः. ननु एतादृशं स्वरूपं पूर्वसिद्धमेव उत नवीनं कृतम्, इत्यत्र उच्यते **यत् तद्** इति, यतः पूर्वसिद्धं तदेव इति अर्थः. अन्यथा ताभिः किशोराकृतिः अच्युतः पूर्वदृष्टः, तं विना ताः न मन्येरन् इति भावुकैः ज्ञेयम्. ननु सर्वैरेव पुरुषोत्तमस्वरूपं स्तूयते, भगवतः स्तवने को हेतुः? इत्यतः आहुः **शुद्धम्** इति, यद्यपि सर्वैः स्तूयतएव तथापि **शुद्धं** न स्तूयते इति, शुद्धं **स्तौमि** इति अर्थः. ननु शुद्धत्वेऽपि साकार-निराकार-वादिनी श्रुतिः श्रूयते, तत्र कथं शुद्धत्वनिर्धारः? इत्यतः आहुः **साकृति** इति, आकारसहितम् इति अर्थः. साकारमेव शुद्धम्. निराकारवादिनी श्रुतिस्तु प्राकृताकाररहितं ब्रह्म स्तुवति, परं व्याख्यातृभिस्तु अनवबोधात् तथा उच्यते इति अर्थः. अथवा अज्ञाभिः स्वरूपादर्शनेन मर्यादाश्रुतिभिः उक्तम्.

पुष्टिश्रुतिभिस्तु साकारमेव शुद्धम् उच्यते. तत्स्वरूपं ताभिरेव दृष्टम्. तदर्थमेव प्रकटीकृतं भगवता, अन्येषां न दर्शनयोग्यम्. तद् उक्तं "**बर्हापीडं...**" (भाग.पुरा.१०।१८।५) इति श्लोके, "**क्व इमाः स्त्रियो...**" (भाग.१०।४४।११) इत्यत्रापि. तादृशमेव आचार्यस्वरूपम् इति अर्थः. '**शुद्धं**'-'**साकृति**' इति पदद्वयेन यादृशं भगवत्स्वरूपं तादृशमेव तत्, (तेन!?) तदभावे तासु स्वयं रसदानं करोति इति भावः उच्यते. तद् उक्तम् अस्मत्प्रभुचरणैः "**वस्तुतः कृष्णएव**" (श्रीवल्ल.८) इति. एतादृशं **स्तौमि** स्तुतिविषयं करोमि इति अर्थः. स्तुतिकरणस्य अयम् आशयो : वस्तुतः प्रभुः प्रसन्नो भूत्वा स्वानुगृहीतेषु स्वरसदानं करोति इति भावः. यथा स्तुतः श्रुतिभिः भगवान्, तासां स्वयथेच्छ-लीलोपयोगि-देहं सम्पाद्य अरीरमत् तथा अत्रापि श्रुतिरूपाः स्वयं तदङ्गभूतऋचोरूपाः स्वानुगृहीताः श्रीमदाचार्याः च द्विदलात्मक-शृङ्गाररसरूपाः, भगवतोऽपि तापात्मकात् प्रादुर्भूय स्वरूपतापं निवारितवन्तएव तथा अत्रापि स्वीयानां तत्प्राकट्य-जनितस्वतापेन प्रादुर्भूय तेषां तथा योग्यतां सम्पाद्य तथा कुर्वन्तु इति अभिप्रायेण स्तुतिः इति भावः ॥१॥

(५)**प्राकृताः** ये, "जायते अस्ति... वर्धते" (निरु.निघ.१।१।३) इत्यादयः षड्भावविकाराः क्षुत्पिपासाद्याः श्रमनिद्राकामादयः च. तेषाम् **अनाश्रयम्** न विद्यते आश्रयः स्थानं यत्र तद् **अनाश्रयम्** इति नञा सप्तमीबहुव्रीहिः ज्ञेयः. अन्यथा "न आश्रयो अनाश्रयः" इति व्युत्पत्तौ पुँल्लिङ्गनिर्देशएव स्यात्. अतः तेषाम् अत्र आश्रयो न अस्ति इति अर्थो ज्ञेयः. यद्वा "...अद्भुतायाम् असंहितम्" (पाणि.सू.वा.१।४।१०८) इति वार्तिके 'असंहितम्' इतिवद् अव्ययीभावसमासः अर्थाभावे. तेन प्राकृतधर्माभावाश्रयः इति अर्थो ज्ञेयः. नच तदा निर्धर्मकमेव सम्पन्नम्, अतः आहुः **अप्राकृत...** इति, **अप्राकृताः**, तएव पूर्वोक्ताः **निखिलाः धर्माः**, **तद्रूपम्**. अत्र धर्मधर्मिणोः अभेदात् तथा निरूपणम्. अभेदस्तु "**रसो वै सः**" (तैत्ति.उप.२।६।१), "**सर्वकामः सर्वगन्धः**" (छान्दो.उप.३।-१४।२) इत्यादिप्रमाणसिद्धः. धर्माणां भिन्नत्वेन अप्राकृतत्वे पृथक्सत्तापत्त्या द्वैतापत्तिः. सर्वथा धर्माभावकथने, "**विश्वतश्चक्षुः**" (महानारा.उप.२।२), "**सर्वतः पाणिपादान्तं**" (श्वेता.उप.३।१६), "**यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः(?वि-द्!)**" (मुण्ड.उप.१।१।९), "**भर्ता सन् भ्रियमाणः**" (चित्त्युप.१४।१) इत्याद्यनेकप्रमाणविरोधः. तेषां मायिकत्वकल्पने मुख्यार्थबाधः. अतः तद्रूपम्

इति उक्तम्. **इति...** इति, इतिप्रकारकं **निगमप्रतिपाद्यम्**. अप्राकृतधर्मधर्मिरूपेण **नितरां गमयति** ब्रह्मस्वरूपम् इति निगमो वेदः, **तत्प्रतिपाद्यम्**. **'यद्'** इति अनिर्वचनीयं, तेनापि निर्वक्तुम् अशक्यम् अस्ति इति अध्याहार्यम्. ननु अनिर्वचनीयत्वं तत्प्रतिपाद्यत्वं च कथं सङ्गच्छते? तत्र उच्यते, **"यतो वाचो निवर्तन्ते... आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्"** (तैत्ति.उप.२।४) इत्यादिश्रुतिभिः तथैव प्रतिपाद्यते. तेन वचनैः श्रुतेरपि वक्तुम् अशक्यम् अनुभवैकवेद्यम् इति ज्ञापितम्. वस्तुनो धर्मधर्मिरूपतासिद्धावपि आश्रयरूपताभावे तद्रूपता न सङ्गच्छते इति आशङ्क्य आहुः **साकृति** इति आकारेण सहितम्. मायावादिमतेतु आकृतेः प्राकृतत्वाद् अशुद्धत्वम् आयाति, तन्निराकरणार्थम् आहुः **शुद्धम्** इति, शुद्धं सर्वदोषरहितम्. आकृतिस्तु आनन्दमात्रैव **"आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्"** (. । ।), **"अन्योन्तर आत्मा आनन्दमयः"** (तैत्ति.उप.२।५), **"आकाशशरीरं ब्रह्म"** (तैत्ति.उप.१।-६।३), **"आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः"** (. । ।), **"य एषो अन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः"** (छान्दो.उप.१।६।६) इत्यादिप्रमाणसिद्धाः. तेन लोकवद् अवतारे प्रतीयमानाअपि धर्माः देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणादयः आनन्दरूपाएव इति सिद्धम्. तत्र आसुराणामेव अन्यथाभासः. तद् उक्तं भगवद्गीतायाम्, "अवजानन्ति मां मूढाः" (भग.गीता.९।११) इति. अभेदेऽपि **साकृति** इति सहयोगप्राप्त-तृतीयाबोधितभेदेन आत्मरूपमपि अस्ति इति ज्ञापितम्. तच्च "भगवानपि..." (भाग.पुरा.१०।२६।१) इत्यस्य स्वतन्त्रलेखे श्रीमत्प्रभुचरणैः निरूपितम् "आत्मादित्वमपि ज्ञेयम्" (सुबो.स्वत.ले.) इति. तेन वस्तुनो यावद्धर्मवत्त्वे साकारत्वे च उक्ते भोक्तृत्वं भोग्यत्वं च उक्तम्. तच्च **"ब्रह्मविद् आप्नोति परम्"** (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुतिव्याख्याने विद्वन्मण्डने श्रीमत्प्रभुचरणैः निरूपितम्. **स्तौमि** इति, तत् पूर्वोक्तं सर्वधर्मविशिष्टं **स्तौमि** स्तुतिविषयं करोमि. **स्तौमि** इति उक्त्वा अग्रे तदकरणात् श्रीमदाचार्याणां तत्करणात्, तेषामेव स्वरूपं तद् इति ज्ञापितम्. अतः पूर्वं स्तुतिं प्रतिज्ञाय अग्रे नामभिः तामेव कुर्वन्ति, तद्वस्तुनः श्रीमदाचार्याणां च अभेदात्, तत्स्तुतिरेव सम्पन्नेति सुष्ठु उक्तं **स्तौमि** इति ॥१॥

(६)**प्राकृत...** इति ॥१॥

(७)**प्राकृत...** इति, प्रकृतिजन्याः **प्राकृताः** ते च ते **धर्माः**

च ते, तेषाम् **अनाश्रयम्** अनाधारम्. भगवतः प्रकृतेः निर्धर्मकत्वम् आशङ्क्य आहुः परत्वात् **"परं धीमहि"** (सुबो.१।१।१). एतेन प्रकृतेः निर्धर्मकत्वम् आशङ्क्य आहुः **अप्राकृत...** इति, प्राकृतसदृशाः **अप्राकृताः**, ते च ते **निखिलधर्माः** च, **तद्रूपं** तदात्मकं, "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" (ब्र.सू.२।१।३३) इति न्यायात्. **इति** अमुना प्रकारेण **निगमेन** वेदेन **प्रतिपादयितुं** योग्यं **यत्** तत् **शुद्धं** यत्तदोः नित्यसम्बन्धः शुद्धरूपाकारकम् इति ध्वनिः ॥१॥

:: उत्थानिकाः ::

(१)ननु पूर्वोक्तैतावद्धर्मवत्त्वेन भगवत्त्वेन भगवत्स्वरूपं भवतैव ज्ञायते, कथम् अन्यैः शास्त्रविद्भिरपि पण्डितैः न प्रतिपादितं कुत्रापि, इति चेत् तत्र हेतुम् आहुः—

(२)ननु एतादृशं तत्स्वरूपं यदि वेदप्रतिपाद्यमेव, तद् एतावन्तं कालं कैश्चिदपि वेदविद्भिः किमिति न वर्णितं तन्माहात्म्यम्? अतः आहुः—

(३)ननु अन्यैरपि विद्वद्भिः ईदृशं ब्रह्म निगमप्रतिपाद्यत्वेन कुत्रापि न प्रतिपादितं; किन्तु निर्गुणं निराकारं, तत्र आहुः—

(४/क)...

(४/ख)ननु भवद्भिः एतावद् उच्यते, एतावत्पर्यन्तम् एतादृशं न केनापि वर्णितं, नापि प्रभुस्वरूपविद्-व्रजसीमन्तिनीभिरपि वर्णितं; कथम् एतादृशं भवति? इति चेत्, तत्र आहुः—

(५)एवं ग्रन्थादौ मङ्गलम् अलंकृत्य श्रीमदाचार्यप्राकट्यहेतुनिरूपणपूर्वकं ग्रन्थकृतिहेतुम् आहुः त्रिभिः—

(६)ग्रन्थप्रयोजनम् आहुः—

(७)प्राकट्यप्रयोजनं निरूपयन्ति द्वाभ्याम्—

:: मूलम् ::

कलिकालतमश्छन्नदृष्टित्वाद् विदुषामपि ॥
सम्प्रत्यविषयस्तस्य माहात्म्यं समभूद् भुवि ॥२॥

:: टीका: ::

(१)**कलिकाल**... इति, **कलिकाल**जनितं यत् **तमः** अज्ञानं, तेन **छन्नाः** आसमन्तात् आवृताः **दृष्टयो**: येषां तेषां भावः तत्त्वं तस्मात्. **विदुषामपि** अधीतवेदशास्त्राणामपि **सम्प्रति** कलिकाले **तस्य** श्रुतिप्रतिपाद्यसाक्षात्पूर्णपुरुषोत्तमस्य **माहात्म्यम् अविषयः** ज्ञानागोचरः **समभूत्**. यतः ते **भुवि** भूलोके स्थिताः, तेन तदतिरिक्तभगवल्लोकस्थितानां तन्माहात्म्यं ज्ञानागोचरमेव इति अर्थः. '**समभूत्**' सम्यक्श्रुत्युक्तप्रकारेण ज्ञानगोचरो न अभूद् इति अर्थः ॥२॥

(२)**कलिकाल**... इति, **कलिकाल**सम्बन्धि यत् **तमो** अज्ञानं प्रकाशप्रतिबन्धकत्वात्, तेन **छन्नाः** आच्छादिताः **दृष्टयः** प्रमाकरणानि येषां, तादृशत्वाद् **विदुषां** ज्ञानवताम् **अपि सम्प्रति** साम्प्रतं **तस्य माहात्म्यं** ज्ञाना**विषय**एव **भुवि अभूद्**. अतः तदज्ञानाद् अनिरूपणं न दोषाय ॥२॥

(३)**कलिकाल**... इति, अतएव तेषाम् अज्ञानम्. ननु **कलिकाल**कृतमेव चेद् अज्ञानं तेषां, तदा अन्ययुगेषु सर्वेषाम् एवं ज्ञानं भविष्यत्येव, तेषां सर्वज्ञरूपत्वात्. तदपि कुत्रापि न एतावत्पर्यन्तं श्रुतं, तर्हि भवदुक्ते किं प्रमाणम्? इति चेत्, तत्र उच्यते : भगवता पूर्वमपि लीलागुणविशिष्टम् ईदृशम् आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपं स्वस्वरूपं कलिकालादावेव प्रकटीकृतं, न कृतादियुगेषु. तत्र साधनानामेव मुख्यत्वात् तत्साध्यफलस्य पुरुषोत्तमविभूतिरूपत्वाद्, अत्र साक्षात्पुरुषोत्तमस्य फलरूपत्वात् **तस्य** साधनासाध्यत्वाद् इति अनुपपत्तेः. यद्यपि मुक्त्यादिफलं तत्र भवति, तदपि एतदपेक्षया न्यूनमेव इति. तदा स्वलीलासमये तत्साक्षात्स्वरूपबलेनैव स्वीयेषु सर्वं स्व**माहात्म्यं** प्रकटीकृतं न साधनैः, अतः तस्य केवलं स्वप्रमेयबलसाध्यत्वात्. तदा तत्प्राकट्याभावात् तेषु केषामपि न तज्ज्ञानम्. सर्वेषां मर्यादामार्गोक्तसाधनेष्वेव प्रवृत्तत्वात्. पश्चात् निजं माहात्म्यं सर्वं

स्वप्रादुर्भावासमये पुनः कलौ **सर्वाऽविषयम् अभूत्**. तेन प्रादुर्भावसमयएव तज्ज्ञानं जातं, न अन्यदा इति सूचितम्. ततः आरभ्य **विदुषामपि** मर्यादामार्गोक्तसम्पूर्णज्ञानिनामपि कलिकालान्धकाराच्छन्नदृष्टित्वात् तेषां पूर्वसाधितज्ञानस्यापि गतत्वात् **सम्प्रति** एतावत्पर्यन्तं तस्य पुष्टिरूपस्य तन्माहात्म्यं **भुवि** सर्वाविषयम् अभूद् इति. '**भुवि**'इति पदेन भूमिस्तु भक्ता सर्वदा प्राकट्यसमये तच्चरणसम्बन्धात् सरसा तिष्ठति. अधुना तदभावात् तस्याअपि महद्दुःखं सूचितम्. अतएव आचार्यप्राकट्ये तद्दुःखस्य निवृत्तत्वाद् '**भूमिभाग्यम्**' (सर्वो.३२) इति अग्रे वक्ष्यन्ति. एवं सति यदैव आविर्भावः तदैव तज्ज्ञानं, तत्रापि कृपातिशयेन, न तद्व्यतिरेकेण इति भावः ॥२॥

(४/क)...

(४/ख)**कलिकाल**... इति, **कलिकाल**रूपं यत् **तमः**, तेन **छन्ना** व्याप्ता **दृष्टिः** येषाम्, तस्माद् **विदुषामपि** पण्डितानामपि ब्रह्मादीनामपि **सम्प्रति** अधुना **तस्य** श्रीमत्प्रभोः **माहात्म्यम् अविषयो** वागगोचरः **समभूत्**. यतो **भुवि** तेषां प्राकट्याद् ब्रह्मादीनामपि तथा. यतो वृन्दावनलीलास्थपदार्थाः तेषाम् अगम्याएव. पण्डितपक्षेऽपि **भुवि** मानुषप्रकारक-स्वरूप-दर्शनात् तथा. ननु किमिति मानुषत्वं दर्शितवान्? तत्र उच्यते, मानुषत्वाभावे लीलारसानुभवो जीवानां न स्यात्. प्रभोश्च इच्छापि तथैव, आचार्यैव तथा उक्तं "**विधाय मानुषतनुम्**" (सुबो.१।१।१.) इत्यत्र प्रथमस्कन्धकारिकायाम्. किमिति तथैव लीलां कृतवान् इत्यत्र ईश्वरस्य इच्छायाः ज्ञातुम् अशक्यत्वात् सर्वं सुस्थं, युक्तमेव तेषाम् अज्ञानम्. किञ्च यद् उक्तं ताभिः कथं न वर्णितम्? इति प्राप्तौ आह **कलिकालः**... (इति!) कलेः कालः **कलिकालं**, कलिमपि कालयति दूरीकरोतीति तथा तद् एतादृशरूपं यत् **तमो** भगवान्, तेन **छन्ना दृष्टिः** यासाम्. छन्नत्वन्तु श्रीमत्प्रभुचरणैः स्फुटीकृतं, "**गोपस्त्रीनयनाञ्जनं व्रजवधूनेत्राम्बुजान्तर्गत...**" (. । ।) इति. अत्रच तस्मिन् वा **छन्ना दृष्टिः** यासां, तत्त्वाद् **विदुषामपि** पूर्वं वृन्दावनदर्शने, तेषां पुनः गोपवधू-देहानन्तरं **सम्प्रति** इदानीन्तनस्य **तस्य** पूर्वानुभूतस्यापि **माहात्म्यं**, भगवतः तदधीनात् वागगोचरएव **समभूत्**. यतः तासां **भुवि** प्राकट्यम्. पूर्वम् अत्र प्राकट्यार्थं यत्नेच्छादिकम् आसीद्, इदानीं प्राकट्यानन्तरं तत्सुखस्वभावादेव अनुभूतस्य कथनम् अशक्यमिति वागगोचरं समजनि. **विदुषामपि** इति अत्र पुँल्लिङ्गनिर्देशा'ऽपि'शब्दौ भावबोधकौ इदानीन्तनस्वरूपगोपनार्थं पुँल्लिङ्गो अथवा समूहत्वेन व्रजस्त्रीजनानाम् इत्यस्य

विशेषणम्. एकस्य विवरणे शक्यत्वं युक्तं **'सर्वेषामपि'** इति **'अपि'**शब्दार्थः. अत्र भगवतो नामान्यद् विहाय **'तमः'**शब्दकथनस्य अयम् आशयः : तासां तामसीनां तामसभावेनैव केवलं पुष्टिरूपेणैव भगवत्प्राप्तिः इति ज्ञापनाय **तमः** इति भावः. एतादृशीनां कथम् इदानीम् **अविषयत्वं** तस्य उच्यते? तत्र आहुः तासां भगवत्प्राप्त्यनन्तरं भगवतो अभिप्रायः कुत्र? इति ज्ञानं न अभिलषितम्. तास्तु पूर्वमपि दर्शनमेव प्रार्थितवत्यः. ततो दर्शनानन्तरं स्वरमणेच्छा समजनि. तदनु भगवदर्थं तेन इदानीं युक्तमेव अज्ञानम्. यद्वा ताः सर्वभावेन दास्यः, तासां स्वामिरस-स्वरूपकथानुभावुकत्वमेव युक्तं नतु कथनम्. तेन युक्तमेव तथात्वम् इति भावः ॥२॥

(५)**कलिः** तामसः **तमोरूपः**, तेन यथा चक्षुष्मतामपि वस्तुयाथात्म्यज्ञानाभावः तथा अनेनापि **विदुषामपि ज्ञानदृष्टेः** आवरणात् **तस्य** 'पुरुषोत्तमा'ख्यवस्तुनो निगमतत्फलरूपश्रीभागवतप्रतिपाद्यं, **''सो अकामयत''** (तैत्ति.उप.२।६) इति, **''पुरुषएव इदम्''** (ऋक्संहि.८।४।१७)-इति, **''आनन्दाद्ध्येव''** (तैत्ति.उप.३।६) इति, **''एतस्माद् आत्मनः''** (तैत्ति.उप.२।१) इति, **''जन्माद्यस्य''** (ब्र.सू.१।१।२, भाग.पुरा.१।१।१) इति, **''अहं सर्वस्य प्रभवः''**(भग.गीता.१०।८) इत्यादिप्रतिपाद्यम्. व्रजेच भक्ताधीनत्वेन षट्सु धर्मेषु जागरूकेषु पुष्टिस्थानां ज्ञानानुदयो निःसाधनफलदानादीति द्विविधं माहात्म्यं सम्प्रति अधुना अनवतारसमये **अविषयो** अप्रत्यक्षम् **अभूद्**. एकत्र मिथ्यात्वकल्पनम्, अपरत्र प्राकृतत्वकल्पनम् इति अप्रत्यक्षप्रकारः. **'अभूद्'** इति कालबाहुल्यम् उक्तम्, अवतारसमाप्त्यनन्तरमेव कालप्रभावात्. **भुवि** इति, तत्रैव तस्य बलम्. **'भुवि'** इति उभयत्र संयुज्यते, मायावादादिमताभिनिवेशेन विदुषामपि बुद्धिदोषात् निगम-गीता-व्याससूत्र-श्रीभागवतार्थाज्ञानात् तदुभयं, तथा ततो मर्यादापुष्टिभेदेन उभयविधफलाभावाद् दैवी सृष्टिः अकृतार्थैव अभूत् ॥२॥

(६)**कलिकाल...** इति त्रिभिः ॥२॥

(७)कल्पवल्ली-कामधेनुः(?) दुष्ट**काल**जन्यान्धकारेण आवृतदृष्टित्वेन हेतुना **वेदविदामपि** साम्प्रतं **तस्य माहात्म्यं** ज्ञान**अविषयो अभूद्** भूमौ. तेन अन्यलोके ब्रह्म-शिव-सनक-शुकादीनान्तु माहात्म्यं ज्ञातम् अस्ति, तत्र युगाप्रवृत्त्या दृष्टेः अनावृतत्वात् ॥२॥

:: उत्थानिका ::

(१)ननु भवतामपि भुव्येव प्राकट्यात् तन्माहात्म्यं कथं ज्ञानगोचरः? इति आशङ्कानिरासाय स्वज्ञानगोचरप्रकारम् आहुः —

(२)तर्हि कथम् इदानीं ज्ञातं ज्ञापकाभावाद्? इति चेत् न, स्वेनैव इति आह —

(३)ननु सर्वेषाम् अज्ञाने भवताम् इदानीं कथं ज्ञानम्? तत्र आहुः —

(४/क)...

(४/ख)ननु ताभिः एतादृश-रसस्वरूप-ज्ञानं न प्रकटीकृतं चेद् भवता प्राकट्यकरणे को हेतुः? इत्यत्र आहुः —

(५)ततो भगवतो दयया स्वमाहात्म्यप्राकट्यार्थं श्रीमदाचार्यप्राकट्यम् इति आहुः —

(६)...

(७)...

:: मूलम् ::

दयया निजमाहात्म्यं करिष्यन् प्रकटं हरिः।
वाण्या यदा तदा स्वास्यं प्रादुर्भूतं चकार हि ॥३॥

:: टीकाः ::

(१)**दयया** स्वकीयनिरुपधिदुःखप्रहाणेच्छया, **निजं** स्वकीयं **माहात्म्यं** पुष्टिमार्गीयलीलारसभावात्मकं पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वज्ञानाविषयं तादृशं, **वाण्या**

स्ववचनद्वारा, स्वकीयेषु **प्रकटं करिष्यन्, स्वास्यं स्वस्य** पुरूषोत्तमस्यैव आनन्दमात्राधिदैविकाग्निरूपं यद् **आस्यं** मुखं तत् **प्रादुर्भूतं चकार** प्रकटीकृतवान्. अत्र "आस्यं प्रादुर्भूतं चकार" इत्येतावतैव चरितार्थत्वेऽपि यत् **'स्व'**पदम् उक्तं तेन अंशकलाद्यवतारवत् कमपि धर्मं स्थापयित्वा आचार्याणामपि यत्किञ्चिद्वक्तृत्वादिधर्मस्थापनेन आस्यरूपत्वं भविष्यति इति आशङ्कानिरासाय उक्तं **स्वास्यं प्रादुर्भूतं चकार** इति, यथास्थितस्यैव वस्तुनो दर्शनं प्रादुर्भावो नतु अविद्यमानस्य जनितस्यापि दर्शनं प्रादुर्भावः. तेन आचार्याणामपि यथास्थितसाक्षात्पुरुषोत्तमश्रीमुखत्वेनैव नतु कमपि अंशं तत्रत्यं त्याजयित्वा. एतज्ज्ञापनार्थम् उक्तं **स्वास्यं प्रादुर्भूतं चकार** इति. ननु भगवतः स्वतः सर्वार्थपूर्णस्य किम् एतावत्करणे प्रयोजनम्? इति चेत् तत्र आहुः **हरिः** इति, यतः स्वकीयानां सर्वदुःखहर्ता यदि स्वास्यं न प्रकटयेत् तदा सर्वेषां स्वकीयानां हि एतन्मार्गीयमाहात्म्याज्ञानात् तज्जनितं दुःखं तिष्ठेदेवेति स्वस्य हरित्वमेव न स्याद्. अतः स्वस्य हरित्वसिद्ध्यर्थमेव एतावत् कृतवान् इति ज्ञापनार्थमेव उक्तं **हरिः** इति. **हि** युक्तः च अयम् अर्थः. यदि हरित्वेन स्वास्यप्राकट्यं न कुर्यात् तदा साक्षाद्भक्तिमार्गीयमाहात्म्यप्राकट्याभावात् स्वीयानां सर्वपुरुषार्थसिद्धिः न स्याद् इत्यतः उक्तं **हि** इति. **ह** इति पाठे स्वकीयानाम् अर्थे एतावद् अलौकिककरणं कृपया इति प्रभोः अत्यन्तभक्तपरवशत्वज्ञापनाय उक्तं ह इति. एतेन स्वस्य फलमार्गीयमाहात्म्यज्ञानं स्वास्यप्राकट्यम् असाधारणो हेतुः उक्तइति स्वस्य ज्ञानम् इतरेषाम् अज्ञानं च सिद्धमिति न क्वापि अनुपपत्तिः ॥३॥

एवं भगवत्परत्वेन श्लोकार्थम् उक्त्वा, आचार्यपरत्वेनापि श्लोकार्थः उच्यते :

प्राकृतधर्मानाश्रयम् इत्यादि. श्रीमत्पितृचरणाः श्रीमदाचार्याणाम् अलौकिकनामानि प्रकटयितुम् आचार्याणां स्वरूपं तत्प्राकट्यहेतुं च वक्तुं स्वीयातिरिक्तानाम् आचार्यस्वरूपज्ञानाभावहेतुं स्वीयानाम् आचार्यस्वरूपज्ञानहेतुं च वक्तुम् आचार्यस्वरूपं वर्णयन्ति **प्राकृत...** इति पूर्ववत्. **निगमप्रतिपाद्यम्** इति, यद्यपि आचार्योद्देशेन आचार्यस्वरूपं निगमे प्रतिपाद्यत्वेन न श्रूयते

तथापि आचार्याणां साक्षात्पुरुषोत्तममुखारविन्दाधिष्ठातृत्वेन साक्षात्पुरुषोत्तमाखिलधर्मवत्त्वात् पुरुषोत्तमस्य साकारानन्ददमयत्वेन प्रतिपाद्यत्वाद् आचार्याणामपि तदास्यत्वेन श्रुतिप्रतिपाद्यत्वमेव इति ज्ञापनाय उक्तं **निगमप्रतिपाद्यं यत् तत् शुद्धं साकृति** इति. एवम् आचार्याणामपि श्रुतिप्रतिपाद्यत्वं निरूप्य तत्स्तुतिं प्रतिजानते **स्तौमि** इति, स्तुतिवियं करोमि इति अर्थः॥१॥

ननु भवन्निरूपितैतावद्धर्मवत्त्वेन आचार्यस्वरूपं कथम् अन्यैः शास्त्रविद्भिरपि पण्डितैः न प्रतिपादितं कुत्रापि? इति चेत् तत्र हेतुम् आहुः **कलिकाल...** इति पूर्ववत्. **तस्य** आचार्यस्य ॥२॥

अतःपरं स्वस्य आचार्यस्वरूपज्ञाने हेतुम् आहुः **दयया** इति पूर्ववत्. अत्र पितृचरणानां सिद्धवत्कारेण आचार्याणां पुरुषोत्तमास्यत्वकथनस्य अयम् आशयो : भगवदाज्ञया श्रीभागवतगूढार्थविवरणारम्भे, आचार्यैरेव स्वातिरिक्तस्य श्रीभागवतगूढार्थाज्ञाने **"अर्थं तस्य विवेचितुम्" (सुबो.१।१।१)** इति श्लोके स्वस्य ज्ञाने वाक्पतित्वेन 'वैश्वानरत्वो'क्त्या साक्षात्पुरुषोत्तममुखारविन्दाधिष्ठातृत्वं निरूपितम्. तत्र हेतुः श्रीभागवतस्य द्वादशाङ्गत्वेन पुरुषोत्तमरूपत्वात् पुरुषोत्तमस्वरूपं पुरुषोत्तमस्यैव गम्यं न अन्यस्येति. अतएव गीतास्वपि अर्जुनेन उक्तं **"नहि ते भगवन्! व्यक्तिं विदुर् देवा न दानवाः स्वयमेव आत्मना आत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम"** (भग.गीता.१०।१४) इति. तस्माद् आचार्याणां पुरुषोत्तमस्वरूपनिरूपकत्वात्, निरूपणस्य वाग्रूपत्वाद्, वाग्रूपत्वेऽपि वाचः आस्यएव सत्त्वाद्, आचार्याणाम् आस्यरूपत्वमेव, इति ज्ञापनाय उक्तं **स्वास्यं प्रादुर्भूतं चकार हि** इति॥३॥

(२)**हरिः** सकलदुःखहरणशीलो **दयया** दीनवात्सल्यम् अवलम्ब्य **वाण्या** स्वोक्तवेदरूपवाण्या **निजमाहात्म्यं प्रकटं करिष्यन्** **"लक्षणहेत्वोः क्रियायाः"** (पा.सू.३।२।१२६) इति हेतौ 'शतृ'प्रत्ययः. एवंविधो **यदा** बभूव **तदा स्वास्यं** स्वमुखाधिष्ठातारं वैश्वानरं **प्रादुर्भूतं चकार** कृतवान्. **हि** प्रसिद्धौ ॥३॥

(३)**दयया** इति, प्रथमं स्वेच्छयैव अस्मद्विषयणी दया जाता. तयैव

तत्पूर्वोक्तं पुष्टिलीलागुणविशिष्टं **निजमाहात्म्यं वाण्या** वाणीकथनद्वारा अस्मासु प्रकटीकरिष्यन् तत्स्वरूपानन्दमेव दातुम् इच्छुः **यदा** अभूत् **तदा** साक्षात्पूर्णपुरुषोत्तमस्य लीलारसविशिष्टम् **आस्यं** वागधिष्ठानरूपम् अलौकिकानन्दमयाग्निरूपं श्रीमदाचार्यस्वरूपं **प्रकटं चकारः.** यतः सर्वदुःखहर्ता **हरिः.** एतेन आचार्यस्वरूपबलेनैव तदुक्तार्थज्ञाने ईदृग्लीलारसविशिष्टमेव ब्रह्म न अन्यदिति सर्वं माहात्म्यज्ञानम् अस्माकं जातम् इति भावः॥३॥

(४/क)...

(४/ख)**दयया** इति, **दयया** स्वीयानां स्व-स्वरूपरस-प्राप्त्यभाव-जनितताप-दूरीकरणेच्छया **निजमाहात्म्यं, निजं** यत् श्रीमत्प्रभुस्वरूपयुत-साक्षाच्छ्रीवृन्दावनीय-रसरूपं **प्रकटं करिष्यन्** तेषु तत्स्वरूप-दानपूर्वक-तत्सेवां कारयिष्यन् **हरिः** अकारण-सर्वदुःखहर्ता **वाण्या प्रकटं करिष्यन् यदा तदा स्वास्यं** स्वमुखारविन्दरूपं **प्रादुर्भूतं चकार** इति अर्थः. अथवा निजेषु स्वमाहात्म्यं स्वरमणरूपं तत् तथा. यद्वा **निजानां माहात्म्यं** यद् "एतेषु एतादृक् स्वरूपम् उभयत्रापि प्रकटं कृत्वा रमणं करोमि" इति. अथवा **निजाः** व्रजवासिन्यः तासु **माहात्म्यं** स्वाचार्यस्वरूपं प्रकटं **करिष्यन्** इति. यतो अयं **हरिः.** अन्यथा हरित्वमेव न स्यात्. तस्मात् स्वरूपस्थित्यर्थं तथा जातः. अत्र '**हरि**'पदकथनस्य अयं भावः : पूर्वं गजदुःखनिवारणेन यथा 'हरिः' इति नाम जातं तथा अत्र एते निजाः स्वरूपदर्शनानन्तरं तद्भावापन्न-गजगामिन्यो भूत्वा तदप्राप्ति-तापतप्ताः दुःखसिन्धौ मग्नाः वियोगग्राह-गृहीताः बहवः. तत्र एकइति एतदनुद्धारे तदपि यशो नश्येत इति '**हरि**'पदभावः. तत्र करित्वम् अत्र करिणीत्वमिति सर्वथा उद्धारे आवश्यकत्वम्. तथैव उक्तं श्रीमदाचार्यैः "**स्त्रीणाम् अत्र विशेषतः**" (सुबो.१०।१।१७) इति. अन्यथा "**मग्नम् उद्धर गोविन्द! गोकुलं वृजिनार्णवाद्**" (भाग.पुरा.१०।४४।५२) इति ताः न प्रार्थयेयुः इति भावः. यदा प्रकटं करिष्यन् जातः तदा विचारितवान् स्वस्यापि यथा-तथा येन-केनापि स्वरूपेण तासां स्वीयानां प्रकटनासामर्थ्यं तदा **स्वास्यं** स्वस्य स्वरूपाणां मध्ये पुरुषोत्तमलीलालास्थस्वरूपाणामेव मुखरूपं मूलभूतं स्वस्यापि तापापनोदि

प्रादुर्भूतं चकार इति अर्थः. अस्मिन् मार्गे मुखस्यैव उत्तमत्वात् तथा उक्तिः. कुतो? यत् नेत्रैरपि दर्शनसुखं (तत्!) मुखस्यैव. पूर्वम् अत्र दर्शनस्यैव मुख्यत्वमिति पुष्टिश्रुतिरूपानाम् अभिप्रायः. अतएव ताभिः "**अक्षण्वताम्**" (भाग.१०।१८।७) इति निरूपितम्. '**आस्यो**'क्तौ '**स्व**'पदोपादानस्य अयम् आशयो : भगवान् स्वत्वं स्वामिन्यामेव मन्यते न अन्यत्र. तद् उक्तम् अस्मत्प्रभुचरणैः "**यत् त्वत्कृते अहम् आसं प्रकटः त्वं मत्कृते राधे!**" ( ) इति. तेन तदुक्तौ तस्याअपि मुखरूपत्वं तेन उभयरूपत्वमिति तत्र निरूप्यते, ततएव, उभयरूपात्मकत्वात् तत्तापदूरीकरणार्थं तत्तापतः प्राकट्यम्. अतएव अग्नित्वं निरूप्यते परं तत् न अग्नित्वं किन्तु स्वीयानां तद्दानेन तद्भावप्राकट्येच्छया तथा इति अर्थः. तदेव उक्तम् अस्मत्प्रभुभिः "**अग्नित्वं वर्णितं ते...वस्तुतः कृष्णएव**" (श्रीवल्ल.८) इत्यादिना. प्रादुर्भूतत्वकथनेन यथास्थितमेव प्रकटितं नतु जनितमपि. करणोक्तितात्पर्यतस्तु भगवदभिलाषो अभिव्यज्यते इति. तद् उक्तम् आचार्यैः "**अर्थं तस्य विवेचितुम्**" (सुबो.१।१।१/का.५) इत्यत्र. हि युक्तश्च अयम् अर्थः. तादृशस्वरूपं विना स्वीयतापजनित-स्वरिरंसाजनित-स्वखेददूरीकरण-सामर्थ्यं न भवति इति अर्थः॥३॥

(५)**दयया** इति, **दया** निरुपधिकरुणा, तेन तया जातं कार्यं कदाचिदपि न अन्यथा भवेद् इति ज्ञापितम्. तेन श्रीमदाचार्योक्त-वेदश्रीभागवतार्थ-ज्ञानानुष्ठानाभ्यां दैवानां फलाव्यभिचारः सूचितः. **निजं** साक्षात्पुरुषोत्तम-सम्बन्धिलोकवेदप्रसिद्धं तदतीतं च यत् **माहात्म्यं,** तद् **भुवि वाण्या** आधिदैविकया वेद-गीता-तत्त्वसूत्र-श्रीभागवतार्थस्य यथास्थितस्य कथनेन, **प्रकटं** प्रत्यक्षमिव **करिष्यन् हरिः** निरुपधि-सर्वदुःखहर्ता जातः. तदा **स्वास्यं** स्वस्यैव मुखं, नतु अंशकलादेः, तस्यैव कार्यं तदिति **प्रादुर्भूतं चकार.** '**प्रादुर्भूत**'पदेन लोकवद् जन्माद्यभावः उक्तः. **हि** इति निश्चये, तदेकसाध्यमेव तदिति, स्वस्यच गोप्यं स्वेनैव प्रकाश्यम् इति. यथा उद्बुद्धरसात्मकं स्वरूपं "**बर्हापीडं...**" (भाग.१०।१८।५) इति श्लोकेन तथा कृतं, तथा श्रीमदाचार्यवाण्यापि वेणुनादरूपयैव इति ज्ञापितम्. प्रसिद्धौ वा तथैव भक्तानाम्

अनुभवात्. **करिष्यन्** इति ॥३॥

(६)...

(७)**यदा** यस्मिन् फलरूपे काले स्वकीयेषु कृपया हेतुभूतया **वाण्या** निजवाक्येन स्वकीयं **माहात्म्यं प्रकटीकरिष्यन्** जातो, यतो **हरिः**, तदा तस्मिन् सर्वगुणोपेते काले **स्वास्यं** स्वमुखरूपम् आचार्यविग्रहं **प्रादुर्भूतं चकार. हि** निश्चयेन. ह प्रसिद्धम् इति वा. अतएव **भुवि** अवतारो न वाराह-हंसादिवत् ॥३ ॥

:: उत्थानिका ::

(१)अतःपरं स्वास्यरूपेण आविर्भूय प्रकटितसुबोधिन्यादिस्वसिद्धान्तग्रन्थानां गूढार्थत्वेन स्वीयानामपि सम्यक् तदर्थाबोधनाभावाद् अकृतार्थतैव भवेदिति यथा स्वीयानां तदुक्तार्थावबोधनेन कृतार्थता भवेत् तदर्थं तदुक्तार्थाबोधप्रकारज्ञापनाय माहात्म्यज्ञापनाय च असाधारणं साधनम् आहुः —

(२)ननु वागधिष्ठातृवचनादेव सर्वोऽपि अर्थो ज्ञास्यते किम् अनेन प्रयासेन? इत्यतः आहुः —

(३)ननु युस्माकन्तु ज्ञानं जातमेव पुनः तन्नामकथने को हेतुः! तत्र आहुः —

(४/क)...
(४/ख)ननु स्वरूपकथनमेव अस्तु! नामकथनस्य किं प्रयोजनम्? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः —

(५)ननु पूर्वं वेदश्रीभागवतादीनां विदुषामपि अर्थो दुर्बोधः, तथा एतद्वाण्याअपि चेत्, स्यात् तदापि न पुरुषार्थसिद्धिरिति तत्र उपायम्

आहुः —

(६)...

(७)स्तोत्रकरणप्रयोजनम् आहुः —

:: मूलम् ::

तदुक्तमपि दुर्बोधं सुबोधं स्याद् यथा तथा ॥
तन्नामाष्टोत्तरशतं प्रवक्ष्याम्यखिलाघहृत् ॥४॥

:: टीकाः ::

(१)ननु भवद्भिः स्वस्य साक्षाद्भक्तिमार्गीयमाहात्म्यज्ञाने भगवदास्यप्राकट्यहेतुः उक्तः, तेन भवतां तन्माहात्म्यज्ञानसम्पत्तिः सर्वापि सिद्धैवेति पुनः तन्नामाष्टोत्तरशतप्राकट्ये को हेतुः? इति तत्प्राकट्यप्रयोजनम् आहुः **तदुक्तमपि** इति. यद्यपि अस्माकं तदर्थप्रकटित-मुखारविन्द-रूपाचार्यानुग्रहवशात् तदुक्तसुबोधिन्यादिपूर्णार्थावबोधो अजनि, तथापि आधुनिकानां तदीयानां जीवत्वेन अल्पबुद्धिमत्त्वात् सुबोधिन्यादीनां तात्पर्यानवगमाद् अकृतार्थतैव सम्पद्येतेति, **यथा** तेषामपि तत्तात्पर्यावबोधो भवेत्, तदर्थम् उपायान्तराभावात् **तथा तेषामेव** आचार्याणामेव **अष्टोत्तरशत**सङ्ख्यकानि **नामानि प्रवक्ष्यामि** प्रकर्षेण कथयिष्यामि इति अर्थः. यद्यपि **तन्नामोष्टत्तरशतं वक्ष्यामि** इत्येतावतैव चारितार्थत्वेऽपि यत् **'प्र'**शब्दोपादानं तद् एतन्नाम्नां नित्यत्वेन पूर्वसिद्धानामेव अष्टोत्तरशतनाम्नां प्राकट्यकरणं **'प्र'**शब्देन द्योत्यते. यतः एतन्नमाष्टोत्तरशतं पूर्वोक्तधर्मविशिष्टम्; अतएव, तदुक्तर्थावबोधप्रतिबन्धनाशकम् इति आहुः **अखिलाघहृद्** इति. यद्यपि लोके 'अघ'शब्दस्य पापवाचकत्वं प्रसिद्धं, तद् आचार्यप्रकटितभक्तिमार्गानुवर्तिनां तत्सम्भावनापि दूरतरेति, अत्र 'अघ' शब्देन सुबोधिन्याद्यर्थावबोध-प्रतिबन्धस्यैव अघरूपत्वात्, तन्नाशकत्वम् एतन्नाम्नामष्टोत्तरशतस्यैव इति ज्ञापनार्थम् उक्तम् **अखिलाघहृद्** इति ॥४॥

(२)**तदुक्तम्** इति, तात्पर्यापरिचयात् तदुक्तमपि **दुर्बोधं** तदेव पुनः **सुबोधं यथा स्यात् तथा** स्तुतिरूपं तदीयं **नामाष्टोत्तरशतं प्रवक्ष्यामि** च. तन्नाम्नां प्रवचनात् कथं सुबोधत्वं तदुक्तस्य? इत्यतः आहुः **अखिलाघहृद्** इति, बोधप्रतिबन्धः पापकृतो, अतः तदपगमात् सुबोधत्वं युक्तमेव॥४॥

(३)**तदुक्तमपि दुर्बोधम्** इति, अस्माकं ज्ञानेऽपि **तदुक्तं** सर्वेषां स्वीयानां **यथा** तत्प्रादुर्भावासमयेऽपि **सुबोधं** भवेत् तदर्थं **वक्ष्यामि**. कथने **प्र**कर्षेण यादृशमेव स्वरूपं तादृशमेव एतत्स्तोत्रकथने ज्ञानं भवति इति भावः. तज्ज्ञाने **तदुक्तं** सुबोधिन्यादिकं **सुबोधं** भवेद् इति उक्त्या स्वरूपमपि तदुक्तरसभावात्मकमेव इति सूच्यते. ननु सुबोधं भवतीति कथं ज्ञायते प्रतिबन्धकस्य विद्यमानत्वात्? तत्र आहुः **अखिलाघहृद्**. एतेन यथा स्वरूपं प्रतिबन्धनिवर्तकं फलदायकं तथा इदमपि श्रवणपाठेन तन्नामोक्तधर्मविशिष्टाचार्यस्वरूपज्ञानेन तदुक्ते सम्यक् ज्ञाते सति साक्षात्फलदायकं भवत्येव इति भावः सूचितः॥४॥

(४/क)...

(४/ख)**तद् उक्तं** श्रीमदाचार्योक्तं सुबोधिन्यादिषु "**तद्दुरापत्वेऽपि तदाशया तद्भजनमेव...**" (सुबो.१०।४४।६०) इति. "**स्त्रीभावो गूढः पुष्टिमार्गे तत्त्वम्**" (सुबो.१०।१८।५) इति च. "**स्त्रियएव हि तं पातुम्**" (सुबो.१०।२६।१/का.४) इति च. '**विरहानुभवार्थन्तु परित्यागः प्रशस्यते**" (संन्या.निर्ण.७) इति "विरहानुभव..." इत्यस्य आभासे "**विरहो** भगवति **तत्सेवार्थं तथा इति अर्थः, तदनुकूलयत्नादिकृतिः अनुभवं विना न भवति**"(?) इति च. "**भद्रकाली...**" (भाग.पुरा.१०।२०।५) इत्यत्र अन्याश्रयाभावपूर्वकभगवत्सेवादिकथनेन तत्कारणेन स्वीयेषु तद्भावाज्ञानादिना तत्कृपां विना **दुर्बोधं यथा सुबोधं स्यात् तथा** तेषामेव **नाम्नाम् अष्टोत्तरशतं** प्रकर्षेण **वक्ष्यामि** इति अर्थः. तत् कीदृशम्? **अखिलाघहृत्, अखिलाः** केनापि उपायेन अगम्याः तत्प्राप्ति-प्रतिबन्धरूपाएव **अघाः** तान् हरति इति. '**अपि**'शब्देन एतद् बोध्यते : यद्यपि तदुक्तं तथापि तत्कृपां विना दुर्बोधमेव इति अर्थः.

ननु कृपाभावे तदुक्ति-प्रयोजनं न पश्यामः! सत्यं, यदि तेषां प्राकट्यं तदेकप्रयोजनं स्यात्, तदा तथैव; परन्तु, तत्प्राकट्यं भगवत्ताप-दूरीकरण-प्रयोजनम्. तथापि रसलीलायां सेवाद्यपेक्षार्थं दासी-वर्ग-प्रयोजनं तदर्थं कथनं स्वस्य रस-परवशत्वेन तत्साधनं न सङ्गच्छेत. तदर्थं स्वप्राकट्यं विधाय तेन स्वरूपेण नामकथनं तज्जपेन कृपया तद्बोधनं करोतीति एतदर्थं कथयामि इति अर्थः. **अष्टोत्तरशत**त्वकथनस्य प्रयोजनन्तु "**असंख्यातं च यज् जप्तं तज् जप्तं निष्फलं भवेद्" (**) इति. अथवा **अष्ट** श्रीस्वामिनीसख्यः, तद्-**उत्तरं शत**संख्यातु प्रभुसखीकथिता इति **तथा** इति अर्थः॥४॥

(५)**तदुक्तमपि** इति, तेन आस्येन **उक्तं** सुबोधिन्यादिरूपवाक्यमपि अलौकिकार्थप्रतिपादकत्वात् च **दुर्बोधम्**. तदपि **सुबोधं यथा स्यात् तथा तन्नामाष्टोत्तरशतं वक्ष्यामि. तथा** इति प्रकारे. तेन तत्र सर्वसामर्थ्यं प्रकटीकृत्य तथा प्रकारेण वक्ष्यामि, येन तत्पाठतः तच्छ्रवणतः च तत्स्वरूपे धर्मसहिते हृदयारूढे तद्धर्मप्रवेशात् तदुक्तं सुबोधं भवत्येव इति भावः. एतेन स्ववागनुभावोऽपि प्रदर्शितः. **अखिला**नां बोधप्रतिबन्धकं तस्य **हृत्** विदुषाम् एतद् हरति इति न किन्तु सर्वेषामेव स्वानुभावेन तद् हरतीति **अखिल**पदेन सूचितम्. यद्वा यानि **अघानि** साक्षात्पुष्टिफल-प्रतिबन्ध-रूपाणि तान्यपि हरति इति तथा॥४॥

(६)...॥४॥

(७)उद्धारोहि द्विधा रूपनामविभेदेन अवतारानवतारदशासु. सच अवतारदशायां स्वरूपबलेनैव कृतः. अनवतारदशायाम् उद्धारार्थं सुबोधिन्यादयो ग्रन्थाः निर्मिताः. तेच अपराधसद्भावेन तात्पर्यानवबोधाद् **दुर्बोधाः**. ते येन प्रकारेण **सुबोधाः** स्युः तत्प्रकारकं **तन्नाम्नाम् अष्टोत्तरशतं प्रवक्ष्यामि.** ननु अष्टोत्तरशत-नाम-निर्वचनेन कथं सुबोधत्वसिद्धिः? इत्यतो विशिंषन्ति **अखिलाघहृद्, अखिलाः** काय-वाङ्-मनोभिः कृताः आधिदैविकादयः, सात्त्विकादयो वा तेषां हारकम्. अखिलाघाभावे सुखेन ग्रन्थतात्पर्यस्फूर्तिः,

तयाच अनवतारदशायामपि अञ्जसा उद्धारः सिद्धः ॥४॥

:: उत्थानिका: ::

(१)एवम् आचार्यस्वरूपस्य तन्नाम्नां च आनन्दमयत्वाद् अलौलिकत्वम् उपपाद्य, सर्वत्र नामप्राकट्ये छन्दर्षिदेवतानियमस्य आवश्यकत्वाद्, आचार्यनाम्नाम् आनन्दमयत्वेन अलौलिकत्वाद्, तद्द्रष्टा ऋषिरपि अलौकिकएव अपेक्षितइति ऋषिस्वरूपं निरूपयन्ति —

(२)अष्टोत्तरशतनाम्नां मन्त्ररूपत्वाद् ऋष्यादिकम् आहुः —

(३)ननु कथनप्रयोजनं फलसहितं भवता उक्तं परन्तु एतद्द्रष्टा कः? कः च अधिष्ठाता? येन फलं दातुं शक्येत? तत्र आहुः —

(४/क)...
(४/ख)एवं नाम-प्रयोजनं निरूप्य ऋष्यादिकं निरूपयन्ति —

(५)एवम् एतत्स्तोत्रसामर्थ्यं निरूप्य (ऋषि-छन्दो-देवता-बीज-विनियोग-फल-रूप)षडङ्गसम्पन्नमेव तथा भवतीति षडङ्गानि निरूपयन्ति —

(६)फलस्य एतदधीनत्वं ज्ञापयितुं मन्त्रप्रकारेण ऋष्यादीन् आहुः —

(७)नाम्नां मन्त्ररूपत्वेन तत्रच "**ऋचा अविदितार्थेन छन्दो-दैवत-ब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति अध्यापयति वा सः स्थाणुं गर्त्तं प्रतिपद्यते**" (   ) इति श्रुतेः नामाष्टोत्तरशतें ऋष्यादीनाम् आवश्यकत्वात् तान् आहुः —

:: मूलम् ::

ऋषिर् अग्निकुमारस्तु नाम्नां छन्दो जगत्यसौ ॥

श्रीकृष्णास्यं देवता च बीजं कारुणिकः प्रभुः ॥५॥

:: टीका: ::

(१)**ऋषिर् अग्निकुमारस्तु** इति. ननु सहस्रनामादि-द्रष्टॄणामपि ऋषित्वाद् एतदष्टोत्तरशतनामद्रष्टुरपि तत्तुल्यत्वम् अस्तु इति आशङ्कानिरासाय अत्र '**तु**'शब्दः. तेन एतन्नामद्रष्टुः ऋष्यन्तरापेक्षया अलौकिकत्वं ज्ञाप्यते. अन्येषाम् ऋषीणाम् ऋषिगणनायां प्रसिद्धत्वात् तद्दृष्टमन्त्रसहस्रनामादीनामपि वेदपुराणप्रसिद्धत्वेन अपूर्वद्रष्टृत्वाभावाद् न अलौकिकम् ऋषित्वम्. प्रकृतेतु आचार्याष्टोत्तरशतनाम्नां वेदपुराणेषु अप्रसिद्धत्वेन सर्वाज्ञाततत्वात् तज्ज्ञाता **ऋषिरपि** अन्येभ्यः सर्वेभ्यो विशिष्यतइति एतदृषेः **अग्निकुमारत्वम्** उक्तम्. अत्र अयम् आशयो : यथा एतदन्यर्षीणां वेदपुराणोक्तमन्त्रनामद्रष्टृत्वात् शुद्धमर्यादामार्गीयत्वं तथा अत्रापि ऋषित्वेऽपि अग्निकुमारत्वकथनात् शुद्धपुष्टिमार्गीयत्वम् उक्तं, तेन यथा व्रतवरदानप्रस्तावनिरूपणे सर्ववेदपुराणाप्रसिद्धत्वेन सर्वाज्ञातो मन्त्रः "**कात्यायनि! महामाये! महायोगिनि! अधीश्वरि! नन्दगोपसुतं देवि! पतिं मे कुरु ते नमः**" (भाग.पुरा.१०।११।४) इति तत्प्रतिपाद्यदेवतासहितः तैरेव दृष्टो न अन्यैः तथैव एतानि आचार्यनामानि वेदपुराणाप्रसिद्धत्वेन अन्याज्ञातानि एभिरेव प्रकटीकृतानीति एतन्नामप्रकटने एतेषामेव ऋषित्वम् इति ज्ञापनाय **अग्निकुमारत्वोक्तिः**. यथा अग्निकुमारैकप्रकटितमन्त्रकृतपूजायाः क्रमेण अवान्तरफल-परमफल-प्राप्तिः अभूत् तथैव एतत्प्रकटितनामपाठात् क्रमेण एतन्मार्गोक्तावान्तरफल-परमफल-प्राप्तिः सम्पत्स्यते इति ज्ञापितं भवति. अथवा स्वस्मिन् अग्निकुमारत्वसूचितम् अर्थं गोपयितुम् आचार्याणाम् अग्नित्वप्रसिद्ध्या स्वस्य तदात्मजत्वेन अग्निकुमारत्वम् उक्तम् इति अर्थः. ऋषिं निरूप्य अतःपरं छन्दोनिरूपणम् आहुः **नाम्नां छन्दः** इति, नाम्नां सहस्रनामाष्टोत्तरशत-नाम्नां जगति यत् प्रसिद्धं छन्दः, तद् अत्रापि सर्वोत्तमस्तोत्रे छन्दः इति अर्थः. छन्दो निरूप्य अतःपरं देवतानिरूपणम् आहुः **असौ श्रीकृष्णास्यं देवता च** इति. अत्र '**श्रीकृष्ण**'पदोक्त्या भक्तसाहित्यकथनेन तल्लीलारसाविष्टत्वम् उक्तम्. तद्-**आस्य**कथनेन एतन्मार्गीयालौकिकाधिदैविकानन्दमयाग्निस्वरूपत्वम् उक्तम्. तस्य **देवता**त्वकथनेन एतत्स्तोत्राधिष्ठातृत्वम्

एतत्स्तोत्रोक्तफलदातृत्वं च ज्ञापितम्. केवलं फलदातृत्वमेव न किन्तु स्वस्यापि एतत्फलभोक्तृत्वमपि अस्तीति एतदुभयसमुच्चयार्थं **चकारः**. ननु ब्रह्मादिदुर्लभस्य मर्यादामार्गीयश्रुत्यगम्यस्य फलस्य स्वकीयेष्वेव दाने किं बीजम्! इति आकांक्षायाम् आहुः **बीजं कारुणिकः** इति. स्वीयेषु निरुपध्यसाधारणकरुणावत्त्वज्ञापनार्थम् उक्तं **कारुणिकः** इति. यदि इतरभगवन्मार्गाचार्यवत् स्यीयानामपि मुक्तिमेव दद्यात् तदा स्वप्रकटितपुष्टिमार्गफलानधिकारत्वेन शुद्धपुष्टिमार्गीयत्वं न स्यात्. अतः स्वीयान् सर्वतः पृथक्कृत्य स्वप्रकटितशुद्धपुष्टिमार्गीयफलदानेन सर्वोत्कर्षसिद्धौ करुणावत्त्वमेव बीजम् इति ज्ञापनाय उक्तं **बीजं कारुणिकः** इति. ननु पूर्वोक्तकरुणावत्त्वेऽपि एतत्फलस्य सर्वविद्यत्वेन भगवतापि अत्यन्तरङ्गभक्तेष्वेव प्रकटितस्य दाने कथं सामर्थ्यम्? इति चेत् तत्र आहुः **प्रभुः** इति, प्रभुत्वेन अत्यसाधारणसामर्थ्यात् तादृशफलस्यापि दाने सामर्थ्यज्ञापनार्थम् उक्तं **प्रभुः** इति ॥५॥

(२)**ऋषिः** इति, **अग्निकुमारः** स्वयमेव **ऋषिः**. **श्रीकृष्णास्यं** श्रीवल्लभो. अन्यत् स्पष्टम् ॥५॥

(३)**ऋषिर् अग्निकुमारः** इति. अत्र अग्निकुमारस्य ऋषित्वस्य अयं भावो : यथा पूर्वम् अग्निकुमारैः **"कात्यायनि! महाभागे!"** (भाग.१०।१९-।४) इति सर्वाज्ञातः पुष्टिमार्गीयो मन्त्रः प्रकटितः, तज्जपेन शीघ्रं फलमपि प्राप्तं; तथा अधुना प्रभुणा अग्निकुमाररूपस्वात्मनैव पुष्टिमार्गीयमन्त्ररूपम् इदं स्तोत्रं प्रकटीकृतम्. यथा तन्मन्त्रः तैरेव प्रकटितः, तैरेव तत्फलमपि तदैव अनुभूतं; तथा, अधुना तद्रूपैः अस्मत्प्रभुभिरेव प्रकटितम् एतैरेव अनुभूतमपि. किञ्च यथा पूजने नित्यं ताः तद्भावेन तदात्मकतया तत्तल्लीलानुरञ्जितं भगवन्तं साक्षाद् मिलितमिव मन्यमानाः जाताइति अवान्तरफलम् अभूत् तेषाम्. पश्चात् प्रभुः प्रसन्नो भूत्वा प्रत्यक्षः, तत्रैव आगत्य वस्त्रादिहरणेन, पुनः तद्दानेन च करस्पर्शादि-जनितसम्बन्धानुभवरूपं परमफलं ततः **"मया इमाः रंस्यथ..."** (भाग.पुरा.१०।१९।२७) इति वरदानेन साक्षात् सम्बन्धरूपं सम्पूर्णे रसानुभवयोग्यसमये दत्तवान्; तथा, अधुना एतदग्निकुमाराणामपि यथा-यथा आचार्यस्वरूपम् अनुभूतं भवति

तथा-तथा तन्नामनिरूपणे तत्तन्नामार्थविचारे तादृशोत्कटभावेन तदात्मकतया तल्लीलाविशिष्टाचार्यस्वरूपानुभवरूपं तद्रूपमेव अवान्तरफलम् अभूत्. ततः साक्षात् सम्बन्धरूपं फलम् अन्वभूत्. अतः एतत्स्तोत्ररूपमन्त्रजपानन्तरं सिद्धवत्कारेण **"कृष्णाधरामृतास्वादसिद्धिः"** फलं वक्ष्यन्ति. इत्येतत् सर्वम् अग्निकुमारस्य ऋषित्वनिरूपणेन ज्ञापितं भवति. अतएव फलकथनानन्तरम् अग्रे **"...न संशयः"** इति स्वानुभूतत्वेनैव उक्तम्. अग्रे छन्दस्तु स्पष्टमेव. ननु यदि अग्निकुमारोक्त-पुष्टिमार्गीय-तन्मन्त्ररूपत्वमेव एतत्स्तोत्रस्य तदा तन्मन्त्रएव अधुनापि कथं न उपदिष्टः? किम् एतस्य कथने प्रयोजनम्? इति चेत् तत्र आहुः **श्रीकृष्णास्यं देवता च** इति. अयं भावः : पूर्वं भगवान् स्वयं निरोधं कृत्वापि फलं कात्यायनीद्वारा दत्तवानिति तदा तन्मन्त्रेण तत्स्वरूपज्ञानात् तेषां फलम् अभूत्. अधुना सएव भगवान् श्रीकृष्णास्यरूपाचार्यद्वारा पुष्टिमार्गं प्रकटीकृत्य फलं दातुम् इच्छति. तत् पुष्टिमार्गाधिष्ठातृरूपाचार्यस्वरूपज्ञानं विना न भवति. अतः एतत्स्तोत्रे श्रीकृष्णास्यस्यैव देवतात्वेन निरूपणेन तदधिष्ठातृस्वरूपज्ञानात् तत् पूर्वोक्तं फलं भवतीति मन्त्ररूपत्वेन अस्य पृथगुपदेशः, तन्मन्त्रेण च एतत्स्वरूपज्ञानाभावात् फलं न सिद्ध्येदिति अनुपदेशः चेति पूर्वपक्षानवसरः. अग्रे बीजादिकं स्पष्टमेव ॥५॥

(४/क)...

(४/ख)**ऋषिर् अग्निकुमारस्तु** इति, **'तु'**शब्दो अन्यशङ्कां निवारयति. ननु **'तु'**शब्देन कथं शङ्कानिवृत्तिः, कथंवा शङ्काभावे **'तु'**शब्दः सार्थो भवति? इत्यत्र उच्यते **'तु'**शब्दः प्रभुषु, मानुषभावदर्शनेऽपि लौकिकानाम्, अग्निकुमारत्वमेव स्थापयति. अन्यथा एवम्भूत-स्वरूप-ज्ञानाभावः इति भावः. यथा व्रजसीमन्तिनीभिः सर्वाज्ञातमन्त्रो दर्शितः, तेन अग्निकुमारत्वं बोधितम् आधुनिकानाम्. अन्यथा जपोक्तफलको न भवेद् इति भावः. किञ्च निर्दोषेऽपि वस्तुनि तत्स्वरूपाज्ञानवतां मूर्खाणां दोषस्फूर्तिरपि भवत्येव. यथा केनचिद् उक्तं **"रसिकेतरस्य रसना वसने सूचीव सावकाशैव"** ( ). ननु अग्निकुमारत्वे अत्र कथं व्रजवधूवत् प्राकट्यं न कृतं, नच अतत्स्वरूपेणैव

तथा? इति अयं पूर्वपक्षो निरस्यते '**तु**'शब्देन. रे मूर्ख! एवंकथकस्य ते हृदयं शतधा (भङ्ग!) कथं न याति!! यथा भगवतो बाल्यादि-मुग्धभाव-लीला मानुषी तथा अत्रापि तत्सेवक-मनोरथपूर्त्यर्थं तथा. वस्तुतस्तु तत्स्वरूपं तदेवेति न अनुपपत्तिः कापि. प्रभुचरणेनैव स्व-स्वरूप-ज्ञापनार्थं प्रभुषु विज्ञप्तिव्याजेन उक्तं "गणये कुचयोरेव" (विज्ञ.९।११) इति. **अग्निकुमारस्तु ऋषिः अस्य नाम्नां** स्तोत्रस्य. अत्र अग्निकुमारत्वकथनस्य अयम् आशयो : यथा पुष्टिमार्गीय-भगवत्प्राप्तौ तन्मन्त्रादि-भावरूप-मन्त्रद्रष्टृत्वं व्रजभक्तानामेव, तद् उक्तम् आचार्यैः "**कौंडिन्यो गोपिकाः** प्रोक्ताः **गुरवः**" (संन्या.निर्ण.८) इति, तथा अत्रापि स्वाचार्यरूप-सहित-भगवत्प्राप्तौ एतन्नाममन्त्राणामेव साधनत्वं स्वस्य गुरुत्वं (च!) इति अभिप्रायः. ऋषिं निरूप्य छन्दो निरूप्यते **नाम्नाम्** इति, **नाम्नाम् असौ जगती छन्दः**. यद्वा **नाम्नां जगति** यः **छन्दो** अनुष्टुप् सो **असौ** अत्रापि इति अर्थः. छन्दो निरूप्य देवतां निरूपयन्ति **श्रीकृष्णास्यं देवता** इति, **श्रीकृष्णस्य** फलरूपस्य **आस्यं** मुखारविन्दम्. श्रीमदाचार्यएव **देवता** इति. **श्रीकृष्णास्यं** इति 'श्रीकृष्णो'क्त्या फलरूपस्य पुरुषोत्तमस्यापि मुखं सर्वोत्कृष्टम् इति अर्थः. 'श्री'साहित्योक्त्या स्वामिनीसहितत्वं तेन उभयस्वरूपमुखात्मकत्वम् इति भावः. अथवा देवतानिरूपणे आस्यनिरूपणस्य अयम् अभिप्रायो : भक्ति-मार्गे सर्वत्र चरणस्यैव सेव्यत्वाद् दासभावेन अत्र व्रजसीमन्तनीव साक्षात् स्वरूपानुभवयोग्यत्वं दर्शनाद्यधरपानादिसुखं मुखेनैव भवतीति ज्ञापनाय तथा उक्तिः इति भावः. देवतां निरूप्य बीजं निरूपयन्ति **बीजः कारुणिकः प्रभुः** इति, कारुणिकः प्रभुः अत्र बीजम् इति अर्थः. बीजे कारुणिकत्वोक्त्या जीवसाधनासाध्यत्वं केवलं स्वदीन-दयालुत्वं विचार्यते. तेषु दीनेत्वं स्वस्य करुणानिधानत्वं विचार्य कृपयति इति भावः. बीज-निरूपण-प्रस्तावे कारुणिकत्वम् उक्त्वा प्रभुकथनस्य अयं भावः : स्वस्य प्रभुत्वविचारेणैव येन प्रकारेणैव स्वमार्गरीतिः तथैव करोति न तस्यापि दीनत्वमिति प्रभुकार्यमेव इति '**प्रभु**'कथनभावः ॥५॥

(५)**ऋषिर्** इति, अन्येषां मन्त्राणाम् अन्ये जीवाः योगतपःसामर्थ्येन

ऋषयः, एतेषां **नाम्नान्तु** स्वतःसिद्ध-सकलसामर्थ्यम्, **अग्निकुमारएव** ऋषिः, कल्पितसामर्थ्यस्य अशक्तत्वात्. **अग्निः** अत्र उत्तरदलात्मकपुरुषोत्तमास्यरूपः उच्यते. तत्कुमारोऽपि तथाविधएवेति तन्नामर्षित्वं तस्यैव उचितमिति तथा उक्तम्. '**अग्निकुमार**' पदेन यथा तेषाम् अलौकिकमन्त्रद्रष्टृत्वं तथा स्वस्यापि इत्यपि ज्ञापितम्. जगत्यामेव तत्प्रभावः प्रकटनीयइति **छन्दो जगति** इति उक्तम्. देवतानधिष्ठितमन्त्राः कार्यक्षमाः नेति ताम् आहुः **असौ** इति, स्तोत्रारम्भएव देवता प्रत्यक्षेति **असौ** इति उक्तं, स्तोत्रबलं च सूचितम्. देवतास्वरूपम् आहुः **श्रीकृष्ण...** इति. अत्र '**श्री**'पदेन मुख्यस्वामिनी उच्यते. '**कृष्ण**'पदेन रसात्मकः सदानन्दः उच्यते. तयोः परस्परं प्रणयभरेण अभेदस्फूर्त्या **आस्यम्** एकमेव भातीति **श्रीकृष्णास्यम्** इति उक्तम्. तद्रूपत्वाद् आचार्याणाम् उभयभावात्मकं स्वरूपं सूचितम्. ननु एतादृशे स्तोत्रसामर्थ्ये किं बीजम्? इति आहुः **बीजं कारुणिकः**इति, परमकरुणासिन्धुः हरिः स्वयमेव कारणम्. अन्यथा निःसाधनफलरूपस्य आस्यस्य प्रकटने प्रयोजनाभावात्. ततः स्वास्यस्तोत्रे तथा सामर्थ्यं प्रकटयत्येवेति सएव बीजम्. अतएव **प्रभुः** सर्वोद्धारे समर्थः ॥५॥

(६)**ऋषिः...** इति द्वयेन मन्त्रस्य भक्तिरूपत्वात् न विध्यधीनतादोषो भक्त्यधीनत्वेन प्रत्युत पुरुषोत्तमरूपत्वं सिद्धम् इति भावः ॥५॥

(७)**ऋषिः** मन्त्रद्रष्टा. यो मन्त्रो येन ऋषिणा पूर्वं दृष्टः सएव तस्य ऋषिः, अत्रच श्रीमदाचार्यनाम्नां मन्त्ररूपत्वात् तेषां पूर्वद्रष्टारः स्वयमेवेति स्वस्यैव ऋषित्वात्. **छन्दः** इति, **जगति** प्रसिद्धो असौ अनुष्टुप् छन्दः. छन्दःस्वरूपं योगियाज्ञवल्क्येन उक्तम्—

छादनात् छन्द उद्दिष्टम् आकृतेर् वाससी यथा।
आत्मा सञ्छादितो देवैः मृत्युभीतैश्च वै पुरा॥
आदित्यैर् वसुभी रुद्रैस् तेन छन्दांसि तानि वै।
तथा
सर्वेषां मन्त्रतत्त्वानां छादनाच्छन्द उच्यते।
छन्दोऽनुरोधे वर्णोपन्यासएवात्र छादनम्॥

श्रीरघुनाथास्तु ‘‘छन्दोऽनुष्टुबिहोच्यते’’ इति पेठुः. देवताम् आहुः **श्रीकृष्णास्यम्** इति. देवतास्वरूपमपि तेनैव उक्तम्—

यस्य-यस्य तु मन्त्रस्य चोदिष्टा देवता तु या।
तदाकारं भवेत् तस्य देवत्वं देवतोच्यते॥
( )

तेन (अस्य!) स्तोत्रस्यापि श्रीकृष्णमुखाकारत्वम् उक्तम् भवति. बीजम् आहुः **बीजम्** इति, विशेषेण जायते अनेन इति बीजम्. यद्वा ‘विञ्’=संवृतं जनयति. यद्वा विशेषेण कामादिना जायते. यद्वा विशेषेण ईः लक्ष्मीः जायते यस्माद् इति. यद्वा व्रजति गच्छति कार्यम्, ‘अच्’, वृषोदरादित्वात् साधुः. ‘ब’-‘व’योः अभेदो अत्र. प्रभोः सर्वकरणसमर्थस्य करुणावत्त्वमेव बीजम्. तत्करुणयैव वक्ष्यमाणसिद्धिः भविष्यति इति भावः॥५॥

::उत्थानिका::

(१)एवं बीजत्वम् उपपाद्य एतत्स्तोत्रपाठस्य कुत्र विनियोगः? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः—

(२)...—

(३)...—

(४/क)...
(४/ख)बीजं निरूप्य अस्य स्तोत्रस्य विनियोगं निरूपयन्ति—

(५)बीजम् उक्त्वा विनियोगम् आहुः—

(६)...—

(७)एतत्स्तोत्रविनियोगम् आहुः—

:: मूलम् ::

विनियोगो भक्तियोग-प्रतिबन्ध-विनाशने॥
कृष्णाधरामृतास्वादसिद्धिर् अत्र न संशयः॥६॥

:: टीका: ::

(१)**विनियोगः** इति, **भक्तियोगे** यः कश्चन **प्रतिबन्धो** दृष्टादृष्टरूपः तस्य **विनाशने** विशेषेण नाशने मूलोच्छेदे एतत्स्तोत्रस्य **विनियोगः** प्रयोजनम् इति अर्थः. अत्र भक्तौ केवल‘भक्ति’पदं विहाय **‘योग’**पदोपादानाद् भक्तेः अनेकविधत्वेन ‘‘भक्तियोगो बहुविधो’’ (भाग.पुरा.३।२९।७) इत्यत्र भक्तेः अनेकविधफलसाधकत्वेन निरूपणात् प्रकृते ‘योग’पदोपादानम्. भगवता सह **योगः** साक्षात्सम्बन्धः तत्र **प्रतिबन्धविनाशने** अस्य उपयोगः इति अर्थः. एवं विनियोगम् उक्त्वा एतत्साध्यं फलम् आहुः **कृष्णाधरामृतस्वाद...** इति. यद्यपि प्रसिद्धार्थस्य अतिदुर्लभत्वेन सर्वत्र देयत्वासम्भवाद् अत्र **आस्वाद**पदोपादानाद् **आङः** ईषदर्थत्वमेव अभिप्रेतं, तेन यथा गवादीनां वेणुनादश्रवणद्वारा ईषदनुभवकर्तृत्वं तथा एतत्स्तोत्रपाठकर्तॄणामपि यथाधिकारं मुख्याधिकारीतरव्रजवासिवद् **अत्र** अस्मिन् स्तोत्रे **सिद्धिः** फलसिद्धिः इति अर्थः. फलसिद्धेरेव आवश्यकत्वज्ञापनार्थम् आहुः **न संशयः** इति॥६॥

(२)...॥६॥

(३)...॥६॥

(४/क)...॥६॥

(४/ख)**विनियोगः** इति, **भक्तियोगस्य प्रतिबन्धविनाशकरणे** अस्य **विनियोगः** इति अर्थः. भक्तेः **योगः** संयोगः इति यावत्. संयोगात्मिका भगवति या भक्तिः तत् **प्रतिबन्धो** नाम स्त्रीभावाभावो, मनसि पश्चात् तत्स्वरूपाभावो वा, तस्य **विनाशने** अस्य **विनियोगः** इति भावः. एतत्स्तोत्रजपेन

स भावो अवश्यं भवति इति भावः. **नाशकथने विशेषोक्त्या** पुनः सङ्गादिदोषेण न स भावो गच्छति इति अर्थः. विनियोगं निरूप्य सिद्धिं निरूपयन्ति **कृष्णाधर**...इति, **कृष्णस्य** फलरूपस्य यो अयम् **अधरामृतः** तस्य यो अयम् **आस्वादो** वारं-वारं पीत्वा 'उपदंशन्यायेन' सो अत्र **सिद्धिः** इति अर्थः. अथवा **कृष्णस्य अधरामृतास्वादो** अस्ति एतादृशी स्वामिनी सैव **सिद्धिः** प्रसन्ना भवति इति अर्थः. तद्दासीत्वं भवति तेनैव तत्प्रसन्नत्वम् इति भावः यद्वा **कृष्णस्य** यो **अधरः** तस्मिन् **अमृत**रूपाः स्वाचार्याः, तेषाम् **आस्वादो** स्वरूपज्ञानं, सैव **सिद्धिः** इति अर्थः. यद्वा **कृष्णेन** स्वस्य **अधरामृतास्वादो** भवति सैव **सिद्धिः** इति तत्स्वरूपप्राप्तिः इति भावः. अयम् अर्थो निर्धारितइति **अत्र** अस्मिन् प्राप्तौ न सन्देहः इति ज्ञापनाय उक्तम् **न संशयः** इति॥६॥

(५)पुष्टिमार्गीय-भावरूपो यो **भक्तियोगो** "'युज्यते फलम् अनेन' इति 'योगः'" पुष्टिफलप्रापकः. तत्र यः **प्रतिबन्धः** काल-कर्मादि-कृतः, तस्य **विशेषेण नाशने विनियोगः**. एतत्स्तोत्रपाठेन क्षणादेव सर्वोऽपि प्रतिबन्धो नश्यति. ननु प्रतिबन्धे नष्टेऽपि सिद्धिः का? इति आहुः **कृष्णाधर**... इति, प्रथमतः **कृष्णः** सदानन्दः, तस्यापि **अधरो** रसात्मको लोभात्मकः, तत्र यद् **अमृतं** ब्रह्मानन्दादपि अधिकं आनन्दसारभूतं सर्वाभोग्यं, तस्य आसमन्तात् **स्वादो** भोगः, सएव अत्र **सिद्धिः**. ननु एतादृशी सिद्धिः कथम्? इति आहुः **न संशयः** इति. अनेन स्वानुभवप्रमाणम् उक्तम्. अनेन अस्मदुक्ते विश्वासएव कर्तव्यइति उपदिष्टम्. एतत्सिद्ध्युक्त्या एतत्पाठे श्रीमत्स्वामिनीभाव-सजातीयभावो भवति इति सूचितम्. तदैव तत्सिद्धियोग्यता यतः तनुनवत्वमपि अनेनैव भवति इत्यपि सूचितम्॥६॥

(६)...॥६॥

(७)तत्स्वरूपं योगि-याज्ञवल्क्येन उक्तम्—

पुराकल्पे समुत्पन्नाः मन्त्राः कर्मार्थमेव च।

अनेनेदन्तु कर्तव्यं विनियोगः स उच्यते॥

( )

तेन एतेन भक्तियोग-प्रतिबन्धविनाशः कर्तव्यः. सिद्धिम् आहुः **कृष्णा**...इति स्पष्टम्॥६॥

:: उत्थानिका ::

(१)एवं फलपर्यन्तं निरूप्य अतःपरं नामनिरूपणप्रस्तावे तद्धेतुकस्वरूप-स्मरणे जाते तज्जनितानन्दभरेण स्वरूपे केवलानन्दत्वस्फूर्त्या प्रथमतः आनन्दत्वेनैव नामनिरूपणम् आहुः—

(२)आदौ परममङ्गलं नाम आहुः—

(३)अतःपरं यथा-यथा श्रीमदाचार्यनामानि स्वयम् अनुभूतानि तथा निरूपयन्ति—

(४/क)...

(४/ख)एवं ऋष्यादिसिद्धयन्तं निरूप्य नाम निरूपयन्ति—

(५)एवं पूर्वपीठिकां निरूप्य स्तोत्रम् आरभन्ते—

(६)'**आनन्दनिधेः**' (सर्वो.३३) इति अग्रे वक्ष्यमाणत्वात् प्रथमं तद्रूपत्वमेव आहुः—

(७)एवम् भगवतः षड्गुणरूपाणि श्लोकानुक्तधर्मिरूपाणि नामानि आनन्दभरेण आहुः—

:: मूलम् ::

आनन्दः[१] **परमानन्दः**[२]

:: टीका: ::

(१)**आनन्दः** इति, यद्यपि मनसि अत्यानन्दभरवशात् पुरुषोत्तमाक्षरानन्दयोः तारतम्यास्फूर्त्या केवलम् **आनन्दः** इत्येव उक्तं तथापि अग्रिमनामविचारे आचार्याणां पुरुषोत्तमास्यत्वेन अगणितानन्द(त्व!)स्फूर्त्या गणितानन्दत्वम् अक्षरेऽपि वर्ततइति आचार्येषु तद्व्यावृत्त्यर्थम् आहुः **परमानन्दः** इति, **परमो** अगणितो **"यतो वाचो निवर्तन्ते"** (तैत्ति.उप.२।४।१।) इति श्रुतिप्रतिपाद्यो यः पुरुषोत्तम**मानन्दः** तद्रूपः इति अर्थः.

(२)**आनन्दः** इति, स्वरूपस्यैव आनन्दरूपत्वाद् **आनन्दः** इति, आसमन्ताद् **नन्दयति** समर्धयति स्वभक्तान् इति वा. (**आ!**) ईषद् न्यूनो **नन्दो** व्रजराजएव इति वा. न्यूनत्वन्तु ब्राह्मण्यकृतमेव, श्रीकृष्णपितृत्वम् उभयत्रापि समानमेव. प्राकटयं, लोकप्रतीत्या, तद् वसुदेवगृहएव. अत्रतु उभयम् इति युक्तमेव आधिक्यम्. **परमानन्दः** इति, **परमश्च** असौ **आनन्दश्च**. **परमः** उत्कृष्टो रासोत्सवादिजनितः **आनन्दो** यस्य यस्माद् इति वा. **परमेण** श्रीकृष्णेन **आनन्दो** यस्य इति वा. 'पिपर्ति' इति **परो** विष्णुः, **मा** श्रीः, तयोरपि आनन्दो यस्माद् इति वा.

(३)**आनन्दः** इति, अत्र प्रथमं **"प्राकृतधर्मानाश्रय..."** (सर्वो.१) इत्युक्त-धर्मविशिष्ट-श्रीमदाचार्यस्वरूपदर्शनात् केवल(म्!) 'आनन्दः' इत्येव उक्तं पश्चाद् 'दयया' इति श्लोके स्वस्य तद्रसदानार्थमेव लीलाविशिष्टपुरुषोत्तमास्यप्राकट्यस्य उक्तत्वेन लीलाविशिष्टानन्दानुभवात् **परमानन्दः** इति उक्तम्. **परमो** अत्युत्कृष्टो यः **आनन्दः** तद्रूपः. पराऽऽगतो मायाः लक्ष्म्याः **आनन्दो** येन तद्रूपो वा.

(४/क)आस्यरूपत्वेन **आनन्दः परमानन्दः** आस्यस्य कृष्णरूपत्वेन वह्निरूपत्वेन उभयरूपत्वात्.

(४/ख)**आनन्दः** इति नामनिरूपण-प्रस्तावे स्वरूपं हृदये प्रविष्टं,

तेन सर्वत्र स्वरूपम् आनन्दरूपमेव दृष्ट्वा तदेव उक्तवन्तः **आनन्दरूपएव** इति अर्थः. **आसमन्ताद् नन्दयति** इति वा. **आसमन्ताद् नन्दो** भवति यस्माद् इति वा. **आयाति** लीलार्थं **नन्दो** यस्माद् इति वा. तत्तु नित्य-लीलास्थाचार्य-श्रीगोकुलेशयोरपि रसलीलायां बाललीलादि-दर्शनार्थं प्राकट्यात् तथा. ननु आनन्दोक्तौ केवलैकदेशएव आनन्दरूपो भविष्यति नतु सच्चिदानन्दमयोऽपि इत्यत्र आहुः **परमानन्दः** इति **परमश्च** असौ **आनन्दश्च** इति परमतापानन्दरूपः इति अर्थः. परमतोऽपि आनन्दरूपः इति अर्थः. **परमस्यापि आनन्दं** ददाति इति भावः. **परमः आनन्दः** भवति यस्माद् इति वा.

(५)**आनन्दः** इति, तत्र प्रथमं मूलस्वरूप-वाचक-नामत्रयम् आहुः. रसस्य संयोग-विप्रयोग-भेदेन द्विदलत्वात् संयोगपूर्वको विप्रयोगइति पूर्वं संयोगरूपम् आहुः **आनन्दः** इति, संयोगे यावान् आनन्दो अनुभूयते तावानेवेति **आनन्दः** संयोगानन्दरूपः इति अर्थः. ततः उत्तरदलरूपम् आहुः **परमानन्दः** इति, पूर्वानुभूतानन्दतोऽपि वियोगे तत्तदनुभव-स्मरणेन, तत्तन्मनोरथ-भावनया, परस्परं गुणालापेन च अनन्तगुणितानन्दो अनुभूतो भवतीति **परमानन्दः** तदानन्दरूपः इति अर्थः. यद्वा **परो** लोकवेदप्रसिद्धादपि भगवतः परो **मीयते** साक्षात्क्रियते अनेन, इति स तथा तादृशानन्दरूपः इति अर्थो, विरहान्ददशायामेव भगवत्साक्षात्कारात्.

(६)**आनन्दः परमानन्दः** इति नामद्वयेन. **आनन्दः** संयोगस्वरूपानन्दः इति अर्थः. **परो** भगवान् मीयते अन्तरनुभूयते अनेन कर्त्रा इति **परमो** वियोगः तद्रूप**आनन्दः** इति अर्थः.

(७)**आसमन्ताद् नन्दयति** भक्तान् इति **आनन्दः**. यद्वा श्रीभगवद्रूपत्वम् आचार्याणाम् अस्ति **"आचार्यं मां विजानीयात्"** (भाग.पुरा.११।१७।२७) इति भगवद्वाक्यात्, **"मयि चेद् अस्ति विश्वासः श्रीगोपीजनवल्लभे"** (शि.श्लो.३) इति स्वोक्त्या, **"वस्तुतः कृष्णएव"** (श्रीवल्ल.८) इति

प्रभूक्त्या च. श्रीभागवतस्य श्रीकृष्णरूपत्वम् **''उत्क्षिप्तहस्तः पुरुषो भक्तम् आकारयति उत... एतद्धारणमात्रेण कृष्णो भवति वै धृतः''** (त.दी.नि.३।१।८-१०) इत्यादिनिबन्धोक्तिभिः, **''कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्को अधुना उदितः''** (भाग.पुरा.१।३।४३) **''श्रीभागवतरूपेण कृष्णएव अवतिष्ठते''** (   ) इत्यादिभिः च. तत्र दशविधलीलाः निरूपिताः, तासां कर्तारः च श्रीमदाचार्यचरणाएव श्रीकृष्णास्यरूपत्वात् च. श्री-अङ्गे(षु!) श्रीमुखस्य प्रधानत्वाद्, **''गौणमुख्ययोः मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययात्''** (परिभा.पा.१५) लीलासु च निरोधलीलायाः मुख्यत्वात्, श्रीमदाचार्याणां च रासलीलैकतात्पर्यत्वाद्, रासलीलायाः च निरोधलीलायामेव सत्त्वाद्, दशमानुसारेणैव नाम्नां व्याख्यानम् उचितम्. तथाच उक्तम् अस्मत्प्रभुचरणैः **''श्रीभागवत-प्रतिपद-मणिवर-भावांशु-भूषिता मूर्तिः श्रीवल्लभाभिधा नस् तनोतु निजदास्यसौभाग्यम्''** (स्फु.कृ.प्रे.२). तेन पुरुषोत्तमसहस्रनाम्नः सम्पूर्णश्रीभागवत-बोधकस्यापि निरोधलीलाबोधकत्वम्. श्रीभागवतार्थस्तु **''आनन्दस्य हरेर् लीला''** (त.दी.नि.३।१।३) इति श्रीमदाचार्यैः उक्तः, सएव च **''एकार्थं सप्तधा जानन्''** (त.दी.नि.३।१।३) इत्यनेन स्कन्धार्थादिषु प्रतिज्ञातइति तद्बोधकनाम आहुः **आनन्दः** इति, आनन्दरूपः आनन्दजनको वा. स्कन्धार्थरूपेण आनन्दरूपता, अध्यायार्थरूपेण जनकता. तथाहि प्रश्नकरणेन श्रीशुकस्य आनन्दो जनितः, तद् उक्तं **''सम्यग् व्यवसिता बुद्धिस् तव''** (भाग.पुरा.१०।१।१५) इत्यादिना, ब्रह्मादीनां भगवदवतारश्रवणेन, आश्वासनेन भूमेः, देवकीवसुदेवयोः आकाशवाण्या स्वगृहे भगवत्प्राकट्यश्रवणेन. तेन प्रथमाध्यायार्थबोधकम् इदं नाम. द्वितीयाध्यार्थबोधकं नाम आहुः **परमानन्दः** इति, **परमं** पुरुषोत्तमम् आनन्दयति. **परमेण** भगवद्वाक्येन **आनन्दो** यस्याः सा माया अस्ति दासीत्वे अस्य. तद् उक्तम् **''गच्छ देवि!...''** (भाग.पुरा.१०।२।७) इत्यादिना. यद्वा **परमेण** भगवदावेशेन **आनन्दो**, अस्य अस्याः वा, सः सा वा, अस्ति, पितृत्वे मातृत्वे वा, अस्य सः. **''अर्शाद्यच्''** (पाणि.सू.५।२।१२७). तद् उक्तम् **''आविवेश अंशभागेन...''** (भाग.पुरा.१०।२।१६) इत्यादिना, **''सा देवकी...''**

(भाग.पुरा.१०।२।१९) इत्यादिना च. यद्वा **परो** भगवान् **मीयते** अनेन इति **परमः** कंसः, तस्य आनन्दो यस्मात् सः परमानन्दः. तद् उक्तम् **''आह एष मे प्राणहरो हरिर् मुदां ध्रुवश्रितः''** (भाग.पुरा.१०।२।२०) इति. **''आसीनः संविशन् तिष्ठन्...''** (भाग.पुरा.१०।२।२४) इत्यादि. यद्वा **परमेण** भगवदवतारज्ञानेन **आनन्दो** येषां ते ब्रह्मादयः परमानन्दाः, ते सन्ति स्तावकत्वे अस्य इति परमानन्दः. तद् उक्तं **''ब्रह्मा भवः च तत्र एत्य''** (भाग.पुरा.१०।२।२५) इत्यादि.

:: उत्थानिकाः ::

(१)ननु पूर्णस्य लोके प्रकटस्य पुरुषोत्तमत्वे किं प्रमाणम्? इति चेत्, तत्र आहुः—

(२)...

(३)यद्वा ननु येन लक्ष्म्यानन्दोऽपि परागतो भवति स आनन्दः कीदृशः? भावे वा तद्रूपत्वं कथं ज्ञायते? तत्र आहुः—

(४/क)कथम् उभयरूपत्वम्?

(४/ख)ननु भगवतोऽपि आनन्ददातृत्वम् अनुचितमिव आभाति! तत्प्राप्तशङ्कायाम् आहुः—

(५)ननु एतादृशः श्रीकृष्णास्याद् अन्यो न अस्ति! इति चेत् तत्र आहुः—

(६)तत्र हेतुः—

(७)तृतीयाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः—

:: मूलम् ::

श्रीकृष्णास्यं[3] कृपानिधिः[4]॥

:: टीका: ::

(१)**श्रीकृष्णास्यम्** इति, **'श्रीकृष्ण'** पदेन शुद्धभक्तिमार्गीयरसात्मकत्वेन तदास्यस्यापि तथात्वं युक्तमेवेति न आशङ्कनीयं किञ्चित्. ननु तदास्यत्वेऽपि यथा सो अलौकिके व्रजे प्रकटः तथा तदास्यस्य अलौकिकएव प्राकट्यम् उचितं नतु लौकिकेषु इति आशङ्कानिरासाय आहुः **कृपानिधिः** इति, **कृपायाः निधिः** निधानं निरुपध्यलौकिककृपाश्रयः इति अर्थः. कृपाविषयाणां लौकिकेष्वेव प्राकट्यात्, स्वस्य अन्यत्र प्राकट्ये, एतेषु कृपाविषयत्वासम्भवात् कृपानिधित्वमेव न स्यादिति लौकिकेषु प्राकट्यहेतुत्वज्ञापनार्थम् उक्तं **कृपानिधिः** इति, तथापि कृपानिधित्वेऽपि स्वाङ्गीकृतेषु स्वप्रकटितभक्तिमार्गीयसाक्षाद्भगवत्सम्बन्धरूपफलदानं कथं सम्भवति ? इति आशङ्कानिरासाय **'निधि'** पदोपादानं, तस्य अयम् आशयो : यथा समुद्रस्य जलनिधित्वेन अगाधजलत्वम् उच्यते तेन यथा अगाधे पतितं पात्रं महद् अल्पं वा पूर्णमेव भवति तथा आचार्यप्रकटित-भक्तिमार्गाङ्गीकृतानां यथाधिकारं भजनानुभवो भवत्येव इति ज्ञापनाय **'निधि'** पदम् उक्तं.

(२)**श्रीकृष्णास्यम्** इति, **''स्वास्यं प्रादुर्भूतं चकार हि''** (सर्वो.३) इति यद् उक्तं तदर्थम् इदं नाम. **श्रीकृष्णस्य आस्यं** मुखं 'वैश्वानरा'ख्यम्. इदन्तु नैमित्तिकं रूपं न वास्तव्यम्. अतएव तत्स्वरूपाभिज्ञैः उक्तं **''अज्ञानाद्यन्धकारप्रशमनपटुताख्यापनाय त्रिलोक्याम्, अग्नित्वं वर्णितं ते कविभिरपि सदा वस्तुतः कृष्णएव''** (श्रीवल्ल.८) इति. यद्वा **'कृष्ण'** पदेन कृष्णद्वैपायनोऽपि उच्यते. तेन कार्यभेदेन उभयोरपि आस्यम्. भगवदास्यत्वन्तु भक्ताह्लादकत्वात् सर्वरसभोक्तृत्वाद् ज्ञेयम्. व्यासास्य(त्व!)न्तु श्रीभागवताभिप्राय-वर्णनयाथार्थ्यात्. अतएव श्रीभागवतविवरणारम्भे तैः उक्तम् **''अतो मुदा गूढार्थं प्रकटीकरोमि सततं व्यासस्य विष्णोः प्रियम्''** (सुबो.१।१।१का.५) इति. **कृपानिधिः** इति, **कृपायाः** दयायाः **निधिः** अक्षयकोशः इति अर्थः.

(३)**श्रीकृष्णास्यम्** (इति!), **'श्री'**युक्त-**'कृष्ण'** पदेन भक्तसहित-लीलारस-विविधगूढभाववत्त्वं सूच्यते. तेन यथा लीलायाम् उच्छलित-विविधरसभावोद्विकसित-परमप्रेमास्पद-श्रीमत्प्राणप्रिया-प्रत्यङ्गसङ्ग-परमानन्द-सुधाब्धिपूर-तरणोद्भवद्-अनिर्वचनीय-यत्किञ्चिद्-अपूर्वतर-सुकुमारातिमनोहरं श्रीकृष्णास्यं भवति तथा न अन्यदा लक्ष्मीरमणेऽपि. आचार्याणान्तु तादृशास्यरूपत्वेन तादृशसकलधर्मसुषमासहितं स्वरूपं स्वस्य अनुभूतं भवतीति पूर्वं **परमानन्दः** इति उक्त्वा अग्रे तज्ज्ञापकं **श्रीकृष्णास्यम्** इति नाम उक्तम्. अतएव एतादृशस्वरूपज्ञानपूर्वकं तदेकमनसा जपकरणस्य फलं **''कृष्णाधर...''** (सर्वो.६) इति उक्तं 'भ्रमरकीट'न्यायेन. स यथा भ्रमरध्यानेन भ्रमरीभूय पुनः मधुपानादिकं करोति तथा एतदास्यस्वरूपध्यानेन एतादृशरसात्मकीभूय पुनः रसपानं करोति इति भावः. अन्यथा आचार्याणां तत्सिद्धरूपत्वाभावे तन्नाम्नां तद्दानसामर्थ्यमपि न भवेदिति. एवं सति ईदृग्रूपपरमानन्दस्वरूपज्ञापनायैव उक्तं **श्रीकृष्णास्यम्** इति. ननु एतादृशम् अलौकिकम् अतिदुर्लभम् अन्येषां मनसापि ध्यातुम् अशक्यं तद् भवतां कथं ज्ञेयम् अनुभूतं च, कथंवा तैः ज्ञापितम् अनुभावितं च? तत्र आहुः **कृपानिधिः** अनिर्वचनीयनिरवधिकृपासमुद्रः. अयम् आशयः : यथा रत्ननिधिः समुद्रः, तत्र अगाधे ये केचिद् मज्जन्ति तैरेव यत्किञ्चिदपि भगवदिच्छया रत्नं प्राप्यते, न सर्वैः. तथा अत्रापि तच्छरणागतैः तत्कृपया ज्ञापनेन तत्स्वरूपम् अस्माभिरेव ज्ञायते अनुभूयते च, न अन्यैः इति स्वज्ञाने हेतुः उक्तः. किञ्च सतु प्राकृतः समुद्रो अयम् अलौकिकः. तत्र भगवदिच्छादृष्टादिः नियामकः, स्वयम् अस्वतन्त्रः दाने, अयन्तु स्वयमेव सर्वनियामकः स्वतन्त्रः समुद्ररूपः. तेन यः कश्चित् शरणागतो भवेत् तस्मै कृपया ददात्येव किञ्चित् परन्तु तादृशप्रकारकस्वरूपानुभवरूपनिधिस्तु स्वात्मजएव दत्तो न अन्यस्मै इति ज्ञापनाय उक्तं **कृपानिधिः** इति, इदन्तु तदनुभवजनितपरमसन्तोषाद् भावप्रौढ्या उक्तम् इति अनुमीयते. एवं सति तादृशदुर्लभतमनिधिदानेन अतिशयितकृपासमुद्रत्वं सूचितम्.

(४/क)**श्रीकृष्णास्यम्** इति उभयरूपत्वम्. ईदृशस्य कथं प्राकट्यम्?

कृपानिधिः इति.

(४/ख)**कृष्णास्यम्** इति, **श्रीकृष्णस्य आस्यं** मुखम् इति अर्थः. सत्यम्, अनुचितं तत्स्वरूपाज्ञानवतो मूर्खस्य तव! ननु विदुषां, यतः स्वरूपे दर्शनीयम् आस्यं भवति, तेन तथा. किञ्च मुखारविन्दं विना स्वस्यापि भक्ताधरामृतास्वादो न भवति तासुच कटाक्षादिकं न भवति, स्वस्य दर्शनसुखं च न भवति; तेन, आचार्याणां तथात्वम् इति भावः. आचार्यप्राकट्यं विना कुत्रापि भगवद्भोजनादिकं साक्षात् न जातं पश्चात् तदीयेषु तथात्वम् इति प्रभुचरणैः निरूपितम् : "**अद्धा तद् गोकुलेशः स्ववदनकमले चारुहासे करोति**"(श्रीवल्ल.४) इति. तेन सर्वत्र तद्भोक्तृत्वेन आनन्ददातृत्वम् इति भावः. एतन्नामहेतुभूतं नाम आहुः **कृपानिधिः** इति, **कृपायाः निधिः** स्थानम् इति अर्थः. आस्यस्वरूपे प्राकट्ये सति यथा मुखसौन्दर्यं तथा अत्र सर्वस्मिन्नेव स्वरूपे सौन्दर्यं प्रकटितवान्. यथा स्वीयाः एकैकस्मिन् अङ्गे तद् भावयन्ति तेन कृपानिधित्वम् इति भावः. यद्वा कृपयति इति **कृपः** एतादृशो **अः** भगवान् तस्य **निधिः** इति अर्थः. अथवा **कृपारूपा** स्वामिनी तस्याः **निधिस्वरूपम्** इति अर्थः. यद्वा **कृपायां निधिः** इति अर्थः. यद्वा **कृः** कृष्णः तं **पाति** स्वामिनीषु निजसुखदानेच्छाकर्त्र्यभावजनिततापे सति प्रादुर्भूय तथाकरोति. तद्दानेन उभयत्र उभयात्मकत्वात् तस्य रक्षणस्य **निधिः** इति एकः प्रकारः कथितः. तत्र विविधप्रकारैः तथा करोति इति **निधिः** इति भावः. यद्वा **कृपा** भगवत्कृपा सा **नितरां धीयते** यस्माद् इति अर्थः.

(५)**श्रीकृष्णास्यम्** इति, तदास्यरूपं तेन तद्रूपः इति अर्थः. अतएव तदसाधारणलक्षणम् आहुः **कृपानिधिः** इति. स यथा दीनदुःखासहिष्णुः कृपासमुद्रः तथा अयमपि इति अर्थः.

(६)**श्रीकृष्णास्यम्** इति, लीलाविशिष्टस्य आस्यम्. लीलाच उभयविधेति भगवानिव आस्यमपि उभयविधम् इति अर्थः. तावता प्रकृते किम्? इत्यतः आहुः **कृपा...** इति.

(७)**श्रीकृष्णास्यम्** इति, श्रीकृष्णस्य मुखम्. तथाच यथा अङ्गेषु

मुखस्य प्राधान्यम् तथा कालेषु आधिदैविकस्य कालस्य, अवतारेषु कृष्णावतारस्य, स्तुतिषु वसुदेवस्तुतेः, प्रार्थनासु देवकीप्रार्थनायाः, वाक्येषु भगवद्वाक्यानाम्, लीलासु प्राकृतभावस्य. तद् उक्तम् "**अथ सर्वगुणोपेतः कालः परमशोभनः**" (भाग.पुरा.१०।३।१), "**तम् अद्भुतं बालकम् अम्बुजेक्षणम्**" (भाग.पुरा.१०।३।९), "**विदितो असि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः**" (भाग.पुरा.१०।३।१३), "**उपसंहर विश्वात्मन् अदो रूपम् अलौकिकम्**" (भाग.पुरा.१०।३।३०), "**त्वमेव पूर्वसर्गे अभूः पृश्निः स्वायम्भुवे सति**" (भाग.पुरा.१०।३।३१) "**बभूव प्राकृतः शिशुः**" (भाग.पुरा.१०।३।४६), "**ततश्च शौरिर् भगवत्प्रचोदितः सुतं समादाय स सूतिकागृहात्**" (भाग.पुरा.१०।३।४७). चतुर्थाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **कृपानिधिः** इति, निरुपधि-परदुःख-प्रहाणेच्छायाः **निधिः** कोशः इति यावत्. अतएव वसुदेवादिमोचनं, "**भ्रातुः समनुतप्तस्य क्षान्तरोषा च देवकी**" (भाग.पुरा.१०।४।२५) इत्यादिना च उक्तम्.

:: उत्थानिकाः ::

(१)ननु ते के कृपाविषयाः यदर्थम् अलौकिकेषु प्राकट्यम् अकृत्वा यद् लौकिकेषु प्राकट्यं कृतवान् तदर्थं कृपाविषयान् आहुः —

(२)...

(३)ननु भवद्भ्यस्तु तादृशदुर्लभतममपि दत्तम् अन्येभ्यो यत्किञ्चिदपि दीयते वा न वा! इति चेत् तत्र आहुः —

(४/क)किमर्थम्?

(४/ख)कृपानिधित्वात् लौकिकसाधनीभूतम् अग्रिमं नाम आहुः —

(५)कृपानिधित्वमेव विशदयन्ति —

(६)...

(७)पञ्चमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

दैवोद्धार-प्रयत्नात्मा[५] **स्मृतिमात्रार्तिनाशनः**[६] ॥७॥

:: टीकाः ::

(१)**दैवोद्धार...** इति, **दैवाः** भगवदुक्तदैवसृष्टौ प्रादुर्भूताः ये जीवाः ते पुष्टिमार्गाङ्गीकृतदैवजीवाः इति अर्थः. तेषाम् **उद्धारे** यः **प्रयत्नः** तस्मिन् **आत्मा** अन्तःकरणं यस्य सः. ननु दैवसृष्ट्युत्पन्नानां मुक्तिफलसिद्ध्यर्थं वेदपुराणोक्तसाधनानि सिद्धान्येव सन्तीति किम् आचार्यप्राकट्येन? इति चेत्, सत्यं, भगवता पुष्टिमर्यादामार्गभेदेन जीवानाम् अङ्गीकाराद्. मर्यादामार्गफलसाधकत्वेन पूर्वोक्तसाधनानां मर्यादामार्गीयफलसाधकत्वम् अस्तु नाम, शुद्धपुष्टिभक्तिमार्गीयाणां मुक्तिफलातिरिक्तसाक्षाद्भगवत्सम्बन्धस्यैव फलत्वात्. तत्साधनानाम् अन्यत्र अप्रसिद्धत्वेन, शुद्धपुष्टिमार्गैकगम्यत्वेन तदितराज्ञानाद् एतन्मार्गीयाणाम् अनुद्धारएव भवेदिति, एतन्मार्गप्रकटनं निरर्थकमेव भवेद्. अतः एतन्मार्गीयाणां यथा एतन्मार्गफलसिद्ध्या उद्धारो भवेत् तदर्थमेव आचार्याणां प्राकट्यम् इति ज्ञापनाय उक्तं **दैवोद्धारप्रयत्नात्मा** इति, **दैवाः** पुष्टिमार्गीयदैवजीवाः इति अर्थः, शुद्धपुष्टिमार्गाङ्गीकृत-जीवानाम् एतन्मार्गाङ्गीकार-बलस्वभावात्, तदितरमार्गीये फले फलत्वाभावफूर्त्या स्वमार्गीयफलसाधनयोः स्वतो अज्ञानात्, स्वोद्धारविषयिणी आर्तिः सदा तिष्ठेदेव. यदा आचार्यैः प्रकटीभूय शुद्धपुष्टिमार्गप्राकट्यं कृतं स्वीयेषु तदा आचार्यचरणारविन्दस्मरणमात्रे-णैव स्वमार्गीयफलनिश्चयज्ञानात् तत्पूर्वं स्वस्मिन् स्वमार्गीयफलनिश्चयाज्ञान-जनित-स्वाकृतार्थतार्तिः सर्वापि समूला गता इत्येतद् ज्ञापनार्थम् उक्तं **स्मृतिमात्रार्तिनाशनः** इति. अथवा स्वकीयेषु स्वमार्गीयासाधारणार्तिनाशकत्वम् उक्त्वा साधारणेष्वपि एतच्चरणारविन्दस्मरणस्य तत्तन्मनोनिष्ठार्तिनाशकत्वसाम-

र्थ्यमपि अस्ति इति ज्ञापनाय उक्तं **स्मृतिमात्रार्त्तिनाशनः** इति ॥७॥

(२)**दैवोद्धारप्रयत्नात्मा** इति, **दैवानां** जीवानां सर्वदुःखाद् उद्धरणम् **उद्धारः** तदर्थो यः **प्रयत्नो** भक्तिमार्गप्राकट्यादिना तत्र **आत्मा** चित्तं यस्य, **प्रयत्नरूपएव** वा, निसर्गासुरानुद्धरणेऽपि न वस्तुदोषः, भगवतैव तथाकरणात्. उक्तञ्च गीतायां "**प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुः** आसुराः" (भ.गी.१६।७) इत्यादिना. **स्मृत्तिमात्रार्तिनाशनः** इति, **स्मरणमात्रेण आर्तिं** त्रिविधतापं भक्तानां नाशयति इति, स्मरणन्तु उभयथा ज्ञेयं : ये भक्ताः (तान्!) स्मरन्ति यान् (वा भक्तान्!) ते स्मरन्ति ॥७॥

(३)**दैव...** इति, **दैवानाम् उद्धारे** यानि **प्रयत्नानि** तत्स्वरूपः. अत्र इदं प्रतिभाति : दैवानाम् अङ्गीकारस्तु मर्यादापुष्टिभेदेन द्विधा. ये मर्यादायाम् अङ्गीकृताः तेषां मर्यादामार्गोक्तसाधनहीनानामपि स्वबलेनैव सर्वसाधनानि सम्पाद्य तेषां यथा फलं भवेत् तत्**प्रयत्नरूपः**. अतएव अग्रेऽपि वक्ष्यन्ति "**स्वदासार्थकृताशेषसाधनः**" (सर्वो.२१) इति, स्वस्यैव करणमिति तेन एतच्छरणागते तेषां शीघ्रं फलं भवेद् न अन्यथेति तदेव कर्तव्यं न अन्यत्. तेनैव स्वोद्धारसिद्धेः तत्रैव सर्वसाधनानां सिद्धत्वात् च इति भावः. ये पुष्ट्यङ्गीकृताः तेषाम् उद्धारस्तु साक्षाद्भगवत्सम्बन्धरूपः तत्र ये **प्रयत्नरूपाः**. लीलारससम्बन्धिनः उत्कृष्टाः भावाः सर्वात्मभावादयः तदात्मकः तत्स्वरूपः. एतेन पुष्टिमार्गीयाणामपि एतच्छरणागमनेनैव तदीयकृपया तादृग्भावोदये तत्फलं भवति न अन्यसाधनैः इत्येतदुभयार्थसूचकं नाम उक्तं **दैवोद्धार...** इति. तद् उक्तं "**प्राणप्रेष्ठ...**" (श्रीवल्ल.७) इति वल्लभाष्टके. यद्वा मर्यादामार्गे मुक्तिरेव फलं न अन्यत्. प्रकृते आचार्याङ्गीकृतानां मर्यादामार्गीयाणामपि पुष्टिफलं भवति. तद् यथा पूर्वं मर्यादामार्गीयजीवाः स्वमार्गफलरूपे परमानन्दसमुद्रे भगवति सायुज्यं प्राप्नुवन्ति पुनः चेत् तान् पुष्टिफलं दातुम् इच्छति तदा ब्रह्मानन्दाद् उद्धृत्य भजनानन्दम् अनुभावयति प्रभुः. सतु एतच्छरणागमने एतत्कृपयैव भवति न अन्यथा इत्यपि ज्ञापितम् एतन्नाम्ना. एवं सति पदसम्बन्धस्तु — दैवानाम् उद्धारः साक्षाद्ब्रह्मानन्दसमुद्रात्

तस्य प्रयत्ने अन्तःकरणं यस्य इति — यथा दैवानां पुष्टिमार्गीयफलं भवति तत्प्रयत्नवान् निरन्तरं तत्प्रयत्नशीलः. अनेन भगवतस्तु मर्यादायामेव अङ्गीकारो अभिप्रेतः; तथापि, केवलपुष्टिमार्गप्रवर्तकत्वेन तदधिष्ठातृत्वेन च श्रीमदाचार्याणां तदङ्गीकृतेषु कृपया, भगवानपि तत्फलं ददाति. यतः तेषु स्वप्रकटितत्वेन पक्षपातो भगवतः. तेन एतत्प्रयत्नं विना न एतत्फलसिद्धिः इति ज्ञापितम्. ननु एते भगवदनभिप्रेतं कथं कुर्वन्ति? इति चेत् सत्यम्! परन्तु यत्र भगवदभिप्रायः तत्रैव आचार्याणां कृपा न सर्वत्रेति त्वदुक्तं निरस्तम्. एतेन एतदभिप्रायेऽपि न एतत्कृपाव्यतिरेकेण फलं भवेद्, एतदर्थमेव प्राकट्यानुरोधाद् इति ज्ञापितम्. तद् उक्तं वल्लभाष्टके "नाविर्भूयात्..." (श्रीवल्ल.२) इति. ननु एतच्छरणागते एतत्कृपया तादृग्भावोदयेन प्रचुरा व्रजाधीश्वरवदन-दिदृक्षार्तिः जायते पुनः सा आर्तिः कदा कथं वा नश्येत्? तत्र आहुः **स्मृतिमात्रार्तिनाशनः** आचार्याणां भक्तविषयणी या स्मृतिः स्वमनसि प्रभोः अग्रे वा, तन्मात्रेणैव साक्षात्सम्बन्धरूपां तां नाशयति. एतेन एतत्स्मृतिमात्रेण साक्षात्सम्बन्धरूपं फलं भवत्येव इति निःसन्दिग्धत्वज्ञापनाय '**मात्र**' पदं दत्तम्. एवं सति आर्तिः चेत् फले विलम्बोऽपि नास्ति इत्यपि सूचितं भवति ॥७॥

(४/क)**देवोद्धारप्रयत्नात्मा** इति, अदर्शनदशायाम् उद्धारार्थं **स्मृति-मात्र...** इति.

(४/ख)**दैवोद्धार...** इति, **दैवाः** भगवदिच्छया दैवसृष्ट्युत्पन्नाः तेषाम् **उद्धारः** तत्**प्रयत्नार्थ**मेव स्वरूपप्राकट्यं येषाम् इति अर्थः. ननु विसम्मतमिव आभाति एतद्, "**दैवीसम्पद् विमोक्षाय...**" (भ.गी.१६।५) इति भगवद्वाक्यात् तेषाम् उद्धारप्रयत्नः तेषां कथम् इति अपेक्षायाम् उच्यते दैवीसृष्टिरपि द्विधा : तत्र ये मर्यादामार्गीयदैव्यां जाताः तेषान्तु मोक्षो भविष्यत्येव. ये पुनः पुष्टिमार्गीय-भगवत्सृष्टौ जाताः, तदिच्छया तत्सेवार्थं तेषां मोक्षानधिकारएव. साक्षात्स्वरूप-सम्बन्धएव उद्धारः तेषाम्. आचार्यप्राकट्यं विना तदभावात् यथा फलप्रकरणे "**स चर्षणीनाम्...**" (भाग.पुरा.१०।२६।२) इत्यत्र तासां व्रजसीमन्तिनीप्राप्तिं विना पुरुषोत्तमसम्बन्धाभावः; तथा अत्रापि आचार्यं

विना तदीयानां सर्वत्र पूर्वं परिभ्रमणमेव स्थितम्. तेन तेषां योऽयं सम्बन्धः सेवात्मकः उद्धारः तदर्थं तथा इति भावः. ननु ये भगवता तत्सृष्टौ सृष्टाः तेषाम् अनुद्धारे को हेतुः? सत्यं! यद्यपि ते भगवता सेवार्थं सृष्टाः परं भगवता लीलायां क्रियमाणायां सामग्रीसम्पादनपूर्वकं रमणकथनं रसविरुद्धतमम्. यथा लौकिकेषु सेवकरक्षणं स्वामिधर्मो नतु तदनन्तरं तत्करणं तथा तदर्थं सृष्टिकरणं भगवद्धर्मः. तत्तु श्रीमत्प्रभुचरणैः भगवतो गूढार्थकथनपूर्वकं तत्करणम् इत्येतत् तैरेव उक्तं "**गूढार्थं प्रकटीकरोमि बहुधा व्यासस्य विष्णोः प्रियम्**" (सुबो.१।१।१/का.५) इति. तेन तदुद्धारप्रयत्नएव स्वरूपम् इति अर्थः. तदभावे तेषां शोकानपगमे अनुद्धारएव इति भावः. यद्वा भगवता यदर्थम् उत्पादिताः तं प्रकारं न जानीमः किं कुर्मः! तद्विना तेषां यद् अन्यत् करणं तत् सर्वम् अवद्यतरम्. तेन तदनुद्धारे तत्करणं तेषां स्वरूपं च द्वयमपि व्यर्थं तदर्थं तथा. यथा व्रजवधूनां यावत्कालं पतिबुद्ध्या गोपालग्रहणं सोऽपि व्यभिचारएव इति अस्मदाचार्यैः लिखितं "**क्व इमाः स्त्रियः....**" (भाग.पुरा.१०।४४।५९) इत्यस्मिन् पद्ये '**व्यभिचारदुष्टाः**' इत्यत्र. तथा एतेषामपि पुष्टिमार्गीय-भावसेवां विना यत्किञ्चिन्मर्यादया सेवादिकरणमपि सर्वम् अनुद्धारएव पतितम् इति सर्वं सुस्थम्. अथवा देवस्य भावो **दैवः** तस्य योऽयम् **उद्धारः** तदर्थम् **आत्मा** इति अर्थः. भगवतो भावः श्रीस्वामिनीषु स्वरसदानं स्वस्मिन् अग्रहणं तस्य यो अयम् उद्धारः तत्करणार्थं स्वरूपम् इति अर्थः. एतन्नामपोषकम् अग्रिमं नाम आहुः **स्मृतिमात्र...** इति, स्मरणमात्रेणैव आर्तिं नाशयति तद्भावं करोति इति अर्थः. 'स्मरणमात्र' कथनेन तत्साधनानपेक्षएव तथा करोति इति अर्थः. यद्वा स्वयं तेषां स्मरणं करोति तेन तेषु तथा इति भावः. '**मात्र**' कथनेन साधनाभाव-बोधनेन यथा भगवान् व्रजजनार्तिहन् स्वतः तथा एतेषु तथा इति भावो बोध्यः ॥७॥

(५)**दैवोद्धार...** इति, **दैवाः** स्वसेवार्थमेव भगवता प्रकटिताः जीवाः तेषां स्वमार्गाज्ञानाद् अन्यभजनेन बाहिर्मुख्याद् अनुद्धारं मत्त्वा, येन **प्रयत्नेन** तेषाम् **उद्धारो** भवति तदर्थम् **आत्मा** अन्तःकरणं यस्य, नहि एतत्

स्वतः कृपानिधित्वव्यतिरेकेण क्वचित् सम्भवति. यद्वा तदुद्धारस्वरूपः इति अर्थः. स्वप्राकट्यमात्रेणैव तदुद्धारः इति. एतेन फल-साधन-रूपतापि उक्ता. ननु तथा अन्तःकरणे जातेऽपि सामर्थ्याभावात् कथं दैवदुःखनिवृत्तिः? तत्र आहुः **स्मृतिमात्र...** इति, सर्वसाधननिरपेक्षस्वस्मृतिमात्रेणैव सर्वेषाम् **आर्तिनाशनः** किम्पुनः तथा अन्तःकरणे जाते! यद्वा स्वेन या दैवानां स्मृतिः ''एते मदीयाः मया प्रमेयबलेन उद्धर्तव्याः'' इति. तदैव तन्मात्रेणैव तेषां कालकर्मादिकृतार्तिनाशो भवतीति तथा. अतः इतो अधिकं किं सामर्थ्यम्! इति ज्ञापितम् ॥७॥

(६)**दैवो...** इति, कृपया दैवान् उद्धरिष्यति इति भावः. यथा जलनिधेः तरङ्गाः जलरूपाः बहिरपि स्वनिकटदेशस्थान् आर्द्रीकुर्वन्ति नतु दूरदेशस्थान् तथा कृपानिधेः तरङ्गाः कृपारूपाः बहिरपि स्वनिकटदेशस्थेषु दैवेष्वेव सम्बध्यन्ते नतु दूरस्थेषु आसुरेषु. भगवतो व्यापकत्वेऽपि दैवानामेव निकटस्थत्वम् आसुराणां दूरस्थत्वम् इति सिद्धान्तः. अतः कृपया दैवानामेव उद्धारार्थं यः प्रयत्नः तद्विषयकः **आत्मा** अन्तःकरणं यस्य इति अर्थः. उद्धारप्रकारम् आहुः **स्मृति...** इति, स्वस्मृतिमात्रेणैव **आर्तिं** संसारतापं दूरीकरोति ॥७॥

(७)**दैवोद्धारप्रयत्नात्मा** इति. **दैवाः** सप्तविधाः : [१]उत्सवरसाविष्टाः, [२]आश्चर्यरसाविष्टाः, [३]कौतुकरसाविष्टाः, [४]शास्त्ररसाविष्टाः, [५]स्त्रीस्वभावरसाविष्टाः, [६]लौकिकरसाविष्टाः, [७]सर्वरसाविष्टाः, तेषाम् **उद्धारः** प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकं भगवदासक्तिः, तदर्थं **प्रयत्ने आत्मा** अन्तःकरणं यस्य. एतेन पञ्चमाध्यायोक्त-प्रकरणार्थरूपता उक्ता भवति. भगवतः प्रयत्नकथनेन भक्तानां तामसत्वं सूचितम्. यत्नेन उद्धारकथनेन प्रमाणप्रकरणता. यद्वा देवानां समूहो **दैवं.** ''**नन्दाद्याः ये व्रजे...**'' (भाग.१०।१।६२) इति नारदवाक्यात्, तस्य **उद्धारः** सर्वेभ्योऽपि उत्कर्षः तस्य **प्रयत्नो** महोत्सवरूपः तस्मिन् **आत्मा** यस्य. यत्ने प्रकर्षकथनेन भक्तस्वभावानुकूल्यं सूचितम्. तद् उक्तं ''**नन्दस्तु आत्मजे उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः**'' (भाग.पुरा.१०।५।१)

इति. अत्र षट् पदानि सन्ति : [१]'दैव', [२]'उत्', [३]'हार', [४]'प्र', [५]'यत्न', [६]'आत्मा' इति व्यस्तानि. समस्तञ्च एकमिति सप्तविधः उत्सवः उक्तो भवति. तथाहि उत्सवाध्यायसुबोधिन्याम् उत्सवः सप्तविधः उक्तो : [१]विद्याकृतोत्सवः, [२]भूमिसंस्कारोत्सवः, [३]गोशृङ्गारोत्सवः, [४]गोपकृतोत्सवः [५]गोपीकृतोत्सवः, [६]वादित्रवादनोत्सवः, [७]दानोत्सवः इति. सएव सप्तपदेषु यथायथम् ऊह्यः. षष्ठाध्यायार्थबोधकनामानि आहुः **स्मृतिमात्रार्तिनाशनः** इति, स्वकृतेन भक्तकृतेन वा स्मरणमात्रेण **आर्तिं** त्रिविधतापरूपाम् अविद्याकृतां नाशयति. तथाच पूर्वाध्यायान्ते नन्दो वसुदेवमुखात् ''**सन्ति उत्पाताश्च गोकुले**'' (भाग.पुरा.१०।५।३१) इति श्रुत्वा मध्ये मार्गं व्रजन् उत्पातागमरूपाम् आर्तिं प्राप्य हरिस्मरणम् अकरोत्. तस्य आर्तिं पूतनामारणेन हरिः अनीनशत्[क]. व्रजबालकानां पूतनाकृतभक्षणेन भगवदप्राप्तिजन्य-जन्मफलाभावरूपां स्तन्येन साकं पानेन अनाशयत्[ख]. व्रजजनानां नन्दक्रोधरूपां तां रक्षाकरणेन अनाशयत्[ग]. श्रीमातृचरणानां पूतनाकृतोपद्रव-भयरूपां तां स्तनपानेन नाशयाञ्चकार[घ]. पूतनायाः अपराधेन कृतां मुक्त्यभावरूपां तत्कृत-धूमागरुगन्ध-प्रकटनेन कृतमुक्तिख्यापनेन अनाशयत्[ङ]. एवं पञ्च[क-ख-ग-घ-ङ]विद्याभिः पञ्च[क-ख-ग-घ-ङ]पर्वात्मिकाम् अविद्याम् अनाशयत्. तद् उक्तम् —

[क] ''**नन्दः पथि वचः शौरेः**'' (भाग.पुरा.१०।६।१).
[ख]''**प्राणैः समं रोषसमन्वितो अपिबत्**'' (भाग.पुरा.१०।६।१०).
[ग]''**इति प्रणयबद्धाभिः...**'' (भाग.पुरा.१०।६।३०).
[घ]''**पाययित्वा स्तनं माता**'' (भाग.पुरा.१०।६।३०).
[ङ]''**दह्यमानस्य देहस्य धूमः च अगुरुसौरभः**''(भाग.पुरा.१०।६।३४).

इत्यादिना ॥७॥

:: उत्थानिका ::

(१)ननु तत्प्रकटितशुद्धपुष्टिमार्गस्य स्वकीयानां तन्मार्गोक्तफलानुभवात्

सर्वतो अव्यभिचारिप्रामाण्यज्ञानम् अस्त्येव तथापि आचार्यस्वरूपाज्ञानवतां पण्डितानामपि कदाचित् तत्प्रवर्तितशुद्धपुष्टिमार्गे तन्मूलाज्ञानाद् अप्रामाण्यशङ्का भवेदिति तत्प्रामाण्यार्थं स्वप्रकटितमार्गस्य समूलत्वज्ञापनार्थं तन्मूलज्ञानप्रकाशकत्वम् आहुः —

(२)...

(३)ननु ''शरणागतेऽपि भावोदये सति इदं फलं भवेद्'' इति उक्तं, सएव केन प्रकारेण भवेत्? जाते वा फलसम्बन्धपर्यन्तं केन प्रकारेण तिष्ठेत्? येन इतरव्यासङ्गेन प्रतिबन्धो न भवेत्! तत्र आहुः —

(४/क)कः प्रयत्नः?

(४/ख)ननु एतन्नामद्वय-भावकथनं भगवद्विचारितम् उत भवद्भिरेव उच्यते? तत्र आहुः —

(५)पूर्वं यद् उक्तं **दैवोद्धारप्रयत्नात्मा** इति तं प्रयत्नम् आहुः —

(६)तत्र आनन्ददानम् आहुः —

(७)सप्तमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

श्रीभागवत-गूढार्थ-प्रकाशन-परायणः[७]॥

:: टीकाः ::

(१)**श्रीभागवत...** इति, **'श्रीभागवत'** पदात् तदेव एतन्मार्गे मूलम् इति उक्तम्. ननु श्रीभागवतम् अन्यैरपि व्याख्यायतएव. यदि तत्रापि अयं मार्गः प्रकटो भवेत् तदा अन्यैरपि ज्ञायेतैव इति शङ्कानिरासाय आहुः **गूढार्थ...** इति, यद्यपि सर्वैरपि श्रीभागवतं व्याख्यायतएव तथापि तत्रत्यो **गूढः** सर्वाज्ञातो यो **अर्थः** फलमार्गीयशुद्धपुष्टिमार्गीयफलरूपः तत्**प्रकाशने**

तत्प्राकट्यकरणे **परायणः** तदेकविचारनिष्ठः. एतेन श्रीभागवतगूढार्थविचारकत्वेन साक्षात्फलमार्गीय-पुष्टिमार्ग-प्रकटन-सामर्थ्यम् आचार्याणामेव, न अन्येषाम्, एतन्मार्गाज्ञानाद् अविचारकत्वम् इति ज्ञापनाय उक्तं **श्रीभागवतगूढार्थप्रकाशन-परायणः** इति, ननु श्रीभागवते मुक्त्यादेरपि फलत्वनिरूपणात् कथं भवद्विचारितस्यैव फलत्वम् इति चेत्, सत्यं, श्रीभागवते शुद्धपुष्टिमार्गीयफलस्यैव फलत्वकथनाद् एतस्यैव फलत्वं न अन्यस्येति शुकैरपि श्रीभागवतस्य **''निगमकल्पतरोः''** (भाग.पुरा.१।१।३) इति श्लोके फलनिरूपणे **''पिबत भागवतं रसमालयम्''** (तत्रैव) इति एतन्मार्गीयफलस्यैव फलत्वं निरूपितं न अन्यस्येति एतस्यैव फलत्वम्. ननु **''पिबत भागवतं रसम् आलयम्''** इति पदैः कथं तस्यैव फलत्वम् आयाति? इति चेद् अत्र वदामः : श्रीभागवतस्य शब्दात्मकत्वात् श्रवणस्यैव प्राप्तत्वात् 'शृणुत' इति पदम् अनुक्त्वा यद् ''रसं पिबत'' इति उक्तं तेन श्रीभागवते शब्दप्रतिपाद्यः कश्चन असाधारणो रसो अस्ति इति ज्ञायते. तस्य विचारे क्रियमाणे **''तस्यैव हेतोः प्रयतेत''** (भाग.पुरा.१।५।१८) इति श्लोके भक्तावेव पुरुषप्रयत्नस्य उक्तत्वात् श्रीभागवतप्रतिपाद्यो रसो भक्तिरसएव इति निश्चीयते. तस्य पानम् अन्तःप्रवेशनं यथा बहिःस्थितदुग्धादेः मुखद्वारा अन्तःप्रवेशनमेव पानं तथा श्रीभागवतप्रतिपाद्य-भक्तिरसस्यापि अन्तःप्रवेशनमेव पानम्. यद्यपि श्रीभागवते **''भक्तियोगो बहुविधः''** (भाग.पुरा.३।२९।७) इति अनेकविधभक्तियोगः तत्तत्फलसाधको निरूपितो अस्ति, तथापि श्रीभागवते न तस्य मुख्यत्वं मुक्त्यादिफलसाधकत्वात्. श्रीभागवतप्रतिपाद्य-भक्तिरसस्य आलयत्वकथनेन अत्र 'आङः' ईषदर्थवाचकत्वेन 'लय' पदस्य च मुक्तिवाचकत्वेन मुक्त्यधिकफलसाधकत्वात् शुद्धपुष्टिमार्गीयफलस्यैव फलत्वं न अन्यस्येति प्रमाणपूर्वकप्रतिपादनसामर्थ्यम् आचार्याणामेव न अन्येषामपि इति ज्ञापनाय आहुः **श्रीभागवतगूढार्थप्रकाशन-परायणः** इति.

(२)**श्रीभागवतशास्त्रस्य गूढो** गुप्तो यो **अर्थः** तस्य **प्रकाशने** व्यक्तीकरणे **परायणः** उद्युक्तः तत्**प्रकाशने परम्** उत्कृष्टं **अयनम्** यस्य इति वा. तत्**प्रकाशनपरो** भूत्वा **आ अयते** इह प्रकटीभवति इति

वा. उक्तं च तैः ''अर्थं तस्य विवेचितुम्'' (सुबो.१।१।१का.५) इति श्लोके.

(३)**श्रीभागवतगूढार्थ...** इति, **श्रीभागवते** ये **गूढार्थाः** पुष्टिफलसम्बन्धिनो लीलारसभावाः **तत्प्रकाशने परायणः** तदेकनिष्ठः. निरन्तरं स्वीयानाम् अर्थे तद्भावाः बहिःकथनेन प्रकाश्यन्ते इति भावः. एतेन ये-ये भावाः लीलासम्बन्धिनो निरूपिताः निरन्तरं तच्छ्रवणेन तत्कथासक्त्या तद्भावोदयः. ततः तद्व्यतिरेकेण सर्वत्र अरुच्या फलप्रतिबन्धकत्वानात्मत्वस्फूर्तिः. तदा तत्सर्वत्यागेन फलसम्बन्धाभावजनितार्त्या विविधलीलारस-भावभावनया तत्तद्रसविशिष्ट-लीलानुसन्धानेन निरन्तरं तद्विरहानुभवं कुर्वन् केवलस्वरूपात्मकः तिष्ठेत्. एवं तिष्ठतः फले प्रतिबन्धो न भवेद् इति ज्ञापितम्. किञ्च श्रीभागवतोक्तभावकथनेन एतन्मार्गप्रमाणमूलमपि उक्तम्.

(४/क)**श्रीभागवत...** इति.

(४/ख)**श्रीभागवत...**इति **श्रीभागवतस्य** यो **गूढार्थः** तस्य यत् **प्रकाशनं** सर्वभावेन कथनं तस्मिन् **परायणः** इति अर्थः. भगवद्विचारितएव परं गूढत्वेन तत्स्वरूपं विना तदज्ञानात् केनापि प्रकाशितुं न योग्यं तस्मिन् **परायणः** इति अर्थः. तदकथने अनाप्तत्वं स्यात्. यद्वा भगवतो अयं **भागवतो** भगवद्भावः पुष्ट्यात्मकः, तस्य यो **गूढार्थः** तत्प्रकारेण भजनं **तत्प्रकाशने** तथा. अथवा **श्रीभागवते गूढो** भगवान् तदर्थ**प्रकाशनं** स्वस्य तस्मिन् तथा इति भावः. यद्वा श्रीभगवत्याः इदं **भागवतं**, स्वामिन्याः यो भावो मानादिः तस्मिन् **गूढः** प्रभुः तस्य पुनः मेलने **प्रकाशने परायणः** इति अर्थः. श्रीस्वामिनीभाव-गूढार्थप्रकाशनो यो भगवान् तस्मिन् परायणः इति अर्थः. स्वामिनीभावगूढो यः 'कृष्ण'शब्दः तस्य अर्थः पुष्टिमार्गे तत्त्वम् इत्यादिः, तस्मिन् तथा इति अर्थः. स्वामिनीभावे गूढार्थः शृङ्गारादयः तेषां करणेन प्रकाशनेन तथा इति अर्थः. स्वामिनीभावे गूढार्थो भगवत्कृतशृंगारादयः तेषु तथा इति भावः.

(५)**श्रीभागवत...** इति, **श्रीभागवतार्थ**ज्ञानेनैव उद्धारः. सतु **गूढः**

तस्य **प्रकाशने परायणः** तत्परः समर्थः इति यावत्. तेन एतत्प्रयत्नकरणसामर्थ्यम् एतेषामेव इति उक्तम्. पुरुषोत्तमः तस्यच दशविधलीलाः पुष्टिभक्तिभावाः च तेषां सर्वेषां निर्गुणत्वेन नित्यत्वेन प्रतिपादनं च गूढार्थः.

(६)**श्रीभागवतगूढार्थ...** इति, **श्रीभागवतस्य** कथारूपार्थाद् अतिरिक्तो **गूढो** यः आनन्दस्य हरेः लीलारूपो **अर्थो** अभिधेयः तस्य भक्त्या हृदयेषु **प्रकाशनं** तत्**परायणः** तदेकप्रयोजनः इति अर्थः.

(७)**श्रीभागवत-गूढार्थ-प्रकाशन-परायणः** इति, भगवतः इमे **भागवताः**, **श्रियश्च** ते **भागवताश्च** श्रीमातृचरणप्रभृतयः तेषां **गूढो** अज्ञातो **अर्थः** स्वस्य स्तनपानेच्छारूपः, तस्य रोदनेन शकटपातनेन च **प्रकाशने परम् अयनं** चरणचालनं यस्य सः तथा. तद् उक्तम् **''रुदन् स्तनार्थी चरणौ उदक्षिपत्''** (भाग.पुरा.१०।७।७). यद्वा **श्रीभागवतानां गूढो** अज्ञातः स्वसुतमाहात्म्यरूपो **अर्थः** तस्य **प्रकाशनार्थं परम् अयनम्** ऊर्ध्वगमनं यस्य. तद् उक्तम् **''एकदा आरोहम् आरूढम्''** (भाग.पुरा.१०।७।१८) इति उपक्रम्य **''वसुदेववचो भूयो मानयामास विस्मितः''** (भाग.पुरा.१०।७।-३३) इत्येतेन. यद्वा **श्रीभागवतानां गूढः** स्वान्तःस्थिताखिल-ब्रह्माण्डरूपो अर्थः तस्य **प्रकाशने परायणः** तत्परः समर्थः इति यावत्. तद् उक्तम् **''पीतप्रायस्य जननी सा तस्य रुचिरस्मितम्''** (भाग.पुरा.१०।७।३५) इत्यादिना.

:: उत्थानिकाः ::

(१)ननु पुष्टिमार्गीयफलस्य मुक्त्यादेः आधिक्यकथनेन स्वरूपानन्दात्मकत्वात् तदनुभवः कथम्! इति आकाङ्क्षायाम् अनुभवप्रकारहेतुभूतं नाम आहुः —

(२)...

(३)ननु इयदवधि ईदृग्गुणविशिष्टं ब्रह्म इति केनापि न निरूपितम्. यत्र अवतारे स्वरूपादिः दृश्यते तत्र सगुणत्वमेव प्रतिपादितम्. तत् कथम् ईदृशं साक्षाद् ब्रह्म इति तस्य फलत्वमपि इति उच्यते तत्र आहुः —

(४/क)को गूढार्थः ?

(४/ख)एतन्नाम-साधनीभूतम् अग्रिमं नाम आहुः —

(५)ननु निर्गुणस्य निराकारत्वं श्रूयते तत् कथं सर्वलीलोपपत्तिः ? तत्र आहुः —

(६)ननु परब्रह्मणो निराकारत्वेन श्रुतत्वात् सगुणस्यैव साकारत्वेन लीला सम्भवतीति लीलाप्रकाशनेऽपि न पूर्णानन्दप्राप्तिः ? अतः आहुः —

(७)अष्टमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

साकारब्रह्मवादैकस्थापको[८] वेदपारगः[९] ॥८॥

:: टीका: ::

(१)**साकार...** इति, **साकारं** यद् **ब्रह्म** तस्य **वादः** सोपपत्तिकं कथनम् इति यावत्. तस्यैव मुख्यत्वेन **स्थापकः** प्रतिपादकः इति अर्थः. अत्र **'एक'**शब्दो मुख्यवाची. साकारत्वम् उक्त्वा यद् ब्रह्मत्वं निरूपितं तद्, यथा ब्रह्म केवलानन्दमयं तथा तत्करचरणादीनामपि केवलानन्दमयत्वं ज्ञापितम्. साकारत्वकथनेन पुष्टिमार्गीयफलस्य सर्वेन्द्रियास्वाद्यत्वं फलानुभवप्रकारः इति उक्तं भवति. अतएव श्रीव्रजसीमन्तिनीभिरपि श्रुतिरूपाभिः अनेकश्रुतिसम्मत्या **''अक्षण्वतां फलम् इदम्''** (भाग.पुरा.१०।१८।७) इति श्लोके अयमेव फलानुभवप्रकारः उक्तः. तेन न अनुपपन्नं किञ्चित्. ननु इयदवधि सर्वशास्त्रार्थविचारकैरपि ब्रह्मणः साकारत्वनिरूपणात् कथम् आचार्याणामेव साकारत्वनिरूपकत्वम् इति आशङ्क्य तत्र उपपत्तिम् आहुः **वेदपारगः** इति, अत्र अयम् आशयो : ब्रह्मणो अलौकिकत्वात् , चक्षुरादीनां लौकिकप्रमाणत्वात् , न चक्षुरादिगम्यत्वं ब्रह्मणि सम्भवतीति, श्रुतीनाम्

अलौकिकप्रमाणत्वेन, श्रुतयएव ब्रह्मणि प्रमाणमिति तत्प्रतिपाद्यमेव ब्रह्म. तास्तु **''स... ईक्षाञ्चक्रे... तस्माद् एकाकी न रमते... स द्वितीयम् ऐच्छत्. स ह एतावान् आस''** (बृह.उप.१।४।२-३) इति साकारत्वमेव निरूपयन्ति. गीतासुच **''सर्वतः पाणिपादान्तम्''** (भग.गीता.१३।१३) इत्यादिना च साकारत्वमेव उच्यते. ननु निराकारवादिभिरपि निराकारप्रतिपादने **''अस्थूलम् अनणु अह्रस्वम्''** (बृह.उप.३।८।८) इत्याद्याः श्रुतयएव प्रमाणत्वेन अङ्गीक्रियन्तइति कथं न निराकारत्वसिद्धिः ? इति चेद्, अत्र वदामः, निराकारत्वप्रतिपादिकाअपि श्रुतयो ब्रह्मणि देवाद्याकारवत् प्राकृताकारत्वमेव निषेधन्ति, नतु आनन्दमात्र-करपादमुखोदरादित्वम्. यदि सर्वथा निराकारत्वमेव श्रुत्यभिप्रेतं स्यात् तदा निराकारत्वम् उक्त्वापि अग्रे **''स ईक्षाञ्चक्रे''** (तत्रैव) इत्यादिना आकारं नैव प्रतिपादयेयुः. अतएव व्याससूत्रमपि **''प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः''** (ब्र.सू.३।२।४) इति. अस्य अर्थः : **प्रकृतं** प्राकृतं यद् **एतावत्त्वं** साकारत्वं तत् **प्रतिषेधति** निराकारश्रुतिः नतु आनन्दैकाकारत्वम्. तत्र हेतुः **ततो ब्रवीति च भूयः** इति. **ततो** अग्रे **भूयः** पुनरपि **''स ईक्षाञ्चक्रे''** इत्यादिना साकारत्वमेव वदतीति निराकारवादिनां यत्किञ्चिच्छ्रुतिज्ञानवत्त्वेऽपि सर्वशाखीयोपनिषज्ज्ञानाभावात्, तासुच प्रकारभेदेन ब्रह्मनिरूपणात्. तत्र परस्परविरोधपरिहारपूर्वकं विषयव्यवस्था यत् सिद्ध्यति तादृशं ब्रह्म इति मन्तव्यम्. निराकारवादिनां सर्वशाखीयोपनिषत्-तात्पर्यज्ञानाभावात् स्वबुद्ध्यनुसारेण यत्किञ्चिच्छ्रुतितात्पर्यं स्वसिद्धान्तानुसारेण कल्पयित्वा (ते) निराकारं वदन्तीति न तदुक्तं प्रमाणम्. आचार्यैस्तु सर्वशाखीयोपनिषत्तात्पर्यस्य विरोधपरिहारेण अवगमात् तत्रच साकारस्यैव निरूपणात् तत् सर्वम् अवगम्यैव साकारत्वम् उक्तम् इत्यतः आहुः **वेदपारगः** इति ॥८॥

(२)**साकारब्रह्मवादैकस्थापकः** इति, निराकारत्वनिराकरणपूर्वकं **साकारं ब्रह्म** यत्र उच्यते स **साकारब्रह्मवादः** सच असौ **एकश्च** तस्य **स्थापको** दृढकर्ता इति अर्थः. **एकश्च** असौ **स्थापकश्च** इति वा. नहि अन्यस्य एवंविधं सामर्थ्यम् अस्ति. **वेदपारगः** इति, वेदानां

पारं पर्यवसानं **गतवान्** ज्ञातवान् इति अर्थः॥८॥

(३)**साकार...** इति, ईदृग्गुणविशिष्टमेव साक्षाद् ब्रह्म इति मुख्यतया स्थापको अन्यत् तदधिष्ठानम्. ननु केन प्रमाणेन उच्यते? **वेदपारगः** इति, तादृशं ब्रह्म **''यतो वाचो निवर्तन्ते''** (तैत्ति.उप.२।४।१) इति श्रुत्या श्रुत्यगम्यत्वात् तदन्तगर्तं न अस्ति किन्तु तत्पारङ्गतम् इति अवगम्यते. अतः आचार्याअपि वाक्पतित्वेन वेदपारङ्गताः तद्रूपाएवेति यादृशं ब्रह्म तादृशमेव प्रतिपादितम्. नहि कस्यचित् स्वस्वरूपकथने अन्यप्रमाणादिकम् अपेक्षितं भवति. यद्वा अतएव समस्तवेदार्थपारङ्गताः यतः तत्र आनन्दमात्राकारत्वमेव प्रतिपादितम् एभिरपि तथैव प्रतिपादितमिति श्रुतिः प्रमाणम् उक्तम्. अन्येषाम् एतादृशस्वरूपाज्ञानाद् वेदपारङ्गतत्वमपि नास्तीति सूचितम्. किञ्च यत्र सर्वप्रपञ्चस्यैव ब्रह्मरूपत्वं प्रतिपादितं, तत्र साक्षात्पुरुषोत्तमे पूर्णे ब्रह्मणि कृष्णे आनन्दमात्राकारे किं वक्तव्यम् इति भावोऽपि सूचितः॥८॥

(४/क)**साकार...** इति, तस्यैव वेदार्थत्वाय **वेदपारगः** इति.

(४/ख)**साकार...** इति, **आकारसहितं** यद् **ब्रह्म** तस्य यो **वादः** तस्य **एकत्वेन स्थापकः** इति अर्थः. पूर्वनाम्नि गूढार्थ-प्रकाशनत्वम् उक्तं तत्तु शब्दात्मकस्य भवति तस्य आकाराभावाद् इति कस्यचित् शङ्का स्यात् तदर्थम् उक्तं **साकार...** इति, साक्षाद् आकारः **साकारः** तेन आनन्दमयाकारः इति अर्थः. अत्र '**ब्रह्म**'पदोपादानेन वेदान्तएव 'ब्रह्म'पदं पुरुषोत्तमवाचकं न अन्यत्र तद् उक्तम् आचार्यैः **''वेदान्ते च''** इत्यारभ्य **''ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दद्यते''** (त.दी.नि.१।६) इत्यन्तेन. अस्मिन् नाम्नि साक्षादुपनिषद्रूप-व्रजमण्डनोक्त-साकार-पुरुषोत्तमवाद-स्थापकः इति अर्थः. यद्वा **साकारो** भगवान्, यतः साक्षाद् आकारवत्त्वं न अन्यत्र, तत्सहितं यद् **ब्रह्म** श्रुतिः उपनिषद्रूपाः अस्य स्वामिन्यः, तासां यो **वादः** रसरूपः, स्वपक्षस्थापनपूर्वक-भगवत्पक्षनिराकरण-रूपो यथा फलप्रकरणे **''स्वागतं वो...''** (भाग.पुरा.१०।२६।१८) इत्यादि-वचननिराकरणं **''मैवं विभो अर्हति...''**(भाग.पुरा.१०।२६।३१) इत्यादि तस्य एकत्वेन तत्साजात्यं

कृत्वा स्थापयति इति भावः. अथवा **साकारा** स्वामिनी तत्सहितं यद् **ब्रह्म** तस्य **वादः** एतत्पक्ष-स्थापनपूर्वकान्यपक्ष-निराकरणात्मकः, तस्य मुख्यत्वेन तथा इति अर्थः. ननु निराकारवादिनी श्रुतिः श्रूयते तेन साकारस्थापकत्वं श्रुत्या उच्यते वा? उत स्वभावकल्पितत्वेन इत्यत्र आहुः **वेदपारगः** इति, वेदस्य पारं गच्छति इति अर्थः. तेन येषां वेदस्य यत् किञ्चित् ज्ञानं तस्मात् ते विरोध-परिहाराभावेन साकारं निराकारं वदन्ति. वेदेतु साकारएव उच्यते इति अर्थः. निराकारत्वन्तु प्राकृताकार-रहितत्वम् उपपादयन्ति श्रुतयः. अथवा **वेदात्** परो भगवान् तस्य भावः **पारः**, तं गच्छति इति अर्थः. यद्वा **वेदरूपाः** व्रजसीमन्तिन्यः रससमुद्रात्मिकाः तत्पाररूपः प्रभुः तं गच्छति इति भावः॥८॥

(५)**साकार...** इति, विरुद्धसर्वधर्माश्रयं निर्गुणमेव **साकारं ब्रह्म** इति यो **वादः** सच असौ **एकश्च**. यद्वा तस्य **एकएव** मुख्यस्थापकः. ननु स्थापनन्तु वेदाधीनं तत्र कुत्रापि विसम्मतिः चेत् तत् **न** भवेद् इति आशङ्क्य आहुः **वेदपारगः** इति, भगवादास्यरूपत्वेन **''वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्''** (भग.गीता.१५।१५) इति वाक्यात् सर्ववेदानां पारगः. पारस्तु नद्यादीनां सम्भवतीति वेदानां जलरूपत्वमपि उक्तम्. तत्तु **''तेतु ब्रह्महृदं नीताः...''** (भाग.पुरा.१०।२५।१६) इत्यत्र निरूपितम्. तद्धि तस्य जलात्मकम् इति. तथाच यथा भगवता जलाद् वेदाः उद्धृताः तथा एतैरपि निखिलवेदजलराशिम् अवगाह्य रसात्मक-साकारब्रह्मवादः उद्धृतः इति सूचितम्. यद्वा यावन्तो **वेदाः** पुष्टिमर्यादाभेदेन द्विविधाअपि, तेषां सर्वेषामेव (**पारगः**) मुख्यार्थाभिज्ञः. मर्यादा वेदानां मुख्यो अर्थः. साकारप्रतिपादनम् **''आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्''** (   ) **''य एषो अन्तरादित्ये''** (महाना.उप.१०।१) इत्यादिरूपः. पुष्टिश्रुतीनां **''अक्षण्वताम्''** (भाग.पुरा.१०।१८।७) इत्यत्र निरूपितम्. तेन साकारस्थापनं सर्ववेदसिद्धम् इति निरूपितम्. यद्वा रसात्मकसाकारब्रह्मणो **''यतो वाचो निवर्तन्ते''** (तैत्ति.उप.२।४।१) इति श्रुतेः लोकवेदातीतत्वात् सर्ववेदपारस्थत्वं तद्वादस्थापकः तत्पारगएव भवतीति नामद्वयेन सूचितम्.

अतएव एतदन्यस्य ब्रह्मादेरपि तत्पारगत्वाभावाद् **'एक'** पदम् ॥८॥

(६)**साकार...** इति, **'एक'** पदेन अयमेव **वादो** अन्येतु अपवादाः इति भावः. **"अनुभवैकगम्या ह्लादैकमयी"** (द्र. : का.प्र.१।१) इतिवद् **'एक'** पदस्य पूर्वत्र अन्वयः. तर्हि वेदे **"अपाणिपादत्वम्"** (श्वेता.उप.३।१९) कथम् उच्यते? इति आशङ्क्य अवान्तरवाक्यानां महावाक्यार्थानुसारेणैव निर्णयस्य उचितत्वाद्, महावाक्यार्थज्ञानं च अखिलवेदज्ञातुरेव भवतीति तत्त्वम् आहुः **वेदपारगः** इति, आस्यरूपत्वाद् इति भावः ॥८॥

(७)**साकारब्रह्मवादैकस्थापकः** इति, **साकारब्रह्मणो वादः** उपपत्तिपूर्वकं कथनं तस्य **एकएव स्थापकः**. तद् उक्तम् **"बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते"** (भाग.पुरा.१०।८।१५) इत्यादिवाक्यात्. एकस्थापकत्वे **"तानि अहं वेद नो जनाः"** (भाग.पुरा.१०।८।१५) इत्यनेन. यद्वा **साकारस्य ब्रह्मणः वादः** परस्परं सम्भाषणरूपः तस्य **एकएव स्थापकः**. तद् उक्तम् **"कृष्णस्य गोप्यो रुचिरम्"** (भाग.पुरा.१०।८।२८) इत्यादिना. अत्र "वत्सान् मुञ्चन्..." (भाग.पुरा.१०।८।२९) इत्यादि गोपीकृतो वादः. श्रीकृष्णस्य तस्य **"नहि उपालब्धुम् ऐच्छत्"** (भाग.पुरा.१०।८।३१) इत्यादिना **एकया** यशोदया **स्थापनं** कृतम्. यद्वा **साकारब्रह्मणा** श्रीकृष्णेन सह वादः उत्तरप्रत्युत्तररूपः तस्य एकएव स्थापकः, **"कस्माद् मृदम् अदान्तात्मन्!... ", "नाहं भक्षितवान् सर्वे..."** (भाग.पुरा.१०। ।), "सर्वे वदन्ति"-"मुखं मे पश्य!"-"व्यादेहि!". नवमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **वेदपारगो. वेदानां पारो** भगवान् तं **गच्छति** इति वेदपारगा यशोदा सा अस्ति मातृत्वेन अस्य वेदपारगः. तद् उक्तम् **"अन्वञ्चमाना जननी"** (भाग.पुरा.६।९।१०) इत्यादिना ॥८॥

:: उत्थानिका: ::

(१)यद्यपि "साकारब्रह्मवादैकस्थापको" "वेदपारग" इतिनामद्वयार्थनिरूपणेनैव मायावादो निराकृतः तथापि पुनः यत् मायावादनिराकर्ता इति

निरूपितं तस्य अयम् अर्थः —

(२)

(३)ननु प्रपञ्चस्य ब्रह्मत्वं कथम् उच्यते मायिकत्वात् तत्र आहुः —

(४/क)मतान्तरसंशयनिराकरणाय...

(४/ख)एतन्नाम-साधनीभूतम् अग्रिमं नाम आहुः —

(५)ननु मायावादिभिः आकारो मायिकः उच्यते, तत् कथं शुद्धत्वं साकारत्वं च इति तत्र आहुः —

(६)ननु माययापि तथा प्रदर्शनं सम्भवतीति किमिति आपाततो निर्गुणस्यैव साकारत्वम् उच्यते?

(७)दशमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

मायावादनिराकर्ता[१०] सर्ववादिनिरासकृत्[११]॥

:: टीका: ::

(१)मायाम् आश्रित्य सर्वस्य मिथ्यात्वम् असत्त्वं च इत्येवंरूपो यो वादः स **मायावादः** सः सर्वश्रुतिविरुद्धः इति हेतोः तत्**निराकर्ता,** तत्र विरुद्धश्रुतयः उच्यन्ते : **"तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत् तद् अनुप्रविश्य सत् च त्यत् च अभवत्, निरुक्तं च अनिरुक्तं च, निलयनं च अनिलयनं च, विज्ञानं च अविज्ञानं च, सत्यं च अनृतं च, सत्यम् अभवत्. यदिदं किञ्च तत् 'सत्यम्' इति आचक्षते. तदपि एष श्लोको**

भवति'' (तैत्ति.उप.२।६) ''**सर्वं खलु इदं ब्रह्म**'' (छान्दो.उप.३।१४।१) इत्यादिश्रुतिविरुद्धत्वात् तन्मतनिराकरणं कृतवान् इत्येतद् ज्ञापनार्थम् उक्तं **मायावादनिराकर्ता** इति. एवं मायावादं निराकृत्य तदितरशास्त्राणामपि श्रुतिविरुद्धत्वात् तत्तन्मतानुसारिणां वादिनामपि श्रुतिमतानुसारेणैव निराकर्ता इति ज्ञापनार्थम् उक्तं **सर्ववादिनिरासकृद्** इति. यद्यपि मायावादिन्यायेन सर्वस्यापि जगतः ते मिथ्यात्वं न मन्यन्ते तथापि नैयायिकाः ईश्वरे ज्ञानेच्छाप्रयत्नातिरिक्तान् श्रुत्युक्तान् आनन्दमयत्वादीन् धर्मान् न मन्यन्ते. मीमांसकास्तु ईश्वरमेव न मन्यन्ते. साङ्ख्यादयोऽपि तथा इत्येतत् सर्वं श्रुतिविरुद्धमिति तन्निवारकत्वाय उक्तं **सर्ववादिनिरासकृद्** इति.

(२)**मायावादनिराकर्ता** इति, ईश्वरम् आरभ्य यत् किञ्चित् तत् सर्वं न आसीद् न विद्यते नवा भविष्यति इति एतादृशो यो वादः स **मायावादः**, तस्य **निराकर्ता** तिरस्कारकः इति अर्थः. मायिकत्वप्रतिपादकश्रुतिपुराणादीनान्तु तात्पर्यं वैराग्यपरम् इतितु निबन्धादिषु प्रपञ्चितमेव. **सर्ववादिनिरासकृद्** इति, ब्रह्मवादिव्यतिरिक्ताः **सर्वे** ये **वादिनः** तार्किकबौद्धादयः तेषां **निरासः** उत्तरास्फूर्तिः, तां **करोति** इति.

(३)**मायावाद**... इति, मायावादं निराकृत्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वं स्थापितं श्रुतिबलेन. ननु अन्ये वादिनः चेद् दूषयेयुः तत्र आहुः **सर्ववाद**... इति, एतेन वादेन सर्ववादिनां निरासं कृत्वा स्थापितम् इति नतु तस्यापि दूषणावसरः श्रुतिसिद्धत्वात्. एवं सति तन्नाम्नां सर्वषामेव एतत्स्वरूपाज्ञानं तत्तन्मतसाधनासाध्यत्वं च उक्तम्.

(४/क)**मायावाद**... इति. अतिरिक्तमतकृतसंशयाभावाय **सर्व**... इति.

(४/ख)**मायावाद**... इति, **मायारूपो** योऽयं **वादः** तस्य **निराकर्ता** इति अर्थः. **माया** लक्ष्मीः तस्याः **वादः** लक्ष्मीनाथादिरूपः नारदव्यासादीनां तस्य **निराकरणकर्ता** इति अर्थः. केवलं व्रजनाथादि-रूपस्थापकः इति

अर्थः. यद्वा **माया** लक्ष्मीः तस्याः योऽयं **वादो** मद्वशएव मन्नाथएव यथा तथा न अन्यासां तन्**निराकर्ता** इति अर्थः. मायावादनिराकर्तृत्वम् उक्त्वा सर्ववादनिराकर्तृत्वम् आहुः **सर्ववाद**... इति, **सर्ववादाः** भगवत्स्वरूप-सम्बन्धातिरिक्ताः तेषां **निरासकर्ता इति** भावः. अथवा **सर्वो** भगवान् अस्य योऽयं **वादो** ''भक्तेन सेवायां सर्वथा कृतायां सकृदपि अपराधरहितायामेव कृपां करिष्यामि'' इत्यादिरूपो वादः, तस्य **निराकर्ता** इति भावः. निरासकरणन्तु ''जीवाः सदोषाएव तेषाम् उपेक्षा श्रीमता न कर्तव्या सर्वथा रसपूरिताः कर्तव्याः'' इति भावः. तद् उक्तं श्रीमत्प्रभुचरणैः ''**कियान् पूर्वं जीवः**...'' (विज्ञ.१।१) इत्यादिना.

(५)**मायावाद**...इति, मायावादस्य निराकरणप्रकारस्तु निबन्धादौ ज्ञेयः. ततः शुद्धत्वं साकारत्वं च सिद्धम्. **सर्ववाद**... इति, **सर्वे वादाः** सांख्यादयः तद्**निरासकृद्** इति, तेन तत्सिद्धान्तोक्तसाधननिराकरणमपि आक्षिप्तम्.

(६)**माया**... इति, नहि भगवति मायासम्बन्धः सम्भवति. इदञ्च ''**जन्माद्यस्य यतो**...'' (भाग.पुरा.१।१।१) इति श्लोकविवरणे सुबोधिन्यां द्रष्टव्यम्. तत्र अन्येऽपि वादाः सन्तीति तन्निराकर्तृत्वम् अथ आहुः **सर्व**... इति. इदमपि तत्रैव द्रष्टव्यम्. अकर्तृत्वादिधर्माअपि श्रूयन्ते, तत्र व्यवस्था निरोधषष्ठाध्यायटिप्पण्यां प्रभुभिः उक्ता. ज्ञानिनः प्रत्येव ते धर्माः प्रकटीक्रियन्ते भक्तेषु यथासुखं सर्वाअपि लीलाः करोति (द्रष्ट. : सुबो.टिप्प.१०।६।२०) इति.

(७)**मायावाद-निराकर्ता** इति, [1]**मायया** अज्ञानेन **वादः** प्रश्ने ''**देवर्षेः**... **तमः**'' (भाग.पुरा.१०।१०।१) कथनं, तस्य उत्तरे ''**तयोस्तु ग्रहार्थाय**...'' (भाग.पुरा.१०।१०।७) इति कथनेन निवारकः. [2]यद्वा ''**असत्यम् अप्रतिष्ठं ते जगद्** आहुः **अनीश्वरम्**'' (भग.गीता.१६।१८) इत्यादिरूपः, तस्य स्तुतौ ''**कृष्ण! कृष्ण! महायोगिन्! त्वम्** आद्यः पुरुषः **परः**''

(भाग.पुरा.१०।१०।२९) इत्यादिना निवारकः. एकादशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **सर्ववाद-निरासकृत्**, [१]सर्वेषां वादः "**कस्य इदं कुतः आश्चर्यम्**" (भाग.पुरा.१०।११।३-५) इत्यादिना उक्तः. तस्य "**बालाः प्रोचुः अनेन इति...**" (भाग.पुरा.१०।११।४) इत्यादिरूपेण **निरासकृत्**. [२]यद्वा सर्वेषां बालानां वादो "**विकर्षता मध्यगेन पुरुषावपि अचक्ष्महि**" (भाग.पुरा.१०।११-।४) इत्यादिरूपः, तस्य "**न ते तदुक्तं जगृहुः न घटेत इति तस्य तत्**" (भाग.पुरा.१०।११।५) इति वाक्येन **निरासकृत्**. [३]यद्वा **सर्वेषां** व्रजवासिनां **वादानां** मतानाम् उपनन्दवाक्येन **निरासकृत्**. तद् उक्तं "**तत्र 'उपनन्द'नाम...**" (भाग.पुरा.१०।११।२१) इत्यारभ्य "**ययू रूढपरिच्छदाः...**" (भाग.पुरा.१०।११।३०) इत्यनेन. [४]यद्वा **सर्वान्** वत्सान गोपान् वा **वहति** प्रापयति इति **सर्ववो** भगवान्, तेन **आ**-समन्तात् **दः** खण्डनं यस्य **सर्ववादो** वत्सासुरः, तन्**निरासकृत्**. तद् उक्तं "**कदाचिद् यमुनातीरे**" (भाग.पुरा.१०।११।४१) इत्यनेन. [५]यद्वा सर्वत्र वादो यस्य (स) **सर्ववादो** भगवान् तं **निरस्यति** क्षिपति इति **सर्ववादनिरासो** बकासुरः तं कृणत्ति इति **सर्ववादनिरासकृत्**. सर्वकार्यान् प्रवर्तयति तद् उक्तं "**तौ वत्सपालकौ भूत्वा**" (भाग.पुरा.१०।११।४५) इत्यारभ्य "**तद् वीक्ष्य गोपालसुताः विसस्मिरे**" (भाग.पुरा.१०।११।५२) इत्यनेन. [६]यद्वा सर्वेषां वादो यत्र (तत्) **सर्ववादं** कौमारं प्रमाणं वा तस्य **निरासकृत्**. तद् उक्तम् "**एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुः व्रजे निलायनैः सेतुबन्धैः मर्कटोत्प्लवनादिभिः**" (भाग.पुरा.१०।११।५९) इति. अत्र प्रमाणप्रकरणं सम्पूर्णम्.

:: उत्थानिका: ::

(१)ननु लोके प्रसिद्धानां कर्मज्ञानप्रतिपादकशास्त्राणां वेदविरुद्धत्वेन निराकृतत्वात् स्वस्य कस्मिन् शास्त्रे कस्मिन् धर्मे च निष्ठा? इति शङ्कानिरासाय आहुः —

(२)...

(३)ननु केन मार्गेण ज्ञायते प्राप्यते च इति तत्र आहुः —

(४/क)साकारब्रह्मणः प्राप्त्युपायनिरूपणे...

(४/ख)ननु सर्ववाद-निरासकर्तृत्वे 'सर्व'पदे भक्तेरपि प्रवेशात् तदभावाय अग्रिमं नाम आहुः —

(५)ननु तर्हि तत्प्राप्तौ किं साधनं? तत्र आहुः —

(६)स्वस्यतु भक्तिमार्गप्रवर्तकत्वम् आहुः —

(७)प्रमेयप्रकरणीयद्वादशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

भक्तिमार्गाब्जमार्तण्डः[१२] स्त्रीशूद्राद्युद्धृतिक्षमः[१३]॥१॥

:: टीकाः ::

(१)भक्तिमार्गाब्जमार्तण्डः इति, **भक्तिमार्ग**रूपं यद् **अब्जं** तस्य **मार्तण्डः** प्रकाशकः इति अर्थः. स्वस्य भक्तिमार्गप्रकाशकत्वोक्त्या भक्तिशास्त्रं गीताभागवतादिकं तच्छास्त्रनिष्ठत्वं तदुक्तधर्माचरणत्वं च ज्ञापितम्. यद्यपि अत्र कर्मज्ञानादिकमपि प्रतिपाद्यते तथापि न तत् फलत्वेन मुख्यतया, "**नाहं वेदैः...**" (भग.गीता.११।५३) इति "**योगिनामपि सर्वेषां...**" (भग.गीता.६।४७) इति, "**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा...**" (भग.गीता.१८।५४) इत्यादिभिः गीतासु ब्रह्मभावानन्तरमपि भक्तिलाभस्यैव मुख्यत्वेन निरूपणात्. श्रीभागवतेऽपि "**अनिमित्ता भागवती भक्तिः मुक्तेः गरीयसी**" (भाग.पुरा.३।२५।३३), "**...भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्**" (भाग.पुरा.५।६।१८), "**सामीप्यसार्ष्टिसालोक्यसायुज्यैकत्वमपि उत दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः. सएव भक्तियोगाख्यः आत्यन्तिकः उदाहृतः**" (भाग.पुरा.३।२९।१३), "**तस्माद् मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः न ज्ञानं नच वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेद् इह**"

(भाग.पुरा.११।२०।३१) इत्यादिभिः भक्तिरेव प्रतिपाद्यते इति गीताभागवतादीनां भक्तिशास्त्रत्वम्. अत्र भक्तिमार्गस्य 'अब्ज'त्वोक्त्या मार्गान्तरापेक्षया अस्य मार्गस्य सुखदत्वं ज्ञापितम्, आचार्याणाम् मार्तण्डत्वोक्त्या यथा अब्जप्रकाशको मार्तण्डः एकएव तथा पुष्टिभक्तिमार्गप्रकाशकाः आचार्याएव न अन्ये, यथा प्रकाशिताब्जरसभोक्तारो अलयएव तथा एतत्प्रकाशितमार्गरसभोक्तारः एतदङ्गीकृताएव न अन्ये, इत्यपि ज्ञापितम्. यथा मार्तण्डो अन्येषाम् तापजनकोऽपि अब्जानां प्रकाशकत्वेन सुखजनकः तद्वद् आचार्याणामपि भक्तिमार्गातिरिक्तमार्गीयाणां तापजनकत्वं भक्तिमार्गीयाणां भक्तिप्रकाशकत्वेन अत्यन्तसुखदत्वम् इति ज्ञापनायापि उक्तं **भक्तिमार्गाब्जमार्तण्डः** इति. यद्यपि भक्तिमार्गः प्रमाणसिद्धत्वात् पूर्वं वर्ततएव तथापि सूर्यानुदयाद् रात्रौ कमलवद् मुद्रितएव स्थितः तथा विद्यमानोऽपि भक्तिमार्गः आचार्यप्राकट्याभावाद् अविकसितएव स्थितः. आचार्यप्राकट्यानन्तरमेव विकसितो जातः इति ज्ञापनाय उक्तं **भक्तिमार्गाब्जमार्तण्डः** इति. यद्यपि मर्यादामार्गीयभक्तिमार्गानुवर्तिनामपि तन्मार्गोक्तफलसिद्ध्या कृतार्थत्वम् अस्त्येव तथापि तत्र पुरुषशरीरं प्राप्तानां ब्राह्मणानामेव मुक्त्यधिकारो न अन्येषाम् इति. यथा मुचुकुन्दस्य भगवद्दर्शनानन्तरं भक्तिसिद्धावपि ब्राह्मणत्वाभावाद् भगवतापि न मुक्तिः दत्ता किन्तु अग्रिमजन्मनि ब्राह्मणत्वं सम्पाद्यैव मुक्तिः दत्तेति मर्यादामार्गो न सर्वेषां फलसाधकः. आचार्यप्रकटितपुष्टिभक्तिमार्गस्तु तदङ्गीकृतजीवमात्रस्यैव तन्मार्गोक्तफलसाधकः इति ज्ञापनाय उक्तं **स्त्रीशूद्राद्युद्धृतिक्षमः** इति. ननु पुष्टिमार्गेऽपि अयं नियमो भविष्यति इति मर्यादामार्गीयाणाम् आशङ्कानिरासाय तत्र भगवदुक्तं प्रमाणम् आहुः **"मां हि पार्थ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः स्त्रियो वैश्याः तथा शूद्राः तेऽपि यान्ति परां गतिम्. किं पुनः ब्राह्मणाः पुण्याः भक्ताः राजर्षयः तथा अनित्यम् असुखं लोकम् इमं प्राप्य भजस्व माम्"** (भग.गीता.९।३२) इत्यन्ते भजनस्यैव उक्तत्वात् शुद्धपुष्टिमार्गप्रवृत्तजीवमात्रस्यैव कृतार्थता नतु मयार्दामार्गवद् ब्राह्मणस्यैव इति नियमः. इति मार्गद्वयविचारपूर्वकं तयोः बलाबलविचारेण पुष्टिभक्तिमार्गस्यैव प्रबलत्वम् आज्ञाय शुद्धपुष्टिमार्गप्रवर्तनम् आचार्यैरेव कृतं नान्यैः इति ज्ञापनाय **स्त्रीशूद्राद्युद्धृतिक्षमः** इति, **'क्षम'**इति पदेन स्वतएव स्वसामर्थ्येन स्वकीयानां फलसाधनसमर्थः॥९॥

(२)**भक्तिमार्गाब्जमार्तण्डः** इति, **भक्तिः** निरूपधिस्नेहः. स **मृग्यते** विचार्यते यस्मिन् शास्त्रे सः **भक्तिमार्गः** भगवच्छास्त्रं तदेव **अब्जं** रसमूलकत्वात् तस्य मुकुलितस्य अन्तःप्रकाशने मार्तण्डइव **मार्तण्डः** सहस्रकिरणः इति अर्थः. **स्त्रीशूद्राद्युद्धृतिक्षमः** इति, **स्त्रियश्च शूद्राश्च तद्-आदयो** ब्रह्मबन्ध्वादयः तेषाम् **उद्धृतौ** उद्धरणे **क्षमः** समर्थः इति अर्थः. यद्यपि **"स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनाम्..."** (भाग.पुरा.१।४।२५) इत्यादिना भारताख्यानस्यापि साधनत्वम् उक्तं तच्च स्वर्गएव न भगवत्प्राप्तौ. एतदनुगृहीतास्तु साक्षाच्छ्रीकृष्णं प्राप्नुवन्त्येव इति महद् वैशिष्ट्यम्॥९॥

(३)**भक्तिमार्ग...** इति, **भक्तिरेव मार्गः** तद्द्वारा सेव्यं यद् **अब्जं** प्रभुचरणसरोजं तत्प्रकाशकः. अनेन मार्गेण ज्ञायते प्राप्यते च. यथा मार्तण्डः मार्गाब्जयोः प्रकाशकः. मार्गप्रकाशे सति लोकाः अब्जसुखम् अनुभवन्ति. तत्रापि न केवलम् अब्जस्य किन्तु अतिसरस-सुरभिसमीर-लीलाचलदमल-नवपल्लव-तरुगणेन समन्ततो रमणीयस्य निजनिज-रसभाव-विवशविहित-विविधरतिकेलि-कलहंसीकुल-संगरुचिरस्य दृश्यतया नेत्रोत्सवस्य रसालतया मधुरस्य एतादृशरसोद्बोधकस्य सरोवरोत्तमस्यापि. तथा श्रीमदाचार्यप्राकट्येन भक्तिमार्गप्रकाशः तद्द्वारा सेव्यपदाब्जप्रकाशो निरन्तरं तत्सेवानिष्ठया हृदये. तत्रापि न केवलं किन्तु तादृशरसरूपस्य साक्षात्प्रभोः स्वरूपानुभवस्यापि. एवम् एतन्मार्गोक्तप्रकारकनिष्ठया साक्षात्स्वरूपानन्दलयो भवेद् इति भक्तिमार्गमर्यादा. यद्वा **भक्तिमार्गरूपमेव** यद् **अब्जं** तत्प्रकाशकः. लोके मार्गो भिन्नो अब्जं भिन्नम्. अत्र मार्गस्यैव अब्जत्वनिरूपणेन भक्तिरूपचरणमिव अब्जं सूचितम्. **'मार्ग'**पदेन मार्गो यथा ज्ञातः सन् गमनेन इष्टप्रापकः तथा इदमपि पुष्टिमार्गरूपं साक्षात्पुरूषोत्तमप्रापकमिति ज्ञापितम्. तस्यैव **मार्तण्डः** प्रकाशकः. सच सकलमार्गप्रकाशको यत्र तस्यापि गतिः तत्प्रकाशकः. अनेन श्रीमदाचार्यकृपयैव सान्निध्येनैव अङ्गीकृतभक्तस्य हृदये तादृशरसरूप-चरणारविन्दप्रकाशो भवतीति भावः सूच्यते. यद्वा **'भक्ति'**पदेन स्नेहः उच्यते **'अब्ज'**पदेन यानि-यानि तदुपमेयानि अङ्गानि यानि वा रसोद्बोधकानि; अथवा, प्रभोः सर्वाणि अङ्गानि रसोद्बोधकान्येवेति तानि सर्वाणि ज्ञेयानि.

तेन तन्मार्गद्वारा कोटिकन्दर्पलावण्यस्य परम-मधुरिम-निधानस्य सम्पूर्णं स्वरूपस्य प्रकाशको भवति. तादृशस्नेहासक्त्या तन्मयता सर्वत्र भवति न इतरभावगन्धतापि इति सूचितम्. यथा तत्प्रकाशेन अन्यप्रकाशः यथा मार्तण्डः तापकः तथा अत्र सर्वात्मभावजनित-साक्षात्स्वरूप-सम्बन्धाभावार्त्ति-तापेन तापकः. किञ्च यथा-यथा मार्तण्डप्रकाशः तथा-तथा तापाधिक्यम् एवं यथा-यथा आचार्यानुग्रहः तथा-तथा तादृशभावात्मकः तापोऽपि. तत्र यथा अब्जरसपातारो मधुपाः तथा अत्र तादृशाङ्गीकृताः. एतेन ये तादृशसर्वात्मभावेन सर्वविषयान् सवासनां त्यक्त्वा एतादृशचरणारविन्दमूलं प्राप्ताः यथा "संत्यज्य..." (भाग.पुरा.१०।२-६।३१) इति ताः. तेषां साक्षात्स्वरूपरसपानं श्रीकृष्णाधरामृतास्वादसिद्धिः न अन्येषाम्. तादृशस्तु स्वयमेव अस्मत्प्रभुरिति तद्रसास्वादस्तु स्वस्यैव जातो न अन्यस्येति स्वानुभवएव उक्तः इति ज्ञापितं भवति इति भावः. एवं ये उत्तमाधिकारिणः तैः प्राप्यम् इति उक्तम्. ये सर्वथा अनधिकारिणः तैः कथं प्राप्यते तेषु तदनुग्रहासम्भवात्? तत्र आहुः **स्त्री**...इति, तेषामपि उद्धारे **क्षमः** समर्थः. अयं भावः : स्त्रीशूद्रादिषु सर्वकर्मानधिकाररूपं निकृष्टत्वं दोषः. सच न केनापि दूरीकर्तुं शक्यः. आचार्यैस्तु स्वमार्गाङ्गीकारेणैव सर्वे दोषाः निवर्तिताः, यतः सर्वे ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सकलसाधनैः अप्राप्यस्य साक्षात्पुरूषोत्तमस्वरूपस्य भजनाधिकारिणो जाताः. तेनैव तेषाम् उद्धारः. एवम्प्रकारकोद्धारकृतिसामर्थ्यम् आचार्याणामेव न अन्येषाम् इति ज्ञापनाय **'क्षम'**पदम् उक्तम्. किञ्च येषां साधारणधर्मेष्वपि न अधिकारः तेषां सर्वाधिकपरमफलरूप-साक्षात्पुष्टिमार्गीय-श्रीपुरुषोत्तमभजनाधिकारः स्वस्वीकृति-मात्रणैव सम्पादितः. किम् अतो अधिकम् आचार्याणां सामर्थ्यं वक्तव्यम्! किञ्च अत्र **'उद्धार'**पदेन इदमपि ज्ञाप्यते : यथा अन्धकूपे पतितस्य कस्यचित् रज्ज्वादिकम् अवलम्बं दत्त्वा केनचिद् उद्धारः क्रियते दयालुना; तथा, ये एते सर्वधर्मानधिकारित्वेन सहजदोषेण च संसारमहान्धकूपे पतिताः; अतः, तेषां स्वकृपाकटाक्ष-परम्परा-रज्ज्ववलम्बनं दत्त्वा उद्धारः कृतः इति भावः सूचितः. एतेन यथा महान्धकूपपतितस्य जीवनं कादाचित्कं भवति. यदि भवेत् तदपि मृतकप्रायं तथा अत्र न इति सूचितम्. अत्रतु

करुणारसाकूत-कटाक्षामृत-पूरवृष्टिभिः तेषां बाह्याभ्यन्तरपूरितानां तदा तदात्मकमेव सर्वं देहादिकं भवतीति अलौकिकं सामर्थ्यम् आचार्याणां द्योतितम्॥९॥

(४/क)**भक्तिमार्ग...** इति. मार्गाधिक्यबोधाय **स्त्रीशूद्र...** इति॥९॥

(४/ख)**भक्तिमार्ग...** इति, **भक्तिमार्गरूपं** यद् **अब्जं** तस्य **मार्तण्डः** प्रकाशकः इति अर्थः. भक्तिमार्गस्य अब्जत्वोक्त्या सारस्य पुष्टिभक्तित्वं सरसदेश-स्त्रीभाववद्-भक्तहृदय-नेत्र-यौवन-सरःसु प्राकट्यं ध्वन्यते. एतादृशं यद् अब्जं तस्य मार्तण्डत्वोक्त्या तद्रस-ग्रहण-पूर्वकं स्वकरैरेव तद्रसदानत्वं ध्वन्यते. यथा मार्तण्डः केषाञ्चित् तापकरः तमोनिवारकः च परम् अब्जप्रकाशकएव; तथा, आचार्याअपि सर्ववाद-निवारणेऽपि भक्तिमार्गप्रकाश-काएव इति अर्थः. एतेषां मार्तण्डत्वोक्त्या यथा मार्तण्डं विना अब्जप्रकाशकत्वं न कस्यापि तथा एतन्मार्गप्रकाशकत्वं आचार्याणामेव इति ध्वनिः. मार्गस्यापि अब्जत्वोक्त्या यथा मार्तण्डं विना अब्जस्य सर्वदा मालिन्यमेव तथा आचार्यस्वरूपं विना पुष्टिमार्गस्यापि तथात्वमेव इति भावः. एवं भक्तिमार्गाब्ज-मार्तण्डत्वम् उक्त्वा भक्तिमार्गप्रकाशेऽपि बहवो भक्तिमार्गाः सन्तीति तत्र न ब्राह्मणातिरिक्तस्य मुक्तिः मर्यादादिषु. तस्माद् अत्र तत्प्रकाशनत्वेन सर्वेषामेव भगवत्प्राप्तिकारकं अग्रिमं नाम आहुः **स्त्रीशूद्र**...इति, **स्त्रीशूद्रादीनां** योऽयम् उद्धारः तस्मिन् **क्षमः** इति अर्थः. स्त्रीशूद्राद्युद्धरणेन नाशाभावपूर्वकोक्त्या पुरुषोत्तमत्वं ध्वन्यते. सर्वेषां सेव्यः इति अर्थः. यद्वा **स्त्र्यात्मको** यः **शूद्रादि**भावः तस्य **उद्धृतौ क्षमः** समर्थः. तेन सर्वेषां पुष्टिमार्गीय-भावदानेन तथा इति भावः॥९॥

(५)**भक्ति...** इति, "**अहं भक्तपराधीनो**" (भाग.पुरा.९।४।६३) "**भक्त्या तुतोष भगवान्**" (भाग.पुरा.७।९।९) "**भक्त्यैव तुष्टिम् अभ्येति**" ( ) "**भक्त्या माम् अभिजानाति**" (भग.गीता.१८।५५) इत्यादिवाक्यसहस्रैः **भक्तिरेव** साधनं सैव **मार्गः** सएव **अम्बुजं** तस्य

मार्तण्डः स्वरूपसुगन्धादिविकासकः. भक्तिमार्गस्य 'अम्बुजत्वो'क्त्या प्रेमरूपा रसात्मिका भक्तिः उच्यते, "सा परानुरक्तिः ईश्वरे" (शाण्डि.भ.सू.१।२) "स्नेहो भक्तिः" (नार.पञ्च. । ।) इत्यादिवाक्यैः मुख्यो 'भक्ति'पदप्रयोगः तत्रैव. यथा अम्बुजस्य रसरूपसुगन्धादि मार्तण्डोदयेनैव भवति तथा विचित्रभावरूपा भक्तिः तद्गतः कश्चिद् अलौकिको रसो अहोरात्रं जायमानवासनारूपः सुगन्धः, एतत् सर्वं पुष्टिमार्गाचार्यप्राकट्येनैव भवतीति अम्बुजत्वं मार्तण्डत्वं च निरूपितम्. अपरञ्च अम्बुजेन यथा पङ्कस्यापि काचिद् विलक्षणा शोभा तथा दैवानां लोके प्राकृतभावेन उत्पन्नानामपि अनेन मार्गेण अलौकिकी सा भवति इत्यपि भावो 'अम्बुज'पदेन सूचितः. सर्वतापहारकत्वं च. भगवता अयं मार्गः स्वार्थमेव प्रकटितइति प्रमेयबलम् अत्रैव स्थापितमिति कलौ एतस्यैव निःसाधनजनोद्धारकत्वम् इति आशयेन आहुः **स्त्रीशूद्रादि...** इति, एतन्मार्गप्रकटनेन स्त्रीशूद्राणाम् **'आदि'**पदेन ततोऽपि अधमानां म्लेच्छादीनामपि उद्धृतौ **क्षमः** समर्थः. स्वस्य पुरुषोत्तमास्यरूपत्वेन भक्तिरूपत्वादपि तन्माहात्म्यं स्वस्यैव इति **'क्षम'**पदेन ज्ञापितम्. अन्यथा सापेक्षम् असमर्थं भवतीति भक्तिबलसापेक्षबलत्वेन **'क्षम'**पदं न वदेयुः. **'उद्धृति'**इति स्त्रियां प्रयोगाद् यथा सा स्वल्पेनैव साध्या तथा एतदुद्धृतिरपि अनायासेनैव साध्या इति भावः सूचितः. सातु कालकर्मस्वभावलोकेभ्यः पृथक्करणम्॥१॥

(६)**भक्ति...** इति, मार्गत्वाविशेषेऽपि स्वस्य एतस्मिन्नेव मार्गे प्रवृत्तौ हेतुस्तु मार्गस्य अब्जत्वं स्वस्य मार्तण्डत्वं च. **"उदहृष्यन् वारिजानि सूर्योत्थाने कुमुद् विना"** (भाग.पुरा.१०।१७।४७) इत्यत्र सूर्येण तेषामेव हर्षोक्तेः. अत्र **मार्तण्डसम्बन्धकथनेन 'अब्ज'**पदे कुमुद्व्यतिरेको ज्ञेयः. अन्ये मार्गास्तु कुमुदाः "'कौ=पृथिव्यां या मुत्, कुत्सिता वा मुत्" ततो **"अर्शादिभ्यो अच्"** (पाणि.सू.५।२।१२७) तद्वन्तः प्राकृतानन्दाः इति अर्थः. तद् उक्तं **"प्राकृताः सकलाः देवाः"** (कृष्णा.स्तो.८) इति. गणितानन्दोऽपि मार्गः पूर्णापेक्षया कुत्सितमुद्वानेव. भक्तिमार्गस्तु अब्जं

पूर्णानन्दो अतो अत्र प्रवृत्तिः. स्वयं मार्तण्डः पूर्णानन्दो अखिलप्रकाशकः. "मृते अण्डः"इति व्युत्पत्त्या निःसाधनजनोद्धारकः च. अन्ये मार्गाः हि ससाधनाः. अयमेव मार्गो भगवदतिरिक्तसाधनरहितो अतो अत्र प्रवृत्तिः इति भावः. ननु **"स्त्रियो वैश्याः तथा शूद्राः"** (भग.गीता.९।३२) इति वाक्येन सद्गतिश्रवणाद् दैवाः स्त्रीशूद्रादयोऽपि भवन्ति तेषाञ्च वेदमहावाक्यार्थरूपस्य साकारब्रह्मणो लीलायाम् अनधिकारात् कथं तादृशलीलाप्रकाशनेन अखिलदैवोद्धारः? इत्यतः आहुः **स्त्रीशूद्रा...** इति, स्वसामर्थ्येनैव लीलाश्रवणाद्यधिकारं सम्पादयति. वेदपाठेतु प्रयोजनाभावात् न तदधिकारं सम्पादयति इति भावः ॥९॥

(७)**भक्तिमार्गाब्जमार्तण्डः** इति, यथा मार्तण्डो अन्धकारं स्वप्रमेय-बलेनैव दूरीकरोति, सर्वकार्याणि प्रवर्तयति. अत्रापि षट्पदानि संख्याबोधकानि [१]'भक्ति'- [२]'मार्ग'- [३]'अब्ज'- [४]'मार्त'- [५]'अण्ड'- [६]समस्तम् एकम्. अब्जानि प्रफुल्लानि करोति तेन प्रकरणार्थरूपत्वम् उक्तं भवति. यद्वा भजनं **भक्तिः** चरणानि, तेषां यो **मार्गो** वृन्दावनभूमिः तस्याः **अब्जमार्तण्डः** उदयकालिकः सूर्यः. तथाच सूर्योदये यथा पुण्यकाल-प्रवृत्तिः सर्वत्र, तथा अत्र भगवदागमनेन. तद् उक्तम् **"पदैः वृन्दावनं पुण्यम् अतीव चक्रतुः"** (भाग.पुरा.१०।१२।१) इत्यादिना. यद्वा भजनं **भक्तिः** तस्य **मार्गो** रीतिः, तत्र **अब्जं** शोभनप्रकारः, तस्य **मार्तण्डः** प्रकाशकः. तद् उक्तम् **"अहो! अमी देववरामरार्चितम्"** (भाग.पुरा.१०।१२।५) इत्यादिना. यद्वा **भक्तिमार्गः** सेवामार्गः तस्य **अब्जमार्तण्डः** आदौ प्रकाशकः. तद् उक्तं **"क्वचित् क्रीडापरिश्रान्तं..."** (भाग.पुरा.१०।१२।१४) इत्यारभ्य **"स्नेहक्लिन्नधियः शनैः"** (भाग.पुरा.१०-।१२।१८) इत्यन्तम्. यद्वा **भक्तिमार्गः** स्नेहमार्गः परस्परं प्रार्थित-दानादि-रूपो, **"ददाति-प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति-पृच्छति, भुङ्क्ते-भोजयते चैव षड्विधं मित्रलक्षणम्"** ( ) इत्यादिलक्षणकः तस्य उदयकालिकः सूर्यः, तद् उक्तं, **"श्रीदामा नामा"** (भाग.पुरा.१०।१२।२०) इत्यारभ्य **"साग्रजो**

व्रजम् आव्रजद्'' (भाग.पुरा.१०।१२।४१) इत्यन्तेन. यद्वा **भक्तिः** मुखं तं द्रष्टुम् **मृगयन्ति** द्रष्टुम् इच्छन्ति ताः **भक्तिमार्गाः** गोप्यः तासाम् **अब्जानि** नेत्रकमलानि तेषां **मार्तण्डः** प्रकाशकः. तद् उक्तं **''पीत्वा मुकुन्दमुखसारघम् अक्षिभृङ्गैः''** (भाग.पुरा.१०।१२।४३) इति सन्दर्भेण. यद्वा भक्त्या **मृज्यन्ते** शुद्धाः क्रियन्ते इति **भक्तिमार्गाः** गोपाः तेषाम् **अब्जे** विषजलाद् जाते मृत्यौ सति **मार्तण्डः** जीवनो, **''मृते अण्डे एषः एतस्मिन् यद् अभूत ततो 'मार्तण्डः' इति व्यपदेशः''** (भाग.पुरा.५।२०।४४) इति पञ्चमस्कन्धीयवाक्यात् स्वयमेव तद्रूपो जातः इति भावः. तद् उक्तम् **''एवं स भगवान्''** (भाग.पुरा.१०।१२।४७) इत्यारभ्य आसमाप्तिः. त्रयोदशाद्यायार्थबोधकं नाम आहुः **स्त्रीशूद्राद्युद्धृतिक्षमः** स्त्रियश्च शूद्राश्च **स्त्रीशूद्राः** ते **आदौ** येषां तेषाम् **उद्धारे क्षमः** समर्थः. **स्त्रियो** नागपत्न्यः ताभिः सहितः सुपर्ण-पक्षपात-ताडनशुचा द्रवीभूतः **शूद्रः** कालीयः **'आदि'**ना सर्पपुत्राः, तेषाम् **उद्धृतौ** निस्सारणे समर्थः. तद् उक्तं **''विलोक्य दूषितां कृष्णाम्''** (भाग.पुरा.१०।१३।१) इत्यादिना. यद्वा **स्त्रियो** यशोदाप्रभृतयः शुचा द्रवीभूताः **'आदि'**ना गोपाः गावः च तेषाम् **उद्धृतौ** ह्रदप्रवेशनिवारणे **क्षमः**. तद् उक्तं **''ताः कृष्णमातरम्...''** (भाग.पुरा.१०।१३।२१) इत्यारभ्य **''कृष्णानुभाववित्''** (भाग.पुरा.१०।१३।२२) इत्यन्तेन. यद्वा **स्त्रियो** नागपत्न्यः शुचा द्रवीभूताः, **'आदि'**ना सर्पपुत्राः दुःखार्ताः, कालीयप्राणदाने **क्षमः**. तद् उक्तं **''ताः तं विपन्नमनसो अथ पुरस्कृतार्भाः...''** (भाग.पुरा.१०।१३।३२-६७) इत्यादि आसमाप्तेः॥९॥

:: उत्थानिका ::

(१)ननु पुष्टिमार्गफलसिद्धावपि सर्वत्यागपूर्वकं सर्वात्मभावादिकं साधनत्वेन श्रूयते, तत् कथम् आचार्यप्रकटितमार्गे केवलाचार्याङ्गीकारमात्रेणैव तत्फलसिद्धिः? इति चेत्, तत्र आहुः —

(२)...

(३)ननु आचार्यास्तु एतादृशसामर्थ्ययुक्ताएव परन्तु प्रभुः चेत् न

स्वीकरोति तदा कथम्? तत्र आहुः —

(४/क)भगवतो ब्राह्मणप्रियत्वाद् उद्धाराभावम् आशङ्क्य —

(४/ख)ननु स्त्रीशूद्राद्युद्धरणेन, तेन मुक्त्यादिप्रकारेण उद्धरणम् उत अन्येन प्रकारेण, तत्र उच्यते —

(५)तदा केवलं स्वीयत्वेन अङ्गीकारे कृते ते जीवाः भगवत्प्रियाः भवन्ति इति आहुः —

(६)साधनाभावे भगवत्प्राप्तिः भगवत्प्रियाणामेव अनुगृहीतानां केषाञ्चिद् भवति इति प्रियत्वमपि सम्पादयति इति आहुः —

(७)चतुर्दशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

अङ्गीकृत्यैव गोपीशवल्लभीकृतमानवः[१४] **अङ्गीकृतौ समर्यादो**[१५]

:: टीका ::

(१)अङ्गीकृत्यैव गोपीशवल्लभीकृतमानवः इति. अत्र अयम् आशयः : सर्वात्मभावादिनापि फलसिद्धौ भक्तेषु भगवत्प्रियत्वमेव हेतुः न अन्यो अस्ति इति निश्चयः. भगवत्प्रियत्वं केवल-फलमार्गीय-शुद्धपुष्टिमार्ग-प्रवर्तकाचार्याङ्गीकारेणैव चेत् सिद्धं, किं साधनान्तरकथनेन इत्यतः उक्तम् **अङ्गीकृत्यैव गोपीशवल्लभीकृतमानवः** इति, अत्र भगवन्नामान्तरम् अनुक्त्वा यद् **'गोपीश'**पदोपादानं तत् प्रभोः एतद्भक्त-सम्बन्धि-लीलापरवशत्वाद् आचार्याणामपि एतल्लीलापरवशत्वेन तन्मध्यपातित्वेन अतिप्रियत्वात् कृपया तदङ्गीकृतेषु स्वमार्गीय-प्रभुप्रियत्वे किं वक्तव्यम् इति एतज्ज्ञापनार्थम् उक्तम् **अङ्गीकृत्यैव गोपीशवल्लभीकृतमानवः** इति. ननु अङ्गीकृतौ कः प्रकारः इति आकाङ्क्षायाम् अङ्गीकारप्रकारम् आहुः

अङ्गीकृतौ समर्यादः इति, **अङ्गीकृतौ** अङ्गीकारे **समर्यादः** स्वमार्गीयमर्यादासहितः. सा का? इति आकाङ्क्षायाम् उच्यते : "यस्तु अहं मुक्त्यधिकं साक्षाद्भगवत्सम्बन्धं प्राप्य कृतार्थो भवामि" इति बुद्ध्या साक्षात्फलरूपभक्तिमार्गप्रवर्तकत्वेन आचार्यस्वरूपं ज्ञात्वा, तदीयत्वेनैव स्वमनोरथसिद्धिं ज्ञात्वा "मां स्वकीयं कुरु!" इति प्रार्थनया प्रपन्नो भवति, तं कृपया स्वमार्गमर्यादोक्त-प्रकारेण स्वसमीपं नीत्वा स्वमार्गीयोपदेशप्रकारेण उपदिश्य भगवति निवेद्य पश्चाद् स्वीयत्वेन अङ्गीकरोति, सो अस्मिन् मार्गे अङ्गीकारप्रकारः इति ज्ञापनाय उक्तम् **अङ्गीकृतौ समर्यादः** इति.

(२)**अङ्गीकृत्यैव गोपीशवल्लभीकृतमानवः** इति, **अङ्गीकृतिः** स्वीयत्वेन परिग्रहः, तन्मात्रेणैव **गोपीशस्य वल्लभीकृताः** प्रियत्वास्पदं प्राप्ताः **मानवाः** दैवाः जीवाः येन. ननु अङ्गीकृतेः जीवकृतसाधनापेक्षत्वेन निषेधोक्त्या जीवप्रपत्तेः स्वभावभेदेन अनेकविधत्वेऽपि न पूर्वोक्तफलभेदः सम्भवति. तथाच भक्तिमार्गीयप्रपत्त्यादिसाधनोच्छेदः प्रसज्येत अप्रयोजकत्वाद् इति आशङ्क्य नामान्तरेण विशेषम् आहुः **अङ्गीकृतौ समर्यादः** इति, अङ्गीकारेऽपि* इयं स्वरूपमर्यादैवेति न एतत्सापेक्षत्वम् अनुचितमिति **अङ्गीकृतेः** इति ज्ञेयम्. किञ्च सहजदोषाणाम् अनिवार्यत्वेन तत्कृतप्रतिबन्धे अग्रिमफलाभावात् नाशो न शङ्कनीयो, यतो **अङ्गीकृतौ** कृतायां **समर्यादो** **"न मे भक्तः प्रणश्यति"** (भग.गीता.९।३१) इति मर्यादासहितः इति अर्थः. सदोषस्य भक्तत्वम् असम्भावितम् इति न वाच्यम्, **"अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्यभाग्"** (भग.गीता.९।३०) इति वचनात्.

(३)**अङ्गीकृत्यैव गोपीश...** इति, अङ्गीकारमात्रेणैव गोपीशप्रेष्ठीकृताः मानवाः येन. अनेन प्रभोः परमप्रेमास्पदाएव जाताः, स्वीकारे किमु वक्तव्यम्! किञ्च अत्र **'गोपीश'**पदेन लीलारस-संवलितभक्त-साहित्यकथनेन

*: अङ्गीकारेऽपि **समर्यादो** मर्यादया सहैव, प्रपत्त्यनुसारेण फलदानं **मर्यादा, "ये यथा मां प्रपद्यन्त"** (भग.गीता.५।११) इति वाक्याद्. इति पाठान्तरे.

लीलारसभाव-जनित-परम-प्रेमास्पदीभूताः इति उक्तं भवति. किञ्च न केवलं प्रभोः किन्तु तत्साहित्येन तासामपि परमप्रेमास्पदीभूताः. तेन अस्मिन् मार्गे स्वामिन्यएव गुरवइति तत्कृपाव्यतिरेकेण न एतद्रसप्राप्तिः इति तत्प्रेमास्पदत्वेन सर्वथा तद्रसप्राप्तिः भवति इति सूचितम्. अन्यथा तादृशप्रियतमासहितलीलायां प्रभोः अन्यत्र प्रेमास्पदत्वम् अशक्यम्. तत्प्रेमास्पदतयैव प्रभोरपि वल्लभीकृताः इति भावः. एतेन लीलास्वरूपाणां तासां प्रभोरपि आचार्यस्वरूपाधीनत्वं सूचितम्. तेनच यथा आचार्यानुरोधेन कृतायां लीलायां महान् रसः प्रभोः उत्पद्यते तथा न अन्यत्र इत्यपि सूचितम्. अन्यथा अन्यत्र प्रेमास्पदतैव न भवेद्. आचार्याअपि एवम् अनुरोधं न कुर्युः इति भावः. एवं सति यदर्थे आचार्याः, प्रभोः तासां च लीलायां, तादृशम् अनुरोधं कुर्युः; प्रभुरपि ताः च तदनुरोधेन तत्र प्रेमास्पदत्वं कुर्यात्. तादृशः श्रीमदस्मत्प्रभु-व्यतिरेकेण अन्यः कोऽपि नास्त्येव इति स्वानुभवएव प्रभुणा उक्तः इति गूढार्थः सम्पद्यते. एतेन केवलाङ्गीकारमात्रेणैव यत्र एतादृशं फलं भवति तत्र उद्धारकृतौ किमु वाच्यम्! ननु सर्वेषाम् एतादृशमेव फलं भवति; किंवा तारतम्येन, तत्र आहुः **अङ्गीकृतौ...** इति, तस्यां सत्यां **मर्यादा**सहितः. तत्करणे तारतम्यं न किन्तु रसदाने तारतम्यम्. रसदानन्तु तत्तद्भावानुरूपमेव भवेद् इति अङ्गीकृतौ तारतम्यं चेत्, तर्हि तन्मात्रेणैव मानवाः भगवतः प्रेमास्पदाः न भवेयुः, भगवान् वा तेषाम्. पूर्वश्लोके **'अङ्गीकृत्यैव'** इति **'एव'**कारश्च व्यर्थः स्यात्. तेन एतावन्मात्रमेव तारतम्यं, फलन्तु तदेव इति भावः. अथवा सर्वेषु ईदृक्प्रकारकाऽ**ङ्गीकृतौ मर्यादा**सहितएव, नतु निर्मर्यादः. यम् अङ्गीकरोति सतु तन्मात्रेणैव तत्प्रियो भवति परन्तु सर्वत्र तादृशतत्करणे एतत्सहितप्रमाणत्वेनैव कुरुते इति अर्थः. तेन एकवारमेव सर्वेभ्यः तादृशं फलं न ददाति किन्तु क्रमेण दास्यति इति सूचितं भवति.

(४/क)**अङ्गीकृत्यैव...** इति, अङ्गीकृतिः समार्गा. अन्यथा मार्गवैयर्थ्यम् अतः **अङ्गीकृतौ...** इति.

(४/ख)**अङ्गीकृत्यैव...** इति, **अङ्गीकृत्यैव** अङ्गीकारेणैव

गोपीशस्य वल्लभीकृताः मानवाः येन इति अर्थः. **'एव'**कारेण स्वाङ्गीकरणमात्रमेव तत्साधनं, नतु तेषां पुनरपि साधनादिकम् अपेक्ष्य कारयित्वा वा तथा करोति इति बोध्यते. **'अङ्गीकृत्यो'**क्त्या, **'गोपीश'**पदोक्त्या, **'वल्लभीकृत'**त्वोक्त्या च स्त्रीभावेनैव तथा इति भावः. किञ्च **'मानव'**त्वोक्त्या अनेनैव स्वरूपेण तद्भावम् उपपाद्य तथा करोति इति भावः. अथवा **अङ्गीकृत्यैव गोपीशो वल्लभीकृतः** पतिभावं प्रापितो **मानवानां** येन, सः तथा इति अर्थः. ननु अङ्गीकृतौ सत्यां स्त्रीभावेनैव सर्वेषां वल्लभीकरणत्वे किं प्रयोजनम्? इत्यत्र आहुः **अङ्गीकृतौ...** इति, **अङ्गीकृतौ** अङ्गीकारकरणे **समर्यादो** मर्यादासहितः इति अर्थः. मर्यादातु पुष्टिमार्गीया; सातु स्त्रीभावात्मिका, तद् उक्तम् आचार्यैरेव **''स्त्रीभावो गूढः पुष्टिमार्गे तत्त्वम्''** (सुबो.१८।६।५) इति. **''स्त्रियएव हि तं पातुं शक्ताः''** (सुबो.१०।२६।१का.४) इति च. **''तद्रूपत्वेऽपि तदाशया तद्भजनमेव''** (सुबो.१०।४४।६०) इति च. तेन तन्मर्यादया तद्भावेनैव अङ्गीकारं करोति इति अर्थः.

(५)**अङ्गीकृत्यैव** इति, अन्यसाधनव्यतिरेकेणैव स्वाङ्गीकारमात्रेणैव **गोपीशस्य** यशोदोत्सङ्गलालितस्य पूर्वम् अवल्लभाः पश्चाद् **वल्लभीकृताः मानवाः** येन सः तथा. **'अङ्गीकृत्या'** इति स्त्रीप्रयोगात् पुष्टिफलदानार्थं स्त्रीभावेनैव अङ्गीकारो यथा अग्निकुमाराणाम् इति भावः सूचितः. तदेतद् व्रताध्याये निरूपितं **''तेषां प्रसादरूपा शक्तिः स्त्री भवति''** (सुबो.१०।१९।१) इति. तदा पुष्टिभावोत्पत्त्या तद्वल्लभत्वं सिद्धमेव इति भावः. यथा अग्निकुमाराः तपसा शुद्धाः तथा एतेऽपि भगवदवताराद् मनोः जाताः तथा इति **'मानव'**पदेन बोधितम्. यद्वा **मानवाः** मनुष्याः हीनाः तेऽपि तथा भवन्ति इति एतदङ्गीकारबलं सूचितम्. यथा परमस्निग्धा मध्यस्था योग्यां नायिकां निरीक्ष्य तां स्वीयत्वेन अङ्गीकृत्य नायकविषयकभावम् उत्पाद्य तद्वल्लभां करोति तथा ऐतेऽपि कुर्वन्ति इति गूढाभिसन्धिः. नित्यलीलायाम् एतेषां यथाभिलषितं रूपम् अस्ति इति ज्ञातव्यम्. अङ्गीकारे प्रकारम् आहुः **अङ्गीकृतौ...** इति, जीवाधिकारविचारे प्रथमं

शरणागतिरूप-मर्यादया सहितः ततः समर्पणेन पुष्टौ अङ्गीकरोति इति; तस्यां तत्सहितः इति उक्तम्.

(६)**अङ्गीकृत्यैव...** इति, तत्रापि न अन्यत् साधनम् इति **'एव'**कारः. तर्हि कदाचिद् आसुराणामपि अङ्गीकारे तेषामपि तथा फलं स्याद् इत्यतः आहुः **अङ्गीकृतौ...** इति, **''दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धाय आसुरी मता''** (भग.गीता.१६।५) इति मर्यादां स्थापयित्वैव अङ्गीकरोति इति अर्थः.

(७)**अङ्गीकृत्यैव गोपीशवल्लभीकृतमानवः** इति, **गोपी** श्यति तनूकरोति इति **गोपीशः**, अवल्लभाः प्रीतिविषयीकृताः **मानवाः** येन सः गोपीशश्च असौ **वल्लभीकृतमानवश्च** इति विग्रहः. **''पूर्वकालैक...''** (पाणि.सू. २।१।४९) इति समासः. एतत् सर्वं **''तस्मात् मच्छरणं गोष्ठम्...''** (भाग.पुरा.१०।२२।१८) इति वक्ष्यमाणेन अङ्गीकृतिरूपेण स्ववृत्तेन एवं जातं नान्यहेतुना इति **'एव'**कारः. तद् उक्तं **''कृष्णं हृदाद् विनिष्क्रान्तं...''** (भाग.पुरा.१०।१४।१३) इत्यादिना. पञ्चदशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **अङ्गीकृतौ समर्यादः** इति, [१]ग्रीष्मर्तुकृत-सेवायाः अङ्गीकारे मर्यादारूपेण बलदेवेन सहितः. तद् उक्तं **''ग्रीष्मो नाम ऋतुः अभवत्''** (भाग.पुरा.१०।१८।२), **''वसन्तः इव लक्षितः''** (भाग.पुरा.१०।१८।३), **''क्रीडिष्यमाणः तत् कृष्णो भगवान् बलसंयुतः''** (भाग.पुरा.१०।१८।८) इत्यादिभिः. [२]यद्वा प्रलम्बमारणे बलेन सहितः. तद् उक्तं **''दृष्ट्वा प्रलम्बं निहतं बलेन बलशालिना''** (भाग.पुरा.१०।१८।३०) इत्यादिना.

:: उत्थानिकाः ::

(**१**)ननु जीवस्तु स्वकृतार्थतासिद्ध्यर्थं प्रपत्त्यादिकं यद्यपि करोति तथापि आचार्याणां मुक्त्यधिक-स्वमार्गीय-साक्षाद्भगवत्सम्बन्ध-सम्पादने को हेतुः? इति चेत् तत्र आहुः —

(२)...

(३)ननु एतादृशं फलं सर्वेभ्यएव कथं दास्यति? तत्र आहुः —

(४/क)अङ्गीकृतेः मार्गत्वसम्पादनेन —
(४/ख)एतन्नामकृतिसाधनीभूतं नाम आहुः —

(५)अधमाधिकारिणां जीवानाम् अर्थे एतावदुद्योगकरणे को हेतुः इति आहुः —

(६)ननु किमिति एतावत् करोति! इत्यतः आहुः —

(७)षोडशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

महाकारुणिको[१६] **विभुः**[१७] **अदेयदानदक्षश्च**[१८]

:: टीकाः ::

(१)महाकारुणिकः इति, यद्यपि मर्यादामार्गीयाचार्याअपि भक्तिदातृत्वेन कारुणिकाएव भवन्ति तथापि आचार्याणां ततोऽपि अधिकपुष्टिभक्तिमार्गीय-सम्बन्ध-सम्पादकत्वाद् **महाकारुणिकत्वम्**. ननु मर्यादामार्गीय-फलाधिक-भक्तिमार्गीय-फलसाधकत्वेन महाकारुणिकत्वम् उक्तं तथापि इयदवधि एतत्फलसाधकत्वं कस्यापि कुत्रापि न दृष्टं नवा श्रुतम् इति कथं महाकारुणिकत्वेऽपि एतत्फलसाधकत्वम् एतेषामेव घटते! इति आशङ्कापरिहारार्थम् आहुः **विभुः** इति, **विभुः** सर्वकरणसमर्थः. एतेन "इयदवधि..."इति त्वदुक्ता अनुपपत्तिरपि परिहृता. तत्र इयम् उपपत्तिः : यद्यपि पूर्वं भक्तिमार्गीयाः बहवएव आचार्याः जाताः तथापि **"भक्तियोगो बहुविधो..."** (भाग.पुरा.३।२९।७) इति श्रीभागवतात् तत्तन्मार्गीयसाधन-फलविचार-भेदेन तत्तन्मार्गीय-साधनफल-परत्वमेव तेषां, नतु शुद्धपुष्टिमार्गीय-साधनफल-विचारगन्धोऽपि तत्र सम्भवतीति, कुतो दानसामर्थ्यसम्भवः? इति आचार्याणां

सर्वतोधिक-सामर्थ्य-ज्ञापनाय उक्तं **विभुः** इति॥१०॥ ननु शुद्धपुष्टिमार्गीयफल-दान-सामर्थ्यवत्त्वेऽपि तन्मार्गीयफलस्य **"अद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव"** (। ।) इति वचनात् श्रुत्याद्यनेकभक्तदुष्प्राप्यत्वेन अतिदुर्लभत्वात् कथं ददाति इति चेत्, तत्र आहुः **अदेयदानदक्षश्च** इति. यदि पुष्टिमार्गातिरिक्त-मर्यादामार्गीयश्रवणादिसिद्ध-मुक्तिफलं स्वयमपि दद्यात्, तर्हि इतरसाधारणत्वाद् भगवदाज्ञया स्वप्राकट्येन स्वस्य शुद्धपुष्टिमार्ग-प्रवर्तकत्वं निष्प्रयोजनमेव भवेत्. किञ्च यदि मुक्त्यधिकफलं न दद्यात्, तर्हि स्वस्य स्वप्रकटितशुद्धपुष्टिमार्गस्य च प्राकट्यम् असाधारणप्रयोजनाभावाद् व्यर्थमेव भवेद्. अतः उक्तम् **अदेयदानदक्षश्च** इति, **अदेयं** भगवदतिरिक्तेन यद् दातुम् अशक्यं तस्यापि **दाने दक्षः** अतिसमर्थः इति अर्थः. यदि एवं तर्हि इतरमार्गसाधनप्राप्यमुक्त्यादिफलदाने सामर्थ्यं न भविष्यति इति आशङ्कानिरासाय अत्र **'च'**कारः समुच्चयार्थः. यस्य सर्वाशक्यफलदाने सामर्थ्यं, तस्य इतरशक्यफलदाने कः प्रयासः? इत्यपि ज्ञापितं भवति.

(२)महाकारुणिकः इति, करुणा अस्य अस्ति इति कारुणिकः. महान् च असौ कारुणिकः च. महत्त्वन्तु भगवत्सम्बन्ध-सम्पादने अनौपम्यात्. **विभुः** इति, **विभवति** सर्वान् ईष्टे. **विशिष्टो भवति** अन्येभ्यः इति वा॥१०॥ **अदेयदानदक्षश्च** इति, लोके यः कश्चन रसायनादिकमपि न प्रकाशयति, अयन्तु ब्रह्मादिदुर्लभमपि स्वसर्वस्वं भक्तेभ्यो दत्तवान्. अतो **अदेयस्यापि दाने दक्षः** प्रवीणः, **'च'**काराद् देयस्यापि.

(३)महाकारुणिकः इति, सर्वेषां दुःखलेशगन्धस्यापि असहिष्णुत्वेन करुणायुक्तः सन् फलं ददाति. अयोग्यानामपि ब्रह्मादि-दुर्लभ-फलदाने महाकरुणत्व-ज्ञापनाय **'महत्'**पदं **करुणायाम्** उक्तम्. ननु अयोग्येष्वपि दाने किं सामर्थ्यम्? तत्र आहुः **विभुः** इति, सर्वकरणसमर्थः अयोग्येष्वपि योग्यतां सम्पाद्य दातुं समर्थः॥१०॥ ननु जीवाः अयोग्याः, फलं तेषु

अदेयं, तत् केन प्रकारेण ददाति? तत्र आहुः **अदेयदानदक्षश्च** इति, **अदेयं** सर्वथा न केनापि दातुं शक्यं स्वतन्त्रम् इति अर्थः. **तद्दाने दक्षो** अतिचतुरः. अयं भावः : अत्र अदेयं फलं साक्षात्स्वरूप-सम्बन्धरूपं, तत्स्वरूपन्तु महारसनिधानं तादृशस्य सम्बन्धकरणं सर्वात्मभावप्रपत्त्यैव भवेद्, नतु अन्यथेति ईदृग्रूपां योग्यतां तेषु सम्पाद्य तत्स्वतन्त्रस्यापि दाने चतुरः. तच्चातुर्यन्तु यथा भक्तस्नेहाधिक्येन आसक्त्या तत्तद्भावविशेषाः उत्पद्यन्ते तथा स्वतन्त्रस्यापि प्रभोः तस्मिन् आसक्त्या स्नेहाधिक्येन तत्सङ्गाभिलाषजनित-भावविशेषाः उत्पन्नाः भवेयुः, तथा कृतिरेव. इदन्तु महद् अलौकिकसामर्थ्यम् आचार्याणां द्योतितम्. एतज्ज्ञापनार्थमेव **'दान'**पदम् उक्तम्. एवंसति एतादृशचातुर्यम् अन्येषां न अस्ति इति दानमपि अशक्यं तेषाम् इति उक्तम्. यद्वा **अदेयदाने** अतिचतुरः प्रवीणः सावधानः प्रमादरहितः. यथा कश्चित् स्वान्तर्गूढां नीवीं सावधानतया रक्षति; अन्यत् सर्वं ददाति; तथा, यत् स्वोपयुक्तं रहस्यं फलं तद् रक्षति; अन्यत् सर्वं ददाति इति भावः. तर्हि अन्यैः अदेयं तद् न भविष्यति इति न वाच्यं; यतः एतत् फलम् आचार्याणामेव, न अन्येषाम्. नहि कस्यचिद् बाह्यमपि धनम् इतरेण केनापि दातुं शक्यम्. एतेन स्वोपयुक्तं रहस्यत्वेन स्थापयत्येव, अन्यद् ददाति इति उक्तं भवति. अग्रेऽपि, **'कृपयैतत्कथाप्रदः'**, **'निगूढहृदयः'**, **'पुष्टिलीलाकर्ता'**, **'रहःप्रियः'**, **'सर्वाज्ञातलीलो'**, **'अतिमोहनः'** (सर्वो.१७, २३,२६,२७) इत्यादिभिः तथैव वक्ष्यन्ति.—

(४/क)**महाकारुणिकः** इति, करुणासामर्थ्यवत्त्वाय **विभुः** इति॥१०॥ भगवतः अधिकसामर्थ्यवत्त्वाय **अदेय...** इति, **अदेयं** भगवतो अलौकिकसामर्थ्यम्. दक्षता तथा उपायवत्त्वम् इति.

(४/ख)**महाकारुणिकः** इति, महान् च असौ कारुणिकः च इति अर्थः. स्वस्य करुणानिधानत्वेनैव तेषु ददाति इति अर्थः. ननु कारुणिकत्वेऽपि एतद्दाने किं प्रयोजनम्? एतद्दाने महाकारुणिकत्वमेव प्रयोजनम्. यतः एतदतिरिक्तस्य फलत्वमेव न मन्यते प्रभुः. तदतिरिक्तेषु दीनत्वमेव सर्वथा

सर्वेषां, तेन तथा इति अर्थः. ननु कारुणिकत्वेऽपि सामर्थ्याभावात् कथं तद्दानम्? इति चेत् तत्र आहुः **विभुः** समर्थः इति अर्थः. यथा भगवान् अधमोद्धारे समर्थः तथा एते इति अर्थः॥१०॥ ननु विभुत्वेऽपि सर्वोत्कृष्टदानेन तेषाम् अन्यथाभावम् आशङ्क्य आहुः **अदेयदानदक्षश्च** इति, **अदेयं** केनापि न दातुं शक्यं कस्यापि वा व्रजस्त्रीव्यतिरिक्तेभ्यो **अदेयदानं**, तस्मिन् **दक्षो** अतिचतुरः इति अर्थः. **'दक्ष'**त्वोक्त्या अदेयदाने सति मानादिकाभावेन सर्वतः तत्सेवनमेव इति भावः. यद्वा **'दक्ष'**त्वोक्त्या यथायोग्यत्वेन ददाति इति अर्थः. अथवा **अदेयो** भगवान् यतः सर्वेभ्यो ददाति, न तं कोऽपि, तस्यापि **दाने** स्त्रीभाव-दानपूर्वक-तत्तापशान्त्या तथा इति भावः. यद्वा **अदेयो** भगवान्, तदर्थं तद्रमणार्थं यद् **दानं** तद्योग्यस्वरूपात्मकं तस्मिन् तथा इति अर्थः. **'दक्ष'**त्वोक्त्या यथा ते न जानन्ति दानम्. अन्यथा लज्जया भगवद्रसे हानिः स्याद् इति भावः. **च**कारेण तद्भावप्रतिबन्ध-नाशोऽपि उच्यते.

(५)**महाकारुणिकः** इति परम**करुणा**युक्तः. तद्युक्तोऽपि असमर्थः चेत्, तदापि न कार्यसिद्धिः, तत्र आहुः **विभुः** इति. यथा भगवान् अधमोद्धारे समर्थः तथा इति अर्थः॥१०॥ संसाराद् उद्धारे दुःखहानावपि सुखावाप्तेः अपेक्षितत्वात् तद्दानसामर्थ्यम् आहुः **अदेयं** यद् लोभस्थापितं, केनापि उपायेन अप्राप्यम् अमृतं; तद्दाने **दक्षः**. नहि ब्रह्मादिरपि भगवता स्वलोभे स्थापितं ज्ञातुं दातुं वा समर्थो भवति. **'दक्ष'**पदेन तद्दानसामर्थ्यम् एतेषामेव इति उक्तम्. **'अदेयदानो'**क्त्या भगवानपि एतदधीनो दासाय तद् ददाति इति सूचितम्. **चकारः** पूर्वोक्तसर्वसमुच्चयार्थः. तेन दुःखं दूरीकृत्य लीलाप्रवेशं वा कारयित्वा परमानन्दं ददाति इति समुच्चयार्थः.

(६)**महा...** इति, **कारुणिको** हि साधने सति ततो अधिकं फलं ददाति. महाकारुणिकस्तु आवश्यकं साधनमपि सम्पाद्य फलं ददाति, सर्वाधिकम् इति अर्थः. तादृशोऽपि असमर्थो न कर्तुं शक्नोति इति

सामर्थ्यम् आहुः **विभुः** इति, प्रकारं च आहुः **विभुः** इति व्यापकः इति अर्थः. तेन सर्वेषु भक्तेषु आविश्य साधनं फलं च सम्पादयति इति भावः. एतदन्तेन **"नमामि हृदये शेषे"** (सुबो.१०।१।१/का.१) इति श्लोकोक्तस्वहृदयवद् भक्तहृदयमपि लीलाधारं करोति इति फलम् अभिहितम्॥१०॥ एवं प्रकटीभूय यत् फलं दत्तवान्, तद् एतदन्तेन उक्त्वा कारुणिकत्वं विभुत्वं च साधयितुं स्वरूपे स्थितस्यापि कार्यम् आहुः **अदेय...** इति द्वयेन. अतएव समुच्चयार्थः **'च'**कारः. **अदेयं** सर्वाभोग्यसुधारूपं फलं, तस्य **दाने दक्षो** विचक्षणः. तस्याः साक्षाद् अदेयत्वाद् तां वेणौ स्थापितवान्. तद्द्वारा भक्तानां तत्सम्बन्धो भविष्यति इति. अतएव 'दक्ष'त्वम् उक्तं नतु दातृत्वं तस्याः अदेयत्वात्. दक्षताहि तथा उपायकृतिः.

(७)**महाकारुणिकः** इति, [१]अतएव, **"मुञ्जाटव्यां भ्रष्टमार्गं क्रन्दमानं च गोधनम्"** (भाग.पुरा.१०।१६।५) मेघगम्भीरया वाचा तन्नामग्राहम् आहूय प्रहर्षितवान्. [२]यद्वा समन्तात् जातवनधूमकेतुना दह्यमानानां स्वानां **"कृष्ण कृष्ण..."** (भाग.पुरा.१०।१६।९) इत्यादिवचनं श्रुत्वा उल्बणं वह्निं पीत्वा तान् कृच्छ्रतः व्यमोचयद् इति तथा. [३]यद्वा स्वविरह-ताप-तप्तानां व्रजसीमन्तिनीनां वेणुं रणयन् आगत्य स्वदर्शनेन परमानन्दं दत्तवान् इति तथा. तद् उक्तं **"गाः सन्निवर्त्य..."** (भाग.पुरा.१०।१६।१५) इति द्वाभ्याम्. सप्तदशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **विभुः** इति, [१]**विशेषेण भावयति** इति **विभुः**. तद् उक्तं **"मेनिरे देवप्रवरौ कृष्णरामौ व्रजं गतौ"** (भाग.पुरा.१०।१७।२) इति. [२]यद्वा **विशेषेण** भवति इति **विभुः**. तद् उक्तं **"ततः प्रावर्तत प्रावृट् सर्वसत्त्व-समुद्भवा"** (भाग.पुरा.१०।१७।३)- इति. [३]यद्वा **विशेषेण** भाति इति **विभुः**. तद् उक्तं **"सान्द्रनीलाम्बुदैः..."** (भाग.पुरा.१०।१७।३) इति. [४]यद्वा **विशिष्टो भवति** बलेन (इति!) **विभुः**. तद् उक्तम् **"एवं वनं तद्वर्षिष्ठं..."** (भाग.पुरा.१०।१७।२५) (इति!). [५]यद्वा **विं** कालं **भावयति** मानयति इति **विभुः**. तद् उक्तं

"प्रावृट् श्रियं च तां वीक्ष्य" (भाग.पुरा.१०।१७।३१) इत्यादिना. [६]यद्वा **विशिष्टान्** भावयति (इति!) **विभुः**. तद् उक्तं **"शरत् समभवद्..."** (भाग.पुरा.१०।१७।३२) इत्यादिना. [७]यद्वा **विशेषेण भावयति** इति **विभुः**. तद् उक्तं **"बभौ भूः पक्वसस्याढ्या..."** (भाग.पुरा.१०।१७।४८) (इति!). [८]यद्वा **विशेषेण भावयते** प्राप्नोति इति **विभुः**. तद् उक्तं **"वणिङ्-मुनि-नृप-स्नाताः निर्गम्य अर्थान् प्रपेदिरे"** (भाग.पुरा.१०।१७।४९) इति॥१०॥ अष्टादशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **अदेयदानदक्षः** इति, **अदेयः** स्वरूपानन्दः तस्य **दाने दक्षः** समर्थः. तद् उक्तम् **"इत्थं शरत्स्वच्छजलं..."** (भाग.पुरा.१०।१८।१) इत्यादिना. तथाहि पूर्वं यत्किञ्चिदनुभूत-स्वरूपानन्दाः व्रजसीमन्तिन्यः स्वसख्यग्रे विवर्णिषवोऽपि स्मरवेगेन आक्षिप्तमनसो वर्णयितुं नाशकन् तदा भगवता **"बर्हापीड..."** (भाग.पुरा.१०।१८।५)श्लोकोक्तं स्वरूपम् एतासु स्थापितवान्. तेन स्वरूपं वर्णयन्त्यो अभिरमणं चक्रिरे. यद्वा केवलगोपिकाभोग्यो अन्येभ्यो **अदेयः** स्वरूपानन्दः तं वेणवे दत्तवान्. तद् उक्तं **"गोप्यः किम् आचरद् अयं..."** (भाग.पुरा.१०।१८।९) इत्यादिना. एवम् अन्येऽपि **अदेयाः**. तथाहि : गवाम् ईश्वरचारितत्वं, प्रवालानां मान्यत्वं, वेणोः सुधापातृत्वं, वृन्दावनस्य कीर्तिविस्तारकत्वं, मृगीणां पूजकत्वं, देवीनां मुग्धत्वं, गवां प्रेमाश्रयत्वं, पक्षिणां यतवाक्त्वं, नदीनां स्मरपीडितत्वं, [०]मेघस्य प्रवृद्धप्रेम्णा आतपत्रत्वं, [१]पुलिन्दीनां कुङ्कुमलेपेन त्यक्ताधित्वं, [२]श्रीगोवर्धनस्य सपरिकरभगवत्पूजकत्वं, [३]गतिमत्तरूणाम् अस्पन्दनपुलकौ. एवम् अन्येऽपि अवान्तरादेयाः पदार्थाः सन्ति, तरूणां हृष्यत्वक्त्वादयः, तेषां **दाने** सम्पादने **क्षमः** समर्थः इति अर्थः. **'च'**कारो अनुक्त-समुच्चयार्थः तन्मयताबोधकः च.

:: उत्थानिकाः ::

(१)यद्यपि अदेयदानसामर्थ्यम् अस्त्येव आचार्याणां तथापि दाता पात्रापात्रविवेकेनैव ददातीति आचार्याणामपि स्वमार्गीयफलदानं भविष्यति

इति आशङ्कानिरासाय आहुः —

(२)...

(३)ननु एवं चेत् कस्मैचिदपि तत् फलं प्रयच्छति वा नवा? तत्र आहुः —

(४/क)स्वसर्वस्वदातृत्वबोधाय स्वादेयदातृत्वबोधाय वा —
(४/ख)ननु एतद्रसदानं कथं करोति इति प्राप्तशङ्कायाम् आहुः —

(५)तत्र औदार्यम् अपेक्षितम् इति तद् आहुः —

(६)द्वितीयसुधादानम् आहुः —

(७)एकोनविंशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

महोदारचरित्रवान् [१९]
प्राकृतानुकृतिव्याज-मोहितासुरमानुषः [२०]

:: टीका: ::

(१)महोदारचरित्रवान् इति, यदि केवलं दातृत्वमेव भवेत्, तदा पात्रापात्रविवेकेनैव दानम् उचितं भवेत्. आचार्याणान्तु दानं न केवलं किन्तु औदार्यसहितम्. केवलदानस्य औदार्यविशिष्टदानस्यैव च एतावान् विशेषः. केवलदातातु देशकालविचारपूर्वकं फलोद्देशपूर्वकं पात्रापात्रविवेकपूर्वकं ददाति; उदारस्तु देशादिकम् अविचार्यैव स्वस्य सहजौदार्यधर्मेणैव ददाति, नतु पूर्वोक्तं किञ्चिद् विचार्यापि. अयन्तु साधारणौदार्यधर्मः उक्तः. आचार्याणान्तु अलौकिकत्वेन असाधारण्यात् तदौदार्यस्यापि असाधारणत्वज्ञापनाय उक्तं **महोदारचरित्रवान्** इति, औदार्ये अलौकिकत्वेन असाधारण्यम् उक्त्वापि

यद् महत्त्वम् उक्तं, तत् स्वमार्गीयालौकिक-फलदानौदार्य-ज्ञापनाय उक्तं **महोदारचरित्रवान्** इति, **महोदारं** यत् **चरित्रं** तद्वान् तद्युक्तः. अतः स्वप्रकटितभक्ति-मार्गैकनिष्ठजीवेषु अविचारेण एतत्फलदानं न विरुध्यतइति सर्वम् अनवद्यम्. **'महोदारचरित्रवत्'**त्वकथनेन आचार्येषु अयं धर्मः स्वाभाविको न आगन्तुकः इत्यपि ज्ञापितं भवति. ननु पूर्वोक्तनामनिरूपित-सामर्थ्यवत्त्वं केवलं पुरुषोत्तमएव सम्भाव्यते न तदतिरिक्ते. आचार्याणान्तु प्राकृतप्रपञ्चएव प्रादुर्भावात्, तद्धर्मवत्त्वेन च प्रतीयमानत्वात् कथं पूर्वोक्तसर्वसामर्थ्यवत्त्वं सम्भवति इति एतदाशङ्का-निरासाय लौकिकप्रपञ्च-प्राकट्येऽपि तद्धर्मवत्त्व-प्रतीतावपि यथा पुरुषोत्तमत्वं सिद्ध्यति तत्सिद्धिप्रकार-ज्ञापनाय आहुः **प्राकृतानुकृतिव्याजमोहितासुरमानुषः** इति, **प्राकृताः** साधारणाः, तेषाम् **अनुकृतिः** अनुकरणं; तद्वद् आचरणं, सैव **व्याजः**, तेन **मोहिताः** **आसुराः** असुरसृष्टौ उत्पन्नाः **मानुषाः** मनुष्याः येन सः. ननु ईश्वरस्य प्राकृतानुकरणं दृष्ट्वा दैवानामपि मोहः सम्भाव्यतइति कथम् आसुरजीवानामेव मोहकत्वम्? इति चेत् सत्यं, प्राकृतानुकरणजनितमोहो यत्र दृष्टः तत्र (स) आसुरजीवानाम्, अथवा तद्धर्मविशिनां कंसपूतनादीनाम्. तद् यथा "तां वीक्ष्य..." (भाग.पुरा.१०।२।२०) इति श्लोके अलौकिकधर्मवत्त्वेन गर्भे पुरुषोत्तमस्थितिं ज्ञात्वापि पश्चाद् निग्रहादिकं यत् कृतवान्, तत् प्राकृतवद् जन्मादिज्ञाननिमित्तकमेव. अग्रेऽपि श्रीगोकुले प्रभुप्राकट्य-ज्ञानानन्तरमपि पूतनादिप्रेषणम्. पूतनादीनामपि यद् निश्शङ्कं भगवद्ग्रहणे प्रवृत्तिः, सापि **"बालं प्रतिच्छन्ननिजोरुतेजसम्"** (भाग.पुरा.१०।६।७) इत्यनेन अलौकिकधर्माच्छादनपूर्वकं केवल-प्राकृतबालकतुल्य-धर्मानुकरणदर्शन-निमित्तिकैव. शुद्धदैवजीवानां ब्रह्मादीनां लौकिकानुकरणतुल्यगर्भस्थितिज्ञानवत्त्वे-ऽपि पुरुषोत्तमत्वेन स्वपक्षपातित्वेन च स्तुत्यएव जातो, नतु प्राकृतधर्मानुकृतिदर्शनेन अन्यथाबुद्धिः जाता इति. एतावत् सर्वं यथा भगवति दृष्टं तद्वद् अत्रापि आचार्यस्वरूप-ज्ञानवतां भक्तानां स्वोद्धारकज्ञानवत्त्वेन लौकिकानुकरणदर्शनेऽपि पुरुषोत्तमत्वप्रतीतिरेव, नतु आसुरजीववद् अन्यथाप्रती-

तिरपि दृश्यतइति एतावत्सर्वधर्म-तुल्यत्वज्ञापनाय उक्तं **प्राकृतानुकृतिव्याजमोहितासुरमानुषः** इति ॥११॥

(२)**महोदारचरित्रवान्** इति, **उदाराणि** अतिनिर्मलानि प्रशस्तानि **चरित्राणि** कर्माणि यस्य विद्यन्ते सः **उदारचरित्रवान्**. महान् च असौ **उदारचरित्रवान्** च इति. महत्सु इति वा. **महान्ति** बहूनि **उदारचरित्राणि** विद्यन्ते यस्य इति वा. **महान्तो** ये **उदारचरित्राः** भक्ताः ते सन्ति अस्य इति वा. **प्राकृतानुकृतिव्याजमोहितासुरमानुषः** इति, **प्राकृताः** लौकिकाः ये जीवाः, तेषाम् **अनुकृतिः** तद्वदेव कायक्लेशादिसहनं, **तद्व्याजेन** तन्मिषेण **मोहिताः आसुरमानुषाः** येन. प्राकृतानुकरणं विना तेषाम् अन्यथाचरणं न स्याद् अतः तत्करणम् ॥११॥

(३)**महोदार...** इति, कदाचित् चेद् दातुम् इच्छेत् तदा दातृत्वं फलाकाङ्क्षापूर्वकपात्रापात्रविवेकेन दानम्. तद्राहित्येन दानम् औदार्यम्. तत्रापि स्वसर्वस्वनिधिदानं महौदार्यम्. एवं महौदार्यं स्वमनसि कृत्वा तादृशपरमप्रेमास्पदाय तत्सर्वस्वनिधिदानं करोति इति परमदुर्लभत्वं तत्फलस्य सूचितम्. एतादृशस्तु अस्मत्प्रभुरेव तेभ्यएव एतादृशं फलं दत्तम् इति स्वानुभूतत्वेन **महोदार...** इति उक्तम्. ननु एवंसति आचार्याणामपि अलौकिकस्वरूपत्वे लौकिकेषु प्राकट्येन तत्साधारणानुकरणं न घटते, तत्र आहुः **प्राकृत...** इति, इदन्तु आसुरमोहार्थम् अनुकरणव्याजमात्रमेव स्वरूपन्तु तादृशालौकिकमेव. किञ्च अनुकरणेऽपि दैवानां, तत्रापि विशेषतो भक्तानां, तादृशमेव अनुभूतं भवति, तैः तथैव दृश्यते अनुभूयते च. तेन आसुराणां सर्वदा मोहएव, मोहस्तु तमोरूपएव; तेन तेषां तत्र न प्रकाशः. दैवानान्तु यथा कृपातिशयः तथा तत्स्वरूपज्ञानानुभवश्च इति भक्तानां प्रकाशएव इति सूचितम् ॥११॥

(४/क)**महोदार...** इति, ईदृशेऽपि सर्वप्रवृत्त्यभावाय **प्राकृत...** इति ॥११॥

(४/ख)**महोदार...** इति, **महान्ति उदाराणि चरित्राणि तद्वान्** इति अर्थः. तेन स्वस्य **महोदार-चरित्रवत्त्वेनैव** ददाति इति अर्थः. उदारस्तु पात्रापात्र-विचारेणैव ददाति; महोदारस्तु स्वौदार्यगुणेनैव सर्वत्र ददाति इति अर्थः. यद्वा **महोदारो** भगवान्; तस्य यानि **चरित्राणि, तद्वान्**, तेन भगवत्त्वेनैव ददाति इति अर्थः. यद्वा **महोदारचरित्रो** भगवान्, **तद्वान्** तत्सहितः. तेन रससन्तोषेणैव ददाति इति भावः. **'चरित्रव'**त्त्वोक्त्या लीलयैव ददाति, नतु तत्र कश्चन विचारः इति भावः. ननु एतादृशस्वरूपं चेत्, मानुषत्वप्रतीतिः कथम्? इत्यत्र आहुः **प्राकृत...** इति, **प्राकृतानां** या **अनुकृतिः** अनुकरणं, तस्य यो अयं **व्याजः** तेन **मोहिताः असुराः मानुषाः** च येन इति अर्थः. यथा भगवतोऽपि आसुरव्यामोहकत्वं श्रूयते दृश्यते तथा एतेषामपि इति अर्थः. यद्वा **प्राकृतानाम् अनुकरणं** तेन **मोहिताः** स्वीकृताः **असुरभावप्राप्ताः मानुषाः** येन इति अर्थः. **असुराः मानुषाः** च इति वा. तेषामपि मुक्त्यादिदानेन तथा इति अर्थः ॥११॥

(५)**महोदार...** इति, अस्य रूपत्वेन पूर्वमपि लीलायां व्रजसीमन्तिनीहरिण्यादिषु वेणुनादद्वारा सुधादानाद् उदारचरित्रवत्त्वम् अस्तीति नान्यदेयदानायैव प्रकटः इति मतुपा बोध्यते. यद्वा **"कर्मधारयाद् न मत्वर्थीयः..."** (पाणि.सू.म.भा.२।१।६८।४-५) इति अनुशासनाद् बहुव्रीहिप्राप्तायां, महान् च असौ उदारः च इति **महोदारो** भगवान्, तस्य औदार्यादीनि चरित्राणि, अस्य अस्मिन् वा सन्ति इति तथा. **'चरित्र'**पदेन रसावेशेन क्रियमाणानि लीलारूपाणि तानि उच्यन्ते. तेन सर्वदा लीलावेशः सूचितः. ननु एवम् अलौकिकः चेत्, कथं प्राकृतवत् प्रतीतिः? तत्र आहुः **प्राकृत...** इति, प्राकृतानुकरणस्यतु व्याजमात्रं नतु स्वयं तथा. तथाभावस्तु स्वभावतः **आसुराणां** प्रवाहिकानां जीवानां मोहार्थम्. अन्यथा तेषामपि स्वरूपज्ञानेन फलं स्यात् ॥११॥

(६)**महोदार...** इति, **महोदारं** द्वितीयसुधादायकं **चरित्रं** लोभग्रहणादिरूपं

तद्वान्. एतादृशफलदानं महौदार्येणैव भवति इति तत्त्वम् उक्तम्. प्रथमसुधादानन्तु **कैमुतिकन्यायेनैव** आयाति इति द्वयमेव उक्तम्. एतेन एतावत्फलदातुः भक्तहृदयस्य लीलाधारत्वकरणम् उचितमेव इत्यपि सूचितम्. एतादृशस्य प्राकृतानुकृतौ हेतुम् आहुः **प्राकृत...** इति, आसुरमोहनमपि लीलैवेति प्राकृतानुकृतिरपि लीलार्थमेव इति अर्थः. आसुराणामेव अर्थे व्याजस्य कृतत्वाद् न देवानां मोहः. अतएव **'व्याजः'** उक्तः ॥११॥

(७)**महोदारचरित्रवान्** इति, [१] **"'ऋ' गतौ"** (पाणि.धा.पा.भ्वा.१०-१४), अरणम् **आरं** गमनम् इति यावत्. **महत्** च तद् **उदारं चरित्रम्** अस्ति अस्य **महोदारचरित्रवान्.** [२]यद्वा महद् उदारे यस्मिन् तद् **महोदारं** तदेव **चरित्रं** तद्वान् . तद् उक्तं, **"हेमन्ते प्रथमे मासि..."** (भाग.पुरा.१०।१९।१)इत्यादि. [३]यद्वा **उद्** ऊर्ध्वम् **आरं** गमनं (यस्य) सः **उदारो** नीपद्रुमः. **महान्** च असौ **उदारः** च **महोदारः** तस्मिन् **चरित्रवान्.** तद् उक्तं **"तासां वासांसि उपादाय नीपम् आरुह्य सत्वरः"** (भाग.पुरा.१०।१९।९)इत्यादि. [४]यद्वा **महोदारं** वरदानरूपं **चरित्रं, तद्वान्.** तद् उक्तं **"मया इमाः रंस्यथ क्षपाः"** (भाग.पुरा.१०।१९।२७) इति. [५]यद्वा **महोदारं चरित्रं** येषां ते **महोदारचरित्राः** सन्ति; स्तुत्याः अस्य. तद् उक्तं **"पत्रपुष्पफलच्छायामूलवल्कलदारुभिः गन्धो निर्यास-भस्मास्थि-तौक्मैः कामान् वितन्वते"** (भाग.पुरा.१०।१९।३४) इति. विंशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **प्राकृतानुकृति-व्याज-मोहितासुरमानुषः** इति, [१]**प्राकृताः** साधारणाः मनुष्याः, तेषाम् **अनुकृतिः "**व्याजहार पुनः गोपान् दर्शयन् **लौकिकीं गतिम्"** (भाग.पुरा.१०।२०।१३) इति उक्त्वा **तद्व्याजेन** मिषेण **विमोहिताः आसुरमानुषाः** मथुरास्थाः ब्राह्मणाः येन, सः. तद् उक्तं **"स्वार्थे मुह्यामहे द्विजाः"** (भाग.पुरा.१०।२०।४०) इति, **"तद्याञ्चा जनमोहिनी"** (भाग.पुरा.१०।२०।४६) इति च. [२]यद्वा **प्राकृताः** गोपाः तेषां विज्ञप्तिरूपां कृतिम् **अनु** पश्चात् **कृतिः** याचनरूपा, तन्मिषेण **मोहिताः** इत्यादि

पूर्ववत्. [३]यद्वा **प्राकृतेषु अनुकृतिः** यस्य सः **प्राकृतानुकृतिः "अनुकृतेः तस्य च"** (ब्र.सू.१।३।२२) इति सूत्रभाष्ये तथा सिद्धत्वात्. **प्राकृतानुकृतिः** च असौ **व्याजमोहितासुरमानुषाः** च तथा. एतेन लोकशिक्षार्थम् एतत्करणम् इति उक्तं भवति. तद् उक्तं **"देशः कालः पृथग् द्रव्यं..."** (भाग.पुरा.१०।२०।४७) इत्यादि ॥११॥

:: उत्थानिका: ::

(१)यद्यपि एवं लौकिकानुकृतित्वेऽपि सोपपत्तिकं पुरुषोत्तमत्वं निरूपितं तथापि आचार्येषु शुद्धफलरूपपुष्टिमार्गप्रवर्तकत्वं तस्य च श्रुतिस्मृत्याद्यनेकप्रमाणैः सर्वाधिकत्वज्ञापनं स्वप्रवर्तितभक्तिमार्गाङ्गीकृतजीवेषु तन्मार्गबोधनेन तत्कृतार्थीकरणम् इत्यादिकं पुरुषोत्तमस्वरूपेऽपि अप्रतीतं कथं प्रतीयते? तत्र को हेतुः? इति आशङ्क्य तत्प्रतीतौ पुरुषोत्तममुख्यावयवरूपत्वमपि अत्र अस्ति इति ज्ञापनाय तद्हेतुभूतं नाम आहुः —

(२)...

(३)ननु आचार्यस्वरूपे अन्धकारनिवृत्तिपूर्वकप्रकाशको धर्मः कथं निरूप्यते? तत्र आहुः —

(४/क)स्वजनमोहाभावाय —

(४/ख)ननु आसुराणां मुक्त्यभाव(इति) कथम् तेषां मुक्तिं ददाति इत्यत्र आहुः —

(५)दैवानान्तु स्वतःप्रकाशरूपज्ञानम् अतः तद्धर्मसूचकं नाम आहुः —

(६)स्वरूपन्तु आहुः —

(७)एकविंशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

वैश्वानरो[२१] **वल्लभाख्यः**[२२]

:: टीकाः ::

(१)'**वैश्वानर**'पदात् ''अग्निः मुखम्'' (काठ.संहि.४।१६) इति श्रुत्या पुरुषोत्तममुखरूपत्वम् अग्नेः उक्तं, तेन तन्मुखस्वरूपाग्नेः आधिदैविकत्वम् आनन्दरूपत्वम्, मुखे वागपि अस्तीति वाग्रूपत्वं च. आचार्याणां पुरुषोत्तमवाग्रूपत्वेन शुद्धपुष्टिमार्गप्रवर्तकत्वे या अनुपपत्तयः आशङ्किताः ताः सर्वाः परिहृताः वेदितव्याः, ''अधिकं तत्र अनुप्रविष्टं नतु तद्धानिः''इति न्यायेन नानुपपत्तिः काचित्. ननु वैश्वानरत्वेन पुरुषोत्तममुखारविन्दसम्बन्धिलौकिकाग्निरूपत्वेन असह्यतेजोरूपत्वाद् भक्तानां सेवने बाधकत्वात् सेवा न सिध्येद् इति आशङ्क्य तेजोरूपत्वेऽपि सेवासिद्धौ बाधकत्वाभावाय आहुः **वल्लभाख्यः** इति, '**वल्लभः**' इति **आख्या** नाम यस्य स **वल्लभाख्यः**. पूर्वनाम्नि वैश्वानरत्वम् उक्त्वा अग्रिमनाम्नि यद् '**वल्लभाख्यत्वम्**' उक्तं तस्य अयम् आशयो : यथा शीतकाले स्वभावतोऽपि अग्निः सर्वस्यापि शीतनिवारकत्वेन प्रियो भवति नतु तदतिरिक्तकालेष्वपि तद्वद् आचार्यसेवकानामपि आचार्येषु सदा अलौकिकतेजःप्राकट्येन लौकिकाग्निसेवनमिव कदाचित् सुखदत्वं कदाचिद् न इति शङ्का भवेदिति तच्छङ्कानिराकरणायापि उक्तं **वल्लभाख्यः** इति. तस्य अयम् आशयः : लौकिकाग्निः प्राकृतइति तत्तेजसि तारतम्याद् अल्पत्वबहुत्वाभ्यां कदाचित् प्रियः कदाचिद् न इति इयं व्यवस्था तत्र सार्वदिकी. आचार्याणान्तु पुरुषोत्तमास्यत्वेन तत्तेजसोऽपि आनन्दरूपत्वेन सर्वदा अतिप्रियत्वमेव नतु कदाचित् प्रियत्वे तारतम्यमपि इति ज्ञापनायापि उक्तं **वल्लभाख्यः** इति.

(२)**वैश्वानरः** इति ''**विश्वान्** नरान् **नयन्ति**, **विश्वे** एनं नराः नयन्ति'' (निरु.७।६।२०-२१) इत्यादिवैदिकी निरुक्तिः यास्कोक्ता ज्ञेया. ''**विश्वे** सर्वेऽपि **नराः** ईशितव्याः यस्य'' इत्यादि ऊह्यम्. **वल्लभाख्यः** इति, '**वल्लभः**' इति **आख्या** पितृमातृकृता यस्य. संज्ञाशब्दत्वाद् व्युत्पत्त्याग्रहो न कार्यो, ''मम नाम प्रथमं जातवेदाः पिता माता च दधतुः यदंशः'' (तैत्ति.संहि.१।५।१०) इति श्रुतेः. भक्तप्रियत्वाद् अन्वर्थसंज्ञापि ज्ञेया.

(३)**वैश्वानरः** इति, वैश्वानरत्वेन साक्षात्पुरुषोत्तममुखारविन्दाधिष्ठात्रलौकिकाग्निरूपो निरूपितः. तेन अन्धकारनिवृत्तिपूर्वकप्रकाशकधर्मत्वं निरूपितम्. ननु तर्हि आसुरेषु मोहान्धकारस्थापकत्वं दैवेषु तदभावपूर्वकज्ञानप्रकाशकत्वं कथं घटते, नहि अग्निः प्रकटितः एकं प्रकाशयति अन्यं न? इति तत्र आहुः **वल्लभाख्यः** इति, सर्वेषां भक्तानां प्रियरूपः. एवं सति भक्तानां प्रियत्वरूपत्वे स्वज्ञानप्रकाशकत्वमेव हेतुः. नोचेत् तदभावेन यदि भवेत् तदा आसुराणामपि प्रियरूपो भवेत् तदभावात् तदेव हेतुः. प्रियरूपत्वे तज्ज्ञानप्रकाशस्तु भक्ताधारप्रियत्वहेतुकएव. यथा-यथा भक्ताधारप्रियत्वं तथा-तथा तत्स्वरूपज्ञानप्रकाशः तथा तथैवच भक्तानां प्रियरूपाअपि भवन्ति. लोकेऽपि योहि यस्य प्रियरूपः स तस्य प्रियत्वव्यतिरेकेण न भवति. तेन भक्तानां स्वप्रियत्वाधिक्यनैव प्रियरूपत्वम् आचार्याणां सम्पन्नम्. यथा-यथा भक्ते स्नेहातिशयः तथा-तथा आचार्याअपि स्वस्मिन् प्रियरूपत्वम् अङ्गीकुर्वन्तीति भक्तानां स्नेहेनैव प्रकाशः. तेषान्तु तदभावाद् न भवति इति भावः. एवम् आसुरेषु अन्धकारस्थापनेन भक्तेषु प्रकाशकत्वेन आचार्याणाम् आच्छादिताग्निरूपत्वं सिद्धम्. तेन यथा भस्माच्छन्नम् अग्निं ज्ञात्वा चेद् इन्धनेन सन्धुक्षणं कृत्वा प्रकटयति तदा प्रकाशो भवेत् तदज्ञानेतु अप्रकाशएव इति लौकिकाग्निरीतिः. अयन्तु अलौकिको अग्निः सर्वः तत्त्वेन ज्ञातः चेत् तदा अलौकिकस्नेहरूपेन्धनेन अलौकिकप्रकाशरूपो भवति. तत्रापि बाह्याभ्यन्तरप्रकाशरूपः, तत्रापि अदृश्यएव अन्यैरिति अलौकिकत्वम् उक्तम्. तेन पार्श्वस्थितत्वेऽपि आसुराणाम् आदौतु ज्ञानमेव न अस्ति. कदाचिद्

"एते महापुरुषाः" इति साधारणज्ञानेऽपि स्नेहत्वं विना न तेषां प्रकाशः किन्तु मोहएव इति सर्वम् अवदातम्.

(४/क)**वैश्वानरः** इति. सुखसेव्यत्वाय **वल्लभ...**इति.

(४/ख)**वैश्वानरः** इति, **वैश्वानरो** अग्निरूपः इति अर्थः. तेन यथा अग्निः सर्वं दहति पश्चात् तस्य अग्नित्वं च करोति, सर्वसेव्योऽपि भवति न एतावता काऽपि हानिः, तथा एतेऽपि कल्मषवत् तस्य असुरभावं दूरीकृत्य मोक्षदानं कुर्वन्ति इति भावः. ननु वैश्वानरस्य सर्वदाहे विचाराभावः तथा एतेषामपि स्वीयास्वीयाविचारे सर्वेषां मुक्तिरेव भविष्यति इति प्राप्तौ आह **वल्लभ...** इति, **'वल्लभः'** इति **आख्या** नाम यस्य. तेन वैश्वानरत्वेऽपि वल्लभत्वोक्त्या स्वीयानामेव वल्लभः इति अर्थः. 'वल्लभ'कथनेन यथा सः स्वप्रियायां तथैव करोति येन अप्रियत्वं न भवति तथा एतेऽपि इति अर्थः. यद्वा भगवतो **'वल्लभा'** इति **आख्या** स्वामिनीस्वरूपत्वेन तथा इति अर्थः.

(५)यद्यपि 'अग्नि'पदेन तद्धर्मवत्त्वम् आयाति तथापि **'वैश्वानर'**पदेन आनन्दमयो अलौकिकः सः उच्यते नतु प्राकृतदेवतारूपः. तस्य अलौकिकत्वम् आनन्दमयत्वं विरुद्धधर्माश्रयत्वं च. **"वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषाद्"** (ब्र.सू.१।२।२४) इति अधिकरणे **"यस्तु एनम् एवं प्रादेशमात्रम् अभिविमानं वैश्वानरम् उपास्ते"** (छान्दो.उप.५।१८।२) इति. विषयवाक्ये निरूपितं भाष्ये **"विश्वस्य जडस्य नरस्य जीवस्य देवतात्वाद् 'देवताद्वन्द्वे च'(पाणि.सू.६।२।१-४१) इति विश्वानरौ 'तौ निवासो यस्य' इति सः. 'तस्य निवासः' इति (वा) अण्"** (अणुभा.१।२।२४) तेन भगवानेव 'वैश्वानर'शब्देन उक्तः. दैवानां गूढतया उद्भावनार्थं सएव अयम् इति अर्थः. परम् अवतारे लोकप्रसिद्धिः अन्या इति आहुः **'वल्लभा'ख्यः** इति, **'वल्लभः'** इति **आख्या** प्रसिद्धं नाम यस्य. एतन्नाम्नः साकाङ्क्षत्वाद् हरेः इति शेषः.

तत् स्वेनैव उक्तं यमुनाष्टकान्तिमपद्ये तदभीप्सित-करणाप्त-तद्वल्लभत्वं सदातनम् इति ज्ञापितम्.

(६)**वैश्वानरः** इति, वाक्पतिः इति अर्थः. अवतारनाम आहुः **वल्लभाख्यः** इति.

(७)**वैश्वानरः** इति, [१]**विश्वेषां नराणाम्** अयं स्वामी तद् उक्तं **"सर्वात्मा सर्वदर्शनः"** (भाग.पुरा.१०।२१।२). [२]यद्वा **वैश्वानरो** अग्निः सर्वभोक्ता तद्रूपः. भोगश्च हस्तेन क्रियते अतएव बाहुरूपेन्द्रयागसम्भारैरेव स्वभोगं स्थापितवान्. तद् उक्तं **"य इन्द्रयागसम्भाराः तैः अयं साध्यतां मखः"** (भाग.पुरा.१०।२१।२५). [३]यद्वा **अग्निः** सर्वपाचकः, तद् उक्तं, **"पच्यन्तां विविधाः पाकाः"** (भाग.पुरा.१०।२१।२५) इत्यादि. [४]यद्वा **वैश्वानरो** हविर्भोक्ता. तद् उक्तं **"हूयन्ताम् अग्नयः सम्यग्"** (भाग.पुरा.१०।२१।२७) इति. [५]यद्वा **वैश्वानरो** गोविप्रानलपर्वतरूपः, तद् उक्तं **"प्रदक्षिणाञ्च कुरुत गोविप्रानलपर्वतान्"** (भाग.पुरा.१०।२१।२९) इति. गवाम् अग्नित्वं हविर्जननीत्वात्, विप्राणां भगवद्वक्तृजन्यत्वात्, तृतीयाष्टके ब्राह्मणो **"एष वा अग्निः वैश्वानरः"** (तैत्ति.ब्राह्म.३।७।१८). यद्वा ब्रह्मणः (?)इति श्रुतिश्च पर्वतस्य मणिजनकत्वात् आकारवत्त्वाद् वा. [६]यद्वा **वैश्वानरो** अग्निः सर्वतापकः. तद् उक्तम् **"एषो अवजानतो मर्त्यान्"** (भाग.पुरा.१०।२१।३७) इत्यादि. द्वाविंशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **'वल्लभा'ख्यः** इति. ननु मुख्यनाम्नः प्रथमपर्यायवक्तव्यस्य अत्र उपन्यासः कथम्? इति चेद् उच्यते : लीलासु मुख्या लीला इयमिति नामसु मुख्यम् इति सूचनार्थम् इति अदोषात्. **'वल्लभः'** इति **आख्या** नाम यस्य. [१] **"'वद'व्यक्तायां वाचि"** (पाणि.धा.पा.भ्वा.१०३४) इति, ये **वदन्ति**, वदन्तः तान् **लाति** आदत्ते इति **वल्लः**. भाति इति **भः**. **वल्लः** च असौ **भः** च **वल्लभः**. तद् उक्तम् **"कृष्ण! कृष्ण! महाभाग!"**

(भाग.पुरा.१०।२२।१३) इति. [२]यद्वा वदा लभ्यः. तद् उक्तं "पादमूलम् उपाययुः" (भाग.पुरा.१०।२५।१२). [३]यद्वा "'वल्ल' संवरणे सञ्चरणे च" (पाणि.धा.भ्वा.४९३) वलन्ते संवृत् तिष्ठन्ति ते **वलः** भक्ताः, तान् **लाति** आदत्ते असौ **वल्लः** च असौ **भः** च **वल्लभः**. तद् **उक्तम्** "**तस्माद् मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहं गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे वृत आहितः**" (भाग.पुरा.१०।२२।१८) इति. [४]यद्वा **वल्लयति** संवारयति इति **वल्लः**, **वल्लः** च असौ **भः** च **वल्लभः**. तद् उक्तम् "**इति उक्त्वा एकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम्**" (भाग.पुरा.१०।२२।१९) [५]यद्वा **वल्लते** संवृत् तिष्ठति इति **वल्लो** गोवर्धनः तेन **भाति** इति **वल्लभः**. तद् उक्तम् "**क्षुत्तृड्व्यथां सुखापेक्षां**" (भाग.पुरा.१०।२२।२३) इत्यादि. [६]यद्वा **वल्लते** संवरयति मेघान् इति **वल्लः** इन्द्रः तं **भीषयति** इति **वल्लभः**. तद् उक्तं "**निःस्तम्भो भ्रष्टसङ्कल्पः स्वान् मेघान् संन्यवारयत्**" (भाग.पुरा.१०।२२।२४) [७]यद्वा "'वल्ल' सञ्चरणे" (यथापूर्वोक्तम्) वल्लन्ते सञ्चरन्ति **वल्लाः** गोपाः तैः भाति. तद् उक्तम् "**ततः ते निर्ययुः गोपाः**" (भाग.पुरा.१०।२२।२७) [८]यद्वा '**वल्लभः**' प्रियतमे रूढः. तद् उक्तं "**तं प्रेमवेगाद् निभृताः**" (भाग.पुरा.१०।२२।२९) [९]यद्वा **वल्लन्ते** सञ्चरन्ति **वल्लभाः** देवाः तैः **आख्यायते** स्तूयते **वल्लभाख्यः**. तद् उक्तं "**दिवि देवगणाः साध्याः**" (भाग.पुरा.१०।२२।३१) इत्यादि. [१०]यद्वा **वल्लभाः** व्रजसीमन्तिन्यः ताः सन्ति अस्य **वल्लभः**. तद् उक्तं "**गोपिकाः गायन्त्यः ईयुः मृदिताः हृदिस्पृशः**" (भाग.पुरा.१०।२२।३३).

:: उत्थानिकाः ::

(१)ननु लोके सदा प्रियेऽपि पदार्थे केनचिद् निमित्तेन कदाचिद् अप्रियत्वमपि भासते तथा प्रकृतेऽपि कदाचिद् निमित्तवशात् तथात्वं भविष्यति इति आशङ्कानिरासाय आहुः —

(२)...

(३)ननु एवं पूर्वोक्तप्रकारेण भक्तानां प्रकाशको भवतु परन्तु तेषां स्नेहन्यूनत्वदशायां तत्तेजोऽपि न्यूनमेव भविष्यति, यथा इन्धने गते अग्निप्रकाशः तथा इति शङ्कानिरासाय आहुः —

(४/क)विषयत्वेनापि प्रियतायै —

(४/ख)ननु भगवद्वल्लभत्वे किं प्रमाणम् इति आशङ्कायाम् आहुः —

(५)इहापि तद्वल्लभरूपेणैव प्रकारः इति आहुः —

(६)स्थानम् आहुः —

(७)त्रयोविंशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

सद्रूपो [२३] हित्कृत् सताम् [२४]

:: टीका: ::

(१)सद्रूपः इति, अस्य अयम् अर्थो : वस्तुविचारे क्रियमाणे स्वतः सुखमेव प्रियं नतु अन्यद्. अन्येषां यत् प्रियत्वं तत्सुखहेतुत्वेन नतु सुखरूपत्वेन, लौकिकपदार्थानां प्रकृतिसम्बन्धात् स्वतःसुखरूपत्वाभावात्. समयविशेषे सुखहेतुत्वमेव तेषां नतु सुखात्मकत्वेन सर्वदा प्रियत्वमेव. आचार्याणान्तु पुरुषोत्तमास्यत्वेन आनन्दरूपत्वात्, स्वभावतः तस्यैव प्रियत्वात्, न लौकिकपदार्थवत् प्रियहेतुत्वं सम्भवति इति आशङ्कानिरासाय उक्तं **सद्रूपः** इति, सद्रूपत्वेन केवलं सत्तामात्रं न विवक्षितं किन्तु उपलक्षणत्वेन सच्चिदानन्दरूपत्वमपि उक्तं भवतीति न अत्र लौकिकपूर्वपक्षावसरोऽपि सम्भवति इत्येतत् सर्वं हृदि कृत्वा आहुः **सद्रूपः** इति. ननु पूर्वनाम्नि

सद्रूपत्वोक्त्या सच्चिदानन्दरूपत्वेन निरवध्यानन्दरूपत्वेन सर्वदा प्रियत्वं प्रतिपादितं भक्तानां तथापि प्रिये स्वभावानुसारेण मनोरथोत्पत्तेः आवश्यकत्वात् तत्पूर्त्यभावजनितखेदेन तदंशे प्रियत्वांशस्यापि तिरोभावः सम्भवेद् इति आशङ्कानिरासाय आहुः **हितकृत् सताम्** इति, **सतां** भक्तानां तत्तद्भावभेदेन तत्तन्मनोरथपूर्त्या अभीष्टमेव सम्पादयति नतु तत्सम्पादने विलम्बमपि सहते इति ज्ञापनाय उक्तं **हितकृत् सताम्**इति, एतेन सर्वदा प्रियत्वानुपपत्तिपूर्वपक्षो निरस्तः.

(२)**सद्रूपः** इति, **सत्** सुन्दरं **रूपं** यस्य इति. **सद्** अविनाशि **रूपं** यस्य इति. **सत्सु** प्रकाश्यं **रूपं** यस्य इति वा. सर्वं प्रपञ्चजातं **सत्त्वेन** रूपयति इति वा. भक्तप्रपञ्च**सत्त्वं रूपयति** इति वा. **सन्तः** तत्स्वरूपाभिज्ञाः **रूपं** यस्य इति वा. **सत्सु** यज्ञादिषु स्थितं **रूपं यस्य इति वा, ''यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः 'सद्' इति च उच्यते''**(भग.गीता.१७।२७) इति भगवद्वचनात्. **हितकृत् सताम्** इति, **सतां** भक्तानां सदा **हितमेव** कृतवान् न अहितम् इति अर्थः. सविशेषणम् एकं नाम ज्ञेयम्.

(३)**सद्रूपः** इति, सदानन्दस्वरूपः. तेन स्वयमपि तादृक्स्नेहरूपत्वेन सर्वदा स्वतः प्रकाशात्मकः. न केनचित् साधनेन इन्धनेन. परं तस्य-तस्य प्रकाशको भवति इति भावः. ननु स्वयं यदि स्वतः प्रकाशात्मकः सच्चिदानन्दरूपः तदा लौकिकेषु दुष्टेषु कथं प्रकटः तत्र आहुः **हितकृद्** इति, साधूनां स्वीयानाम् अर्थे प्रकटः. अन्यथा तेऽपि आसुरसङ्गताः दुष्टाएव भवेयुः इति.

(४/क)**सद्रूपः** इति, धर्मतोऽपि प्रियतायै **हितकृत्...** इति.

(४/ख)**सद्रूपः** इति, यथा भगवान् सत्यात्मकः तथा एतेऽपि. तत्र तद्वल्लभत्वे किं वक्तव्यम् इति भावः. यद्वा सत्यात्मकत्वेन

भगवदाज्ञापूर्वक-भगवद्विचारित-मार्गप्राकट्यपूर्वक-स्वप्राकट्यं बोध्यते तेन तथात्वम् इति भावः. **सतां हितकृत्** सतां हितकरणार्थमेव प्राकट्यम् इति भावः.

(५)**सद्रूप...**इति, **सन्तः** शुद्धपुष्टिमार्गीयाः भक्ताः तेषां स्वभावगुणक्रियाभिः रूपमिव **रूपं** यस्य स तथा. परमं भगवदीयत्वं स्वयं चेत् न प्रकटयेत् तदा अन्येऽपि तथा न भवेयुः इति **सद्रूपः**. अतएव आहुः **हितकृत् सताम्** इति. स्वभावगुणक्रियोपदेशेन तेषां हितकृत्.

(६)**सद्रूपः** इति, **सति** शुद्धसत्त्वे **रूपं** यस्य. तेन यद्हृदये तिष्ठति तद्हृदयस्य शुद्धसत्त्वरूपत्वं ज्ञेयम्. तत्र प्रकटो वासुदेवो मोक्षदाता स्वयम् इति भावः. एतेन नामत्रयेण क्रमेण चिदानन्दसद्भेदेन स्वरूपमेव त्रिधा* उक्तम् इति वा. एतत्पक्षे **सद्रूपः** सत्स्वरूपः इति अर्थः. अतएव **''सात्त्विकाः भगवद्भक्ताः''** (त.दी.नि.१।२) इति श्लोकोक्तधर्मवतां सतां **हितकृत्**. कृष्णस्तु असतामपि हितं कृतवान्. अतएव **''येच प्रलम्ब...''** (भाग.पुरा.२।७।३४) इत्यादिवाक्यानि न तथा अत्र इति भावः.

(७)**सद्रूपः** इति, [1]सद्भिः रूप्यते=निरूप्यते **सद्रूपः** तद् उक्तं **''श्रूयतां मे वचो गोपा''** (भाग.पुरा.१०।२३।१५) इति. [2]यद्वा सन्ति विद्यमानानि रूपाणि यस्य **सद्रूपः** तद् उक्तं **''बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च''** (भाग.पुरा.१०।२३।१०) इत्यादि. [3]यद्वा **सत्** समीचीनं **रूपं** यस्य **सद्रूपः**, **''तस्माद् नन्दात्मजोऽयं ते नारायणसमो गुणैः''** (भाग.पुरा.१०।२३।२२) इति. [4]यद्वा **सत्सु** नन्दादिषु **रूपं** यस्य, तद् उक्तं **''मुदिता नन्दम् आनर्चुः''** (भाग.पुरा.१०।२३।२४). चतुर्विंशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **हितकृत् सताम्** इति, छन्दानुरोधात् व्यत्ययेन पाठः [1]**सतां** व्रजवासिनां

---

*'वैश्वानरः'नाम्ना चिद्रूपत्वं, 'वल्लभ'नाम्ना आनन्दरूपत्वं, 'सद्रूप'नाम्ना सद्रूपत्वम् इति आशयः(सम्पादकीयम्).

हितं इन्द्रकोपाद् रक्षणं करोतीति **सतां हितकृत्**. तद् उक्तम् **"आसाराद् रक्षिते व्रजे"** (भाग.पुरा.१०।२४।१). [२]यद्वा **सताम्** इन्द्रादीनाम्. तद् उक्तं **"स्थीयतां स्वाधिकारेषु युक्तैः वः स्तम्भवर्जितैः"** (भाग.पुरा.१०।२४।१७). [३]यद्वा **सतां** स्वसृष्टानां जगताम्. तद् उक्तं **"हिताय स्वेच्छातनुभिः समीहसे"** (भाग.पुरा.१०।२४।६). [४]यद्वा **सतां** विद्यमानानाम्. तद् उक्तं **"तत्र आगताः तुम्बुरुनारदादयः"** (भाग.पुरा.१०।२४।२४-२०) इत्याद्यासमाप्तिम्.

:: उत्थानिकाः ::

(१)यद्यपि स्वभक्तेषु पूर्वोक्तैः स्वनामभिः स्वस्वरूपं ज्ञापितं स्वमार्गीयं फलं च. स्वमार्गे भगवद्भजनप्रकारः तेषु न ज्ञापितः. सतु न वचनमात्रैकगम्यइति तेषां भजनप्रकारशिक्षार्थं स्वयं भजनं करोति इति एतद् ज्ञापनाय आहुः—

(२)...

(३)ननु तेषां हितं केन प्रकारेण करोति तत्र आहुः—

(४/क)न वाङ्मात्रेणैव किन्तु कृत्या हितकृत्त्वबोधनाय—

(४/ख)ननु सतां हितकरणं भवतु नाम परं स्वयम् ईश्वरत्वे भगवद्भक्त्यादिकरणे को हेतुः? इत्यत्र आहुः

(५)तदेव विशदयन्ति—

(६)एतादृशस्य स्वस्य सेवादिकरणे हेतुम् आहुः—

(७)पञ्चविंशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः—

:: मूलम् ::

जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृत्[२५] **निखिलेष्टदः**[२६]

:: टीकाः ::

(१)जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृद् इति, **जनाः** सेवकाः तेषां **शिक्षा** शिक्षणं तत्कृते तन्निमित्तं **कृष्णस्य** सदानन्दस्य फलरूपस्य **भक्तिः** भजनं तत्कृत् तत्कर्ता इति अर्थः. ननु भगवद्भजनप्रकाराः पुराणागमसिद्धाः सन्त्येव. तद्द्वारा स्वीयेषु शिक्षणसिद्धावपि यत् तच्छिक्षार्थं स्वस्य भजनकर्तृत्वम् उक्तं तत्र अयम् आशयो : यद्यपि पुराणागमादिषु भजनप्रकाराः सन्ति तथापि न ते भक्तिमार्गीयाः, पूजामार्गीयत्वेन न पुरुषोत्तमपर्यवसायिनः किन्तु तद्विभूतिपर्यवसायिनः, तत्प्रतिपाद्यगोपालादिमन्त्रदेवतानां मन्त्राधीनत्वात्. पुरुषोत्तमस्यतु **"न रोधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म उद्धव!"** (भाग.पुरा.११।१२।१) इत्यादिवचनैः सर्वानधीनत्वोक्तिपूर्वकं केवलभक्त्यधीनत्वनिरूपणेन स्पष्टमेव वैलक्षण्यमिति न तदुक्तप्रकारस्य भक्तिमार्गीयत्वम् इत्येतद् ज्ञापनार्थम् उक्तं **कृष्णभक्तिकृद्** इति. यदि स्वकीयानां स्वमार्गीयभजनप्रकारं स्वयं कृत्वा न शिक्षयेत् तदा स्वमार्गीयभजनप्रकाराज्ञानात् स्वकीयानामपि प्रकारान्तरभजनकरणेन तत्कृतभजनस्य भक्तिमार्गीयत्वमेव न स्याद्; इत्यतः उक्तं **जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृद्** इति, स्वकरणोक्त्या स्वमार्गे भगवद्भजनस्यैव पुरुषार्थत्वं न अन्यस्यापि इति ज्ञापनायापि उक्तं **जनशिक्षा...** इत्यादि. भक्तिमार्गे भजनीयस्य पुरुषोत्तमत्वेन पूजामार्गे पूज्यदेवतायाः पुरुषोत्तमविभूतित्वेन पूजाभक्तिमार्गयोरपि फलतारतम्यम् उक्तं भवति. नातः परम् अधिकं वाच्यमिति सर्वम् अवदातम्. **'कृष्ण'**पदस्य फलवाचकत्वेन एतन्मार्गीयभजनस्य फलरूपत्वमेव नतु मार्गान्तरीयभजननवत् साधनरूपत्वमपि इति ज्ञापितम्. यद्यपि 'भक्ति'पदस्य स्नेहवाचकत्वेऽपि यद् भजनपरत्वम् उक्तं तत् स्नेहस्य कृतिसाध्यत्वाभावाद् अत्रच भक्तेः कृतिसाध्यत्वोक्त्या 'भक्ति'पदं भजनपरमेव न स्नेहपरम् इति ज्ञापनाय उक्तं **भक्तिकृद्** इति. ननु स्वीयानां स्वमार्गीयभजनशिक्षार्थं स्वस्यैव एतावत्करणस्य किं प्रयोजनम् इति आशङ्कानिरासाय आहुः **निखिलेष्टदः** इति, **निखिलं** यत् स्वमार्गीयम् इष्टं भगवत्स्वरूपसम्बन्धि वाञ्छितं तद् ददातीति **निखिलेष्टदः**. यदि स्वयम् एतावत् कृत्वा स्वीयानां स्वमार्गीयभजनं न शिक्षयेत् तर्हि स्वमार्गे भजनमेव मुख्यमिति स्वीयानां तदज्ञानात् **निखिलेष्टदत्वमेव** न

स्याद्. अतः उक्तं **निखिलेष्टदः** इति॥१२॥

(२)**जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृद्** इति, **जनानां** दैवानां **शिक्षार्थं कृष्णभक्ति**प्रतिपादकं शास्त्रं सेवां **कृत**वान् प्रकटितवान् इति अर्थः. सर्वरसपूर्णत्वात् स्वस्य न प्रयोजनम् अतो अन्यार्थमेव इति भावः. **निखिलेष्टदः** इति, **निखिलं** यथेष्टं **इष्टं** भगवत्सम्बन्धं दत्तवान् इति अर्थः. **निखिलेषु** इति वा॥१२॥

(३)**जन...** इति, निजजनानां शिक्षार्थं कृष्णभक्तिं करोति. स्वयं करणेन स्वमार्गभजनप्रकारः स्वज्ञापितएव ज्ञातो भवति न अन्यथा इति उक्तम्. अनेन अन्येषाम् अज्ञानमपि उक्तमेव. एवम् एतच्छिक्षितप्रकारेण साक्षात्फलरूपश्रीकृष्णभजनेन तादृशे स्नेहे जाते अन्तःसाक्षात्स्वरूपप्रकाशेन भक्तजनानां हितम् इष्टं भवति इति भावः. ननु तत् किम् इष्टम्? इति अपेक्षायाम् आहुः **निखिल...** इति, यस्य यथा मनोरथो यथा भावना तस्य तथैव निखिलम् इष्टं ददाति. एतेन पुष्टिफलरूपभजनेन साक्षात्स्वरूपसम्बन्धिनो मनोरथाः तत्तद्भावभेदेन पृथक्-पृथक् उत्पद्यन्ते भक्तानाम्. तान् सर्वान् ददाति इति सूचितम्. ननु अत्र भजनं श्रीकृष्णस्य उक्तं फलदातृत्वम् आचार्याणाम् उच्यते तत्कथम् उपपद्यते? इति चेत् सत्यं परन्तु एतत्पुष्टिमार्गस्य अधिष्ठातृत्वम् एतेषामेव अस्ति, एतत्फलभोगार्थं भगवतैव प्रकटितत्वात्. अतः एतदधीनतयैव भगवान् फलं ददाति न अन्यथा इति एतद्दत्तमेव फलं प्राप्यतइति एतेषामेव दातृत्वम् आयातमिति सुष्ठूक्तं **निखिलेष्टदः** इति. किञ्च पूर्वनाम्नि **कृष्णभक्तिकृद्** इति उक्ते कस्यचिद् बहिर्मुखस्य आचार्यस्वरूपे तद्भिन्नत्वशङ्का स्यात् तद् एतन्नाम्ना निराकृता. नहि भजनीयो अन्यः तत्फलदाता इतरो भवति किन्तु एकएव. तेन एतन्नाम्ना एकत्वमेव स्फुटीकृतमिति सर्वम् अनवद्यम्॥१२॥

(४/क)**जन...** इति, स्वतः स्वफलदानपर्यन्तं तथात्वबोधनार्थं **निखिल...** इति॥१२॥

(४/ख)**जनशिक्षा...** इति, **जनानां शिक्षाकृते** शिक्षार्थं **कृष्णस्य भक्तिकृत्** कर्ता इति अर्थः. यद्वा **जनः** इति जन्म, तस्य **शिक्षा** साफल्यकरणं तद्**अर्थं कृष्णे भक्ति**कर्ता इति अर्थः. 'जनो'क्त्या 'कृष्णो'क्त्या च निःसाधनानां सर्वेषां भगवत्प्राप्तिः सूच्यते इति भावः. एतन्नामसाधनीभूतम् अग्रिमं नाम आहुः **निखिलेष्टदः** इति, निखिलानि इष्टानि ददाति इति अर्थः. यद्वा **निखिलानाम् इष्टदः** इति, यद्वा **निखिलं** भगवदात्मकम् **इष्टं** ददाति इति अर्थः. यद्वा **निखिलस्य** भगवतोऽपि **इष्टं** ददाति इति अर्थः. यद्वा **निखिलाद्** भगवतोऽपि **इष्टं** स्व-स्वरूपात्मकं ददाति इति अर्थः॥१२॥

(५)**जनशिक्षा...** इति, जायन्ते इति **जनाः** लोकोत्पन्नाः भगवदीयाः ते स्वधर्मं भगवद्भक्तिं विस्मृतवन्तः तेषां **शिक्षार्थं** लोके सदानन्दभक्तिकर्ता स्वयं कृत्वा स्वकीयान् शिक्षयति. भक्त्यैव इष्टम् इति अनुपदमेव आहुः **निखिल...** इति, **निखिलाः** सर्वे भक्ताः स्त्रीशूद्रादयोऽपि. यद्वा **निखिलानि इष्टानि** पुष्टिमार्गीयचतुर्विधपुरुषार्थरूपाणि अन्यान्यपि लौकिकानि भगवत्सेवौपयिकानि. भक्तेः कल्पतरुस्वभावत्वात् तानि ददाति इति तथा॥१२॥

(६)**जन...** इति, स्वयं कृत्वा दासान् शिक्षयति. यथा अङ्गुलिचालनादिना बालो अक्षरलिखने शिक्ष्यते नतु कथनमात्रेण तत्सिद्धिः इति भावः. अतएव **निखिलेष्टदो** मुक्त्यादिकं दास्यरूपं च **निखिलमपि इष्टं** ददाति इति उक्तम्॥१२॥

(७)**जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृद्** इति, [१]कृष्णः च असौ भक्तिकृत् च **कृष्णभक्तिकृद्** , **जनानां** सर्वेषां **शिक्षार्थं** तथा. तद् उक्तं **"जनो वै लोक एतस्मिन्"** (भाग.पुरा.१०।२५।१३) इत्यादि. [२]अथवा पदानि व्यस्तानि, समस्तं च एकं नाम, तेन धर्मिरूपता. पदद्वयेन द्विपदामेव साधनाधिकारः, प्रमेयाधिकारस्तु चतुष्पदामपि. षड्विंशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **निखिलेष्टदः** इति. [१]**निखिलैः** साधनैः **इष्टानि** फलानि ददाति.

एतेन फलप्रकरणतापि उक्ता भवति. [2]यद्वा निखिलानां गोपीनाम् इष्टानि फलानि ददाति. तद् उक्तं "**भगवानपि ता:**" (भाग.पुरा.१०।२६।१) इति. [3]यद्वा **निखिलानाम् इष्टानि** स्वगृहकार्याणि **द्यति** खण्डयति, तद् उक्तं "**दुहन्त्यो अभिययुः काश्चिद्**" (भाग.पुरा.१०।२६।५) इत्यादि. [4]यद्वा **निखिलानाम् इष्टं** मोक्षफलं ददाति, तद् उक्तं "**जहुः गुणमयं देहम्**" (भाग.पुरा.१०।२६।११) इत्यादि. [5]यद्वा **निखिलानां** व्रजसीमन्तिनीनाम् **इष्टानि** रासरमण-मनोरथ-रूपाणि **द्यति** खण्डयति. तद् उक्तं "**स्वागतं वो महाभागा:**" (भाग.पुरा.१०।२६।१८) इति. [6]यद्वा **निखिलानाम् इष्टानि** देहानि **दावयति** परितापयति. तद् उक्तं "**कृत्वा मुखानि अवशुचः श्वसनेन शुष्यद्**" (भाग.पुरा.१०।२६।२९) इत्यादि. [7]यद्वा **निखिलानां** गोपीनां **इष्टानि** देहानि दहति विरहरूपेण. तद् उक्तं "**नो चेद् वयं विरहाग्न्युपयुक्तदेहा:**" .(भाग.पुरा.१०।२६।३१) इति. [8]यद्वा **निखिलासु** स्त्रीषु **इष्ट:** श्रेष्ठतमाः व्रजसीमन्तिन्यः ताभिः दशविधलीलां करोति इति **निखिलेष्टद:**. तथाहि "**आत्मारामोऽपि अरीरमत्**" (भाग.पुरा.१०।२६।४२) इति क्रीडा[1]. "**ताभिः समेताभिः उदारचेता:**" (भाग.पुरा.१०।२६।४३) इति विजिगीषा[2]. "**उदारहासद्विजकुन्ददीधिति:**" (भाग.पुरा.१०।२६।४३) इति व्यवहारः[3]. "**व्यरोचतैणाङ्कः...**" (भाग.पुरा.१०।५.२६-४३) इति द्युतिः[4]. "**उपगीयमान उद्गायन्**" (भाग.पुरा.१०।२६।४४) इति स्तुतिः[5]. "**कुमुदामोदवायुना**" (भाग.पुरा.१०।२६।४५) इति मोदः[6]मोदः. "**बाहुप्रसार...**" (भाग.पुरा.१०।२६।४६) इति स्वप्नः[7]. "**लब्धकामा महात्मन:**" (भाग.पुरा.१०।२६।४७) इति कान्तिः[8]. "**तासां तत्सौभगमदम्**" (भाग.पुरा.१०।२६।४८) इति मदः[9]. "**तत्रैव अन्तरधीयत**" (भाग.पुरा.१०।-२६।२८) इति एतां गोपीं नीत्वा इति गतिः[10]. [9]यद्वा बाहुप्रसारादयो दशलीला: पञ्चभिः अक्षरैः पञ्चाध्यायाः क्रीडावर्णनम् इति सूचितम्॥१२॥

:: उत्थानिका: ::

(१)एवं पूर्वनाम्नि निखिलेष्टदत्वम् उक्त्वापि यत् सर्वलक्षणसम्पन्नः इति उक्तं तस्य अयम् अर्थः —

(२)...

(३)ननु निखिलेष्टदत्वं कथं ज्ञायते तत्र आहुः —

(४/क)स्वतः स्वपरत्वसिद्धयापि तथात्वाय —
(४/ख)एतन्नामान्वर्थकाग्रिमं नाम आहुः —

(५)कृष्णभक्तौ कृष्णज्ञानम् अपेक्षितं तच्च तादृग्गुरुसाध्यम् इति तल्लक्षणवत्त्वम् आहुः —

(६)तत्र केषुचित् प्रमाणानुरोधिप्रमेयज्ञापनेन मुक्तिं प्रयच्छति, केषुचित् स्वतन्त्रभक्तिं, तत्रापि बहवो भेदाः, तत्र उपपत्तिम् आहुः —

(७)सप्तविंशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

सर्वलक्षणसम्पन्नः [२७] श्रीकृष्णज्ञानदो [२८] गुरुः [२९]

:: टीका: ::

(१)सर्वलक्षणसम्पन्न: इति, भक्तिमार्गीयभजनशिक्षणेन यत् निखिलेष्टदत्वम् उक्तं तावतैव भक्तिमार्गीयसर्वेष्टदातृत्वं न सिद्धं किन्तु भक्तिमार्गस्य अनेकविधान्येव लक्षणानि सन्ति भावभेदकृतानि तद्दातृत्वव्यतिरेकेण न सर्वार्थदातृत्वं सम्भवति. तद्दातृत्वं तल्लक्षणसम्पत्तिव्यतिरेकेण न सम्भवतीति तद्दातृत्वसामर्थ्यज्ञापनार्थम् उक्तं **सर्वलक्षणसम्पन्नः** इति. तद्दातृत्वमेव प्रकटयन्ति **श्रीकृष्णज्ञानद:** इति, **'श्रीकृष्ण'**पदेन रसात्मकभक्तसाहित्योक्त्या भक्तिमार्गीयफलात्मकत्वम् उक्तं, तस्य यत् **ज्ञानं** तद् ददातीति **श्रीकृष्णज्ञानद:**. ननु भगवज्ज्ञानोत्पत्तिप्रकाराः गीताभागवतादौ उक्ताएवेति तैरेव ज्ञानसिद्धौ किम् एतज्ज्ञानदानेन इति चेत् सत्यं, यद्यपि तत्र ज्ञानप्रकाराः उक्ताः

तथापि क्वचित् सर्वात्मकत्वेन, क्वचित् जगद्व्यापकत्वेन, क्वचित् केवलज्ञानात्मकत्वेन नतु **''रसो वै सः''** (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुतिप्रतिपाद्यरसात्मकत्वेनापि निरूपिताः, तेषां मर्यादामार्गीयत्वाद् आचार्यप्रकटितभक्तिमार्गाङ्गीकृतानां ते न मनोरमाइति स्वमार्गीयज्ञानविषयस्य तद्वैलक्षण्यज्ञापनार्थं **श्रीकृष्णज्ञानदः** इति उक्तम्. यद्यपि शुक-कपिल-नारदादीनां ज्ञानदातृत्वम् अस्ति तथापि तेषां मर्यादामार्गीयत्वात् तद्दत्तज्ञानस्यापि मर्यादामार्गीयत्वमेवेति नतु आचार्याणामिव शुद्धपुष्टिमार्गीयज्ञानदातृत्वमपि इति ज्ञापनार्थम् उक्तं **श्रीकृष्णज्ञानदः** इति. पूर्वं **श्रीकृष्णज्ञानदः** इति यद् उक्तं तद्हेतुभूतं नाम आहुः **गुरुः** इति. यो यन्मार्गोपदेष्टा यन्मार्गीयफलदाता च सः तस्मिन् मार्गे **गुरुः** भवति, यथा कपिलादयः, तथा शुद्धपुष्टिमार्गोपदेष्टृत्वं तन्मार्गीयफलदातृत्वं च **आचार्याणामेव** न अन्येषामपि इति ज्ञापनाय उक्तं **गुरुः** इति.

(२)**सर्वलक्षणसम्पन्नः** इति, **सर्वाणि** यानि शुभ**लक्षणानि** सामुद्रिकप्रसिद्धानि तैः **सम्पन्नः** समृद्धः इति अर्थः. ''सर्वं लक्षयति'' इति **सर्वलक्षणो** भगवान् तेन **सम्पन्नः** इति वा. **श्रीकृष्णज्ञानदः** इति, **श्रीकृष्णो** ज्ञायते सर्वोपास्यत्वेन यस्मिन् **ज्ञाने** शास्त्रे तत् **श्रीकृष्णज्ञानं** तद् **ददाति** स्वीयेभ्यः इति. **श्रीकृष्णज्ञानेन** अज्ञानं तत्कार्यं **द्यति** नाशयति इति वा. **श्रीः** माया **कृष्णः** च, तयोः इति वा. अतएव **गुरुः** इति. गृणाति=उपदिशति तत्त्वम् (इति) गुरुः. गुणैः गरिष्ठः इति वा.

(३)**सर्वलक्षणसम्पन्नः** इति, **सर्वलक्षणानि** अदेयदानादीनि महौदार्यादीनि तानि-तानि प्रकटान्येव दृश्यन्तइति तज्ज्ञानं भवति इति भावः. ननु एतत्स्वरूपज्ञानेन फलं प्राप्यते परन्तु फलज्ञानं विना तस्य आस्वादे रसः तादृशो न भवेत् तत्र आहुः **श्रीकृष्णज्ञानदः** इति. तादृशं फलं यादृशः तस्य रसः तज्ज्ञानं भवति इति भावः. तथापि सुखं परिणामि **न भवति** तत्र आहुः **गुरुः** इति. एतज्ज्ञाने एतएव गुरवो न अन्ये, सर्वाज्ञानात्. तेन सर्वदैव सुखरूपत्वम् इति उक्तम्.

(४/क)**सर्व...** इति. भक्तिशिक्षकत्वेन तथात्वम् उक्त्वा ज्ञानदानेनापि तथा इति बोधनाय **श्रीकृष्णज्ञानदः** इति. वाचापि तथात्वबोधाय **गुरुः** इत्येतेन सर्वथा तथा इति उक्तम्.

(४/ख)**सर्वलक्षणसम्पन्नः** इति, सर्वलक्षणैः सम्पन्नः इति अर्थः. यद्वा **सर्वस्य** भगवतः **लक्षणैः सम्पन्नः** पूर्णः इति अर्थः. यद्वा **सर्वाणि** यानि जगति **लक्षणानि** तानि **सम्पन्नानि** येन इति वा. ननु सर्वलक्षणसम्पन्नत्वे यथायोग्यदानं करिष्यति तदा पूर्वनामविजातीयत्वं भविष्यति इत्यतः आहुः **श्रीकृष्णज्ञानदः** इति, श्रीकृष्णस्य यत् ज्ञानं तस्यैव **दाता** इति अर्थः. यद्वा **श्रीकृष्णस्यापि ज्ञानं** 'स्वीयाः' इति तद् **ददाति** इति अर्थः. **कृष्णस्य** सदानन्दस्य श्रीसाहित्योक्त्या स्वामिनीसहितं तद् **ददाति** इति अर्थः. अथवा **श्रीकृष्णस्यापि** स्वामिनीवियोगे मोहानन्तरं तन्निवारणपूर्वकं **ज्ञानं ददाति** इति अर्थः. ननु भगवज्ज्ञानं कपिलदेवादिभिरपि भवति किम् अधिकम् अत्र? इत्यतः आहुः **गुरुः** इति. यद्यपि तैरपि भगवज्ज्ञानं भवति तथापि एतन्मार्गीयकृष्णात्मकज्ञानदानेतु प्रभूणामेव गुरुत्वं न अन्यस्य. यथा उक्तम् आचार्यैः **''कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ताः गुरवः''** (संन्या.निर्ण.८) इति. तद्भावदानेन आचार्याणामेव गुरुत्वं न अन्यस्य एतज्ज्ञापनाय उक्तं **गुरुः** इति. तेन रसा(त्मकत्वा?)तिरिक्तज्ञानम् अन्यत्र अस्तु नतु श्रीकृष्णात्मकम् इति भावः.

(५)**सर्वाणि ''कृष्णसेवा...''** (त.दी.नि.२।२२७) इत्यादीनि निबन्धोक्तानि यानि **लक्षणानि** तैः **सम्पन्नः** आढ्यः इति अर्थः. एतादृशएव सदानन्द**ज्ञानदो** भवति इति आहुः **श्रीकृष्णज्ञानदः** इति. अत्र **'श्री'**पदेन मुख्यस्वामिनी उच्यते. तथाच **श्रीः** च **कृष्णः** च तयोः रसात्मकं यद् ज्ञानं तस्य **दाता** रसात्मकब्रह्मविद्यादाता इति अर्थः. तद् उक्तं **''राधावल्लभसेवया...''** (स्फु.कृ.प्रे.स्तो.५) इति. अत्र ज्ञानदो गुरुः भवति इति आहुः **गुरुः** इति. जीवेषु तदधिकारानुसारेण काचिद् मर्यादापि स्थापिता इति **'गुरु'**पदप्रयोगः. वस्तुतस्तु लीलायां तज्ज्ञानदाता मध्यस्थान्यायेन गुरुरपि सफलज्ञानएव परमः इति.

(६)**सर्व...** इति, येषु-येषु यद्यत्फलदित्सा तेषु-तेषु तथैव सम्पादयतीति **सर्वैरेव लक्षणैः सम्पन्नः**. लीलारसानुभावोऽपि न मूढवत् किन्तु वस्तुस्वरूपज्ञानपूर्वकम् इति आहुः **श्रीकृष्ण...** इति. भक्तिसहितभगवत्स्वरूप-ज्ञापनपूर्वकं तल्लीलारसम् अनुभावयति इति भावः. तच्च ज्ञापनं न अन्तर्यामिन्यायेन तथा सति आनन्दोऽपि आत्मन्येव स्यात् किन्तु उपदेशनेन इति आहुः **गुरुः** इति. तथाच देहेन्द्रियादिषु अन्तर्बहिः आनन्दो भविष्यति इति भावः. इदञ्च ज्ञानं भक्त्यङ्गमेव, भक्तिरसानुभवार्थत्वात्.

(७)**सर्वलक्षणसम्पन्नः** इति, **सर्वस्य** भगवतो **लक्षणानि** गति-स्मित-प्रेक्षण-भाषणानि यासु ताः **सर्वलक्षणाः** ताः **सम्पन्नाः** यस्मिन् सः. तद् उक्तं "**गति-स्मित-प्रेक्षण-भाषणादिषु प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः**" (भाग.पुरा.१०।२७।३) इत्यादि. यद्वा **सर्वस्य** भगवतः **लक्षणानि** पूतनामारणादीनि यासु इति पूर्ववत्. तद् उक्तं "**कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः...**" (भाग.पुरा.१०।२७.।१५) इत्यादि. यद्वा **सर्वेषु लक्षणेषु** पदार्थमात्रेषु **सम्पन्नः** समन्वितः. तद् उक्तं "**पप्रच्छुः आकाशवद् अन्तरं-बहिर् भूतेषु सन्तं पुरुषम्**" (भाग.पुरा.१०।२७।४) इति. यद्वा **सर्वाणि लक्षणानि** पदार्थजातानि यस्यां सा **सर्वलक्षणा** भूमिः **सम्पन्ना** येन, तया युक्तः परिरब्धः इति यावत्. तद् उक्तम् "**आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन**" (भाग.पुरा.१०।२७।१०) इति. यद्वा **सर्वाणि लक्षणानि** शुभचिह्नानि सामुद्रिकोक्तानि ययोः ते **सर्वलक्षणे** चरणे ताभ्यां **सम्पन्नः**. तद् उक्तं "**पदानि व्यक्तम् एतानि...**" (भाग.पुरा.१०।२७।२५) इत्यादि. यद्वा **सर्वलक्षणैः** तन्मनस्कादिभिः **सम्पन्नाः** व्रजरत्नाः सन्ति अस्य रमणीत्वे (इति) **सर्वलक्षणसम्पन्नः** तथा. तद् उक्तं समस्ताध्यायेन. अष्टाविंशाध्यायार्थ-बोधकं नाम आहुः **श्रीकृष्णज्ञानदः** इति. **श्रीकृष्णाय ज्ञानं** भक्तरक्षाकरणरूपं **ददति** ताः **श्रीकृष्णज्ञानदाः** गोप्यः सन्ति गुरुत्वे "**कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ताः...**" (संन्या.निर्ण.८) इति वाक्याद् अस्य इति तथा. यद्वा **रमणीत्वे** अस्य इति तथा. तद् उक्तं समस्ताध्यायेन. एकोनत्रिंशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **गुरुः** इति. "'**गॄ**' **शब्दे**" (पाणि.धा.पा.क्रया.२८)

गृणाति=शब्दायति इति **गुरुः**. तद् उक्तम् "**इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा**" (भाग.पुरा.१०।२९।१). यद्वा "'**गुर्वी**' **उद्यमने**" (पाणि.धा.पा.भ्वा.६१२) **गोरयति** रासोद्यमं करोति, कारयते वा **गुरुः** तद् उक्तं "**तासाम् आविरभूत् शौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षाद् मन्मथमन्मथः**" (भाग.पुरा.१०।२९।२) इति. "**तं विलोक्य आगतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्फुल्लदृशो अबलाः उत्तस्थुः युगपत् सर्वाः तन्वः प्राणमिव आगतम्**" (भाग.पुरा.१०।२९।३) इतिच. यद्वा "'**गॄ**'=**विज्ञाने**" (पाणि.धा.पा.चुरा.१७४) **गारयते** विजानाति लीलां कर्तुम्. तद् उक्तं "**ताः समादाय कालिन्द्या निर्विश्य पुलिनं विभुः**" (भाग.पुरा.१०।२९।११). यद्वा विज्ञानोपदेशं करोति इति गुरुः. तद् उक्तं "**मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमाः हि ते**" (भाग.पुरा.१०।२९।१७) इति.

:: उत्थानिका: ::

(१)ननु यद्यपि कपिलस्य मातरं प्रति योगमार्गोपदेष्टृत्वं वर्तते तथापि "**भक्तियोगो बहुविधः...**" (भाग.पुरा.३।२९।७) इति वचनात् केवलमर्यादा-मार्गीयभक्तिमार्गोपदेष्टृत्वमपि श्रूयते. आचार्याणान्तु प्रसङ्गादपि शुद्धपुष्टिमार्गाद् अतिरिक्तभक्तिमार्गानिरूपणे को हेतुः इति चेत् तत्र आहुः—

(२)...

(३)ननु सर्वेभ्यो यथेच्छं स्वसर्वस्वसमस्तेष्टदानेन कदाचित् मनसि तापेन खेदो म्लानता वा भवेत् तत्र आहुः—

(४/क)देयसम्पत्तिः—

(४/ख)ननु तर्हि गुरुत्वमेव भविष्यति न भगवत्त्वम् इत्यत्र आहुः—

(५)तत्फलम् आहुः—

(६)मुख्यतयातु स्वयं भक्त्यानन्देनैव पूर्णः इति आहुः—

(७)त्रिंशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

स्वानन्दतुन्दिलः[३०] पद्मदलायतविलोचनः[३१]

:: टीका: ::

(१)**स्वानन्दतुन्दिलः** इति, **स्वस्य** यः **आनन्दः** तेनैव **तुन्दिलः** अतिपुष्टः इति अर्थः. आनन्दे 'स्व'पदोपादानेन अगणितो मनोरथान्तो यः आनन्दः तेनैव अत्यन्तपुष्टत्वनिरूपणेन तदतिरिक्तस्य सर्वस्यापि अतितुच्छत्वेन अस्य च सर्वविस्मारकत्वेन इतरानुसन्धानाभावात् प्रसङ्गादपि न अन्यभक्तिमार्गनिरूपकत्वम् इति ज्ञापनाय उक्तं **स्वानन्दतुन्दिलः** इति. पूर्वनामोक्तानन्दपुष्टत्वज्ञापनाय अग्रिमं नाम आहुः **पद्मदलायतविलोचनः** इति. **पद्मदलवद् आयते** विशाले **लोचने** यस्य सः. अत्र लोचनयोः पद्मदलसादृश्यनिरूपणेन शैत्यं सुखदत्वं सौगन्ध्यम् आरक्तरेखावत्त्वं च ज्ञापितम्. तेन भक्तानां तल्लोचनदर्शनम् अत्यन्तसुखदम् इति ज्ञापितम्. यद्यपि पद्मदलदृष्टान्तनिरूपणेन सूचिताः धर्माः लोचनयोः सहजाः तथापि **'वि'**शब्दोपादानात् पूर्वोक्तानन्दवैशिष्ट्यमपि ज्ञापितम् ॥१३॥

(२)**स्वानन्दतुन्दिलः** इति, **स्वस्यैव** स्वरूपा**नन्देन तुन्दिलः** तुन्दवान् नतु विषयसुखेन इति अर्थः. **पद्मदलायतविलोचनः** इति, कमलपत्रसदृशे ईषद् आरुण्यादिगुणयुक्ते **आयते** विशाले **लोचने** यस्य ॥१३॥

(३)**स्वानन्दतुन्दिलः** इति, सर्वदा अनेनैव पूर्णः इति अर्थः. पूर्णत्वेनैव खेदाद्यभावः सूचितः. यद्वा **स्वानन्देन** सुतराम् **आनन्देन तुन्दिलो** बाह्याभ्यन्तरपूर्णो द्विगुणीभूतः इति अर्थः. एतेन पूर्वं सद्रूपत्वेन सदानन्दरूपत्वं पूर्णत्वं च उक्तमेव पश्चात् तादृशभक्ते स्वसर्वस्व-रूपदाने कृते स्वकृतत्वेन परमप्रसन्नतया तत्र श्रीमत्प्रभावपि रसदानं कुर्वति सति तल्लीलारसानुभवजनिता-

निर्वचनीयनवीनानन्दभरेण अति**तुन्दिलः** पूर्णोऽपि अतिपूर्णः इति कुतस्तरां खेदादिसम्भावना प्रत्युत अधिकं तत्र अनुप्रविष्टम् इत्यतः एतज्ज्ञापनार्थमेव 'सु'-उपसर्गः 'तुन्दिल'पदं च उक्तम्. ननु कथं ज्ञायते तेन पूर्णः तत्र आहुः **पद्म...** इति, **पद्मदलवद् आयते** विशिष्टे **लोचने** ईक्षणे यस्य. लोचने विशेषः तत्पूर्वोक्तानन्दधर्मविशिष्टत्वमेव. यद्यपि अन्तर्गूढः तथापि तादृशलीलारसानुभवात् तादृशतद्भाव-रसाकूत-रससंवलितार्द्रदृष्टि-विक्षेपादिना तदीक्षणे स प्रकटएव दृश्यते. अतएव पद्मं दृष्टान्तः उक्तः. यथा पद्मे सरसत्वानुरागादि-तापहारकत्वाप्यायकत्व-धर्मादयः तथा एतद्विलोचनयोरपि एते धर्माः प्रकटाएव. यथा ते तस्य सहजाः तथा एतयोरपि. एतेन एतादृशस्वरूपत्वमेव तयोः सर्वदा, न अन्यथा कदाचिदपि इति ज्ञापितम् ॥१३॥

(४/क)**स्वानन्द...** इति. कृपावत्त्वाय **पद्म...** इति ॥१३॥

(४/ख)**स्वानन्द...** इति, **स्वानन्दतुन्दिलः** पूर्णः इति अर्थः. **'स्व'**शब्देन भगवान् उच्यते तस्य योऽयम् **आनन्दः** तेन **तुन्दिलः** पूर्णः आनन्दस्वरूपः इति अर्थः. अथवा **'स्व'**शब्देन स्वामिनी उच्यते तस्याः योऽयम् **आनन्दो** भगवन्मिलनरसात्मकः तेन तथा इति भावः. यद्वा **स्वाः** भगवदीयाः तेषाम् **आनन्दः** तेन तथा. ननु स्वस्य पूर्णत्वे स्वीयानां किं फलम्? इत्यत्र आहुः **पद्मदलायतविलोचनः** इति. **पद्मदल**इव **आयते** विशाले **विलोचने** यस्य इति अर्थः. तेन भक्तानां दृष्ट्यैव पूर्णत्वं करोति इति भावः. 'पद्मदलो'क्त्या परतापापनोदकत्वम्, आरक्तरेखावत्त्वं, मकरन्दपूर्णत्वं, मधुपीभूतभक्तसेव्यत्वं, मनोहरत्वादिकं बोध्यते इति भावः. लोचनानां **वि**शेषोक्त्या स्वामिनीभावयुक्तत्वम् इति भावः ॥१३॥

(५)**स्वानन्द...** इति, स्वस्य पुष्टिमार्गीयगुरुत्वेन साक्षात्पुरुषोत्तमास्यरू-पत्वेन च तदानन्दएव स्वस्येति तेन तुन्दिलः. यद्वा **स्वाः** सेवकाः तेषां यः श्रीकृष्णज्ञानदानजनितः **आनन्दः** तेन मदङ्गीकृताः एवंविधाः भवन्ति इति सन्तोषात् तथा **आनन्दतुन्दिल**त्वेन आकृतिरपि आनन्दरूपैव इति सूचितम्. तेन तुन्दिला सैव भवतीति तेन सहजतुन्दिलत्वमपि ज्ञापितम्.

आनन्दमयाकृतिः पुरुषोत्तमस्यैव भवतीति तद्गतसौन्दर्यातिशयं लक्षणत्वेन आहुः **पद्म...**इति, पद्मदलवद् आयते लोचने यस्य इति तयोः भक्तसन्तापहारकत्वं कृपया स्वदासवद् अवलोकनेन उत्फुल्लत्वं सौन्दर्यं च उक्तम्॥१३॥

(६)**स्वानन्द...** इति, **स्वानन्दो** भक्त्यानन्दएव, पुरुषोत्तमस्वरूपस्य तत्रैव अनुभवात् ''**भक्त्यातु अन्यया...**'' (भग.गीता.११।५४) इति वाक्यात्. तेनैव **स्वयं तुन्दिलः** पूर्णः इति अर्थः. तत्र अभिज्ञापकम् आहुः **पद्म...** इति, अन्तःपूर्णो रसो लोचनयोः अनुभूयते ज्ञानन्तु आत्मन्येव स्यात्. भक्तिरसएव देहेन्द्रियादिषु प्रकटो भवति. स रसो लोचनयोः पद्मदलसादृश्येन ज्ञापितः. '**दल**'पदेन विकासः उक्तः॥१३॥

(७)**स्वानन्दतुन्दिलः** इति, **स्वानन्दार्थं तुन्दिलः** कारिकायां ''**स्वानन्दार्थम् इति ईर्यते**'' (सुबो.कारि.१०।३०।१). [२]यद्वा स्वनिकटे **आनन्दः स्वानन्दः** तेन **तुन्दिलः**. तद् उक्तं ''**प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः**'' (भाग.पुरा.१०।३०।३). [३]यद्वा सुशोभनः **आनन्दः स्वानन्दः** तेन **तुन्दिलः**. तद् उक्तं ''**तत्र अतिशुशुभे ताभिः भगवान् देवकीसुतः**'' (भाग.पुरा.१०।३०।७). [४]यद्वा स्वानां षड्विधभक्तानाम् **आनन्देन तुन्दिलः**. तद् उक्तं ''**काचित् समं मुकुन्देन...**'' (भाग.पुरा.१०।३०।१०-१५) इत्यादिषड्भिः. [५]यद्वा स्वस्मिन् यः **आनन्दः** तेन **तुन्दिलः**. तद् **उक्तं** ''**यथा अर्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः**'' (भाग.पुरा.१०।३०।१७). [६]यद्वा स्वस्य **आनन्दो** यस्मिन् सः **स्वानन्दः** गोपिकामण्डलः तस्मात् **तुन्दिलः** ततोऽपि अधिकः. तद् उक्तं ''**कृत्वा तावन्तम् आत्मानं यावतीः गोपयोषितः...**'' (भाग.पुरा.१०।३०।२२) इत्यादि. [७]यद्वा सुशोभनः **आनन्दो** येन सह **स्वानन्दः** गानं तेन **तुन्दिलः** तद् उक्तं ''**मानं दधत्यः ऋषभस्य जगुः कृतानि**'' (भाग.पुरा.१०।३०।२२). [८]यद्वा सुशोभनः **आनन्दो** यस्मात् सः **स्वानन्दः** श्रमः तेन **तुन्दिलो** युक्तः. तद् उक्तं ''**श्रान्तो गजीभिः इभराडिव भिन्नसेतुः**'' (भाग.पुरा.१०।३०।२३). [९]यद्वा स्वस्यां श्रीयमुनायां

यः **आनन्दः** तेन **तुन्दिलः**. तद् उक्तं ''**रेमे स्वयं स्वरतिः आत्तगजेन्द्रलीलः**'' (भाग.पुरा.१०।३०।२४). [१०]यद्वा **स्वेन आनन्देन तुन्दिलः**. तद् उक्तम् ''**आप्तकामो यदुपतिः**'' (भाग.पुरा.१०।३०।२९). [११]यद्वा स्वच्छन्दः **आनन्दः स्वानन्दः** तेन **तुन्दिलः**. तद् उक्तं ''**तेषां स्वच्छन्दचरितम्**'' (भाग.पुरा.१०।३०-३२). [१२]यद्वा **स्वेषु** गृहेषु **आनन्दः स्वानन्दः** तेन **तुन्दिलाः** गोप्यः ताः सन्ति अस्य **स्वानन्दतुन्दिलः**. तद् उक्तम् ''**अनिच्छन्त्यो ययुः गोप्यः स्वगृहान् भगवत्प्रियाः**'' (भाग.पुरा.१०।३०-३९). अत्र षड् अक्षराणि समस्तं च एकं, तेन तस्य धर्मिरूपत्वं सूचितम्. एकत्रिंशाध्यायार्थबोधकं नाम आहु **पद्मदलायतविलोचनः** इति, **पद्म**मिव पद्मं भगवच्चरणं तस्य **दलानि** अङ्गुल्यः तेषाम् **आयतम्** आयतत्वं तेन **विलोचनं** ज्ञानं यस्य सो अस्ति प्रपन्नो अस्य **पद्मदलायतविलोचनः**. तद् उक्तं ''**प्रपन्नो अस्मि महायोगिन्**'' (भाग.पुरा.१०।३१।१६) इति. [२]यद्वा **पद्मवत् आयतानि विलोचनानि** यासां ताः सन्ति अस्य इति तथा. तद् उक्तं ''**कदाचिद् अथ गोविन्दः...**'' (भाग.पुरा.१०।३१।२०) इत्यादि॥१३॥

:: उत्थानिका ::

(१)एवम् आचार्यविलोचनस्वरूपं निरूप्य स्वीयभक्तेषु तत्कार्यम् आहुः —

(२)...

(३)ननु एतद्विलोचनयोः एते पद्मोक्तधर्माः सन्ति इति कथं ज्ञायते तत्र आहुः —

(४/क)हर्षान्तिदातृत्वाय —

(४/ख)एतन्नामसाधनीभूतम् अग्रिमं नाम आहुः —

(५)स्वावलोकनफलमपि सम्पादयन्ति इति आहुः —

(६)विकसितं हि अन्यस्माअपि रसम् अनुभावयति. अत्रापि तथात्वम् आहुः —

(७)द्वात्रिंशदध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

कृपादृग्वृष्टि-संहृष्टदासदासी-प्रियः [३२] पतिः [३३]

:: टीका: ::

(१)कृपादृग्वृष्टि-संहृष्टदासदासी-प्रियः इति, **कृपायुक्ताः दृशः** कृपाकटाक्षाः तासां याः **वृष्टयो** निरन्तरं वर्षणानि सर्वतः प्लावनं ताभिः **संहृष्टाः** अत्यन्तम् आनन्दिताः **दासाः दास्यः** च तेषां **प्रियः**. दृष्टिजनितहर्षे **सम्यक्**त्वकथनात् वृष्टिजनितार्द्रतायाः तदीयेषु न कदाचिद् अपगमः इति ज्ञापितम्. अथवा **कृपादृग्वृष्टि-संहृष्टदासदास्यः प्रियाः** यस्य सः तथा. यद्यपि दासदासिप्रियत्वकथनेनैव प्राप्तं तथापि पुनः पतित्वकथनस्य अयम् आशयो : यद्यपि पतित्वं लोकेऽपि दृश्यते तथापि तत्र पतित्वलक्षणाभावात् पतित्वम् औपचारिकमेव न स्वाभाविकम्. आचार्येषुतु **''सः वै पतिः स्याद् अकुतोभयः स्वयं समन्ततः** पाति भयातुरं जनम्'' (भाग.पुरा.५।१८।२०) इतिलक्षणं पतित्वम् अत्रैव अस्ति. स्वस्य कालादिभयराहित्येन स्वशरणागतानां कालादिभयनिवारकत्वेन पूर्वोक्तं पूर्णं पतित्वलक्षणम् अत्रैव अस्ति न अन्येष्वपि इति ज्ञापनाय उक्तम् **पतिः** इति.

(२)**कृपादृग्वृष्टि-संहृष्टदासदासी-प्रियः** इति, **कृपा**पूर्विका **दृक् कृपादृक्** सैव भक्ततापनाशकत्वाद् **वृष्टिः** तन्मात्रेणैव **सम्यक् हृष्टाः** आनन्दपूर्णाः ये **दासाः दास्यः** च तेषां तासां च **प्रियः** ताः प्रियाः यस्य इति वा. **पतिः** इति, पाति सर्वान् स्वीयान् इति. **पतिः** पूर्वोक्तदासीनाम् इति वा.

(३)**कृपादृग्...** इति, **कृपादृष्टीनां वृष्टयः** अनवरतरसार्द्राः कटाक्षविक्षेपाः तैः **सम्यक् हृष्टाः** तादृशस्वरूप-रसानुभवजनित-बाह्याभ्यन्तर-परमानन्द-रसपूर्णाः **दासाः दास्यः** च तेषां **प्रियः** अत्यन्तं प्रियरूपः. एतेन एतद्रसपूर्णत्वं गृहदासदासीनामेव न अन्येषाम् इति सूचितम्. किञ्च यथा पूर्वं ग्रीष्मजनितसन्तापतप्ताः वर्षागमाशामात्रजीवनाः पश्चात् कृपादृष्टिरूपामृतवृष्टिभिः तत्साक्षात्सम्बन्धेन निवर्तिततापाः बाह्याभ्यन्तरशीत-लीकृताः परमानन्दभरेण सर्वेन्द्रियाप्यायिताः भवन्तीति इदमेव सम्यग् हृष्टत्वम्. पूर्वमपि सर्वदा तत्कृपादृष्ट्या हर्षयुक्ताएव परन्तु तदा न सम्यक्त्वं तापात्मकत्वात्. पश्चात् प्रभुसम्बन्धे जाते सम्यग् हर्षयुक्ताः भवन्ति. एवं सति दासीनां प्रियएव भवति. प्रियोऽपि असाधारणः. ताअपि एतेषां प्रियाः भवन्ति इति उचितमेव, यतः तत्सम्बन्धेन प्रभोरपि सुखाधायिका जाता इति भावः. ननु दासीनां प्रियत्वेन लोकदृष्ट्या प्रभुत्वे हीनत्वम् आयाति इति चेत् तत्र आहुः **पतिः** इति, शरणागतपरिपालकः. तत्रापि अयम् अलौकिकः. एतेन ये संसाराद् भीताः अशरणशरणम् एनं शरणं प्राप्ताः तान् दासत्वेन अङ्गीकृत्य रक्षति. यतः शरणागतपालनशीलः सर्वदैव अयम्. एतेन प्रभुत्वे न काचिद् हीनता प्रत्युत **''अधिकं तत्र अनुप्रविष्टम्''** इति न्यायेन प्रभुत्वशोभा. सएव प्रभुः यो दीनम् अशरणं कृपया प्रियं कृत्वा रक्षति.

(४/क)**कृपा...** इति. प्रियत्वं दानोत्तरमपि न दत्तम् इति प्रतीत्या आवश्यकत्वाय **पतिः** इति.

(४/ख)**कृपादृग्वृष्टिसंहृष्ट... इति, कृपा**युक्ता या **दृष्टिः** तस्याः या **वृष्टिः** तया **सम्यक्**प्रकारेण **हृष्टाः** दासाश्च दास्यश्च प्रियाः यस्य इति अर्थः. यद्वा **कृपादृग्वृष्ट्या** ये दासाः ते दासीभावेन प्रियाः यस्य इति भावः. अथवा **कृपादृक्** प्रभुः तस्य **दृष्टिः** केवलं रसात्मिका तया **संहृष्टाः** ये **दासाः** यथा **''पादसंवाहनं चक्रुः''** (भाग.पुरा.१०।१२।१७) इत्यत्र उक्तभावापन्नाः तथाभूताः दास्यः च **''तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम्''**(भाग.पुरा.१०।२६।३८), **''भवाम दास्यः''** (भाग.पुरा.१०।२७।-३९) इत्यादि भावयुक्ताः प्रियाः यस्य इति भावः. दास-दासीप्रियत्वम्

उक्त्वा तत्पतित्वम् उच्यते अग्रिमनाम्ना **पतिः** इति, ''सः वै पतिः स्याद् अकुतोभयः स्वयम्'' (भाग.पुरा.५।१८।२०) इति पतित्वलक्षणभावापन्नात् न अन्यत्र पतित्वम् इति भावः. यद्वा तासां भगवत्पतित्वेऽपि स्वस्य आज्ञैव कारणं तेन स्वयम् एवं भगवत्स्वरूपात्मकः इति ज्ञापनाय उक्तम्. अन्यथा पतिद्वयत्वप्राप्तौ बाधः.

(५)यथा वृष्ट्या **संहृष्टानां** सर्वेषां जलदो प्रियो भवति तथा **कृपा**संवलिता या **दृक्** तस्याः **वृष्टिः** स्नेहेन पुनः-पुनः सस्मितम् अवलोकनं तया **सम्यक्**प्रकारेण अन्तर्बाह्यभेदेन **हृष्टदासैः** सहिता या **दास्यः** तासामेव **प्रियो** नतु ''दासाः दास्यः च'' इति द्वन्द्वः, ''पुमान् स्त्रिया'' (पाणि.सू.१।२।६८) इति एकशेषेण बाधात्. नच ''**गवाश्वप्रभृति**''(पाणि.सू.-२।४।११)गणे निपातनाद् 'दासीदासम्' इतिवद् द्वन्द्वः इति वाच्यं, तत्र शब्दव्यत्यासेनैव नपुंसकत्वनिपातनात् तेन अप्रधानबोधकतृतीयासमासाद् अस्मिन् मार्गे दासीभावस्यैव प्राधान्यम् उक्तं ''**वीक्ष्य... दास्यो भवामः**'' (भाग.पुरा.१०।२६।३९) इति. यद्वा 'दासदासी'पदेन पुष्टिमर्यादाभावयुक्ताः शुद्धपुष्टिभावयुक्ताः च भक्ताः उच्यन्ते. पूर्वेषां पतिः इतरेषां प्रियः इति विवेकः, उभयेषाम् इति वा. पतित्वन्तु ''**सवै पतिः स्याद्...**'' (भाग.पुरा.५।१८।२०) इत्यत्र उक्तम्.

(६)**कृपादृग्...** इति, हृष्टानां प्रियत्वकथनेन कृपया स्वतएव तेषु हर्षम् उत्पादयति पश्चात् ते प्रीतिं कुर्वन्तीति कृपाप्रीत्योः अन्योन्याश्रयो निवारितः. एतेन महाकारुणिकत्वं समर्थितम्. प्रीत्यनन्तरं तेषु कर्तव्यम् आहुः **पतिः** इति, ''स वै पतिः स्याद्...'' (भाग.पुरा.५।१८।२०) इति न्यायेन कालादिभ्यः तान् रक्षति इति अर्थः.

(७)**कृपादृग्वृष्टि-संहृष्ट-दास-दासीप्रियः** इति, कृपायुक्ता **दृक्** ''**बामबाहुकृतवामकपोलो...**'' (भाग.पुरा.१०।३२।२) इति श्लोकोक्ता तस्याः **वृष्टिः** वर्षणं तया **सम्यग् हृष्टाः** द्वादशविधाः **दासाः दास्यः** च **प्रियाः** यस्य, तेषां वा प्रियः. द्वादशविधास्तु ''**देवस्त्रियः** तथा **गावः** **सरितः** पादपाः **लताः पक्षिणः** च तथा **मेघाः ब्रह्माद्याः गोपिकाः** तथा **हरिण्यो** देवगन्धर्वाः **द्विधा च** भगवान् हरिः'' (सुबो.कारि.१०।३२।१।६). [२]यद्वा **कृपा** च **दृक्** च **वृष्टिः** च **संहृष्टाः** च **दासाः** च **दास्यः** च **प्रियाः** यस्य स तथा. तद् उक्तं समस्ताध्यायेन. त्रयस्त्रिंशदध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **पतिः** इति, 'पाति'=रक्षति इति पतिः. तद् उक्तं ''**मा भैष्टेति गिरा आश्वास्य वृकासुरम् उपाह्वयत्**'' (भाग.पुरा.१०।३३।७). [२]यद्वा कंसाद् वसुदेवं **पाति**. तद् उक्तं ''**निवारितो नारदेन तत्सुतौ मृत्युम् आत्मनः...**'' (भाग.पुरा.१०।३३।१९) इत्यादि. यथा तामसप्रकरणारम्भे नन्दवसुदेवमहोत्सवौ तथा अत्र राजसप्रकरणारम्भे नन्द-वसुदेव-रक्षणे अरिष्ट-कंसाभ्यां पालनस्य क्रियासाध्यत्वेन राजसत्वं, ''**सः वै पतिः स्यात्**'' (भाग.पुरा.५।१८।२०) इति प्रामाणिकपतित्वेन प्रमाणत्वं, पालनस्य सप्तदिनसाध्यत्वेन प्रकरणाध्यायसङ्ख्याबोधकत्वं, सप्ताह्नसाध्यत्वम् उपपादितं द्वाविंशाध्यायसुबोधिन्याम्.

:: उत्थानिका ::

(१)ननु पतित्वेन स्वीयानां कालादिभयनिवर्तकत्वम् अस्तु तथापि लोकोत्पन्नासुरजीवानां स्वप्रतिपक्षत्वेन तद्द्वेषकारित्वम् भविष्यति इति आशङ्क्य तद्भयनिवारकत्वसामर्थ्यमपि अत्र अस्ति इति ज्ञापनाय आहुः —

(२)...

(३)ननु येभ्यो भयम् उत्थितं ते चेद् बलिनः तदा कथम् एते रक्षितुं समर्थाः तत्र आहुः —

(४/क)बन्धनिराकृत्यै —
(४/ख)एवं पतित्वम् उक्त्वा तत्साधकम् अग्रिमं नाम आहुः —

(५)पतित्वधर्ममेव आहुः —

(६)आन्तरबाधकनिवारणम् आहुः —

(७)चतुस्त्रिंशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

रोषदृक्पात-सम्प्लुष्ट-भक्तद्विट् [३४] **भक्तसेवितः** [३५]

:: टीका: ::

(१)रोषदृक्पात-सम्प्लुष्ट-भक्तद्विड् इति, रोषसहिता या **दृक्** कटाक्षः तस्याः **पातः** तेन **सम्यक्**प्रकारेण **प्लुष्टाः** दग्धाः भक्तद्विषो येन सः. दाहे **सम्यक्**त्वोक्त्या दग्धानां पुनः उत्थानाभावः सूचितः. अत्र भक्तद्विषामेव दाहकथनेन उदासीनेषु रोषदृक्पाताभावाद् दाहाभावः सूचितः. यद्यपि **भक्तसेवित**त्वं सदा अस्त्येव तथापि **भक्तसेवित**त्वकथनेन पूर्वोक्तनाम-प्रकटितसामर्थ्य-दर्शनेन लौकिकस्वानिष्ट-निवर्तकत्वज्ञान-जनितानन्दविशेष-भरेण क्षणमात्रमपि सेवावियोगासहिष्णुतया भक्तानां सेवाकरणत्वज्ञापनाय उक्तं **भक्तसेवितः** इति॥१४॥

(२)**रोषदृक्पात-सम्प्लुष्ट-भक्तद्विड्** इति, स्वभक्तान् ये द्विषन्ति ते **भक्तद्विषो, रोष**पूर्वकदृष्टिपातमात्रेणैव **सम्यक् प्लुष्टाः** दग्धाः **भक्तद्विषो** येन यस्य इति वा. **भक्तसेवितः**इति, भक्तैः सेवितः इति॥१४॥

(३)**रोषः**... इति, एतेन भक्तद्वेष्टारस्तु कटाक्षमात्रेणैव सम्यक् प्लुष्टाः जाताः, सम्यग्दाहेन भस्मीभूताएव. ननु एतादृशे क्रोधे समुत्पन्ने तस्य शान्तिः कथं भवति तत्र आहुः **भक्तसेवितः** इति, भक्तैः निरन्तरं सेवितः. एतेन भक्तद्वेष्टरि दृष्टे क्रोधः, तेन तस्य तदैव नाशे सति भक्ते दृष्टे शान्तिः, तत्स्तुत्यादिना वा॥१४॥

(४/क)**रोषदृक्**... इति. भक्तेषु तदभावाय **भक्त**... इति॥१४॥

(४/ख)**रोष**... इति, **रोषयुक्तदृक्पातेन सम्प्लुष्टाः** सम्यग् दग्धाः **भक्तद्विषो** येन सः इति अर्थः. रोषोक्त्या प्रभोः दोषाभावः सूच्यते, यथा **''रोषसमन्वितो अपिबत्... पेतुः क्षितौ वज्रनिपात...''** (भाग.पुरा.१०।६।१०-१२) इत्यत्र पातत्वोक्त्या वज्रपातवद् अज्ञानं सूचितम्, अन्यथा पूर्वं ज्ञानं प्रार्थयेयुः स्तुतिं वा कुर्युः. तदा रोषो व्यर्थः स्याद् इति अर्थः. प्लुष्टत्वे सम्यगुक्तेः मन्त्रादिना अमृतादिना वा पुनरुत्थानाभावः सूच्यते. भक्तद्वेषोक्त्या स्वापराधक्षमां करोत्यपि भक्तद्वेषेतु दण्डमेव करोति इति भावः. तद् उक्तं **''न अहम् आत्मानम् आशासे मद्भक्तैः साधुभिः विना''** (भाग.पुरा.९।४।६४) इति. ननु रोषे सति भक्तेष्वपि रोषदृष्ट्या तथात्वं स्याद् इति अत्र आहुः **भक्तसेवितः** इति, भक्तैः सेवितः इति अर्थः. तथात्वे सेवनं न भवेद् इति भावः॥१४॥

(५)**रोष**... इति, **रोषसहितदृक्पातेन** क्रोधाग्निना **प्लुष्टाः** दग्धाः भस्मसात्कृताः **भक्तद्विषः** आसुराः. निवार्यकामादयो वा येन. आसुरकालादिभयनिवारकत्वेनैव पतित्वम्. एतादृशः पतिः सर्वदा सेव्यएव इति आहुः **भक्त**...इति, तादृशभक्तैः सर्वदा सेवितः॥१४॥

(६)**रोष**... इति, रोषदृशैव सम्यग्दग्धाः भक्तद्विषः कामादयो येन. **'भक्तद्विट्'**पदेन सेवोपयोगिनां तेषां न दाहः इति सूचितम्. एवं बहिरन्तर्दोषरहितैः स्वयंसेवितो भवति इति आहुः **भक्त**... इति, एतेन सेवायाः मुख्यफलत्वम् उक्तम्॥१४॥

(७)**रोषदृक्पात-सम्प्लुष्ट-भक्तद्विड्** इति, **रोषयुक्तदृक्पातेन सम्प्लुष्टाः** दग्धाः केशी-व्योम-चाणूर-कंस-शङ्ख-यवन-मुर-चैद्य-प्रभृति-भक्तद्विषः येन सः. तद् उक्तं **''तद् वञ्चयित्वा तम् अधोक्षजो रुषा''** (भाग.पुरा.१०।३४।४), **''अविस्मितो अयत्नहतारिः...''** (भाग.पुरा.१०।३-४।८), **''चाणूरं मुष्टिकं चैव''** (भाग.पुरा.१०।३४।१५), **''तस्यानु शङ्ख-यवन-मुराणां...''** (भाग.पुरा.१०।३४।१६), **''काशिपुर्य्याश्च दीपन-म्''** (भाग.पुरा.१०।३४।१९), **''चैद्यस्य च महाक्रतौ''** (भाग.पुरा.१०।३४।-

१९), ''**पशुमारम् अमारयत्**'' (भाग.पुरा.१०।३४।३२) इत्यादिभिः. इदं महद् वीर्यं भगवतो यद् रोषदृक्पातेनैव भक्तद्विड्दहनम्. पञ्चत्रिंशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **भक्तसेवितः** इति, **भक्तैः** ब्रह्मादिभिः सेवितः. तद् उक्तं ''**यद् अर्चितं ब्रह्मभवादिभिः सुरैः श्रिया च देव्या मुनिभिश्च सात्वतैः**'' (भाग.पुरा.१०।३५।८). [२]यद्वा **भक्तैः** कौशिकबल्यादिभिः. तद् उक्तं ''**समर्हणं यत्र विधाय कौशिकः तथा बलिश्चापजगत्त्रयेन्द्रताम्**'' (भाग.पुरा.१०।३५।१७). [३]यद्वा **भक्ताः** सेविताः येन. तद् उक्तं ''**तथापि भक्तान् भजते यथा तथा**'' (भाग.पुरा.१०।३५।२२). [४]यद्वा **भक्तो** अक्रूरः सेवितो येन. तद् उक्तं ''**पृष्ट्वा अनामयं तस्मै निवेद्य च वरासनम्**'' (भाग.पुरा.१०।३५।३८) इत्यादि. पूर्वनिपातशास्त्रस्य अनित्यत्वात् निष्ठायाः परनिपातः, आहिताग्न्यादिषु पाठात्*. भक्तसेवा सञ्जाता अस्य इति वा. इदं यशो यद् भक्ताअपि सेविताः॥१४॥

:: उत्थानिकाः ::

(१)ननु भक्तानां बाहुल्याद् अनेकविधभाववत्त्वेन सर्वेषां सर्वभावपूर्तिसम्पादकत्वेन सेवनं न भविष्यति इति आशङ्कानिरासाय आहुः —

(२)...

(३)ननु कदाचिद् भक्तेष्वपि क्रोधो भवेत् तत्र आहुः —

(४/क)सेवायाः सुकरत्वाय —
(४/ख)ननु सेवनम् अनन्यगत्या दुःखेनापि भवति इत्यतः आहुः —

(५)ननु यस्य दृशएव एतादृशे सः कथं सेव्यः इति आशङ्क्य आहुः —

*'भक्तसेवित'पदयोः 'सेवित'पदस्य निष्ठात्वेन परनिपातः(सम्पादकीयम्).

(६)रसस्य द्विविधत्वेन सेवायाअपि द्विविधत्वम् आहुः —

(७)षट्त्रिंशदध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

सुखसेव्यो [३६] **दुराराध्यो** [३७]

:: टीकाः ::

(१)सुखसेव्यः इति, सुखेनैव सेव्यः इति अर्थः. अस्य अयम् आशयो : यद्यपि भक्तबाहुल्यम् अस्ति तथापि यो यद्भावापत्त्या यथा सेवां कर्तुम् इच्छति तस्य तद्भावपूर्तिप्रकारेणैव सुखसम्पादकत्वेनैव सेवाम् अङ्गीकरोति इति ज्ञापनाय उक्तं **सुखसेव्यः** इति. ननु भक्तानां सुखसेव्यत्वं दृष्ट्वा अन्येषामपि सुखसेव्यत्वं भविष्यति इति आशङ्कानिरासाय आहुः **दुराराध्यः** इति, भक्तातिरिक्तानामपि अतिकष्टेन कदाचित् तोषमात्रजनकत्वं सम्भवति नतु सेवाकरणमपि इति ज्ञापनाय उक्तं **दुराराध्यः** इति.

(२)**सुखसेव्यः** इति, सर्वात्मभाववद्भिः भक्तैः **सुखेनैव सेवितुं** योग्यः. तदन्यैः प्रावाहिकैः **दुराराध्यः** दुःखेन सेव्यः इति अर्थः.

(३)**सुखसेव्यः** इति, सुखसेव्यः सर्वदा सुखरूपएव सेव्यो अस्ति नतु कदाचित् क्रोधरूपोऽपि भक्तानाम्. अन्यथा क्रोधस्य दुःखदत्वेन सुखसेव्यत्वं न स्यात्. एतेन अयन्तु तत्सुखदानार्थमेव प्रकटः, भक्ताअपि निरन्तरमेव सेवया तत्स्वरूपानन्दरसरूपाएव तिष्ठन्ति इति सूचितम्. तेन यथा जलसम्बन्धेन अग्निशान्तिः तथा एतादृशभक्तसम्बन्धेन क्रोधाग्निशान्तिः युक्तैव इति सुष्ठु उक्तं नामद्वयम्. ननु तर्हि भक्तद्विडतिरिक्ताः सर्वे अन्ये कथं न सेवन्ते तत्र आहुः **दुराराध्यः** (इति) सर्वेषाम् इति अर्थः. अन्येतु उपासनादिरूपाराधनया तत्तद्देवताभजनं मनसा कुर्वन्तीति सेवाधर्मस्य योगिनामपि अगम्यत्वात्

तत्प्राप्यफलस्यापि अज्ञानात् तेषां तादृशाराधनेन दुष्प्राप्यएव इति ज्ञापितम्. यद्वा **दुःखेन आराध्यो** भक्तानामपि सेवाप्रवीणानामपि महदुःखेन **आराधयितुं** साधयितुं स्ववशं कर्तुं सिद्धिरूपं वा कर्तुं योग्यः. कुतः तदा अज्ञातसेवामार्गगन्धानाम् अन्येषां सेव्यत्वसम्भावना. परं महापुरुषज्ञानेन कदाचिद् दर्शननमनादिव्यवहारः सम्भवति इति कथनेन सूचितम्.

(४/क)**सुख...** इति. पूजाविषयत्वाभावाय **दुराराध्यः** इति.

(४/ख)**सुखसेव्यः** इति, **सुखेनैव सेव्यः** इति अर्थः. तेन पूर्वकृता शङ्का निरस्ता. यद्वा **सुखरूपत्वेन** भगवदेक-शरणेन **सेव्यः** इति अर्थः. ननु सुखसेव्यत्वे सर्वे कथं न सेवन्ते इति चेत् तत्र आहुः **दुराराध्यः** इति, **दुःखेन आराध्यः** इति अर्थः. **दुःखं** वियोगः तेनैव आराध्यः इति अर्थः. तेन सर्वे दुःखं श्रुत्वा विरताएव भवन्ति, रसिकैरेव तद्दुःखे सुखानुभवं ज्ञात्वा सेव्यते इति भावः. यथा व्रजसीमन्तिनीभिः भ्रमरगीते वियोगदुःखेऽपि तत्प्राप्तिं तथाभूतमूलभूतामेव पुनः प्रार्थितवत्यः **"भुजम् अगरुसुगन्धम्"** (भाग.पुरा.१०।५०।२१) इति, ननु उद्धववाक्यैः ज्ञानादिकम् अभूत्, येन दुःखनिवृत्तिः भवेत्. भगवद्वियोगदुःखसुखं ताएव हि ज्ञातुम् अर्हन्ति इति भावः. अतएव उक्तम् आचार्यवर्यैः **"ज्ञानिनामपि..."** (संन्या.निर्ण.२०) (इति) वाक्ये **"न भक्तं मोहयिष्यति"**(तत्रैव) इति. तेन **दुराराध्यत्वं** नाम रसिकसेव्यत्वं तदतिरिक्तानां तथा.

(५)भक्तातिरिक्तासुरेष्वेव दृशो दाहसामर्थ्यं प्रकटयन्ति, भक्तेषुतु कृपापीयूषवृष्टिमेवेति **सुखसेव्यः**. सुखसेव्यत्वेऽपि सर्वेषां दुराराध्यः. आराधनन्तु सर्वभावेन प्रसन्नीकरणं, तत्तु केषाञ्चिद् दामोदरदासप्रभृतीनां जातमिति तथा उक्तं यथा व्रजे भगवान् सुखसेव्यः सर्वेषामेव.

(६)**सुख...** इत्येतेन पूर्वदलम् उक्तं, **दुराराध्यः** इति द्वितीयदलम्. दुःखेन विरहतापेन सेव्यः इति अर्थः.

(७)**सुखसेव्यः** इति **सुखेन सेव्यः** तद् उक्तं **"सुखोपविष्टः पर्यङ्के रामकृष्णोरुमानितः लेभे मनोरथान् सर्वान् पथि यान् स चकार ह"** (भाग.पुरा.१०।३६।१). [२]यद्वा **सुखे** सेव्यः, **"सुखं प्रभाता रजनी..."** (भाग.पुरा.१०।३६।२३) इत्यादि. **"विद्ययाविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम्"** (भाग.पुरा.१०।३६।५५) अक्रूरस्य जले दर्शनम् ईदृशं जातम्. इयं श्रीः यत् सुखम्. सप्तत्रिंशदध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **दुराराध्यः** इति, **दुःखेन** आराध्यः. तद् उक्तम् **"अजो अनुबद्धः स गुणैः अजायाः गुणात् परं वेद न ते स्वरूपम्"**, **"सोऽहं तव अङ्घ्रिम् उपगतो अस्मि असतां दुरापम्"** (भाग.पुरा.१०।३७।३, २८) तथा. [३]यद्वा **दुःखेन आराध्यः** इति, अत्र अयं भावो : मूलस्थानस्थितो भगवान् न आराध्यः, सर्वेषां दुरापत्वाद्; अवतारदशायान्तु आराध्यः, सुलभत्वात्. तत्रच हेतुः भक्तदुःखम्, अतः तथा. भगवतो दुरापत्वज्ञानमेव ज्ञानम्॥३७॥

:: उत्थानिकाः ::

(१)ननु पूर्वं भक्तानामेव सुखसेव्यत्वम् उक्त्वा अन्येषां कष्टेनापि सन्तोषमात्रकथने को हेतुः इति आशङ्कानिरासाय आहुः —

(२)...

(३)ननु पूर्वं सुखसेव्यत्वम् उक्तं पश्चाद् दुःखेन आराध्यत्वम् उक्तम्, अतः भक्तेषु दुःखकथनेन, प्रभोरपि क्लिष्टकर्मत्वम् आयाति इति चेत् तत्र आहुः —

(४/क)सेवायां माहात्म्यज्ञानसिद्ध्यर्थम् —

(४/ख)ननु सद्वस्तुवार्ताश्रवणे सर्वेषामेव मनोरथो भवति तदा कथं न सर्वेषां प्राप्तिः इत्यतः आहुः —

(५)परं सर्वभावेन आराध्यस्तु स्वामिनीनामेव, अतः आहुः —

(६)तापेन सेवनकथनम् अयुक्तम् इति आशङ्क्य तत्र धर्मिग्राहकमेव मानम् आहुः —

(७)अष्टत्रिंशदध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

दुर्लभाङ्घ्रिसरोरुहः [३८]

:: टीका: ::

(१)दुर्लभाङ्घ्रिसरोरुहः इति, अत्र भक्तानाम् अङ्घ्रिसरोरुहयोः कष्टेन प्राप्यत्वकथनेन तत्कष्टस्य अलौकिकत्वम् उक्तं भवति. अङ्घ्रिसरोरुहयोः अलौकिकत्वेन लौकिककष्टप्राप्त्यसम्भवात्. तेन दुर्लभाङ्घ्रिसरोरुहत्वकथनेन दुःखेन चरणारविन्दप्राप्त्या आर्तिरूपेण प्राप्ये चरणसरोरुहे यस्य सः. यत्र भक्तानामपि इयं व्यवस्था तत्र अन्येषां तत्सम्बन्धः सुतरां दूरापास्तइति न अधिकं वक्तव्यम् इति सर्वम् अनवद्यम्.

(२)**दुर्लभाङ्घ्रिसरोरुहः** इति, **दुर्लभे** दुष्प्रापे **अङ्घ्रिसरोरुहे** चरणकमले यस्य इति.

(३)**दुर्लभ...** इति, **दुर्लभः** दुःखेन **लभः** लाभो ययोः एतादृशे **अङ्घ्रिसरोरुहे यस्य. अङ्घ्रिसरोरुहयोः दुःखेन लभ्यत्वोक्त्या 'सरोरुह'**पदेन रसरूपत्वोक्त्या तद्दुःखं सर्वात्मभावजनिततापरूपम् अलौकिकम् इति ज्ञापितं भवति. तेन फलोपयोगित्वात् तत्सुखरूपमेव न लौकिकदुःखरूपम्. एतेन प्रभोरपि अक्लिष्टकर्मत्वं सम्पन्नम्. एवं सति तद्दुःखेन चरणारविन्दयोः साक्षात्सम्बन्धेन हृदये स्थापनेन तन्निवृत्तिः भवति इति निगूढार्थः.

(४/क)**दुर्लभ...** इति.

(४/ख)**दुर्लभाङ्घ्रिसरोरुहः** इति, **दुर्लभे अङ्घ्रिसरोरुहे** यस्य इति अर्थः. स्वचरणं कमलं स्वयं तद्भावं ज्ञात्वा कृपया ददाति नतु मनोरथमात्रेण इति अर्थः. तेनैव एतदर्थप्रकटितरसिक-दैवजीवातिक्तेषु दुर्लभएव इति भावः.

(५)**दुर्लभ...** इति, तयोः सरोरुहत्वं सर्वात्मभाववद्भक्तसन्तापहरणात् तेष्वेव तयोः तथात्वं न अन्येषु. तदेव उक्तं **"कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम्"** (भाग.पुरा.१०।२८।७) इति. अतएव तयोः अन्येषां दुर्लभत्वम् उक्तम्.

(६)**दुर्लभ...** इति, तस्य लाभः सर्वदा स्वान्तःस्थितिः तादृशदुःखेनैव भवतीति तत्स्वरूपमेव तथा इति अर्थः. 'सेवा'पदेन बाह्या उक्ता 'आराधन'पदेन मानसी सा निरूपिता.

(७)**दुर्लभाङ्घ्रिसरोरुहः** इति, **दुर्लभम् अङ्घ्रिसरोरुहं** यस्य. तद् उक्तं **"स्तुवतः तस्य भगवान् दर्शयित्वा जले वपुः भूयः समाहरत् कृष्णः"** (भाग.पुरा.१०।३८।१) इति. **"मथुराम् अनयद् रामं कृष्णं चैव दिनात्यये"** (भाग.पुरा.१०।३८।६), **"प्रतीक्षन्तो अवतस्थिरे"** (भाग.पुरा.१०-।३८।८), **"द्रष्टुं समीयुः त्वरिताः पुरस्त्रियः"** (भाग.पुरा.१०।३८।२४), **"ऊचुः पौराः अहो गोप्यः तपः किम् अचरन् महत्"** (भाग.पुरा.१०।३८।३१), **"अद्य नः सार्थकं जन्म"** (भाग.पुरा.१०।३८।४५), **"पुंसो अत्यनुग्रहो हि एष भवद्भिः यद् नियुज्यते"** (भाग.पुरा.१०।३८।४८), **"निर्जगाम सहाग्रजः"** (भाग.पुरा.१०।३८।५२) इत्यादिभिः भगवच्चरणस्य दुर्लभत्वेन तत्प्राप्त्यर्थं गृहादिपरित्यागो वैराग्यः. तद् उक्तम् **"अश्नन्त्य एकाः तद् अपास्य सोत्सवाः अर्भम् अपोह्य मातरः"** (भाग.पुरा.१०।३८।२६) इत्यादि.

:: उत्थानिका: ::

(१)एवं पूर्वनामार्थनिरूपणेन भक्तातिरिक्तानां सम्बन्धाभावम् उपपाद्य सम्बन्धाभावे पुनः हेत्वन्तरमपि आहुः —

(२)...

(३)ननु तत्तापदुःखनिवृत्त्यर्थम् अन्यानि शीतलानि उपायरूपौषधानि त्यक्त्वा चरणस्थापनं किमर्थं क्रियते. नहि एतावत्पर्यन्तं तापनिवर्तकम् औषधं चरणस्थापनं श्रुतम् इति चेत् तत्र आहुः —

(४/क)सर्वेषां रूपाज्ञानात् सूर्यस्येव —

(४/ख)एतन्नामसाधनीभूतम् अग्रिमं नाम आहुः —

(५)ननु कालप्राबल्यात् सर्वेषामेव ते दुर्लभे तत् कथम् अन्येषाम् इति चेत् तत्र आहुः —

(६)एतस्याः परमत्वसूचनाय तत्र हेतुम् आहुः —

(७)एकोनचत्वारिंशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

उग्रप्रतापो[३९] **वाक्सीधुपूरिताशेषसेवकः**[४०]

:: टीका: ::

(१)उग्रप्रतापः इति, **उग्रो** भक्तातिरिक्तानाम् असह्यः **प्रतापः** तेजो यस्य सः. तेन अन्येषां नैकट्यमपि दुर्लभं कुतः सम्बन्धोऽपि इति अर्थः. ननु यद्यपि भक्तातिरिक्तेषु तेजसो असह्यत्वम् उक्तं तथापि तेजःस्वभावात् कदाचिद् भक्तेष्वपि असह्यत्वं भविष्यति इति आशङ्कानिरासाय अग्रिमं नाम आहुः **वाक्सीधुपूरिताशेषसेवकः** इति. श्रीभागवतार्थनिरूपक**वाक्सीधुना** वचनामृतेन बाह्याभ्यन्तरभेदेन **पूरिताः अशेषाः** सर्वे **सेवकाः** येन सः. वचनानां 'पीयूष'त्वोक्त्या सर्वेन्द्रियसुखजनकत्वं सर्वतापनिवर्तकत्वं च ज्ञापितम् इति भक्तानां पूर्वोक्ततेजोऽसह्यत्वाशङ्कानिरासाय उक्तं **वाक्सीधुपूरिताशेषसेवकः** इति ॥१५॥

(२)उग्रप्रतापः इति, **उग्रः** सर्वप्रतिपक्षोपमर्दकः **प्रतापः** अनुभावो यस्य इति. **वाक्सीधुपूरिताशेषसेवकः** इति, श्रीकृष्णकथारूपा **वागेव सीधुः** अमृतं तेन **पूरिताः** सम्पूर्णमनोरथाः तदतिरिक्ताभिलाषापराङ्मुखाः **सेवकाः** यस्य यस्माद् इति वा ॥१५॥

(३)उग्रप्रतापः (इति), **उग्रः सकलशीतलवस्तुमात्रानपनोद्यः** प्रकृष्टः प्रत्युत तैः प्रवृद्धः **तापो** यस्य. भक्तेः यः तापः सः आचार्यस्वरूपसान्निध्यादेव जातः सच अन्यानपनोद्यः एतच्चरणसम्बन्धादेव गच्छति अन्यथा न इति तादृशतापस्य स्वकृतत्वादेव यथा चरणसरोरुहं तत्र स्थाप्यते. चरणसरोरुहन्तु महारसनिधानमिति तेन तापनिवृत्तिः उचितैव. ननु एतादृशे उग्रप्रतापे सति कथम् एतत्सन्निधौ सेवां कुर्वन्ति तत्र आहुः **वाक्...** इति वचनामृतेन **पूरिताः** पूर्णीकृताः **अशेषाः सेवकाः** येन. एतेन श्रीमदाचार्य-सान्निध्यजनित-प्रचुरताप-तप्तेषु सेवकान्तःकरणेषु तद्वचनामृतसेकेन लीलासहित-श्रीगोकुलजन-जीवनप्राकट्ये सति तत्तापनिवृत्तिः भवतीति सेवामपि कुर्वन्ति इति सर्वम् अनवद्यम्. '**सीधु**'पदेन तदानन्दरसमत्ताएव सदा तिष्ठन्ति इति सूच्यते॥१५॥

(४/क)**उग्र...** इति. स्वीयानां बोधकत्वाय **वाक्...** इति॥१५॥

(४/ख)**उग्रप्रतापः** इति, **उग्रः प्रतापो** यस्य इति अर्थः. तेन भक्तातिरिक्ताः तत्प्रतापदह्यमानाः सन्तः निकटएव गन्तुं न शक्नुवन्ति इति भावः. ननु उग्रप्रतापत्वे भक्तेष्वपि तथा भविष्यति इति आशङ्कायाम् आहुः **वाक्सीधुपूरिताशेषसेवकः** इति, **वाक्सीधुना** वचनामृतेण **पूरिताः** अशेषाः सर्वे **सेवकाः** येन इति अर्थः. यद्वा संसूचितम् अर्थं गोपयन् वाक्सीधुत्वम् उक्तवन्तः. तेन अधरामृतदानेन तथा इति भावः. पूरितत्वोक्त्या उग्रत्वशङ्का निराकृता॥१५॥

(५)**उग्रप्रतापः** इति, यद्यपि सर्वापेक्षया कलिः उग्रः तथापि तदपेक्षयापि एतत्प्रतापो अत्युग्रः, तेन तं बाधित्वा प्रमेयबलेन स्वाङ्घ्रिसरोरुहे स्वान् प्रापयन्ति इति तथा सामर्थ्यम् अनेन नाम्ना सूचितम्. अतएव एतद्भक्ताः कलिं जानन्त्यपि न इति आहुः **वाक्...** इति, पुरुषोत्तमगुणानुवादरूपवागेव **सीधु** सर्वविस्मारकं मादकं तेन अन्तर्बहिः **पूरिताः अशेषाः सेवकाः** येन सः तथा. पुरुषोत्तमलीलावेशेन अन्तःपरमानन्दो बहिःपुलकादिः अन्तर्बहिःपूरणम्. 'अशेष'पदेन मर्यादापुष्टिभेदेन सर्वएव सेवकाः सङ्गृहीताः. तेन यथाधिकारं सीधुपूरणं ज्ञेयम्. अतएव 'दमला' इति स्नेहनाम्नो दामोदरदासान्

प्रति कथानन्तरमपि श्रीमन्महाप्रभुवाक्यम् ''अद्य भगवद्वार्ता न कृता''(८४-वैष्ण.वार्ता.११) इति श्रूयते. तेन यथा मत्ताः सर्वे सेवकाः कलिं न गणयन्तीति वाक्सीधूत्कर्षः उग्रप्रतापोत्कर्षः च उक्तः. वाक्सीधुनः अतिमधुरत्वं चेत् न स्यात् तदा तेन अन्तःपूरणं न स्यात्॥१५॥

(६)**उग्र...** इति, **उग्रो** देहेन्द्रियप्राणविस्मारको असह्यः प्रकृष्टः **तापो** विरहो यस्य. विरहरूपदुःखं विना देहेन्द्रियादिविस्मरणासम्भवात् न अङ्घ्रिसरोरुहलाभो भवति इति भावः. एतेन मानस्याः परमत्वं सूचितम्. पूर्वस्याः सुखरूपत्वे हेतुम् आहुः **वाक्...** इति, गुणस्वरूपकथनादिरूपवागमृतेन सेवकान् पूर्णान् करोति. ततः ते सुखेन देहेन्द्रियादिभिः सेवन्ते इति भावः॥१५॥

(७)**उग्रप्रतापः** इति, **उग्रो** अधिकः **प्रतापो** रजकमारणपरिश्रमो यस्य. अतएव अनुलेपयाचनम्. तद् उक्तम् **''देहि आवयोः अङ्गविलेपम् उत्तमम्''** (भाग.पुरा.१०।३९।२). [२]यद्वा **उग्रः** स्मरकृतः प्रकृष्टः **तापो** यस्याः सा **उग्रप्रतापा**. तद् उक्तम् ''त्वया **उन्मथितचित्तायाः प्रसीद पुरुषर्षभ!''** (भाग.पुरा.१०।३९।१०) सा अस्ति अस्य. तद् उक्तं **''नः पान्थानां त्वं परायणम्''** (भाग.पुरा.१०।३९।१२). [३]यद्वा **उग्रान्** धनुरक्षकान् **प्रतापयति**. तद् उक्तं **''क्रुद्धौ धन्वन आदाय शकले तांश्च जघ्नतुः''** (भाग.पुरा.१०।३९।२०). [४]यद्वा **उग्रः प्रतापः** प्रभावो यस्य. तद् उक्तं **''तेजः प्रागल्भ्यं रूपं च मेनिरे विबुधोत्तमौ''** (भाग.पुरा.१०।३९।२२). [५]यद्वा **उग्रं** कंसं **प्रतापयति**. तद् उक्तं **''कंसस्तु धनुषो भङ्गं...''** इत्यारभ्य **''पश्यन् मरणसन्त्रस्तो निद्रां लेभे न चिन्तया''** (भाग.पुरा.१०।३९।२६-३१) इत्यन्तम्. [६]यद्वा **उग्रस्य** कंसस्य **प्रकृष्टः तापो** यस्मात्. तद् उक्तं **''मण्डलेश्वरमध्यस्थो हृदयेन विदूयता''** (भाग.पुरा.१०।३९।३५) उग्रप्रतापत्वमेव धर्मित्वम्. चत्वारिंशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **वाक्सीधुपूरिताशेषसेवकः** इति, **वागेव सीधु** अमृतं तेन **पूरिताः अशेषाः सेवकाः** येन सः. तद् उक्तम् **''उवाच हस्तिपं वाचा मेघनादगभीरया''** (भाग.पुरा.१०।४०।३).

अत्र अयं भावः : पूर्वं भक्तानां स्नेहभरेण भगवतः कुवलयापीडसमीपे स्थितिं दृष्ट्वा त्रासः समजनि. यदा भगवान् अम्बष्ठं प्रति **''नोचेत् सकुञ्जरन्तु अद्य नयामि यमसादनम्''** (भाग.पुरा.१०।४०।४) इति **वाक्सीधु** उक्तं तच्छ्रवणेन सर्वे **सेवकाः पूरिताः** जाताः इति तथा. [२]यद्वा मथुरास्थभक्तानां तद्**वाक्सीधु** तेन **पूरिताः** इत्यादि. तद् उक्तम् **''उचुः परस्परं ते वै...''** (भाग.पुरा.१०।४०।२२). [३]यद्वा **''प्रजा भोजपतेः अस्य...''** (भाग.पुरा.१०।४०।३७) इत्यादिरूपया अमृतवाचा **पूरिताः अशेषाः सेवकाः** येन इति. इदं भगवतो महद् ऐश्वर्यं यद् वाङ्मात्रेण अशेषसेवकान् पूरयति॥१५॥

:: उत्थानिका ::

(१)एवं सेवकेषु वचनामृतपूरणेन सर्वतापनिवृत्तिः उक्ता. वचनामृतैरपि सेवकानां सर्वतापनिवारकत्वज्ञापनाय आहुः—

(२)...

(३)ननु तानि वचनामृतानि कीदृशानि तत्र आहुः—

(४/क)स्वपक्षपातित्वाय...—

(४/ख)एतन्नामपोषकम् अग्रिमं नाम आहुः—

(५)अतो वाक्सीधुनः पीयूषत्वम् उपपादयन्तः श्रीभागवतामृतसमुद्रावगाहनसामर्थ्यम् आहुः—

(६)तादृशवाङ्मूलभूतं ग्रन्थम् आहुः—

(७)एकचत्वारिंशदध्यायार्थबोधकं नाम आहुः—

:: मूलम् ::

श्रीभागवत - पीयूषसमुद्र - मथनक्षमः [४१]

तत्सारभूत-रासस्त्रीभाव-पूरितविग्रहः [४२]

:: टीका: ::

(१)**श्रीभागवत-पीयूषसमुद्र-मथनक्षमः** इति, **श्रीभागवतरूपो यः पीयूषसमुद्रो** अमृतसमुद्रः तस्य **मथने** तत्सारोद्धारार्थम् आलोडने **क्षमः** समर्थः इति अर्थः. तेन सेवकानां श्रीभागवतार्थाज्ञान-जनिततापोऽपि तदर्थप्रतिपादक-सुबोधिन्यादिरूप-वचनामृतैरपि निवार्यते इति ज्ञापनाय उक्तं **श्रीभागवतपीयूषसमुद्रमथनक्षमः** इति. पूर्वनाम्नि श्रीभागवतस्य अमृतसमुद्रत्वम् उपपाद्य आचार्याणां तन्मथनकर्तृत्वम् उपपाद्य अग्रिमनाम्नि तत्सारोद्धार-कर्तृत्वज्ञापनाय अग्रिमं नाम आहुः **तत्सारभूत-रासस्त्रीभाव-पूरितविग्रहः** इति. अत्र पूरितविग्रहत्वोक्तेः अयम् आशयः : यथा क्षीरसमुद्रमथने क्षीरस्य अमृतापेक्षया न्यूनत्वाद् अमृतस्यैव सारभूतत्वम् उचितम्, अत्रतु समुद्रस्यैव अमृतमयत्वाद् लोके ततः उत्कृष्टपदार्थस्य अभावाद् एतद्भावाद् अतिरिक्तस्य तस्यापि सारत्वं न सम्भवतीति मुक्त्यपेक्षयापि अधिकस्य रासस्त्रीभावस्य सारत्वम् उक्तम्. यथा क्षीरसमुद्रोद्धृतसारस्य भोक्तारो देवाएव नान्ये तथैव एतदुद्धृतसारस्य भोक्तृत्वम् आचार्याणामेव न अन्यस्यापि इति ज्ञापनाय उक्तं **तत्सारभूतरासस्त्री...** इत्यादि. अत्र विग्रहस्य भावपूरितत्वकथनेन यथा देवानाम् अन्तरेव अमृतपूर्तिः न बाह्यतः तथा न प्रकृते, आचार्याणान्तु बाह्याभ्यन्तरभेदेन एतद्भावपूरितत्वमेव न अन्यभावसबन्धोऽपि इति ज्ञापनाय उक्तं **तत्सारभूतरासस्त्रीभाव-पूरितविग्रहः** इति ॥१६॥

(२)**श्रीभागवत-पीयूषसमुद्र-मथनक्षमः** इति, श्रीभागवतमेव **पीयूषसमुद्रः** तस्य उन्**मथने** विचारणे **क्षमः** समर्थः इति अर्थः. **तत्सारभूत-रासस्त्रीभाव-पूरितविग्रहः** इति, **तस्य** श्रीभागवतामृतसिन्धोः मथनानन्तरं **सारांशभूतो** यो **रासः** तन्मण्डलस्थितानां **स्त्रीणां भावो** अनुभवैकवेद्यः, तेन **पूरितो विग्रहो** यस्य ॥१६॥

(३)**श्रीभागवतपीयूष...** इत्यत्र '**क्षमः**'इति पदेन महत् सामर्थ्यं

द्योतितम्. पूर्वन्तु देवासुरैः मिलित्वा सर्वैरेव तत्रापि महता कष्टेन मथनं कृतम्, अधुना आचार्यैः एकस्वरूपेणैव कृतम् इति महद् अलौकिकसामर्थ्यं सूचितम्. एवं सति यथा मथने बिन्दवः उच्छलन्ति तथा एतन्मथने कानिचिद् बिन्दुरूपाणि वचनामृतानि उच्छलितानि. तत्र एकेनैव बिन्दुरूपेण वचनामृतेन अशेषाः सेवकाः पूरिताः. तत्र एकस्मिन्नेव निमग्नाः जाताः, अतएव कुत्रापि उक्तमपि **"तरङ्गोत्क्षिप्तमोक्षेषु पञ्चाध्यायीरसाब्धिषु पुनरुत्थानरहितं चित्रं बिन्दौ निमज्जनम्"**( ) इति तेन वचनामृतस्वरूपम् अत्यलौकिकम् उक्तम्. तेन यस्य बिन्दोः एवंस्वरूपत्वं तस्य सारभूतानां स्वरूपं किमु वक्तव्यम्! इति ज्ञापितम्. ननु भक्तास्तु एकेनैव बिन्दुना मग्नीकृताः परन्तु तदुत्थरत्नानि कीदृशानि कुत्रच उपयुक्तानि तत्र आहुः **तत्सार...** इति, **तत्सारभूत-रासस्त्रीभावाः** तएव रत्नरूपाः तैः स्वयं **पूरितविग्रहो** जातः. तानि रत्नानि अन्यायोग्यत्वात् स्वस्मिन्नेव प्रसाधितानि. तेन तद्रत्नैरेव बाह्याभ्यन्तरशोभा विग्रहस्य उक्ता भवति, नान्यैः. एवंसति एतद्रत्नधारणे एतेषामेव योग्यता न अन्येषाम् इति सूचितम्. तेन एतद्रत्नकृतानिर्वचनीयात्यलौकिकपरमशोभया यादृशम् आचार्याणां स्वरूपम् अस्ति तादृशस्वरूपानुभवस्तु साक्षाच्छ्रीमत्प्रभूणामेव न अन्येषाम् इति ॥१६॥

(४/क)**श्रीभागवत** इति. स्वरूपेण तदमृतयोग्यतायै **तत्सार...** इति.

(४/ख)**श्रीभागवतपीयूष-समुद्रमथनक्षमः** इति, **श्रीभागवत**रूपो यः **पीयूषः** समुद्रः तस्य **मथने** विचारे **क्षमः** समर्थः इति अर्थः. क्षमत्वोक्त्या अन्येषाम् असामर्थ्यज्ञापनेन समुद्रस्य महत्त्वं ज्ञापितम्. यद्वा **श्रीभागवतरूपो** भगवद्भावरूपो यः **पीयूषः** समुद्रः स्वामिनीनाम् अधरादिरसरूपः तस्य **मथने** विचारणे **क्षमः** समर्थः इति अर्थः. किञ्च समुद्रमथनं हि पीयूषप्राप्त्यर्थम् अत्रच समुद्रस्यैव **पीयूषत्वोक्त्या** तन्मथितसारस्य अत्यलौकिकत्वं ध्वन्यते. तदेव अग्रिमनाम्ना निरूपयन्ति **तत्सारभूतरासस्त्री-भावपूरितविग्रहः** इति, तत्समुद्रस्य **सारभूतो** यो **रासस्त्रीभावः** तेन **पूरितविग्रहो** यस्य. तद्**भावपूरितत्वोक्त्या** तन्मुख्यत्वं प्राप्यते. **तत्सारभूत**त्वोक्त्या भगवद्भावस्य सारात्मकत्वमपि व्यज्यते ॥१६॥

(५)यथा पीयूषं सर्वोत्तमो रसः तथा **श्रीभागवतपीयूषसमुद्रः** तदपेक्षयापि उत्तमो रसः. तस्य **मथने** अयमेव **क्षमो** न अन्यो यथा रसो न विरसताम् आपद्येत तत्सारः च उत्पद्येत. अन्यथा रसस्वाभाव्यात् ताम् आपद्येतैव. समुद्रत्वेन अगाधत्वं रत्नाकरत्वं च उक्तम्. अत्र तत्प्रतिपदान्येव रत्नानि. यथा क्षीराब्धिमथनेन तत्सारभूता श्रीः भगवतैव लब्धा तथा एतत्समुद्रमथनेन पुनः-पुनः विचारेण **तत्सारभूतो रासः** तत्सम्बन्धिन्यः **स्त्रियः** च तत्सम्बन्धी यो रसात्मको **भावः** सः एतैरेव लब्धः ॥१६॥

(६)**श्रीभागवत...** इति. तस्य निर्गलितार्थम् आहुः **तत्सार...** इति, लोकेहि समुद्रसारः सुधा, तस्य अयं समुद्रः, तस्यापि अयं सारइति रासस्त्रीभावस्य सर्वोत्कृष्टत्वं सूचितम्. **विग्रहस्य पूरितत्व**कथनेन हृदयस्यैव सर्वस्यैव विग्रहस्य शेषरूपत्वं निरूपितम् ॥१६॥

(७)**श्रीभागवतपीयूष-समुद्रमथनक्षमः** इति, "**पुण्याः बत व्रजभुवो...**" (भाग.पुरा.१०।४१।१३) इति श्लोकोक्त-**श्रिया** युक्तस्य **भगवतः** इमाः **श्रीभागवताः** व्रजसुन्दर्यः तासां **पीयूषसमुद्र-मथनमिव पीयूषसमुद्रमथनं** विरहे प्राणधारणम्. **श्रीभागवताः पीयूषसमुद्रमथने क्षमाः** यस्मात् सः तथा. तद् उक्तम् "**या दोहने अवहनने मथनोपलेपप्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ गायन्ति च एनम् अनुरक्तधियो अश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचिन्तयानाः**" (भाग.पुरा.१०।४१।१५). [२]यद्वा **श्रीभागवताः** वसुदेवादयः तत्सम्बन्धि-**पीयूषार्थं समुद्रमथनमिव** महत्कर्म कंसमारणं, तस्मिन् **क्षमः** समर्थः. तद् उक्तं, "**प्रगृह्य केशेषु चलत्किरीटं...**" (भाग.पुरा.१०।४१।३०) इत्यादि. इदं भगवतो महद् वीर्यं यद् एकाकिनैव कंसमारणम्. द्विचत्वारिंशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **तत्सारभूतरासस्त्रीभावपूरितविग्रहः** इति, **तस्य** कंसमारणस्य **सारभूतो** यः समर्थः **स्त्रीभावः** तेन **पूरितो विग्रहो** देहो यस्य सः. अत्र अयं भावो : यथा दुर्वाससः शापात् निःश्रीकाणां देवानाम् अमृतश्रियौ प्रापयितुम् अमृतमथनम्. तत्रच सर्वेषाम् असामर्थ्ये जाते भगवता स्वयं मथनं कृतम्. ततः हलाहलाद्युत्पत्तिः.

तत्र लक्ष्मीभोक्ता हरिः, पीयूषभोक्तारो देवाः इति. तथा अत्र कंसप्रतापितानां भक्तानां सुखशान्तिसिद्ध्यर्थं कंसमारणम्. तत्र यद्यपि सर्वे यादवाः शूराः परं कंसमारणे असामर्थ्ये जाते, कंसमारणं कृतम्. कंसस्त्रियोः क्लेशोत्पत्तिः. तयोः शिवभक्ताय मागधाय अर्पणम्. ततो वसुदेवादिसुखोत्पत्तिः. तत्र विरहतापतप्यमानानां तासां व्रजसुन्दरीणां **सारभूतो** यो रासे ताम्बूलोच्छिष्टप्रदानेन स्थापितो, "**विरहे अयं सर्वासां ज्ञानदाता भविष्यति**" (सुबो.१०।३०।१३) इतिरूपः स्त्रीभावः तत्पूरितविग्रहो भगवान्. तन्मुखाम्बुजसुधापातारो यादवाः. तद् उक्तं "**तत्र प्रवयसोऽपि आसन् युवानो अतिबलौजसः पिबन्तो अक्षैः मुकुन्दस्य मुखाम्बुजसुधां मुहुः**" (भाग.पुरा.१०।४२।१९) राहुः स्थानापन्नः शङ्खासुरः. [२]यद्वा **तस्य** विद्याध्ययनस्य **सारभूतो रासः** फलं गुरुदक्षिणा इति यावत्, तस्मिन् **स्त्रियाः** गुरुपत्न्याः यो **भावः** पुत्रानयनरूपो तेन **पूरितविग्रहः** कृततत्स्वीकारः. तद् उक्तं "**सम्मन्त्र्य पत्न्या स महार्णवे मृतं बालं प्रभासे वरयाम्बभूव ह**" (भाग.पुरा.१०।४२।३७), "**तथा इति आरुह्य महारथौ रथं...**" (भाग.पुरा.१०।४२।३८) इत्यादि. गुरुदक्षिणायां मृतपुत्रोपादानं यशः ॥१६॥

:: उत्थानिका: ::

(**१**)ननु आचार्याणां विग्रहस्य बाह्याभ्यन्तरभेदेन कथम् एतद्भावपूर्णत्वमेव? इति आशङ्कानिरासाय आहुः—

(२)...

(३)...

(४/क)अन्येषु दानरीतिः—

(४/ख)ननु समुद्रमथनेन अमृतपानं देवानां कारितम् अलौकिकसामर्थ्यार्थम्. अत्र तन्मथनेन तत्सारात्मकभावेन किं कृतम् इति आशङ्क्य तद्भावेन स्वकीयेषु रसपूरणं कृतम् इति अग्रिमनाम आहुः—

(५)तेन सितया भरिता प्रतिमेव पूरितो विग्रहो यस्य सः तथा इति आहुः —

(६)वाक्सीधुपूरणानन्तरकर्तव्यम् आहुः द्वयेन —

(७)त्रिचत्वारिंशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

सान्निध्यमात्रदत्तश्रीकृष्णप्रेमा[४३] विमुक्तिदः[४४]

:: टीका: ::

(१)सान्निध्यमात्रदत्त-श्रीकृष्णप्रेमा इति, **सान्निध्यमात्रेणैव दत्तं श्रीकृष्णप्रेम** येन सः. यदि बाह्याभ्यन्तरभेदेन एतद्रसपूर्णत्वं न स्यात् तदा भक्तानां स्वसान्निध्यमात्रेणैव **श्रीकृष्णप्रेम**दानसामर्थ्यं न स्यात्. यो येन पदार्थेन पूर्णः सएव तद् दातुं शक्नोति नतु अपूर्णोऽपि. प्रेमदाने **'श्रीकृष्ण'**पदोपादानाद् भक्तसहितलीलाविशिष्टे फलात्मके प्रेमदानं सूचितम्. ननु श्रीकृष्णएव प्रेमदाने को हेतुः? इति आशङ्कानिरासाय तद्धेतुभूतं नाम आहुः **विमुक्तिदः** इति, विशिष्टां पुष्टिमार्गीयां साक्षाद्भगवत्सम्बन्धरूपां **मुक्तिं** ददाति इति **विमुक्तिदः**. पुष्टिमार्गे भगवत्सम्बन्धस्य मुक्तित्वकथनस्य अयम् अभिप्रायो : यथा मर्यादामार्गे सायुज्यादिमुक्तेरेव फलत्वं तथा अस्मिन् मार्गे भगवत्सम्बन्धस्यैव फलत्वं न सायुज्यादेः इति ज्ञापनाय मुक्तित्वकथनम्. यथा मुक्तानां पुनः अन्यावस्थाभावः तथैव पुष्टिमार्गीयफलप्राप्तानामपि पुनः अवस्थान्तराभावज्ञापनार्थमपि मुक्तित्वकथनम्.

(२)**सान्निध्यमात्र-दत्तश्रीकृष्णप्रेमा** इति, दैवजीवेषु स्व**सान्निध्यमात्रेण दत्तं श्रीकृष्ण**सम्बन्धि **प्रेम** स्नेहो येन सः तथा, प्रेम्णएव आविमुक्तिस्थायिभावत्वम् इति वा, वस्तुशक्तिरेव प्रयोजिका तत्र. ननु

तेन प्रेम्णा किं भवेत्? तत्र आहुः **विमुक्तिदः** इति, सान्निध्यमात्रेणैव अन्यविषयेभ्यो विशेषतो **मुक्तिम्** अनिच्छां ददाति इति तथा. **वेः** कालाद् इति वा. सालोक्यादितोऽपि **विशिष्टाम्** इति वा. अधिकारिभेदेन **विविधाम्** इति वा.

(३)**सान्निध्यमात्र...** इत्यत्र **'सान्निध्यमात्र'**पदस्य अयं भावः : ते भावास्तु स्वरूपसम्बन्धिलीलारससंवलिताः. स्वरूपन्तु अनिर्वचनीयालौकिकपरमसुगन्धमयम् **"तत्र एका अंसगतं बाहुं कृष्णस्य उत्पलसौरभम्"** (भाग.पुरा.१०।३०।१२) इति, **"भुजम् अगरुसुगन्धं मूर्ध्नि अधास्यत् कदा नु"** (भाग.पुरा.१०।४३।२१) इत्यादिना निरूपितञ्च. तत्सम्बन्धिलीलास्थभक्तानामपि स्वरूपम् एतादृशमेव. तद्भावाअपि लीलास्वरूपभूताः तादृशाएव. एवंसति आचार्याणां तादृशभावस्वरूपत्वेन परमसुगन्धमयत्वं निरूपितम्. तेन भक्तानां सान्निध्यमात्रेण **श्रीकृष्णप्रेम**दानम् उचितमेव. यथा सुगन्धद्रव्यस्य समीपे स्थितस्य अन्यद्रव्यस्य तद्रूपत्वं, यथावा मलयाचले निम्बादीनामपि तद्वत्त्वं तथा तत्सान्निध्यमात्रेण तद्रसात्मकत्वं भवति इति भावः. परन्तु प्रकृते **'दत्त'**पदेन एतद्दत्तत्वेनैव तत्सौगन्ध्यं भवति इति अलौकिकत्वं सूचितम्. ननु तेन प्रेम्णा किं भवेत्? तत्र आहुः **विमुक्तिदः** (इति!) **विशिष्टां** सर्वाधिकां **मुक्तिं** ददाति. अत्र 'विशिष्ट'पदेन पुष्टिफलत्वं मुक्तेः आयाति तथापि 'फल'पदं विहाय **'मुक्ति'**पदकथनस्य अयं भावः : तत्प्रेम्णा क्रमेण तादृशतापात्मकविगाढभावेन तदात्मकतया देहप्राणेन्द्रियादीनां केवलं साक्षात्स्वरूपमात्रे लयएव मुक्तिः साधनदशायाम्. फलदशायान्तु तादृग्भावेन अलौकिकदेहे प्राप्ते तदनन्तरं फलात्मके साक्षात्पुष्टिरूपभगवत्स्वरूपे कोटिकन्दर्पलावण्ये मधुरिमनिधाने दृष्टे प्रत्येकं तत्तदङ्गेऽपि दृष्टे तृप्त्यभावात् तदासक्त्या लीनाः तत्र-तत्र प्रतिक्षणं लयं प्राप्ताः परमानन्दानुभवं कुर्वन्ति इति 'मुक्ति'पदतात्पर्यं सूचितं भवति.

(४/क)**सान्निध्य...** इति. देयस्य असाधारणत्वाय **विमुक्तिदः** (इति).
(४/ख)**सान्निध्यमात्र...** इति, **सान्निध्यमात्रेण** नैकट्यमात्रेणैव दत्तः

श्रीकृष्णप्रेमा येन इति अर्थः. श्रीवल्लभाष्टके एतद् उक्तम् अस्मत्प्रभुचरणैः, ''**स्वामिन् श्रीवल्लभाग्ने क्षणमपि भवतः सन्निधाने**'' (श्रीवल्लभा.७) इत्येतस्मिन् पद्ये. **सान्निध्यमात्र**त्वोक्त्या तत्साधनासाध्यत्वं ज्ञात्वा स्वस्य नैकट्यफलं विचार्य ददाति इति भावः. **दत्तः** इति भूतोक्त्या तद्दाने प्रभूणामेव सामर्थ्यम् इति भावः. '**श्रीकृष्णो**'क्त्या रसात्मकस्य पूर्णपुरुषोत्तमस्य इति भावः. यद्वा **सान्निध्यमात्रे**णैव **दत्तः श्रीकृष्ण**स्य **प्रेम** येन इति भावः. यद्वा **सान्निध्यमात्रात्मको** यः **श्रीकृष्णप्रेमा** येन सः तथा. वियोगः कदापि न भवति इति '**सान्निध्यमात्र**'पदेन व्यज्यते इति भावः. ननु प्रेमदानं भविष्यति, नतु मुक्तिसामर्थ्यम् इति प्राप्तशङ्कायाम् आहुः **विमुक्तिदः** इति, **वि**शेषेण **मुक्तिं** ददाति इति अर्थः. मुक्तौ विशेषोक्त्या अन्यमुक्तिभ्यो विशिष्टां स्वरूपरसात्मिकां ददाति इति भावः.

(५)**सान्निध्य...** इति, यथा अग्निः स्वसान्निध्यमात्रेण अन्यस्मिन् तापम् उत्पादयति तथा महाप्रभवोऽपि स्व**सान्निध्यमात्रे**ण स्वसेवकेभ्यो **दत्तः श्रीः** मुख्यस्वामिनी **कृष्णः** च तयोः सम्बन्धी **प्रेमा** येन इति तथा. यथा अग्निः स्वापेक्षया न्यूनमेव प्रथमं सान्निध्यमात्रेण तापं जनयति अधिकसम्बन्धेतु अधिकं तथा एतेऽपि कुर्वन्ति इति ज्ञापनाय '**सान्निध्यमात्र**'-'**प्रेम**'पदे उक्ते. प्रेम्णः पूर्वावस्थारूपत्वात् महाप्रभूणां पूर्णतारूपत्वम् उक्तम्. प्रेम्णैव विमुक्तिः इति आहुः **विमुक्ति...** इति, **वि**शिष्टा **मुक्तिः** पुष्टिमार्गीया ''**मोक्षो कृष्णस्य चेद् ध्रुवम्**'' (वृत्रा.चतु.व्या.४) इतिरूपा तस्य दाता इति.

(६)**सान्निध्य...** इति, **विमुक्ति...** इति. स्वयं सन्निहितः सन् भक्तसहिते भगवति प्रेम ददाति इति अर्थः. ततो विशिष्टां मुक्तिं ''**को अयम् अद्वैतवादः**'' (अमरु.शत.१०२) इति न्यायेन सर्वत्र लीलाविशिष्टभगवत्स्फूर्तिरूपां ददाति इति अर्थः.

(७)**सान्निध्यमात्र-दत्तश्रीकृष्णप्रेमा** इति, भगवदुपयुक्तपदार्थ-

सान्निध्यमात्रेण दत्तः श्रीणां **कृष्णप्रेमा** येन सः. तद् उक्तं ''**सरिच्छैलवनोद्देशान् मुकुन्दपदभूषितान् आक्रीडान् ईक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम्**'' (भाग.पुरा.१०।४३।२२). [2]यद्वा व्रजभक्त**सान्निध्यमात्रेण** उद्धवाय **दत्तं श्री**युक्त**कृष्णे प्रेम** येन सः. [3]यद्वा उद्धव**सान्निध्यमात्रेण** व्रजवासिभ्यः... तथाच उद्धवागमनात् पूर्वं प्रिये दोषारोपणमेव तदुत्तरन्तु प्रेमएव. तद् उक्तम् ''**इति संस्मृत्य संस्मृत्य नन्दः कृष्णानुरक्तधीः अत्युत्कण्ठो अभवत् तूष्णीं प्रेमप्रसरविह्वलः. यशोदा वर्ण्यमानानि कृष्णस्य चरितानि च शृण्वन्ति अश्रूणि च अस्राक्षीत् स्नेहस्नुतपयोधरा. तयोः इत्थं भगवति कृष्णे नन्दयशोदयोः वीक्ष्य अनुरागं परमं नन्दम् आह उद्धवो मुदा**'' (भाग.पुरा.१०।४३।२८-२९). [4]यद्वा **श्री**युक्त**कृष्णे प्रेम**कथनेन निरूपणम्. चतुश्चत्वारिंशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **विमुक्तिदः** इति, **वि**शिष्टा **मुक्तिः** यस्मात्, तद् विमुक्तिः भगवतो निजरूपं, तद् ददाति. तद् उक्तं ''**पीताम्बरं पुष्करमालिनं लसन् मुखारविन्दं मणिमृष्टकुण्डलम्**'' (भाग.पुरा.१०।४४।१). [2]यद्वा **वि**शेषेण **मुक्तिं** ददाति तद् उक्तम् ''**इति गोप्यो हि गोविन्दे गतवाक्कायमानसाः कृष्णदूते व्रजं याते उद्धवे त्यक्तलौकिकाः**'' (भाग.पुरा.१०।४४।९). [3]यद्वा **वये** कामाय **मुक्तिं** ददाति. तद् उक्तं ''**मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः...**'' (भाग.पुरा.१०।४४।१२) इत्यादि. [4]यद्वा **वि**शेषा **मुक्तिः विमुक्तिः** भक्तिः तां ददति ताः विमुक्तिदाः. तद् उक्तम् उद्धववाक्ये ''**भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या...**'' (भाग.पुरा.१०।४४।२५) इति, ताः सन्ति अस्य. तद् उक्तं ''**हित्वा वृणीत् यूयं यत् कृष्णाख्यं पुरुषं परम्**'' (भाग.पुरा.१०।४४।२६). [5]यद्वा **विमुक्तिं** सायुज्यं **ददाति**. तद् उक्तं भगवद्वाक्ये ''**भवतीनां वियोगो मे नहि सर्वात्मना क्वचित्**'' (भाग.पुरा.१०।४४।२९). [6]यद्वा **वि**शेषा **मुक्तिः** यस्मात् तद् **विमुक्तिः** ज्ञानं, तद् ददाति इति. तद् उक्तम् ''**आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो व्यतिरिक्तो अगुणान्वयः सुषुप्तिस्वप्नजाग्रद्भिः मायावृत्तिभिः ईयते**'' (भाग.पुरा.१०।४४।३१) इति. [6]यद्वा **वि**शेषेण संसाराद् **मुक्तिं ददाति** . तद् उक्तं ''**मयि आवेश्य मनः कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्ति यद् अनुस्मरन्त्यो मां नित्यम् अचिराद् माम् अवाप्स्यथ**'' (भाग.पुरा.१०।४४।३७). [7]यद्वा **वि**शेषेण **मुक्तिः** यस्मात्

सः **विमुक्तिः** भगवान् तेन दीव्यन्ति व्यवहरन्ति ताः सन्ति अस्य. तद् उक्तं ''**दिष्ट्याहितो हतः कंसः...**'' (भाग.पुरा.१०।४४।४०) इत्यादि. [८]यद्वा क्रीडन्ति. तद् उक्तं ''**ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा प्रियाभिः वृन्दावने कुमुदकुन्दशशाङ्करम्ये रेमे**'' (भाग.पुरा.१०।४४।४४). [९]यद्वा स्तुवन्ति. तद् उक्तम् ''**अस्माभिः ईडितमनोज्ञकथः कदाचित्**'' (भाग.पुरा.१०।४४।४४). [१०]यद्वा आशायाः **विमुक्तिं द्यन्ति** ताः सन्ति अस्य. तद् उक्तं ''**परं सौख्यं हि नैराश्यं स्वैरिण्यपि** आह **पिङ्गला तज्जानतीनां नः कृष्णे तथापि** आशा दुरत्यया'' (भाग.पुरा.१०।४४।४८). [१२]यद्वा **विशेषेण मुक्तिः विमुक्तिः** लक्ष्मीः तया **द्योतते**. तद् उक्तं ''**पुनः पुनः स्मारयन्ति नन्दगोपसुतं बत... विस्मर्तुं नैव शक्नुमः श्रीनिकेतैः तत्पदकैः**'' (भाग.पुरा.१०।४४।५१). [१३]यद्वा यासां **विशिष्टा** मुक्तिः ताभिः **दीव्यति** दशविधलीलां करोति. तथाहि : ''**या मया क्रीडता...**'' (भाग.पुरा.१०।४४।-३८) इति [१]क्रीडा. आशात्यागाभावो [२]विजिगीषा. ''**भवतीनां वियोगो मे नहि**'' (भाग.पुरा.१०।४४।२९) इति [३]व्यवहारः. ''**श्रीः** अङ्गाद् न **च्यवते**'' (भाग.पुरा.१०।४४।४९) इति [४]द्युतिः. ''**अस्माभिः ईडितमनोज्ञकथः**'' (भाग.पुरा.१०।४४।४४) इति [५]स्तुतिः. ''**वेणुरवा इमे**'' (भाग.पुरा.१०।४४।-५०) इति [६]मोदः. ''**माध्व्या गिरा हृतधियः**'' (भाग.पुरा.१०।४४।५२) इति [७]मदः. ''**ताः किं निशाः स्मरति**'' (भाग.पुरा.१०।४४।४४) इति [८]स्वप्नः. ''**कथं तद् विस्मरामहे**'' (भाग.पुरा.१०।४४।५२) इति [९]कान्तिः. ''**गत्या ललितया उदारहाससलीलावलोकनैः**'' (भाग.पुरा.१०।४४।५२) इति [१०]गतिः. [१४]यद्वा **विमुक्तिः** उद्धवः तेन दहति विरहज्वरम्. तद् उक्तं ''**व्यपेतविरहज्वराः**'' (भाग.पुरा.१०।४४।५४).

:: उत्थानिका ::

(१)एवं स्वमार्गीयफलस्य सर्वमार्गीयफलाधिक्यं, तस्य च सर्वप्रमाणसिद्धत्वज्ञापनाय अग्रिमं नाम आहुः —

(२)...

(३)ननु पुष्टिफलन्तु फलप्रकरणीयलीलारूपम् एवम् अनुभवेऽपि साक्षात् तत् न सिद्धं, तत्र आहुः —

(४/क)विमुक्तिपदार्थम् आहुः —

(४/ख)मुक्तेः विशेषं ज्ञापयितुं तत्स्वरूपनिरूपकम् अग्रिमं नाम आहुः —

(५)तथा एतावद्दाने तात्पर्यम् आहुः —

(६)ननु भागवते अन्याअपि लीलाः सन्तीति तासामपि अनुभवेन तत्तन्मध्यपातिभक्तभावपूरितत्वमपि भवेद् इत्यतः आहुः —

(७)पञ्चचत्वारिंशदध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

रासलीलैकतात्पर्यः [४५] **कृपयैतत्कथाप्रदः** [४६]

:: टीका ::

(१)रासलीलैकतात्पर्यः इति, **रासलीलायामेव एकं** केवलं **तात्पर्यं** यस्य सः. एतेन साक्षात्स्वरूपसम्बन्धस्यैव सर्वाधिकफलत्वं ज्ञापितम्. यदि मुक्तेरेव एतदपेक्षया अधिकफलत्वं भवेत् तदा भगवान् एतन्मार्गीयफलानुभवं कारयित्वा पश्चाद् मुक्तिं दद्यात्. यद् मुक्तिं दत्वा तदानन्दानुभवं कारयित्वा एतन्मार्गीयं फलं दत्तवान् तस्माद् एतस्यैव मुख्यफलत्वं न अन्यस्य. तस्माद् एतत्फलनिरूपणादेव अस्य फलप्रकरणत्वं नतु प्रकारान्तरेणापि. एतत्सर्वं हृदि कृत्वा आचार्यैः एतस्यैव फलत्वं निरूपितं न अन्यस्य इति ज्ञापनाय उक्तं **रासलीलैकतात्पर्यः** इति. एवं पूर्वोक्तफलस्यैव सर्वाधिकफलत्वम् उपपाद्य प्रकारान्तरेणापि फलत्वप्रतिपादकत्वे हेतुभूतं नामान्तरम् आहुः

कृपयैतत्कथाप्रदः इति, **कृपया एतत्कथा** रासलीलासम्बन्धिनी तां **प्रकर्षेण ददाति** तदर्थानुभवं कारयति इति तथा इति अर्थः. यद्यपि कथायाः शब्दात्मकत्वात् तस्याः कथनमेव दानं तथापि तद्दाने प्रकर्षत्वकथनात्; तत्रच कृपायाएव हेतुत्वकथनात्, यत्र एतत्कृपाव्यतिरेकेण कथनं तत्र कथनमेव न दानम्. यत्र कृपापूर्वकं कथनं तत्रैव दानम्. दाने 'प्र'शब्दोपादानात् तदर्थानुभवो ज्ञाप्यते इत्यतः आहुः **कृपयैतत्कथाप्रदः** इति॥१७॥

(२)**रासलीलैकतात्पर्यः** इति, **रासलीलायामेव एकस्यां तात्पर्यम्** उत्कटेच्छा यस्य. **रासलीलायाम् एकम्** असाधारणं **तात्पर्यं** यस्य इति वा. सतीष्वपि अन्यासु लीलासु भरो अत्रैव इति भावः. **कृपयैतत्कथाप्रदः** इति, **कृपया** भक्तवात्सल्यावलम्बनमात्रेणैव अतिदुर्लभायाअपि **एतत्कथायाः** रासस्मबन्धिन्याः प्रकृष्टो **दाता** इति अर्थः॥१७॥

(३)**रासलीलैकतात्पर्यः** (इति). तत्र **एकं** मुख्यं **तात्पर्यं** यस्य इति तद्दानार्थमेव एतावत्कृतिः. अत्र अयं भावो : रासलीलाफलन्तु सर्वात्मभावप्रपत्तिसाध्यं, पूर्वं चेद् एवम्प्रकारकः सर्वात्मभावो भवेत् तदा तत्फलं भवेत्. एतेन अलौकिकदेहसम्पत्त्यनन्तरमेव एतादृशो भावो अपेक्षितः तत्प्राचुर्येणैव फलभोगारम्भे फलानुभवे च तत्तद्रसानुभवो भवति इति भावोऽपि ज्ञायते. ननु इयं रीतिस्तु फलदशायां साधनदशायाम् एतेषां तत्प्रेमदानेऽपि एतादृशो भावः कथं सम्भवति? तत्र आहुः **कृपया...** इति, तत्प्रेमदानानन्तरं चेत् कृपयेत् तदा रासलीलास्थानां कथां दद्यात्. दाने प्रकर्षेण स्वीयेषु लीलाभक्तानां भावदानमेव करोति इति भावः. एवंसति सान्निध्यमात्रेण श्रीकृष्णप्रेमदानं भवति तेन रासलीलाश्रवणात् तद्भावोदयः, ततो विकलत्वास्वास्थ्यादिरूपतद्रसानुभवः, ततः तादृशे सर्वात्मभावे जाते लीलोपयोगिदेहप्राप्तिः एवं साधनदशा उक्ता. ततः फलदशायां पूर्वोक्तरीत्या रसदानं करोति इति निगूढाशयः. किञ्च कृपया प्रकर्षेण दानम् उक्तं तेन श्रीमदाचार्याः स्वयं चेत् साक्षाद् एतद्दानं कुर्युः तदा तद्भावो भवेत् न अन्यथा. अन्यदातु तत्प्रेम्णा मुक्तिरेव सर्वेषाम् इति भावः॥१७॥

(४/क)**रासलीला...** इति. योग्यतया दानम् आहुः **कृपया...** इति॥१७॥

(४/ख)**रासलीला...** इति. **रासलीलायाम् एकं** मुख्यं **तात्पर्यं** यस्य. मुख्यत्वोक्त्या अन्यलीलानुसन्धानाभावः सूच्यते. यद्वा **रासलीलायाम् एको** भगवान् अस्मिन् **तात्पर्यं** यस्य इति भावः. **कृपयैतत्कथाप्रदः** इति, **कृपया एतत्कथां प्रकर्षेण** ददाति इति अर्थः. दाने प्रकर्षोक्त्या तत्सम्बन्धमपि ददाति इति भावः॥१७॥

(५)**रासलीला...** इति, "मदङ्गीकृताः महाफलरूपाः **रासलीलाः** रसाब्धिषु प्रविशन्तु" इति **तात्पर्ययुक्तः**. अत्र अयम् आशयः : प्रेमादिव्यसनान्तायाम् अवस्थायामिव सर्वत्यागः ततो रासलीलाप्रवेशे भजनानन्दानुभवः इति. तदर्थम् एतावत्करणम्. इयं परमरहस्यलीला इति आहुः **कृपया...** इति, यत्र सेवकेषु कृपातिशयः तत्रैव एतत्कृपादानं न अन्येषु इति अर्थः. अत्र 'कथाश्रावयिता' इति अनुक्त्वा 'तत्प्रदः' इति यद् उक्तं तेन भावान्तरमपि बोध्यते : साक्षाच्छ्रीमुखनिर्गतकथया वेणुगीतेनेव गुणलीलाविशिष्टं स्वरूपं स्वामिनीनामिव अङ्गीकृतदासानाम् अनुभूतं भवतीति सफलतद्दानमेव सम्पन्नम् इति. तथा उक्तं "**तच्च शब्दम्...**" (?)इति विरहतापमेव उत्पादयति॥१७॥

(६)**रासलीला...** इति, सर्वासाम् अनुभवेऽपि **तात्पर्यं** तत्रैव इति अर्थः. अतएव शुकेनापि फलप्रकरणे सैव उक्ता. अन्येषामपि तत्सिद्ध्यर्थम् उपायकर्तृत्वम् आहुः **कृपया इति**॥१७॥

(७)रासलीलैकतात्पर्यः इति, रससमूहो **रासः** तत्सम्बन्धिन्यां **लीलायाम् एकं तात्पर्यं** यस्य सः. तद् उक्तम् "**अथ विज्ञाय भगवान् सर्वात्मा सर्वदर्शनः सैरन्ध्र्याः कामतप्तायाः प्रियम् इच्छन् गृहं ययौ**" (भाग.पुरा.१०।४५।१) इत्यादि. "**रसो वै सः**" (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुत्या रसो भगवान् तस्य इमे **रासाः** भक्ताः तत्सम्बन्धिन्यां **लीलायाम् एकं** मुख्यं **तात्पर्यं** यस्य सः. अतएव अक्रूरगृहे गत्वा पाण्डववृत्तज्ञानार्थं

तं प्रेषितवान्. तद् उक्तं **"जिज्ञासार्थं पाण्डवानां गच्छस्व त्वं गजाह्वयम्"** (भाग.पुरा.१०।४५।३२) इत्यादि. **"जनो वैराग्यम् इति उक्तं तापनाशकता यतः"** (?) इति उक्तेः भक्ततापनाशनम् अत्र वैराग्यम्. षट्चत्वारिंशाध्यायार्थ-बोधकं नाम आहुः **कृपया एतत्कथाप्रदः** इति, भक्तरक्षण-हेतुभूतया **कृपया** धृतराष्ट्राय अक्रूरद्वारा **एताम्** **"वर्तमानः समः स्वेषु श्रेयः कीर्तिम् अवाप्स्यसि"** (भाग.पुरा.१०।४६।१८) इत्यादिरूपां **कथां** **प्र**कर्षेण **ददाति.** तद् उक्तं **"स गत्वा हास्तिनपुरम्..."** (भाग.पुरा.१०।४६।१) इत्यादि. अत्र पञ्च पदानि अष्टौ वर्णाः समस्तं च एकं वाक्यं, मिलित्वा सर्वे चतुर्दश. तेन द्विविधो धर्मी बोधितो, अलौकिकभावविशिष्टो लौकिकभावविशिष्टः च. तेन पूर्वार्द्धसमाप्तिः उत्तरार्धारम्भः च द्योतितौ. तद् उक्तं निबन्धे **"अलौकिकेन भावेन यावद्धि भगवत्कृतः स पूर्वार्द्धो हरेः स्वस्य धर्मः तादृश उच्यते. लोकधर्मं पुरस्कृत्य यत् चकार यदूद्वहः अस्वभावाद् उत्तरार्धकार्यं तत्तु प्रकीर्तितम्"** (त.दी.नि.३।१०।१-२) अथवा पञ्चभिः पदैः दशमार्धसमाप्तिः अष्टाभिः अक्षरैः षड् धर्माः द्विविधो धर्मी च॥१७॥

इति श्रीमथुरानाथसूरिसूनु-गोस्वामिद्वारकेश-विरचितायां
सर्वोत्तमव्याख्यायां दशमस्कन्धपूर्वार्धबोधकानि
नामानि विवृतानि

:: उत्थानिका: ::

(१)यद्यपि रासलीलाप्रदत्वकथनेनैव तत्प्रतिपाद्योभयरसानुभवस्य श्रोतॄणां तदीयानां तद्रसभावनया रसानुभवः सिध्यति तथापि केवलो विप्रयोगभावो भावान्तररहितः स्वतन्त्रतया तत्तदवस्थाभेदेन विकलत्वम् अस्वास्थ्यं मूर्च्छा पुनर्जागरणं तादात्म्येन यत्किञ्चित् स्वास्थ्यं प्रलापाद्यवस्थाभेदेन अनुभवसिद्धय-र्थकथनत्वज्ञापनाय उक्तम्—

(२)...

(३)ननु कथादानानन्तरम् एतद्भावे सत्यपि कदाचित् इतरसङ्गेन तद्भावो गच्छेत् तत्र आहुः—

(४/क)परमफलदातृत्वम् आहुः—

(४/ख)स्वीयानां तत्प्राप्त्यर्थं प्राप्तिसाधनम् उपदिशति इति अभिज्ञापकम् अग्रिमं नाम आहुः—

(५)तदनुभवश्च सर्वत्यागं विना न इति तदर्थं तदुपदेष्टृत्वम् आहुः—

(६)ननु तासामपि सर्वासाम् अन्तर्द्धानप्रकारेण त्यागात् न अयमपि भावः सर्वोत्कृष्टः? इति आशङ्कायाम् आहुः—

(७)अथ श्रीवल्लभाचार्यान् विप्रयोगप्रदायकान्।
नत्वोत्तरार्द्धार्थ-बोधकानि नामानि वच्म्यहम्॥

सप्तचत्वारिंशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः—

:: मूलम् ::

विरहानुभवैकार्थसर्वत्यागोपदेशकः[४७] **भक्त्याचारोपदेष्टा च**[४८]

:: टीका: ::

(१)विरहानुभवैकार्थसर्वत्यागोपदेशकः इति, **विरहानुभव**एव **एकः** केवलो **अर्थः** प्रयोजनं तन्निमित्तको यः **सर्वत्यागः** **तदुपदेशकः** इति अर्थः. यद्यपि रासलीलायामपि विप्रयोगभावो अस्त्येव तथापि तत्र **"कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः"** (भाग.पुरा.१०।२७।१५) इति लीलाभिनिवेशभावकथनात् तृतीयाध्यायेऽपि आद्यश्लोके अनौचित्यप्रतिपादनात् द्वितीयादिश्लोकेषु उपालम्भप्रार्थनादिभावनिरूपणात् न केवलत्वम्. **उपदेशक**र्तृत्वकथनेन तदुपदेशप्रकारस्थितौ एतद्भावो भवति इत्यपि ज्ञापनाय **उपदेशकः** इति उक्तम्. एवं विरहानुभवे हेतुं त्यागोपदेशकर्तृत्वम् उक्त्वा भक्तिमार्गस्थैर्यार्थं

भक्त्याचारोपदेशकर्तृत्वम् आहुः **भक्त्याचारोपदेष्टा च** इति, **भक्ति**मार्गीयो यः **आचारः** आचरणम् अन्याश्रयराहित्येन निरुपधिभावेन फलत्वज्ञानपूर्वकं सेवाकरणं **तदुपदेशकर्ता** इति अर्थः. स्वस्यापि तथाकर्तृत्वज्ञापनाय **च**कारः.

(२)**विरहानुभवैकार्थसर्वत्यागोपदेशकः** इति, गोपीनां **विरहकाले** यो रसः सो अत्र **'विरह'**पदेन उच्यते. तेन तद्रसानुभवरूपएव **एकस्मिन् अर्थे सर्वस्य** गृहादेः **त्यागस्य** न्यासस्य **उपदेष्टा** इति अर्थः. तद्रसानुभवायैव **एकस्मै अर्थाय** प्रयोजनाय इति वा. **भक्त्याचारोपदेष्टा च** इति, **भक्तेः** सेवायाः **आचारः** आचरणं तस्य अवश्यकर्तव्यत्वेन **उपदेशकर्ता** इति ज्ञेयम्.

(३)**विरहानुभवैकार्थ...** इति, स्वीयानाम् एतद्भावेन यथा **विरहानुभवो** भवेत् तद्**अर्थ**मेव **सर्वत्यागोपदेश**कर्ता. तेन इतरसङ्गाभावेन उत्तरोत्तरं तद्भावतरङ्गाः उच्छलिताः भवेयुः इति विरहानुभवोऽपि भवेत्. सच चक्षूरागः प्रथमम् इति अवस्थाप्रकारेण विकलत्वास्वाथ्यादिरूपो भवति. ननु परित्यागानन्तरं यथा सन्न्यासिना स्वाश्रमे स्थित्वा तदुक्ताचरणं क्रियते तथैव एतेनापि कर्तव्यं किञ्च अन्यद् इति चेत् तत्र आहुः **भक्त्या...** इति, **'भक्ति'**शब्देन अत्र स्नेहः, तत्सम्बन्धि **आचरणं तदुपदेष्टा.** एतेन तत्परित्यागानन्तरं यथा सः स्नेहः पुष्टो भवेत् तदेव कर्तव्यं न अन्यद् आश्रमधर्मादिकं मुख्यतया. आश्रमाङ्गीकारस्तु स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थमिति. एतत् सर्वं यथा तथा सन्न्यासनिर्णये निरूपितम् इति सर्वम् अनवद्यम्.

(४/क)**विरह...** इति. ततः पूर्वं स्थितिहेतुम् आहुः **भक्त्या...** इति.

(४/ख)**विरहानुभवैकार्थ...**इति, **विरहस्य अनुभवैकार्थम्** अनुभावार्थं **सर्वत्यागोपदेश**कर्ता इति अर्थः. जीवानां भगवद्दर्शनानन्तरं स्त्रीभावप्राप्तौ निरन्तरं सान्निध्येन मानादिदोषो भवति तेन साक्षात्कारे विलम्बो भवति. तन्नाशार्थं **सर्वत्यागोपदेशकः** इति अर्थः. यद्वा स्वस्य प्रभुविरहे तावान् तापो भवति. स्वामिनीवियोगे भगवतोऽपि एवमेव भविष्यतीति दासीभावपूर्वकं

तन्मिलनार्थं यत्नादिकरणार्थं तदुपदेशकः इति भावः. यद्वा भगवद्विप्रयोगे स्वस्य एतावान् क्लेशो भवति तथा तद्भावानन्तरं भगवतोऽपि एवं भविष्यति इति निश्चित्य पुनः मानादिकं न भवति तदर्थं तदुपदेशकः इति अर्थः. यद्वा वियोगे यो अनुभवः पूर्वानुभूतलीलामयत्वं यथा व्रजसीमन्तिनीनां **''तास्ता विचेष्टाः जगृहुः तदात्मिकाः''** (भाग.पुरा.१०।२७।२) इतिवत् सएव **अर्थः** प्रयोजनं यस्य तादृशो यः सर्वथा **त्यागः** तस्य **उपदेशकः** इति भावः. **तदुपदेशको**क्त्या क्लेशानन्दानुभवात्मकमार्गप्रकाशकः इति अर्थः. तत्प्रकाशने न एतन्मार्गोन्मुखानां तथात्वं भावोदयो 'मम' इति भवति. यद्वा विशिष्टो रहो **विरहः** एकान्तः; इति तस्य **अनुभवार्थं** यः **''सन्त्यज्य सर्वविषयान्''** (भाग.पुरा.१०।२६।३१) इति रूपः त्यागः तदुपदेशकर्ता इति भावः. ननु एतद्भावे सति दासभावाभावो भविष्यति इत्यत्र आहुः **भक्त्याचारोपदेष्टा च** इति, **भक्त्यर्थं** योऽयम् **आचारः** तस्य **उपदेष्टा** इति अर्थः. **च**कारेण कारयितापि इति अर्थः. एवं भगवत्प्राप्त्यनन्तरं तद्रसमदेन प्रमदात्वमदानुभूतमानानन्तरं भक्त्यर्थं पादसंवाहनाद्युपचारोपदेशकर्ता इति अर्थः.

(५)**विरह...** इति, कदाचित् स्वमार्गीयस्य संसारविरतौ सेवामपि विहाय मर्यादामार्गीयसन्न्यासे रुचिः न भवेत् तन्निषेधार्थं सन्न्यासनिर्णयकरणम्. तत्र सेवाकथाभ्यां व्यसनपर्यन्तभावोत्पत्तौ तदनुभवार्थमेव त्यागः कर्तव्यो न अन्यथा इति उपदेशः कृतः. अतः तदुपदेशकर्तृत्वम् उक्तम्. **'एक'**पदेन विधिः प्राप्तादृष्टार्थता निवारिता. **'सर्व'**पदेन सेवाकथादीनामपि स्वास्थ्यहेतुत्वात् परित्यागः उक्तः. यद्वा स्त्रीशूद्रादीनामपि भक्तौ पुष्टायां त्यागः उक्तप्रकारः तत्करणे सा पुष्टा भवतीति तदुपदेष्टा.

(६)**विरह...** इति, ''विरहभावानुभवार्थमेव बाह्यरीत्या सर्वासां त्यागं कृतवान् (द्रष्ट. : भाग.पुरा. १०।२७।४८), अन्तस्तु प्रकटएव'' इति, भक्तेभ्यः **उपदेशं** करोति तेन पूर्वाशङ्का निरस्यते इति भावः. अयं परोक्षभजनोपदेशो भगवता आस्येन कृतइति एतेषाम् आस्यरूपत्वात् तदुपदेष्टृत्वम् उक्तम्. **'एक'**पदेन इदमेव प्रयोजनं नतु अन्यद् ज्ञेयम् इति सूचितम्. तत्र प्रश्नानुरोधात्

साधारणनिर्णयोऽपि कृतः इति आहुः **भक्त्याचार...** इति, **भक्तीनां** मिथोभजनान्यतरभजनानां ये **आचाराः** तद्**उपदेष्टा** इति अर्थः. एतन्निर्णयस्य गौणत्वबोधनाय **च**कारः.

(७)**विरहानुभवैकार्थ-सर्वत्यागोपदेशकः** इति, **विरहस्य** दुःखस्य **अनुभवएव एकः** मुख्यो **अर्थः** तस्मै **सर्वस्य** गृहभोगादेः **त्यागम्** उप समीपे **दिशति**. तद् उक्तम् "**अस्तिः प्राप्तिश्च कंसस्य महिष्यौ भरतर्षभ मृते भर्तरि दुःखार्ते ईयतुः स्म पितुर् गृहान्**" (भाग.पुरा.१०।४७।१). [2]यद्वा **विरहस्य** गोपीजनविरहस्य **अनुभवः** साक्षात्कारः **एकः** केवलं **तदर्थं सर्वस्य** भरतखण्डस्य **त्यागम् उपदिशति**. [3]अथवा **विशिष्टैः** रजस्तमस्सत्त्वप्रकृतिभिः **रह्यते** त्यज्यते इति **विरहो** भगवद्धाम द्वारका तस्य **अनुभवः तदर्थम्**. तद् उक्तं "**तस्माद् अद्य विधास्यामो दुर्गं द्विपददुर्गमं तत्र ज्ञातीन् समाधाय यवनं घातयामहे**" (भाग.पुरा.१०।४७।४९). तथाच यदि भगवान् द्वारकां न गच्छेद् अत्रैव तिष्ठेत् तदा वृन्दावनादिसामीप्यात् स्वस्य भक्तानां च पूर्णो विरहानुभवो न भवेत् तदर्थं तत्र गमनम् इति गूढाभिसन्धिः. [4]यद्वा **विरहे** (सति) **अनुभवः** उद्भवो यस्य सः **विरहानुभवः** संयोगः, **तदर्थम्** इत्यादि पूर्ववत्. तथाच "**ये यथा मां प्रपद्यन्ते**" (भग.गीता.४।११) इति वाक्यात्. यथा व्रजसीमन्तिनीनां "**सरिच्छैलवनोद्देशाः गावो वेणुरवाः इमे पुनः-पुनः स्मारयन्ति**" (भाग.पुरा.१०।४४।५०) तथा भगवतोऽपि यत्र कुत्रचित् गमने तेषां दर्शने ते स्मारकाः भवन्ति इति भगवतोऽपि विरहो अनुरुणद्धि तेन पुरयोषितां संयोगसुखं पूर्णं न भवति इति तदर्थं **सर्वत्यागम् उपदिशति**. तद् उक्तम् "**अन्तःसमुद्रे नगरं कृत्स्नाद्भुतम् अचीकरद्**" (भाग.पुरा.१०।४७।५०) इत्यारभ्य आसमाप्ति. अत्र '**विरह**'पदेन उत्तरार्द्धारम्भः सूचितः, सर्वत्यागोपदेशेन साधनप्रकरणं च, उपदेशकत्वेन ऐश्वर्यम्. अष्टचत्वारिंशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **भक्त्याचारोपदेष्टा** इति, आचरणम् **आचारः** भक्त्यर्थम् आचारः **भक्त्याचारः** तस्य **उपदेष्टा**. तद् उक्तं "**वरं वृणीष्व भद्रं ते ऋते कैवल्यम् अद्य नः एकएव ईश्वरः तस्य भगवान् विष्णुः अव्ययः**" (भाग.पुरा.१०।४८।२०). तथाच

यत्र मुक्तिः एवं देवैः न दातुं शक्यते तत्र मुक्त्यधिक-भक्तिदानासामर्थ्ये किमु वाच्यम्! इति भक्तिप्राप्तीच्छायाम् अनन्यशरणैः श्रीकृष्णकृपैव सम्प्रार्थ्या इति फलति. अतएव भगवता उक्तं "**प्रार्थितः प्रचुरः पूर्वं त्वया अहं भक्तवत्सलः**" (भाग.पुरा.१०।४८।४३). [2]यद्वा **भक्तिः** च **आचारः** च **भक्त्याचारौ** तस्य **उपदेष्टा**. तद् उक्तम् "**अस्त्वेव नित्यदा तुभ्यं भक्तिर् मयि अनपायिनी**" (भाग.पुरा.१०।४८।६२) "**न धीः मयि एकान्तभक्तानाम् आशीभिः भिद्यते क्वचित्**" (भाग.पुरा.१०।४८।६०). [3]यद्वा **भक्तेः आचारः** भक्त्याचारः "**हतात्मनो हृतप्राणान् च भक्तिः अनिच्छतो गतिम् अण्वीं प्रयुङ्क्ते**" (भाग.पुरा.३।२५।३६) इति वाक्योक्तः, तस्य उपदेष्टा. तद् उक्तं "**भूत्वा द्विजवरः त्वं वै माम् उपेष्यसि केवलम्**" (भाग.पुरा.१०।४८।६४) भक्तीच्छोः मुक्तिदानम् अतिमानुषं कार्यं वीर्यम्. "**इत्थं सो अनुगृहीतो अङ्ग!**" (भाग.पुरा.१०।४९।१) इत्यादि. "**मागधो ययौ**" (भाग.पुरा.१०।४९-।१४) इत्यादेः अर्थबोधकः 'च'कारः.

:: उत्थानिका: ::

(१)एवम् भक्त्याचारोपदेशकर्तृत्वम् उक्त्वा अग्रे कर्ममार्गप्रवर्तकत्वकथनस्य अयम् आशयो : यदि केवलभक्तिमार्गोपदेशं कृत्वा स्वीयेषु वर्णाश्रमाचारधर्मान् न प्रवर्तयेत् तदा बहिर्मुखानां स्वप्रवर्तितभक्तिमार्गे दोषारोपात् स्वमार्गस्यापि दोषारोपहेतुत्वम् आपद्येत इति निर्दोषत्वज्ञापनार्थम् आहुः —

(२)...

(३)ननु सर्वाश्रमश्रेष्ठे संन्यासे कृतेऽपि यत्र तदाश्रमधर्माचरणं गौणं तत्रापि यत् त्याज्यं तत् कर्माद्याचरणन्तु प्रायशो न भविष्यत्येवेति वेदोक्तानाचरणे मार्गे अप्रामाण्यशङ्का भवेत् तत्र आहुः —

(४/क)वेदसार्थकत्वाय...

(४/ख)एवं भक्त्याचारोपदेशकत्वम् उक्त्वा कर्ममार्गस्यापि प्रवर्तकत्वम् आहुः —

(५)ननु वैदिकाचारस्य का गतिः ? इत्यतः आहुः —

(६)''अनयाराधितो... (भाग.पुर.१०।२७।२८) इत्यादिना सेवायाः विशेषतोषहेतुत्वकथनात् तन्मार्गप्रवर्तकत्वम् आहुः —

(७)नवचत्वारिंशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

कर्ममार्गप्रवर्तको[४९] **यागादौ भक्तिमार्गैकसाधनत्वोपदेशकः**[५०]

:: टीकाः ::

(१)कर्ममार्गप्रवर्त्तकः इति ॥१८॥ एवं कर्ममार्गप्रवर्तकत्वे हेतुम् उक्त्वा स्वस्यापि यागकरणं स्वीयानां भक्तिमार्गापराधाभावशिक्षार्थमेव न अन्यार्थम् इति ज्ञापनाय उक्तं **यागादौ भक्तिमार्गैकसाधनत्वोपदेशकः** इति, **यागः आदिः** यस्य दानादेः सो **यागादिः** तस्मिन् **यागादौ, भक्तिमार्गस्य एकं** मुख्यं यत् **साधनत्वं** तदु**पदेशकः**. ननु स्वस्य यागकरणेन कथं भक्तिमार्गापराधनिवृत्तिः ? इति चेत् सत्यं, भक्तिमार्गे अस्ति अपराधद्वयं : देव-तान्तरसम्बन्धो भक्तिमार्गीयफलाभावः च. आचार्यैः स्वयं यागकरणेन स्वीयानाम् अपराधद्वयं निवारितम्. यतो देवतायागो भगवद्विभूतित्वेनैव कृतो नतु स्वतन्त्रदेवतात्वेन. अतएव देवतानां स्वातन्त्र्याभावपूर्वकं भगवद्विभूतित्वेन यजनं युधिष्ठिरेणैव प्रभुं प्रति विज्ञापितं **''यक्ष्ये विभूतीः** भवतः **तत् सम्पादय नः प्रभो''** (भाग.पुरा.१०।६९।३) इति न अत्र विचारणीयं किञ्चित्. तस्यापि फलत्वेन भक्तेरेव उद्देशः कृतो नतु स्वर्गादेरपि इति एतावती शिक्षा तदीयैः तद्यागकरणेनैव ज्ञाता न अन्यथा इति ज्ञापनाय उक्तं **यागादौ भक्तिमार्गैकसाधनत्वोपदेशकः** इति.

(२)**कर्ममार्गप्रवर्तकः** इति, श्रौतस्मार्तादिकर्मणां यो **मार्गः** पद्धतिः

तस्य **प्रवर्तको** लोकसङ्ग्रहार्थम् इति अर्थः ॥१८॥ **यागादौ भक्तिमार्गैकसाध-नत्वोपदेशकः** इति, **यागो** अग्निहोत्रादिः **'आदि'**शब्देन तपोदानादयोऽपि. तेषु सर्वेष्वपि **भक्तिमार्गएव एकस्मिन् साधनत्वं** प्राप्तिसाधनत्वम् उपदिशति नतु आहत्य ज्ञानएव. इदन्तु साधनदशापन्नभक्तावेव नतु फलदशापन्नायामपि इति ज्ञेयम्.

(३)**कर्म...** इति, अन्येषां कर्तृत्वे कः सन्देहः ? यः प्रवर्तकः सोऽपि स्वयं कृत्वैव प्रवर्तयति अन्यथा विध्यज्ञानात् स्वयं कथं प्रवृत्ता भवेयुः. एतेन वेदोक्तकर्मकर्तृत्वेन अप्रामाणिकत्वं निरस्तम् ॥१८॥ तर्हि कर्मकर्तॄणाम् **''अग्निष्टोमेन...''** (आप.श्रौ.सू.१०।२।१) इति श्रुत्यु(श्रौतसू-त्रो!)क्तत्वात् स्वर्गादिफलमेव भवति यथा, तथा भक्तानामपि भविष्यति तत्र आहुः **यागादौ...**इति, एतेन भक्तेषु कर्मकरणोपदेशो भक्तिसाधनत्वेनैव न स्वर्गादिफलसाधकत्वेन इति सूचितम्. यद्यपि कर्मणां साक्षाद्भक्तिसाधनत्वमपि नास्ति तथापि कापट्येन लोकसङ्ग्रहार्थं भगवदाज्ञारूपत्वेन करणे भक्तिसाधनत्वेनैव तत्कृतिः उचिता इति न स्वर्गादिफलं भक्तानाम्.

(४/क)**कर्ममार्ग...** तदङ्गत्वेन इति अर्थः ॥१८॥ तथापि मार्गान्तरानिरू-पणाय **यागादौ...** इति.

(४/ख)**कर्ममार्ग...** इति, **कर्ममार्गस्यापि प्रवर्तकः** इति अर्थः. भक्तेः उपदेशकत्वम् उक्तं कर्ममार्गस्य प्रवर्तकमात्रत्वम्. अन्यथा लोके कर्ममार्गोच्छेदः स्यात्. तथाच उक्तं भगवता **''यद्-यद् आचरति श्रेष्ठः तत्-तदेव इतरो जनः स यत्प्रमाणं कुरुते लोकः तद् अनुवर्तते''** (भग.गीता.३।२१) ॥१८॥ साधारणत्वेन कर्ममार्गप्रवर्तकत्वम् उक्त्वा मुख्यत्वेन आहुः **यागादौ...** इति, **यागादि**कर्मकरणे **भक्तिमार्गस्य साधनत्वस्य उपदेशकः** इति अर्थः. तद्विभूतित्वेन यागकरणे भक्तिः भवति यथा युधिष्ठिरेण कृतम्, **''यक्ष्ये विभूतीः भवतः...''** (भाग.पुरा.१०।६९।३) इति. यद्वा **यागादौ भक्तिः**(इति), **यागादौ** अन्नकूटादौ **भक्तिमार्गसाधनत्वेन उपदेशः** इति अर्थः.

(५)**कर्म...** इति, कर्ममार्गो वैदिकाचारः, तस्यापि प्रवर्तकः. अनेन अस्मिन् मार्गे कर्मात्यागात् पाषण्डाभावः उक्तः. उभयसमुच्चयार्थः चकारः ॥१८॥ ननु तथापि तन्मार्गस्य अत्र क्व उपयोगः ? इति आशङ्क्य आहुः **यागादौ** इति, यागादयोऽपि भक्तिमार्गैकसाधनानि नतु स्वर्गादीनां, मुख्यफलार्थमेव वेदप्रवृत्तेः. अतएव **'एक'**पदम्. चित्तशुद्ध्या माहात्म्यज्ञानजननद्वारा साधनत्वम्. अतएव ज्ञानानन्तरमेव भक्तिः इति सिद्धान्तः. यागादेः भक्तिसाधनत्वेन तदविरोधेनैव तत्करणम् उक्तम्. तदुपदेशकत्वन्तु पूर्वमीमांसा(भाष्य !)मुक्ताव-ल्यादौ ज्ञातव्यम्. एतेन अस्मिन् मार्गे पूर्णाधिकारपर्यन्तं जीवाधिकारेण मर्यादानतिक्रमोऽपि सूचितः.

(६)**कर्म...** इति, ''अनयाराधितो... '' (भाग.पुरा.१०।२७।२८) इत्यत्र उक्तो यः कर्ममार्गो भगवदाराधनरूपः तत्प्रवर्तकः. एतस्य कर्मत्वन्तु तत्रैव निरूपितम् ॥१८॥ ननु एवं स्वस्य भक्तिमात्रपरत्वे यागादिकरणं किमर्थम् ? इति आशङ्क्य आहुः **यागादौ** इति, यागादिकं भक्तिसाधनत्वेनैव कर्तव्यं नतु मुख्यत्वेन इति स्वीयेभ्यः उपदेशार्थे स्वयं करोति. ननु तेन स्वस्य किञ्चित् प्रयोजनम् इति भावः. अन्येषान्तु साधनदशात्वेन यागाद्यकरणे नित्याकरण-जनित-प्रत्यवायेन चित्ताशुद्धिः स्यात्. तथाच भजनं न सिद्ध्येद्. अतः तदर्थं भगवत्प्रीत्यर्थं च नित्यकर्म आवश्यकम् इति भावः. स्वस्यतु तदभावाद् न तत्प्रयोजनम्.

(७)**कर्ममार्गप्रवर्तकः** इति, **कर्मणो मार्गः** पद्धतिः तं **प्रवर्तयति**. अतएव कर्मपद्धत्यारम्भे **''धर्मप्रजासन्तत्यर्थं स्त्रियम् उद्वहे''** . तद् उक्तम् **''आनर्ताधिपतिः श्रीमान्...''** (भाग.पुरा.१०।४९।१५) इत्यादि. **''भगवानपि गोविन्दः...''** (भाग.पुरा.१०।४९।१६) इत्यादि च. [२]यद्वा **कर्म** भगवता सह विवाहरूपं **मृग्यते अनेन** इति **कर्ममार्गः** ब्राह्मणप्रेषणं तत् **प्रवर्तयति**. तद् उक्तं **''तद् अवेत्य असितापाङ्गी वैदर्भी दुर्मना भृशं विचिन्त्य आप्तं द्विजं कञ्चित् कृष्णाय प्राहिणोद् द्रुतम्''** (भाग.पुरा.१०।४९।२६). [३]यद्वा **कर्मणो मार्गः** रीतिः अतिथिपूजनादि तं **प्रवर्तयति** **''दृष्ट्वा ब्रह्मण्यदेवः तम् ...''** (भाग.पुरा.१०।४९।२८) इत्यादिना. [४]यद्वा **कर्मणो मार्गः**

इष्टापूर्तादिः. तद् उक्तं **''पूर्तेष्ट-दत्त-नियम-व्रत-देव-विप्र-गुर्वर्चनादिभिः''** (भाग.पुरा.३।३।४०) इत्यादि. [५]यद्वा विवाह**कर्मणो मार्गो** विधिः गान्धर्वराक्षसादिः. तद् उक्तं **''मां राक्षसेन विधिना उद्वह वीर्यशुल्काम्''** (भाग.पुरा.३।३।४२). [६]यद्वा हरणरूप**कर्मणो मार्गः** उपायः तं **प्रवर्तयति**. (तद् उक्तं) **''अन्तःपुरचरीम् अनिहत्य बन्धून् त्वाम् उद्वहे कथम् इति प्रवदामि उपायम्''** (भाग.पुरा.१०।४९।४३) (इति). ब्राह्मणपूजनादिकं यशः. पञ्चाशत्तमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **यागादौ भक्तिमार्गैकसाधनत्वोपदे-शकः** इति, **यागाद् आदिः** प्रथमो **यागादिः** विवाहः, **''अयज्ञो वा एषो यो अपत्नीकः''** (तैत्ति.ब्राह्म.८।४।२४) इति श्रुतेः, तन्निमित्तं **भक्तिमार्गः एको** मुख्यो **भक्तिमार्गैकः**. प्रमेयबलं त्रिविधं : मानसं वाचिकं कायिकं च. स्नेहः उत्कटतापो, नमनं, भक्तमनोरथो वा, तत्**साधनत्वेन उपदिशति** स्वयं कृत्वा अन्यान् शिक्षयति इति तथा. तानि उक्तानि **''तथा अहमपि तच्चित्तो निद्रां च न लभे निशि''** (भाग.पुरा.१०।५०।२) इति मानसम्. **''ताम् आनयिष्ये उन्मथ्य राजन्यापसदान् मृधे''** (भाग.पुरा.१०।५०।३) इति वाचिकम्. **''बलेन महता सार्धं भ्रातृस्नेहपरिप्लुतः''** (भाग.पुरा.१०।५०।-२१), **''एवं चिन्तयती बाला गोविन्दहृतमानसा न्यमीलयत कालज्ञा नेत्रे च अश्रुकलाकुले''** (भाग.पुरा.१०।५०।२६), **''न पश्यन्ती ब्राह्मणाय प्रियम् अन्यद् ननाम सा''** (भाग.पुरा.१०।५०।३१), **''अनुगृह्णातु गृह्णातु वैदर्भ्याः पाणिम् अच्युतः''**(भाग.पुरा.१०।५०।३८), **''तां राजकन्यां रथम् आरुरुक्षतीं जहार कृष्णो द्विषतां समीक्षतां रथं समारोप्य सुपर्णलक्षणं राजन्यचक्रं परिभूय माधवः''** (भाग.पुरा.१०।५०।५५)(इति कायिकम्). यद्वा यागप्रभृतिसाधने जाते भक्तिमार्गैकस्यैव साधनत्वेन उपदिशति. तद् उक्तं **''नमस्ये त्वा अम्बिके अभीक्ष्णं स्वसन्तानयुतां शिवां भूयात् पतिः मे भगवान् कृष्णः तद् अनुमोदताम्''** (भाग.पुरा.१०।५०।४६). भक्तिमार्गे साधनदशायामपि श्रीः.

:: उत्थानिकाः ::

(१)यद्यपि स्वीयशिक्षार्थमेव यागकरणं तथापि यागस्य स्वर्गफलकत्वेन

श्रुतौ प्रतिपादनाद् आचार्याणामपि स्वर्गसुखाकाङ्क्षा कामितफलान्तराकाङ्क्षा वा भविष्यति इति कस्यचिद् बहिर्मुखस्य आशङ्कानिरासाय अग्रिमं नामद्वयम् आहुः —

(२)...

(३)ननु श्रीमदाचार्याणाम् उपदेशकर्तृत्वं प्रवर्तकत्वं च उक्तं कर्तृत्वन्तु न उक्तम्. यदि उक्तप्रवर्तकत्वेन तदपि गौणतया, तत् कथं तत्र आहुः —

(४/क)निःसाधनफलदानाय —
(४/ख)एतन्नामसाधकम् अग्रिमं नाम आहुः —

(५)एवम् आज्ञाकरणे दासानाम् आनन्दं पूरयति इति आहुः —

(६)अन्यत्प्रयोजनद्वयाकाङ्क्षाभावम् आहुः नामद्वयेन —

(७)एकपञ्चाशदध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

पूर्णानन्दः [५१] **पूर्णकामः** [५२]

:: टीका: ::

(१)पूर्णानन्दः इति, **पूर्णो** अगणितः **आनन्दो** यस्य सः. तेन "**एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति**" (बृह.उप.४।३।३२) इति श्रुत्या स्वर्गादिलोकसुखस्यापि भगवदानन्दलेशत्वकथनाद् आचार्याणां भगवदानन्दपूर्णत्वेन स्वर्गादिलोकसुखाकाङ्क्षासम्भावनापि न सम्भवति इति कथं बहिर्मुखाशङ्कितसम्भावनापि इति ज्ञापनाय उक्तं **पूर्णानन्दः** इति. द्वितीयाशङ्कापरिहाराय द्वितीयं नाम आहुः **पूर्णकामः** इति, **पूर्णाः** लोक-कामित-सुखापेक्षयापि अगणितसुखपूर्णाः अलौकिकाः **कामाः** यस्य

सः. अनेन द्वितीयशङ्कायाअपि निरासोऽपि उक्तः इति सर्वम् अनवद्यम्.

(२)**पूर्णानन्दः** इति, **पूर्णो** अखण्डितः **आनन्दो** यस्य. भक्तिरसैकपूर्णेषु आनन्दो यस्माद् इति वा. **पूर्णः** च असौ **आनन्दः** च इति वा. **पूर्णकामः** इति, **पूर्णः** सम्पन्नः **कामो** मनोरथो यस्य. **पूर्णैः** सर्वतो निःस्पृहैः काम्यते इति वा.

(३)**पूर्णानन्दः पूर्णकामः** इति, अयं भावः : कर्मकरणन्तु निष्कामसकामभेदेन द्विधा भवति. तत्र निष्कामस्य कर्मणः फलं चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानप्राप्तिः, कदाचित् तद्द्वारा मर्यादाभक्तिः, तयोः परमफलम् अक्षरसायुज्यम्. तत्र गणितानन्दमज्जनमेव नतु पूर्णानन्दरसानुभवः. एतेतु पूर्णानन्दाः अतः कर्तृत्वं न उक्तं, प्रयोजनाभावात्. सकामस्यतु फलं तुच्छमेव. एतेतु अलौकिकपूर्णकामाः तेन तस्य कर्तृत्वम् असम्भावितमेव. एतेन उभयथापि अकर्तृत्वं सिद्धम्. यत् कुर्वन्ति तत् प्रवर्तकत्वेनैव न अन्यथा इति सर्वं सुस्थम्.

(४/क)**पूर्णानन्दः** इति. तत्रापि स्वस्य पूर्णानन्दत्वाय **पूर्णकामः** इति.

(४/ख)**पूर्णानन्दः** इति, **पूर्णः आनन्दो** यस्य इति अर्थः. तेन यथा भगवतो नन्दादिषु यागाज्ञा तथा एतेष्वपि इति भावः. यद्वा **पूर्णः** च **आनन्दमयः** च इति अर्थः. यद्वा **पूर्णः आनन्दो** भगवान् यस्माद् इति भावः. भगवत्साधर्म्यम् अग्रिमं नाम आहुः **पूर्णकामः** इति, **पूर्णाः कामाः** यस्य इति अर्थः. **पूर्णः कामो** येन इति वा.

(५)**पूर्ण...** इति, **पूर्णः आनन्दो** येन. यद्वा **पूर्णानन्दरूपः** इति स्वयमेव तत्फलरूपः. कदाचिद् भक्तानां कामनाविशेषे कर्मकरणसम्भवे स्वेनैव तत्पूरणम् आहुः **पूर्णकामः** इति, **पूर्णाः कामाः** यस्य येन इति वा. स्वयं तथा चेत् स्वानामपि तान् पूरयति. अनन्यत्वाय कर्मनिष्ठात्याजनार्थं

स्वेनैव तत्पूरणं यथा पुरुषोत्तमेन व्रजस्थानाम्. नाम्नोः समभिव्याहारेण यः **पूर्णानन्दः** सः **पूर्णकामो** यः **पूर्णकामः** सः **पूर्णानन्दः** इति ज्ञापितम्. तेन अनारोपितभगवत्त्वम् उक्तम्.

(६)**पूर्णानन्दः पूर्णकामः** इति, पूर्णानन्दत्वात् न आत्मसुखाकाङ्क्षा. पूर्णकामत्वात् न स्वर्गलोकसुखाकाङ्क्षा. एतत्प्रयोजनद्वयाभावः एतद्भक्तेष्वपि तुल्यः तथापि पूर्वप्रयोजनार्थं कर्मकरणं साधनदशास्थानाम् आवश्यकमिति तेभ्यः तत्स्वरूपबोधनार्थं स्वयं करोति इति भावः.

(७)**पूर्णानन्दः** इति, **पूर्णः** आनन्दो यस्य. तथाच **''अर्धो वा एष आत्मनः''** (बृह.उप.१।४।३) इति श्रुतेः. अतः परं पूर्णो भगवान्. अतएव आरम्भे **'आनन्दः'** इति नाम. अत्र **'पूर्णानन्दः'** इति. तद् उक्तं **''पत्युः बलं शरासारैः''** (भाग.पुरा.१०।५१।४) इत्यादि. [2]यद्वा **पूर्णायाः आनन्दो** यस्मात्. तथाच यथा पुरुषस्य अर्धं पत्नी तथा पत्न्यर्धं पतिः. तेन रुक्मिण्यपि अतः पूर्णा. तद् उक्तं **''मा स्म भैः वामलोचने'' (भाग.पुरा.१०।५१।५)**. [3]यद्वा **पूर्णया आनन्दो** यस्य. तद् उक्तं **''गृहीतपादः करुणो न्यवर्तत''** (भाग.पुरा.१०।५१।३४). [4]यद्वा **पूर्णायाः आनन्दो** येन तद् बलभद्रवचनम् अस्ति अस्य आवेशित्वात्. तद् उक्तं **''मैव अस्मान्...''** इत्यादिना **''स्वस्था भव शुचिस्मिते''** (भाग.पुरा.१०।५१।-३८-४९) इत्यन्तम्. [5]यद्वा **पूर्णः** आनन्दो यस्मात् सर्वत्र सः. तद् उक्तं **''तदा महोत्सवो नृणां यदुपुर्यां गृहे-गृहे अभूद् अनन्यभावानां कृष्णे यदुपतौ नृप! नराः नार्यः च मुदिताः प्रमृष्टमणिकुण्डलाः पारिबर्हम् उपाजह्रुः वरयोः चित्रवाससोः. सा वृष्णिपुरि उत्तभितेन्द्रकेतुभिः विचित्र-माल्यम्बर-रत्न-तोरणैः बभौ प्रतिद्वारि उपक्लृप्तमङ्गलैः आपूर्णकुम्भागुरुधूप-दीपकैः''** (भाग.पुरा.१०।५१।५४-५६) इत्यादि आसमाप्तिः. भगवान् **पूर्णानन्दः** इति ज्ञानम्. द्विपञ्चाशदध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **पूर्णकामः** इति, **पूर्णः कामो** यस्मात्. तद् उक्तं **''कामस्तु वासुदेवांशो...''** (भाग.पुरा.१०।५२।१-३) इति श्लोकद्वयेन. [2]यद्वा **पूर्णं कामयते** सा

पूर्णकामा. तद् उक्तं **''साच कामस्य वै पत्नी 'रतिः' नाम यशस्विनी पत्युः निदग्धदेहस्य देहोत्पत्तिं प्रतीक्षती''** (भाग.पुरा.१०।५२।७) इत्यादि. [3]यद्वा **पूर्णः कामो** यस्याः सा पूर्णकामा. तद् उक्तं **''प्रभाष्य एवं ददौ विद्यां प्रद्युम्नाय महात्मने मायावती महामायां सर्वमायाविनाशिनीम्''** (भाग.पुरा.१०।५२।१६) इति. तथाच उत्पन्नोऽपि कामो ज्ञानविद्याभ्यां विना अपूर्णएवेति रतेः सकाशात् प्राप्य पूर्णो अभवद् इति सा तथा ('सा अस्ति अस्य'!). [4]यद्वा पूर्णः कामो येषां ते पूर्णकामाः सन्ति अस्य. तद् उक्तं **''देवकी वसुदेवः च कृष्णरामौ तथा स्त्रियः दम्पती तौ परिष्वज्य रुक्मिणी च ययुः मुदम्''** (भाग.पुरा.१०।५२।३८). कृष्णपक्षेतु पूर्णः कामः अस्य इति योज्यम्. कामस्य पूर्तिः वैराग्यम्, **''एवं कामाशयं चित्तं कामानाम् अतिसेवया विरज्येत''** (भाग.पुरा.७।११।३४) इति सप्तमस्कन्ध-वाक्यात्.

:: उत्थानिकाः ::

(१)एवं पूर्वनाम्नि आचार्याणां पूर्णकामत्वम् उक्त्वा अतः परं यत्र अन्येषामपि कामपूरकत्वम् अस्ति तत्र स्वस्य पूर्णकामत्वे किं वक्तव्यम् इति ज्ञापनाय अग्रिमं नाम आहुः—

(२)...

(३)ननु भक्तिसाधनत्वेन कृतानामपि कर्मणां चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानवैराग्यमेव फलं श्रूयते. साक्षाद्भक्तिसाधनरूपत्वं कथम् उच्यते तत्र आहुः—

(४/क) फलरूपत्वाय—

(४/ख)**''साक्षाद् मन्मथमन्मथः''** (भाग.पुरा.१०।२९।२) इति न्यायेन एवं धर्मद्वयम् उक्त्वा साक्षाद्भगवत्त्वम् आहुः—

(५)ननु वेदवाण्याएव कामपूरणे सामर्थ्यम् इति आशङ्क्य आहुः—

(६)ननु पूर्णानन्दत्वादीनां भगवद्धर्मत्वात् मूलरूपे ते भवन्ति नतु मानुष्यभावेन अवतीर्णे इति आशङ्क्य आहुः —

(७)त्रिपञ्चाशदध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

वाक्पतिः [५३] **विबुधेश्वरः** [५४]

:: टीका: ::

(१)वाक्पतिः इति, **वाक्पति**त्वकथनेन आचार्याणां भगवन्मुखाधिष्ठात्रग्निरूपत्वकथनेन च यागहविर्भोक्तृत्वम् उक्तं भवति तेन यागकर्तृणामपि हविर्भोक्तृत्वेन यत्र अन्येषां कामपूरकत्वं तत्र स्वस्य पूर्णकामत्वे किं वक्तव्यम्! इत्येतज्ज्ञापनार्थम् उक्तं **वाक्पतिः** इति. एवं कर्ममार्गीयाणां कामपूरकत्वम् उपपाद्य भगवज्ज्ञानमार्गीयाणामपि मनोरथपूरकत्वोपपादनाय अग्रिमं नाम आहुः **विबुधेश्वरः** इति, **विशेषेण बुधाः** ज्ञानिनः. ज्ञाने विशेषो भक्तिमार्गीयत्वं, तेषाम् **ईश्वरः** फलदाता॥१९॥

(२)**वाक्पति**ः इति, **वाचां** वेदादिसकलविद्यानां **पतिः** स्वामी नियामकः इति अर्थः. अग्निरूपत्वाद् वागधिष्ठातृदेवो वा. अतएव **विबुधेश्वरः** इति, **विशेषतो बुध्यन्ते** जानन्ति इति **विबुधाः** पण्डिताः तेषाम् **ईश्वरो** ज्ञानार्थम् उपास्यः इति अर्थः. **विबुधानां** देवानामपि इति वा॥१९॥

(३)**वाक्पतिः** (इति!). **वाग्**रूपा श्रुतिः, तस्याः **पतिः**. अत्र अयं भावः : कर्मादिकं यत् क्रियते तद् वेदाज्ञया क्रियते सर्वत्र प्रमाणरूपत्वात्. वेदानामपि भगवदाज्ञा प्रमाणं यतः तदाज्ञयैव तन्निःश्वासरूपेण उत्पत्तिः तेषाम्. तेन भगवदाज्ञायाअपि आस्यरूपत्वम् उक्तं भवति. एवंसति आचार्याणामपि भगवदास्यरूपत्वाद् **वाक्पति**त्वेन श्रुतिनियन्तृत्वेन एतदाज्ञया

कृतस्य कर्मणो भक्तिसाधनत्वं सिद्धं भवति न अन्यफलसाधनत्वम् इति सूच्यते. ननु यागादौ तत्तद्देवतोद्देशेन आहुतिः दीयतइति ताः तद्भोगे कृते फलदात्र्योऽपि ताएव सम्भवन्ति इति. भक्तेः भगवदनुग्रहैकसाध्यत्वाद् देवादिसाध्यत्वाभावात्, तत्कर्मणः फलं कथं भक्तिः ? तत्र आहुः **विबुधेश्वरः** (इति!). सर्वेषां तेषाम् **ईश्वरो** नियन्ता इति भगवानेव स्वविभूतिरूपत्वेन फलभोगं करोति इति सएव फलदाता इति एतद्विभूतित्वेन कृते कर्मणि भक्तिरेव सिध्यति न पृथग्देवतात्वेन इति भावः. अतएव उक्तं **"यक्ष्ये विभूतीः भवतः तत् सम्पादय नः प्रभो"** (भाग.पुरा.१०।६९।३) इति युधिष्ठिरेण राज्ञा. एतेन एतत्सम्बन्धिविभूतिज्ञानेन कृतेन न अनन्यत्वभङ्गप्रसङ्गोऽपि इति भक्तिः फलति. पृथग्देवताभिमानेन कृते न फलति इति स्पष्टमेव इति. अत्रापि आचार्याणां पुरुषोत्तमास्यत्वेन **विबुधेश्वर**त्वम् उक्तम् इति तन्नियन्तृत्वेन फलदातृत्वाद् भक्तिरेव फलति इति भावः॥१९॥

(४/क)**वाक्पतिः** इति, असाधारणेश्वरत्वाय **विबुधेश्वरः** इति॥१९॥

(४/ख)**वाक्पतिः** इति, वचनानां **पतिः** भगवन्मुखारविन्दात्मकः इति अर्थः. पतित्वोक्त्या श्रीमदाचार्यप्राकट्येनैव भगवतः शोभावत्त्वं सूच्यते इति भावः. वियोगे आचार्यं विना मुखस्य मानत्वेन पूर्वम् अतथात्वं पश्चात् तथा इति भावः. वाक्पतित्वे कस्यापि अन्याशङ्का स्यास् बृहस्पत्यादौ तदर्थेन आहुः **विबुधेश्वरः** इति, **विबुधानाम् ईश्वरः** सेव्यः इति अर्थः. **'विबुध'** इति पदेन **विशेषेण बुधाः** तैरेव सेव्यो न अन्यैः इति भावः॥१९॥

(५)**वाक्...** इति, वेदवाचो भगवानेव **पतिः** नियामकः. अतः स्वसामर्थ्यमेव तत्र स्थापितमिति कामपूरणे स्वस्य किम् असामर्थ्यम्? इति भावः. यतः तत्पतिः अतः आहुः **विबुध...** इति, **विबुधाः** देवाः ब्रह्मादयः तेषाम् **ईश्वरो** नियामकः. यद्यपि लोके तएव कामनियामकाः तथापि भक्तानां स्वेनैव कामपूरणे न ते विघ्नं कर्तुं समर्थाः इति अर्थः. यद्वा **यागादौ** इति आरभ्य नामचतुष्टयस्य अयम् आशयो : **यागादेः भक्ति**साधनत्वं नतु स्वर्गादिसाधनत्वम्. तत्तु बालप्रोचनार्थम् इति श्रुतेः

आशयः. भक्तेः फलं **पूर्णानन्दः** इति **तत्साधनत्वोपदेशकत्वेन पूर्णो** भगवत्स्वरूपात्मको भजनानन्दलक्षणः **आनन्दो** येन इति फलदातृत्वं निरूपितम्. तत्प्राप्तौ भगवदीयानां क्षुद्राः **कामाः** निवर्तन्ते भगवद्‌विषयकएव सो अवशिष्यते. तद्दातृत्वमपि उक्तं **पूर्णः कामो** येन इति. सः प्रतिक्षणं वर्द्धमानएव भवति न कदाचिदपि न्यूनः, **पूर्णत्वात्**. एतादृक् श्रुतितात्पर्यज्ञत्वम् एतेषामेव इति आहुः **वाक्पतिः** इति, श्रुतिरूपवा**चो** अयमेव **पतिः** साहि पतिव्रता पत्युरेव अग्रे स्वभावं प्रकटयति. तदेव उक्तं **''यस्मात् साध्वी''** (श्रीवल्ल. अष्ट.३) इति. अतएव **विबुधेश्वरो** ब्रह्मादीनाम् ईश्वरः पुरुषोत्तमः. यद्वा **''पारस्करप्रभृतीनि च''** (पाणि.सू.६।१।५७) इति पाणिनीयसूत्रे देवतासञ्ज्ञाया-मेव 'वाचस्पतिः' इति निपातनाद् 'वाचस्पतिः' इति भवितुम् अर्हति यद्यपि तथापि अत्र तत्संज्ञाभावाद् ईश्वरवाचित्वाभावात् च **वाक्पतिः** इत्येव साधुः. अतएव एतद्‌ज्ञापकत्वम् उक्तं **विबुधेश्वरः** इति, यद्वा विशेषेण बुधाः **(विबुधाः)** पण्डिताः तेषाम् **ईश्वरो** यथेच्छं ज्ञाननियामकः. तेन आसुरविबुधान् अन्यथैव प्रेरयति भगवदीयांस्तु स्वज्ञानानुसारेण इति भावः. यद्वा विशेषज्ञानवताम् **(विबुधानाम्!)** ईश्वरः पूर्णज्ञानशक्तिः ॥१९॥

(६)**वाक्पतिः** इति, अवतारोऽपि भगवत्त्वेनैव प्राकृतभावस्य आसुरव्यामोहार्थकत्वेन व्यवस्थापितत्वाद् इति भावः. अतएव **विबुधानां विशेषेण बुधानां** पुरुषोत्तमस्वरूपज्ञानां भक्तानाम् **ईश्वरः** तद्‌हृदि स्थित्वा तद्भावरक्षकः ॥१९॥

(७)**वाक्पतिः** इति, **वाग्‌रूपायाः** सत्यभामायाः **पतिः** . सत्यभामायाः वाग्रूपत्वं निबन्धे उक्तम्. तथाहि **''सूर्यभक्तस्तु सत्राजित् ततो लक्ष्मीं सरस्वतीं मणीरूपां कन्यकां च''** (त.दी.नि.३।१०।२३५-२३६). [२]यद्वा वाचा पाति (इति वाक्पतिः!) तद् उक्तं **''निशम्य बालवचनं प्रहस्य अम्बुजलोचनः प्राह नासौ रविः देवः सत्राजिद् मणिना ज्वलन्''** (भाग.पुरा.१०।५३।९) इत्यादि. [३]यद्वा **वम्** अमृतं स्वर्णम् इति यावद् **''अमृतो हिरण्मयः''** (तैत्ति.उप.१।६।१) इति श्रुतेः. **वम् अचयति** प्रापयति इति **वाक्** स्यमन्तकः तस्य **पतिः**. तद् उक्तं **''दिने दिने स्वर्णभारान्**

अष्टौ स सृजति प्रभो'' (भाग.पुरा.१०।५३।११). अग्रे वक्ष्यति **''वयं च फलभागिनः''** (भाग.पुरा.१०।५३।४५) इति. [४]यद्वा **वाग्‌रूपायां** स्तुतौ सत्यां **पाति**. तद् उक्तम्, **''इति विज्ञातविज्ञानम् ऋक्षराजानम् अच्युतो व्याजहार महाराज भगवान् देवकीसुतः''** (भाग.पुरा.१०।५३।२९) इत्यादि. [५]यद्वा **वाचः** सरस्वतीरूपायाः जाम्बवत्याः **पतिः** इति. (तद् उक्तं) **''स्वां दुहितरम्...''** (भाग.पुरा.१०।५३।३२). एतदपि निबन्धे **''न गृहाद् आत्मजां वार्णी युक्तां स्वां जगृहे मुदा''** (त.दी.नि.३।१०।२४४), तद् उक्तं **''रोहिद्‌भूतां सो अन्वधावद् ऋक्षरूपी हतत्रपः''** (भाग.पुरा.३।३१।३६) इति तृतीयस्कन्धवाक्यात्. जाम्बवान् ब्रह्मणो अवतारः इति पुराणान्तरे प्रसिद्धम्, अन्यथा पशोः पुत्री मानुषी कथं स्यात्. [६]यद्वा ''सत्येन भानं (इति!) सत्यभा, सत्यभा अनुमीयते (इति!) सत्यभामा **वाक्** तस्याः **पतिः**. तद् उक्तं, **''तां सत्यभामां भगवान् उपयेमे यथाविधिः''** (भाग.पुरा.१०।५३।-४४). अत्र चत्वारि अक्षराणि, द्वे पदे, समस्तम् एकं पदम्, तेन धर्मिरूपता. स्वरगणनायान्तु अक्षरशएव धर्मित्वम्. चतुःपञ्चाशदध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **विबुधेश्वरः** इति, **विशेषेण** जानाति **विबुधः**, इष्टे **ईश्वरो**. **विबुधः** च असौ **ईश्वरः** च. तद् उक्तं **''विज्ञातार्थोऽपि गोविन्दो...''** (भाग.पुरा.१०।५४।१) इत्यादि, **''कृष्णाय विदितार्थाय...''** (भाग.पुरा.१०।-५४।८), **''तद् आकर्ण्य ईश्वरौ राजन्...''** (भाग.पुरा.१०।५४।९) इत्यादि. [२]यद्वा **विबुधः** इन्द्रः तस्य **ईश्वरः** . तद् उक्तं **''यः सप्तहायनः शैलम्...''** (भाग.पुरा.१०।५४।१६) इत्यादि. [३]यद्वा **विगतः बोधो** येषां तेषाम् **ईश्वरः**. तद् उक्तं **''चक्रेण शिर उत्कृत्य वाससो व्यचिनोद् मणिम्''** (भाग.पुरा.१०।५४।२१) इत्यादि. [४]यद्वा **विशेषेण बुध्यन्ते विबुधाः** ज्ञानिनः, तेषाम् ईश्वरः. तद् उक्तं **''ननु दानपते न्यस्तः...''** (भाग.पुरा.१०।५४।३६) इत्यादि ॥१९॥

:: उत्थानिकाः ::

(**१**)एवं भक्तिमार्गीयज्ञानफलदातृत्वम् उक्त्वा तत्फलदानप्रकारज्ञापनाय अग्रिमं नाम आहुः —

(२)...

(३)ननु भगवदाज्ञयैव भक्तिसाधनत्वेनापि क्रियमाणकर्मभिः **''जन्मान्तर-सहस्रेण तपोध्यानसमाधिभिः नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते''** (पाण्ड.गीता.४।१) इत्यादिवचनाद् अनेकजन्मसहस्रानन्तरं भक्तिः सेत्स्यति इति कथं पुष्टिफलं भगवदङ्गीकारमात्रेणैव शीघ्रं भवेत् तत्र आहुः —

(४/क)असाधनसाधनबोधनाय...

(४/ख)ननु विबुधैरेव सेव्यः चेत्, तेषामेव ईश्वरः चेद्, अज्ञानां का गतिः इत्यत्र आहुः —

(५)एतज्ज्ञापकं नाम आहुः —

(६)तत्र प्रकारम् आहुः —

(७)पञ्चपञ्चाशदध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

कृष्णनामसहस्रस्य वक्ता[५५] भक्तपरायणः [५६]

:: टीकाः ::

(१)कृष्णनामसहस्रस्य वक्ता इति, **कृष्णस्य** फलरूपस्य यत् **नामसहस्रं** तस्य **वक्ता** प्रकाशकः. यद्यपि भगवत्सहस्रनामवक्तृत्वं वैशम्पायनादिष्वपि वर्तते तथापि तेषां पुराणान्तरप्रसिद्धनाम्नामेव वक्तृत्वं नतु फलात्मकस्य. तत्रापि श्रीभागवतोक्तदशलीलाविशिष्टस्य तत्तल्लीलाविशि-ष्टनामप्रतिपादकत्वम् आचार्याणामेव न अन्येषामपि अस्ति इति ज्ञापनाय उक्तं **कृष्णनामसहस्रस्य वक्ता** इति, अतः परं फलात्मकस्य तत्रापि

दशलीलाविशिष्टस्य नामकथनस्य आवश्यकत्वज्ञापनाय अग्रिमं नाम आहुः **भक्तपरायणः** इति, **भक्तेषु परायणः** तात्पर्यवान्. यदि फलात्मकस्य दशलीलाविशिष्टस्य नाम्नां प्राकट्यम् आचार्यैः न क्रियेत तदा भक्तानां श्रीभागवतार्थज्ञानाभावात् तत्प्रतिपादितफलं न सिद्ध्येद् इति आचार्याणां भक्तपरायणत्वमपि न सिध्येदिति एतच्छङ्कानिरासाय उक्तं **भक्तपरायणः** इति.

(२)**कृष्णनामसहस्रस्य वक्ता** इति, स्पष्टम्. **भक्तपरायणः** इति, **भक्तेषु परायणो** व्यासक्तः इति अर्थः. **भक्ताएव परम् अयनं** यस्य इति वा, तेषु **परम् अयनं** ज्ञानं यस्माद् इति वा, तेषां **परम् अयनं** स्थानं यस्माद् इति वा.

(३)**कृष्णनामसहस्रस्य...** इति, साक्षात् श्रीकृष्णसहस्रनाम्नां **वक्ता.** एतेन फलरूपसाक्षात्सदानन्दस्वरूपस्य नाम्नामपि तद्रूपत्वात् तन्नामार्थरूपभगव-त्स्वरूपानुसन्धानेन तच्छ्रवणपाठात् **''सहस्रं यैस्तु पठितैः पठितं स्यात् शुकामृतम्''** (पुरु.सह.०।४) इति उक्तत्वात् सम्पूर्णश्रीभागवतोक्तफलरूपत्वेन शीघ्रमेव पुष्टिफलं भवति इति सूचितम्. एवं सति स्वकीयानाम् एतन्नामश्रवणपाठादिकमेव कर्तव्यं न अन्यत् किञ्चिद् इति फलितार्थः. तथापि यत् कुर्वन्ति तत् कर्म, 'कर्तव्यम्' इति भगवदाज्ञप्तत्वेन तदाज्ञायाः अकरणात् स्वामिद्रोहो भवेदिति लौकिकवैदिकेषु कापट्यात् कर्मकरणं नतु सहजधर्मत्वात्. तत्रापि भगवदर्थमेव तदुद्देशः नतु फलान्तरे. अन्यथा अनन्यत्वभङ्गप्रसङ्गः स्यात्. एवंसति उचितमेव शीघ्रं यत् फलं भवेत्. यद्वा द्वादशस्कन्धात्मक-सम्पूर्णश्रीभागवत-श्रवणपठनेऽपि बहुकालविलम्बो भवेत् फलप्राप्तौ. तत्र विषयव्यवस्थया तदर्थावगमेऽपि सम्भ्रमो भवति. अतएव यथा फलप्राप्तौ विलम्बो न भवेत् तथा ततः उद्धृत्य सारभूतनाम्नां वक्ता, यैः सम्पूर्णशुकामृतमेव पठितं भवेत्. एवं सति यत्र फलदाने श्रीभागवतश्रवणेऽपि कालविलम्बासहिष्णुः तत्र कर्मादिजनित-कालविलम्बासहिष्णुत्वे किं वाच्यम्! इति भावः. ननु भक्तार्थम् एतावत्करणं

किम्प्रयोजनकम् ? तत्र आहुः **भक्तपरायणः** (इति). तेषु तत्परः प्रयत्नवान्. यथा-यथा **भक्ताः** प्रपन्नाः भवन्ति तथा-तथा एतेऽपि **"ये यथा मां प्रपद्यन्ते"** (भग.गीता.४।११) इति वचनात् तेषु प्रपन्नाः तत्फलं ददति इति भावः. यद्वा **भक्ताएव परम् अयनं** स्थानं यस्य इति, नित्यं भक्तान्तःकरणेषु तिष्ठन्ति तेन तत्फलदानेन स्वस्यापि तत्फलभोगो भवेदिति शीघ्रमेव दानम् इत्यपि सूच्यते.

(४/क)**कृष्णनाम...** इति. स्वमात्रकृतित्वाय **भक्तपरायणः** इति.

(४/ख)**कृष्ण-नाम-सहस्रस्य वक्ता** इति, 'कृष्णो'क्त्या सदानन्दमय-नामसहस्रस्य इति अर्थः. तेन यथा रासे यावतीः गोपयोषितः तावन्तम् आत्मानं कृत्वा (द्रष्ट.भाग.पुरा.१०।३०।२०) इत्यत्र कृतं तथा अत्र आचार्यप्रकटितसहस्रनाम आनन्दरूपं प्रकटयति इति भावः. ननु तत्र तासु रमणं प्रयोजनम् अत्र किम् इति आशङ्कायाम् आहुः **भक्तपरायणः** इति, **भक्तेषु परायणः** तत्कार्यकरणे तत्परः इति अर्थः. तेन एतत्सहस्रनाम-पाठकर्तॄणां स्वीयानां यथा-मनोभिलषित-प्रकारेण स्वरूपेण रसदानं करोति इति भावः. तदेव उक्तं तत्रैव आचार्यैः **"यः कृष्णभक्तिम् इह वाञ्छति"** (पुरु.सह.१२।२५५) इत्यारभ्य **"आत्मार्पणं समधिगच्छति भावतुष्टः"** (तत्रैव) इत्यन्तम्.

(५)**कृष्ण...** इति, मूलनामोक्त्या लोकवेदातीतः उच्यते. तत्सर्वसामर्थ्यज्ञानपूर्वकतन्नामकथनं तद्दानशक्त्यैव भवति. सा अत्र पूर्णा इति ज्ञापनाय तन्**नामसहस्रवक्ता** इति उक्तम्. तत्सहस्रकथनस्य प्रयोजनम् आहुः **भक्त...** इति, केवलभक्तावेव तात्पर्यवान्. स्वेनैव तत्र उक्तं **"भक्तिं श्रीकृष्णदेवस्य साधयन्ति"** (पुरु.सह.ना.१२।३५३) इति स्व**भक्तार्थम्** एतावत्करणे कृपातिशयो दर्शितः.

(६)**कृष्ण...** इति, **नाम्नां** सदानन्दवाचकत्वात् शरणसंस्मृतिसिद्धिकत्व-कथनात्तु तत्पाठेन तद्भावः स्थिरो भवति इति भावः. तत्र हेतुः **भक्त...**

इति, तदर्थमेव प्रकटत्वात् तएव **परम् अयनं** स्थानं यस्य इति. तद्हृदये स्वस्थित्यर्थम् एवं करोति इति वा.

(७)**कृष्णनामसहस्रस्य वक्ता** इति, **कृष्णौ** च **नामानि** च **सहस्राणि** च, एतेषां समाहारः **कृष्ण-नाम-सहस्रं** तस्य **वक्ता** . तानि उक्तानि **"कृष्णौ ददर्शतुः कन्यां..."** (भाग.पुरा.१०।५५।१७), **"प्रसह्य हृतवान् कृष्णो..."** (भाग.पुरा.१०।५५।३१), **"नग्नजिन्नाम कौशल्य..."** (भाग.पुरा.१०।५५।३२), **"श्रुतकीर्तेः सुतां भद्राम्..."** (भाग.पुरा.१०।५५।५६), **"लक्ष्मणां लक्षणैः युताम्..."** (भाग.पुरा.१०।५५।५७), **"अन्याश्च एवंविधाः भार्याः कृष्णस्य आसन् सहस्रशः"** (भाग.पुरा.१०।५५।५८) इत्यादिभिः. अत्र **'सहस्र'**पदं अनन्तवाचि. तच्च प्रकरणवशात् षोडशसहस्रे पर्यवस्यति. तेन यथा 'रुक्मिणीपतिः', 'सत्यापतिः' इत्यादिनामानि सन्ति तथा षोडश-सहस्र-नायिका-नामानिच पत्यन्तानि रोहिणीपतिः इत्यादीनि भगवन्नामानि भवन्तीति सुष्ठु उक्तं **कृष्णनामसहस्रस्य वक्ता** इति, अत्र सहस्रवक्तृत्वं वीर्यम्. षट्पञ्चाशदध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **भक्तपरायणः** इति, **भक्तो** गरुडः, परवाग्रूपा सत्यभामा, ताभ्यां सह **अयनं** गमनं यस्य सः. तद् उक्तं **"सभार्यो गरुडारूढः प्राग्ज्योतिषपुरं ययौ"** (भाग.पुरा.१०।५६।२). [२]यद्वा **भक्तानां परम् अयनं** स्थानं यस्मात्. तद् उक्तं **"दत्वा अभयं भौमगृहं प्राविशत् सकलर्द्धिमत्"** (भाग.पुरा.१०।५६।३२). [३]यद्वा भक्ताः च ताः पराः च भक्तपराः, **आययते** प्रापयते **भक्तपरायणः** बाहुलकात् कर्तरि ल्युट्*. [४]यद्वा **भक्तानां परम्** उत्कृष्टम् **अयनं** यस्मात्. तद् उक्तं "ताः प्राहिणोद् द्वारवतीं सुमृष्टविरजाम्बरैः" (भाग.पुरा.१०।५६।३६). [५]यद्वा भक्तानां **परे** उत्कृष्टे स्थाने **अयनं** गमनं यस्य सः. तद् उक्तं **"गत्वा सुरेन्द्रभवनं दत्त्वा आदित्यै च कुण्डले पूजितः त्रिदशेन्द्रेण सह इन्द्राण्या च सप्रियः"** (भाग.पुरा.१०।५६।३८). [६]यद्वा भक्तानां **परस्य** पारिजातस्य

*अत्रापि मानन्तु पूर्वोक्तं "दत्वाऽभयम्..." इत्यादिरूपमेव अस्ति इति प्रतिभाति. अग्रिमं "ताः प्राहिणोद्..." इत्यपि सङ्गच्छते.

अयनं यस्मात्. तद् उक्तं "नोदितो भार्यया उत्पाट्य पारिजातं गरुत्मति आरोप्य सेन्द्रान् विबुधान् निर्जित्य उपानयत् पुरम्" (भाग.पुरा.१०।५६।३९). [७]यद्वा भक्तान् **परेण** उत्कृष्टेन **अयेन** शुभावहेन विधिना नयति प्राप्नोति. तद् उक्तम् "अथो मुहूर्त एकस्मिन् नानागारेषु ताः स्त्रियः यथा उपयेमे भगवान् तावद्रूपधरो अव्ययः" (भाग.पुरा.१०।५६।४२) इत्यादि. [८]यद्वा **भक्ताः परायणाः** सेवनायां तत्पराः यस्य सः. तद् उक्तं "प्रत्युद्गमासन-वरार्हण-पाद-शौच-ताम्बूल-विश्रमण-वीजन-गन्ध-माल्यैः केशप्रसार-शयन-स्नपनोपहार्यैर् दासीशताअपि विभोः विदधुः स्म दास्यम्" (भाग.पुरा.१०।५६।४५). सुरेन्द्रभवनगमनेन कुण्डलादिदानं यशो अत्र.

:: उत्थानिकाः ::

(१)एवं पूर्वोक्तप्रकारेण भक्तपरायणत्वं निरूप्य स्वप्रकटितभक्तिमार्गीयाचारज्ञापकम् अग्रिमं नाम आहुः —

(२)...

(३)ननु एवं कर्मकृतितात्पर्यम् उक्त्वा शीघ्रं फलदाने हेतुरपि उक्तः परन्तु पूर्वं भक्त्याचारोपदेष्टृत्वम् उक्तम्. तदुपदेशानन्तरं तज्ज्ञानाभावात् कथम् आचरणं भवेत् तत्र आहुः —

(४/क)विश्वासोत्पादानाय...

(४/ख)एतन्नामपोषकम् अग्रिमं नाम आहुः —

(५)तस्मिन् हेत्वन्तरमपि आहुः —

(६)अतएव —

(७)सप्तपञ्चाशदध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

भक्त्याचारोपदेशार्थनानावाक्यनिरूपकः[५७]

:: टीकाः ::

(१)**भक्त्याचारोपदेशार्थनानावाक्यनिरूपकः** इति, **भक्तिमार्गीयो** यः **आचारः** आचरणं तदु**पदेशार्थं नाना**विधानि यानि **वाक्यानि** नवरत्नभक्तिवर्धिन्यादीनि तेषां **निरूपकः** तदर्थावबोधकः इति अर्थः. यद्यपि पूर्वं भक्त्याचारोपदेष्टृत्वमात्रम् उक्तं तथापि अधुना तद्दाढ्यार्थमेव वाक्यनिरूपणपूर्वकम् उच्यतइति न पौनरुक्त्यदोषः ॥२०॥

(२)**भक्त्याचारोपदेशार्थनानावाक्यनिरूपकः** इति, **भक्त्याचारस्य** सेवाकृतेः **उपदेश**निमित्तं **नाना** बहुविधानि यानि श्रुत्यादि**वाक्यानि** तेषां **निरूपको** भक्तिरेव कर्तव्यः इति एवंविधतात्पर्यस्य प्रदर्शकः इति अर्थः ॥२०॥

(३)**भक्त्याचारोपदेशार्थ...** इति, तदाचरणज्ञानार्थं* नवरत्नभक्तिवर्द्धिन्यादिवाक्यानां निरूपकः. एतेन तदुक्तप्रकारेण भक्त्याचरणं कर्तव्यम् इति सूचितम् ॥२०॥

(४/क)**भक्त्याचार...** इति.

(४/ख)**भक्त्याचारोपदेशार्थ...** इति, **भक्तेः** योऽयम् **आचारः** तदर्थं **नानावाक्यानि** तेषां **निरूपकः**. **नितराम्** अत्यर्थं सर्वभावेन प्रकटकर्ता इति अर्थः. **'आचार'**त्वोक्त्या लौकिकाचारेष्वपि स्वीयेषु भक्तिमेव ज्ञापयति इति अर्थः. **'उपदेशो'**क्त्या तेषां वाक्यानां मन्त्रत्वमेव उच्यते इति अर्थः. **'नानावाक्यत्वो'**क्त्या यथायोग्य-साधनरूपां फलरूपां तथा. यद्वा **भक्त्याचारोपदेश**रूपो यो अर्थः **तदर्थं नानावाक्यनिरूपकः** इति अर्थः.

*'तदाचारोदेशाधिकारार्थम्' इति पाठभेदः (सम्पादकीयम्).

अस्मिन् अर्थे **'नानावाक्यो'**क्त्या अन्यस्य द्रव्यादेः अर्थत्वमेव नास्तीति नानावाक्यैः निरूपयति इति अर्थः. तदेव उक्तं श्रीभागवते **''अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्तियोगम् अधोक्षजे''** (भाग.पुरा.१।७।६) इति. द्रव्यादेस्तु अनर्थसाधनत्वेन न अर्थत्वं, तदर्थं प्रतिपादयन्ति इति अर्थः. अथवा **भक्त्याचारोपदेशस्य अर्थ**रूपो भगवान्, तस्य यानि वाक्यानि नानाविधानि **''श्रावणस्य अमले''** (सिद्धा.रह.१) इत्यारभ्य **''तद्वद् अत्रापि चैव हि''** (तत्रैव.९) इत्यन्तं, तेषां **निरूपकः** इति अर्थः ॥२०॥

(५)**भक्त्याचार...** इति, **भक्तानां** यः **आचारो** वैष्णवव्रतोत्सवादिकरणं तस्य **उपदेशो** वेधादिनिषेधपूर्वक-कर्तव्याकर्तव्यकथनम्. तत्प्रमाणार्थं श्रुतिस्मृति-पुराणतइ७०९नानावाक्यनिरूपकः. अन्यथा बहिर्मुखानां तदुपदेशे अप्रामाण्यं भासेत. एतेन भक्तार्थं सदाचारः सुदृढः कृतः इति निरूपितं ज्ञेयम् ॥२०॥

(६)**भक्तेः आचारस्य** सर्वत्यागेन भगवत्सेवालक्षणस्य **उपदेशं** दृढं कर्तुं **नानावाक्यानि** वेदभागवतादिसम्बन्धीनि **निरूपयति** विवृणोति इति अर्थः. तदर्थश्रवणेन तेषां हृदयं स्थितियोग्यं भवति इति नामपाठे भागवताद्यर्थश्रवणञ्च इति स्वस्य भक्तहृदयस्थितौ तन्निष्ठाहेतुद्वयम् उक्तम्.

(७)**भक्त्याचारोपदेशार्थ-नानावाक्यनिरूपकः** इति, भक्तिः च आचारः च उपदेशः च **भक्त्याचारोपदेशाः, तदर्थं नाना** बहुप्रकारेण **वाक्यानि निरूपयति** इति तथा. भक्त्यर्थानि **''राजपुत्रीप्सिता भूपैः...''** (भाग.पुरा.१०।५७।१०) इत्यादि एकादशपद्यानि. आचारार्थानि **''मा मां वैदर्भि! असूयेथा...''** (भाग.पुरा.१०।५७।२९) इत्यादि त्रीणि, आचारस्य त्रिविधत्वात्, भगवति दोषानारोपण-तद्दर्शन-तद्गुणगान-रूपभेदात्. उपदेशार्थानि नव, गुणस्थिति-पर्यन्तम् उपदेश्यत्वात्. [२]यद्वा **भक्त्यर्थम् आचारो** दैन्याविष्कारः **तदर्थं नाना**परीक्षा-सान्त्वन-सिद्धान्त-रूपाणि **वाक्यानि निरूपयति**. तानि एवम् उदाहरणानि. नानाप्रकारेण वाक्यरचनावक्तुः श्रीः ॥२०॥

:: उत्थानिका: ::

(१)एवं स्ववाक्योपदेशार्थावगम-जनितानन्द-भक्तकृतिज्ञापकं नाम आहुः —

(२)...

(३)ननु एतदुक्तप्रकारककृतिकरणेन अग्रे किं भवेत् तत्र आहुः —

(४/क)सर्वथा निरपेक्षत्वाय —

(४/ख)ननु नानावाक्येषु सत्सु स्वीयानां जीवबुद्धित्वात् सन्देहएव भवेद् इति आशङ्क्य आहुः —

(५)एतादृशकृपातिशयेन वशीकृताः ते परमकृपापात्रभूताः तथा भवन्ति इति आहुः —

(६)स्वनिष्ठाहेतुद्वयम् आहुः —

(७)अष्टपञ्चाशदध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

स्वार्थोज्झिताखिलप्राणप्रियः [५८] **तादृशवेष्टितः** [५९]

:: टीका: ::

(१)**स्वार्थोज्झिताखिलप्राणप्रियः** इति, **स्वार्थोज्झिताखिलप्राणा**-दपि **प्रियः**. **स्वार्थ**मेव आचार्यसेवार्थमेव **उज्झितम् अखिलं** सेवाविरोधि यैः तेषां **प्राणा**दपि **प्रियः**. अथवा भक्तैः **स्वार्थं** स्वकृतार्थतासिद्ध्यर्थम् **उज्झितम् अखिलं** भक्तिमार्गविरोधि यैः तेषां **प्राणप्रियः**. एवं पूर्वनाम्नि

भक्तानां प्राणप्रियत्वम् उक्त्वा प्राणप्रियत्वज्ञापकक्रियाज्ञापकं नाम आहुः **तादृशवेष्टितः** इति, **तादृशैः** स्वार्थोज्झिताखिलैः सेवार्थं **वेष्टितः**.

(२)**स्वस्य अर्थे** स्वप्राप्त्यर्थम् **उज्झितम् अखिलं** सर्वं गृहादिकं यैः, ते **तादृशाः** तेषां **प्राण**नाथः इति अर्थः. **स्वस्मिन् उज्झिताः** निवेदिताः **अखिल**देहादयः **प्राणाश्च** यैः, ते **स्वार्थोज्झिताखिलप्राणाः** तेषां **प्रियः** इति वा. **तादृशचेष्टितः** इति, **तादृशं** तत्प्रपत्त्यनुरूपं **चेष्टितं** विलासो यस्य, **तादृशेषु** इति वा.

(३)**स्वार्थोज्झित...** इति, **स्वार्थं** स्वसेवार्थमेव **उज्झितम् अखिलं** यैः. स्वार्थाएव उज्झिताः अखिलाः यैः इति वा. ते **प्राणादपि प्रियाः** भवन्ति. तेषां स्वयं वा **प्रियो** भवति. अत्र प्राणप्रियत्वकथनस्य अयम् आशयो अवगम्यते : पूर्वं स्ववाक्येन सर्वात्मना भगवत्सेवादिकं कर्तव्यम् इति आज्ञप्तं तत्करणेन सर्वं त्यक्त्वा सर्वात्मना प्रपन्नाः भवन्ति. प्रपत्त्यनन्तरं **प्राणप्रियत्व**कथनेन प्रपत्तिजनितकृपादत्तस्नेहादिना पुष्टिभक्त्याचाराधिकारिणो भवन्ति इति सूचितम्. आचार्याणां भक्तेषु एतावती कृतिस्तु फलसम्बन्धार्थं, फलसम्बन्धे सति प्रभोरपि महान् रसजनितसन्तोषो भवति. येन प्रभुसन्तोषः सः एतेषां **प्राणप्रियो** भवति, तत्र कः सन्देहः! इति भावः. किञ्च स्वाज्ञाकरणेनापि सेवकः प्रियो भवति इत्यपि सूच्यते. ननु कथं ज्ञायते सर्वं भक्त्यै त्यक्तम्? तत्र आहुः **तादृशवेष्टितः** (इति), **तादृशैः** पूर्वोक्तैरेव निरन्तरं **वेष्टितः**. निरन्तरं निकटे स्थितिस्तु तदैव भवेद् यदा सर्वं त्यक्तं भवेद् इति अर्थः.

(४/क)**स्वार्थ...** इति. तादृशप्रियत्वाय **तादृश...** (इति).

(४/ख)**स्वार्थोज्झित...** इति, **स्वार्थम् उज्झितम् अखिलं** यैः, तेषां **प्राणप्रियः** इति अर्थः. तेन प्राणप्रियत्वेन तेषां हृदि तत्स्फूर्तौ सत्यां वाक्यार्थः तथैव स्फुरतीति न त्वदुक्त-शङ्का-गन्धोऽपि. यद्वा **स्वार्थं** भगवदर्थम् **उज्झितम् अखिलं** यैः ते **प्राणप्रियाः** यस्य इति भावः. तेषां

'प्राणप्रियं'त्वोक्त्या आचार्यार्थं प्राणाः प्रियाः नतु प्राणार्थं ते इति अर्थः. यद्वा **स्वाः** भगवदीयाः तदर्थम् **उज्झितम् अखिलं** येन एतादृशश्च असौ **प्राणप्रियः (च)** इति अर्थः. एतन्नाम-पोषकम् अग्रिमं नाम आहुः **तादृशवेष्टितः** इति, **तादृशैः** त्यक्ताखिलैः **वेष्टितः** इति अर्थः. वेष्टितत्वोक्त्या स्वस्य तदधीनत्वं ज्ञाप्यते इति भावः. तादृशोक्त्या वेष्टितत्वोक्त्या च अतादृशेषु गोपनं सूच्यते, यथा योगमाया-वेष्टितो भगवान् ततश्च मध्यस्थभावेन तत्र स्थितिः. भजनानन्दानुभव-भावुकातिरिक्तेषु **''अस्पृष्टो रमते... ''** (भक्तिहं.२) (इति) अस्मत्प्रभुचरणैः **''योगमायाम् उपाश्रितः...''** (भाग.पुरा.१०।२६।१) इत्यस्य विवरणे तथा अत्रापि इति भावः. यद्वा **तादृश-वेष्टितो**क्त्या स्वस्य महामणित्वं तेषाञ्च परितः खचितत्वं ज्ञाप्यते. तेन यथा परितो अन्य-माणिक्य-खचनं विना महामणेः न शोभावत्त्वं तथा अत्रापि इति भावः. तत्र यथा खचनानन्तरं महाभूषणत्वं महत्सुभगधार्यत्वं तथा अत्रापि तद्वेष्टनानन्तरं सकलरस-सामायिकसामग्री-सम्पादनेन भगवल्लीलायां भगवद्धारणं प्रभोः, तद्भावुकैः हृदि भावनीयं न अधिकं लेखितुं शक्यम्.

(५)महाप्रभुचरणसरोजत्यागः कदापि न कर्तव्यः इति आहुः **उज्झिताः अखिललोकवेदस्वाः** यैः तेषां **प्राणादपि** अधिकः **प्रियः**, यथा श्रीस्वामिनीनां भगवान्. एवंप्रियत्वएव तत्त्यागो भवति न अन्यथा. अतएव आहुः **तादृश...** इति, **तादृशाः** दामोदरदासश्यामदासप्रभुदासकृष्णदासादयः तेषां स्वभावो अन्यथा कदाचिदपि मा भवतु इति **वेष्टितः**. सर्वदा तद्भावं वर्धयन्नेव तिष्ठति इति अर्थः. यद्वा भक्तानां सर्वात्मभावतां स्वामिनीनाम् **आचारो** वृत्तिः इति यावत्, प्रत्यहं नियमपूर्वकं यशोदोत्सङ्गलालितस्य सस्नेहं स्नानालङ्कारनानाविधभोजनशयनलालनादिः तद्-**उपदेशार्थं** स्वभक्तेषु **नाना-वाक्यानां निरूपकः**. यथा सर्वहृद्गतं सत्कृतिपर्यवसायि भवति एवंकरणे स्नेहप्रवृद्धौ उज्झिताखिलत्वं भवति इति आहुः **स्वार्थ...** इति. **''यर्हि अङ्गना...''** (भाग.पुरा.१०।८।२४) इत्यत्रोक्त-स्वामिनीभाववद् भावप्राकट्ये **स्वार्थमेव** सेवारसानुभवार्थम् **उज्झिताः अखिलाः** गृहकुटुम्बादयो यैः,

तेषाम् एतदुपदेशेन अलौकिकरसानुभवेन भगवानिव महाप्रभवोऽपि **प्राणादपि प्रियाः** भवन्ति इति तथा. अतएव तद्वाक्यपीयूषपानार्थं सान्निध्यरसार्थञ्च सर्वदा ते निकटएव तिष्ठन्ति इति **तादृशवेष्टितः** इति उक्तम्.

(६)**स्वार्थोज्झिताखिलानां** सर्वत्यागिनामेव स्वयं **प्राण**रूपो जीवनसम्पादकः. **प्रियः तादृशै**रेव च **वेष्टितो** इति, **'प्राणरूपत्व'**कथनेन वृत्त्याद्यर्थमपि अपेक्षा निवारिता. अतएव **''योगक्षेमं वहाम्यहम्''** (भग.गीता.९।२२) इति वाक्यम्. ननु एवं कर्मणो गुणत्वे सेवासौकर्येण तत्करणम् आयाति (इति) व्यवस्थापितं च व्याससूत्रस्य तृतीयाध्याये तृतीयचरणे **''आदराद् अलोपः''** (ब्र.सू.३।३।४०) इत्यनेन.

(७)**स्वार्थोज्झिताखिल-प्राणप्रियः** इति, **स्वो** भगवान्, तद्-**अर्थम् उज्झिताः** उत्सृष्टाः उत्पादिताः, **अखिलप्राणाः** दशप्राणरूपाः पुत्राः याभिः ताः **स्वार्थोज्झिताखिलप्राणाः** ताः **प्रियाः** यस्य सः. तद् उक्तम् **''एकैकशः ताः कृष्णस्य पुत्रान् दश-दश अबलाः''** (भाग.पुरा.१०।५८।१) इति. **''प्रेष्ठं न्यमंसत** आत्मानम्'' (भाग.पुरा.१०।५८।२) इति च. [२]यद्वा **स्वार्थम् उज्झिताः** निवेदिताः **अखिलाः प्राणाः** याभिः ताः **प्रियाः** यस्य. तद् उक्तं **''प्रत्युद्गमासन-वरार्हण...''** (भाग.पुरा.१०।५८।६) इत्यादि. [३]यद्वा **स्वार्थम् उज्झिताः** त्यक्ताः **अखिलाः** अनेकजन्मिनः **प्राणाः*** यया सा **प्रिया** यस्य. **स्वार्थं** भगवदर्थम् **उज्झिताः** त्याजिताः **अखिलानां** रुक्मिप्रभृतीनां **प्राणाः** येन सः **प्रियः** यस्य. तद् उक्तं **''निहते रुक्मिणि श्याले न अब्रवीत् साध्वसाधु वा रुक्मिणीबलयो राजन् स्नेहभङ्गभयाद् हरिः''** (भाग.पुरा.१०।५८।३९) स्वकीयेषु प्रियत्वं ज्ञानम्. एकोनषष्टितमाध्या-यार्थबोधकं नाम आहुः **तादृशवेष्टितः** इति, यादृशो बाणासुरः तामसः **तादृशैः** नागपाशैः **वेष्टितः**. तद् उक्तं **''तं नागपाशैः बलिनन्दनो** बली घ्नन्तं स्वसैन्यं कुपितो बबन्ध ह, उषा भृशं शोकविषादविह्वला बद्धं निशम्य अश्रुकलाक्षी अरौदिषीत्'' (भाग.पुरा.१०।५९।३५) [४]यद्वा पूर्वनामोक्तं **'स्वार्थोज्झिताखिलप्राणत्वं' 'तादृश'**शब्देन परामृश्यते. तथाच यथा भगवदर्थम् उज्झितप्राणा रूक्मिणी तथा अनिरुद्धार्थम् उषा. **तादृश्याः वेष्टितं** यस्याः सः. तद् उक्तं **''नाहर्गणान् स बुबुधे उषया अपहृतेन्द्रियः''** (भाग.पुरा.१०।५९।२६). यादृशं वामनावतारे बलेः **तादृशं वेष्टितं** बन्धनं यस्य. तद् उक्तं सुबोधिन्याम्. श्रीरघुनाथास्तु **'चेष्टितं'** इति पेठुः स्ववीर्येण बलेन विवाह-करणरूपं कृष्णप्रद्युम्नयोः चेष्टितं **''तादृशं चेष्टितं** यस्य. तद् उक्तं **''गृहीत्वा शोणितपुरं...''** (भाग.पुरा.१०।५९।२३) इत्यादि. [५]यद्वा **तादृश्यां चेष्टितं** विलासो यस्य. तद् उक्तं **''विचेष्टितं लक्षयामः...''** (भाग.पुरा.१०।५९।२८) इत्यादि. **तादृशैः वेष्टित**त्वेन अतादृशेषु रागाभावः वैराग्यम्.

* ''जह्याम असून् व्रतकृशान् शतजन्मभिः स्यात्'' (भाग.पुरा.१०।४८।४३) अस्मिन् अर्थे 'उज्झतिः' *'अन्तर्भावितण्यर्थः' इति अस्यैव पत्रस्य पृष्ठभागे लिखितम् अस्ति.

:: उत्थानिकाः ::

(१)ननु निरन्तरं सेवाकरणे सेवासक्त्या कदाचित् कर्मकाललोपदोषः प्रसज्येत इति तन्निराकरणाय आहुः —

(२)...

(३)ननु निरन्तरम् एतत्सेवाकरणएव तत्तत्काले कर्मादीनां करणावकाशो न दृश्यते. तदा तदकरणजनितदोषप्रसक्त्या तद्साध्यक्तेरपि सदोषत्वप्रसङ्गेन साधनस्य दुष्टत्वेन कथं तत्फलसिद्धिः तत्र आहुः —

(४/क) परमकृपालुत्वाय —
(४/ख)एतन्नामसाधनीभूतम् अग्रिमं नाम आहुः —

(५)मर्यादापुष्टि-शुद्धिपुष्टिभेदेन स्वदासाः द्विविधाइति, मर्यादामिश्राणा-मपि क्रमेण पुष्ट्यधिकारसम्पादकत्वम् आहुः —

(६)तथाच काललोपे निरङ्गात् कर्मणः चित्तशुद्धिः भगवत्प्रीतिः वा फलं कथं भवति इत्यतः आहुः —

(७)षष्टितमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

स्वदासार्थकृताशेषसाधनः[६०] **सर्वशक्तिधृक्**[६१]

:: टीकाः ::

(१)स्वदासार्थकृताशेषसाधनः इति, **स्वदासार्थमेव कृतानि अशेषाणि** सर्वाणि **साधनानि** येन सः. एतेन कर्मकाललोपदोषपरिहारकत्वम् उक्तम्. अथवा ननु यत्सेवार्थं तदीयाः सर्वं त्यक्त्वा तदाश्रिताएव तिष्ठन्ति तादृशमहानुभावानां मर्यादामार्गोक्तसाधनकरणे किं प्रयोजनम्? इति आशङ्कानिरासायापि उक्तं **स्वदासार्थ...** इत्यादि. ननु स्वकृतसाधनेन व्यधिकरणत्वात् कथं दासगतदोषनिवृत्तिः इति आशङ्कापरिहाराय अग्रिमं नाम आहुः **सर्वशक्तिधृग्** इति, **सर्वाः** अलौकिक्यः **शक्तयः** तासु **धृष्णोति** प्रगल्भते स्वसामर्थ्यप्राकट्यं **करोति** इति **सर्वशक्तिधृक्.** अत्र **शक्तिषु** प्रागल्भ्यकथनेन स्वस्य साधनकरणेन भक्तानां कदाचित् साधनलोपदोषपरिहारसामर्थ्यम् उक्तम् इति न पूर्वपक्षावसरः इति सर्वम् अनवद्यम्॥२१॥

(२)**स्वदासार्थकृताशेषसाधनः** इति, **स्वदासानां** यो **अर्थो** द्रव्यान्नवस्त्रादिः तेनैव **कृतानि** सम्पादितानि **अशेषभोगसाधनानि** यस्य. **स्वदासार्थं कृतानि** प्रकटितानि **अशेषाणि** सर्वाणि भगवत्प्राप्ति**साधनानि** येन इति वा. **सर्वशक्तिधृग्** इति, **सर्वेषां** जीवानां **शक्तिं धृष्णाति** प्रतिबध्नाति. **सर्वेषु** भक्तेषु **स्वशक्तिं धारयति** इति वा. **सर्वशक्तिं** स्वयम् एकैव **धारयति** इति वा॥२१॥

(३)**स्वदास...** इति, **स्वदासार्थं कृतानि** प्रकटीकृतानि **अशेषाणि**

साधनानि स्वमार्गीयाणि येन. एवं सति दासानां साधनानि पूर्वोक्तानि न किन्तु नवरत्न-भक्तिवर्द्धिनीविवेकधैर्याश्रयाद्युक्तानि तानि अवश्यं कर्तव्यानि. यतः तदकरणे मार्गादेव पतेद्. अतः कर्मादीनां कापट्येन कर्तव्यत्वाद् अकरणेऽपि न दोषः इति त्वदुक्तदूषणानवसरः. यद्वा अत्र **'कृत'**पदेन एवं प्रतिभाति. यत्स्वमार्गीयाण्यपि जीवैः अशक्यानि मत्वा **तदर्थं स्वयमेव** तानि लोकेषु भक्तानां ज्ञापनार्थं **कृतानि**, पुनः स्वस्मिन्नेव स्थापितानि. यतः तानि तत्रैव दृश्यन्ते न अन्यत्र इति. एवं सति ये एतदाश्रयाः केवलम् आचार्यविश्वासेन आचार्यकृपैकसाधनाः निरन्तरं तत्सेवापराः तिष्ठन्ति तेषां **स्वदासानां** स्वबलेनैव शीघ्रं फलरूपभक्तिसिद्धिं कुर्वन्ति, न तेषां पूर्वं **साधनापेक्षां** कुर्वन्ति इति. यदि चेत् कुर्वन्ति तदा स्वयमेव दत्वा फलं प्रयच्छन्ति इति ज्ञापनाय उक्तं **स्वदास...** इति. अथवा **दासानां** सेवैव मुख्या इति तन्निष्ठया तथैव तेषां प्रवृत्तेः तानि **स्वतएव** भवन्ति इति आचार्य्यस्वरूपसेवा-तन्निष्ठाविश्वासेनैव सर्वं भवतीति सर्वं सुस्थम्. अतः सेवातु अवश्यकार्यैव उभयथा फलसम्भवात्. एतेन स्वसेवयैव तानि सिद्धानि भवन्ति, न पृथक्तया इत्यपि सूचितम्. एवं सति यत्र स्वमार्गीयफलप्राप्तावेव तत्**साधनाभावात्** न प्रतिबन्धः तत्र सेवापराणां काले कर्माकरणेन कुतस्तरां दोषसम्भावनागन्धः इति ज्ञापितम्. यदि कदाचिद् बहिर्मुखस्य शङ्का भवेदेव तदा **''मत्कर्म कुर्वताम्''** (   ) इत्यादिवचनैः सापि दूरीभवति इति सर्वम् अनवद्यम्. ननु एवं साधनाभावेनापि फलदाने किं सामर्थ्यं तत्र आहुः **सर्वशक्तिधृग्** इति, **सर्वशक्तिभिः** कृत्वा सर्वकरणसमर्थः. एतेन साधननैरपेक्ष्यं भक्तानां फलदानएव न किन्तु सर्वकार्यमात्रे तद्विनैव सर्वं कर्तुं समर्थः. एवं सति भक्तानां यद् अपेक्षितं तत् सर्वं स्वेच्छयैव शीघ्रं कुर्वन्ति इति भावः सूचितः. यद्वा यथा सर्वाः शक्तयः तथा प्रसादरूपापि शक्तिः अस्ति तया प्रगल्भते. एतेन तच्छक्त्यैव तादृक्प्रचुरभावोदयेनैव फलं प्रयच्छन्ति न अन्यसाधनापेक्षा इति ज्ञापितम्. तेन यथा-यथा भावप्राचुर्यं तथा-तथा फलसाम्मुख्यम् इति भावः सूचितः॥२१॥

(४/क)**स्वदास...** इति, समर्थकृपालुत्वाय **सर्वशक्ति...** इति॥२१॥

(४/ख)**स्वदासार्थ...** इति, **स्वदासार्थं** स्वस्य दास्यप्राप्त्यर्थं **कृतानि अशेषाणि साधनानि** यैः इति अर्थः. अन्यथा जीवसाधनैः भगवद्दास्य-प्राप्तिः तद्योग्य-देहाप्तिः वा न भवति इति भावः. तद् उक्तं श्रीभागवते **"नृदेहम् आद्यं सुलभम्..."** (भाग.पुरा.११।२०।१७) इति पद्ये. अस्मत्प्रभुचरणैरपि उक्तं **"श्रुतिः यत् प्राह गोपीश! साधनाप्राप्यतां त्वयि तन्मे न खेदहेतुः यत् साधनं नास्ति मे अण्वपि"** (विज्ञ.२।१९) इति. **'अशेषो'**क्त्या दासत्वानन्तरं साक्षात्सेवोपयोगि-दासीभाव-प्राप्तावपि तथा इति भावो बोध्यते. **स्वस्य** ये **दासाः** तेषाम् **अर्थे** भगवत्प्राप्त्यर्थं **कृतानि अशेषाणि** साधनरूप-भक्त्यादीनि यैः इति अर्थः. तेन तत्कृत-साधन-निरपेक्षो भगवान् आचार्याङ्गीकारेणैव तेषु कृपयति इति अर्थः. तद् उक्तम् अस्मत्प्रभुचरणैः नवरत्नप्रकाशे **"उक्तनिवेदकवद् इति"** (न.र.प्र.५) इति. स्फुटपद्ये च **"कियान् पूर्वं जीवः..."** (विज्ञ.१।१) इत्यनेन. ननु स्वकृत-साधनैः जीवेषु कथं फलं भवति इत्यत्र आहुः **सर्वशक्तिधृग्** इति, **सर्वेषां शक्तिम्** आधिदैविकस्वरूपं विभर्ति इति अर्थः. तेन तदंशेषु तत्साधनैः फलं भवति इति न अनुपपन्नं किञ्चित्. स्वांशेषु स्वसाधनकरणं युक्तमेव. अन्यथा तेषां स्वदास्यमेव न स्यात्, स्वांश(त्वं!) विना तेषु. तथा उक्तं स्मृत्यादिषु **"यो यदंशः सः तं भजेत्"** इति॥२१॥

(५)**स्वदास...** इति, तेष्वपि स्वत्वम् अस्तीति तदर्थं **कृतानि** प्रकटीकृतानि **अशेषाणि** मर्यादापुष्टिभेदेन उभयविधानि **साधनानि** येन प्रथमं मर्यादामिश्रपुष्टिसाधनैः क्रमेण पश्चात् पुष्टिरेव पर्यवस्यति इति भावः. यद्वा स्वदासार्थं स्वयं कृतानि अशेषाणि साधनानि येन स्वयं कृत्वा तान् शिक्षितवान् इति अर्थः. तथाकरणे सामर्थ्यम् आहुः **सर्वशक्ति...** इति. **सर्वालौकिकशक्तीनां धर्ता** भगवानिव सर्वकरणसमर्थः इति अर्थः.

(६)**स्वदास...** इति, स्वकरणेन सिद्धं फलं स्वीयेभ्यो ददाति इति अर्थः. तत्कृतनमनप्रार्थनादिष्वपि अयमेव न्यायो ज्ञेयः. **'स्व'**पदेन भगवत्सेवार्थमेव

काललोपे तथा इति ज्ञेयम्. तथाच कर्मलोपस्तु न कर्तव्यएव किन्तु सेवासौकर्येण नित्यकर्म कर्तव्यम् इति फलितम्. ननु अन्यकृतकर्मणा अन्यत्र कथं तत्सिद्धिः? इत्यतः आहुः **सर्व...** इति, **सर्वासां शक्तीनां** नित्यकर्मरूपक्रियाशक्तीनाम् अधीशः इति अर्थः. **"वचसा वेदमार्गं हि"** (पु.प्र.म.९) इति वाक्याद् वैदिकीनां क्रियाशक्तीनां वचनाधीनत्वाद् आस्याधीनत्वम्. तथाच तन्नियामकत्वाद् अन्यत्रापि स्वसम्पादित-तत्सम्पादकः. उत्तरार्द्धे एकविंशतितमे अध्याये भगवतः आह्निकधर्मेण मागधसंरुद्धानां राज्ञां चित्तशुद्धिः विवृता. अन्यायो(?तन्न्यायो!) अत्र अनुसन्धातव्यः.

(७)**स्वदासार्थकृताशेषसाधनः** इति, **स्वः** अनिरुद्धो **दासः** प्रह्लादः तयोः **अर्थं कृतानि अशेषसाधनानि** येन सः. तद् उक्तम् **"अपश्यतां च अनिरुद्धं..."** (भाग.पुरा.१०।६०।१) इत्यादि. [२]यद्वा **स्वदासो** बाणः तद्-**अर्थं कृतानि अशेषसाधनानि** भगवता सह युद्धादि-प्रत्यस्त्र-क्षेपणान्तानि **अशेषसाधनानि** येन सः रुद्रः. तद् उक्तं **'बाणार्थं भगवान् रुद्रः ससुतैः प्रमथैः वृतः..."** (भाग.पुरा.१०।६०।६) इत्यादि. सो अस्ति आत्मा अस्य. तद् उक्तं **"चन्द्रो मनो यस्य दृगर्क आत्मा अहं समुद्रो जठरं भुजेन्द्रः"** (भाग.पुरा.१०।६०।३५). [३]यद्वा **स्वदासः** प्रह्लादः तस्य **अर्थं** प्रपौत्रे वैष्णवत्वं, तस्मै **कृतानि अशेषसाधनानि** भुजकृन्तनादीनि येन सः. तद् उक्तं **"प्रह्लादाय वरो दत्तो न वध्यो मे तव अन्वयः"** (भाग.पुरा.१०।६०।४७). [४]यद्वा **स्वदासाः** जीवाः तेषाम् **अर्थः** प्रयोजनं श्रीगोकुलनाथसेवनं तच्च शरीरे नैरुज्ये सति सम्भवति इति तस्मै **कृतानि अशेषसाधनानि** प्रेतादि-द्रावण-ज्वरवशीकरण-बाणकरच्छेदनादीनि येन सः. तद् उक्तं **"द्रावयामास तीक्ष्णाग्रैः शरैः"** (भाग.पुरा.१०।६०।११) इति, **"यो नौ स्मरति संवादं तस्य त्वं न भवेद् भयम्"** (भाग.पुरा.१०।६०।२९) इति, **"चिच्छेद भगवान् बाहून्"** (भाग.पुरा.१०।६०।३२) इति च. [५]यद्वा **स्वदासाः** देवाः साधवः च, तद्-**अर्थं कृतानि** दैत्यहननाद्यनेक-प्रकार-क्रीडारूपाणि **अशेषसाधनानि** येन सः. तद् उक्तं **"नानाभावैः लीलयैव उपपन्नैः देवान् साधून् लोकसेतून् बिभर्षि"** (भाग.पुरा.१०।६०।२७). अत्रापि

षट् पदानि, समस्तञ्च एकं तेन धर्मिरूपत्वं बोधितम्. अशेषसाधनत्वेन राजसप्रकरण-समाप्तिः. एकषष्टितमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **सर्वशक्तिधृग्** इति. **सर्वेषां** यदुकुमाराणां **शक्तिं** सामर्थ्यं **धर्षयति**. तद् उक्तम् **"एकदा उपवनं राजन्..."** (भाग.पुरा.१०।६१।१), **"नाशक्नुवन् समुद्धर्तुं..."** (भाग.पुरा.१०।६१।४) इत्यादिना. [2]यद्वा **सर्वेषां** दानादीनाम्. तद् उक्तं **"गोभूहिरण्यायतनाश्वहस्तिनः कन्याः सदासीस्तिलरूप्यशय्याः..."** (भाग.पुरा.१०।६१।१५).[3]यद्वा ब्रह्मस्व-भयदर्शनात् **सर्वेषां** जीवानाम्. तद् उक्तं **"यो अन्यथा मे स दण्डभाक्"** (भाग.पुरा.१०।६१।४२) (इति). स्वशक्त्या सर्वशक्तिधर्षणम् ऐश्वर्यम्. शक्त्यपगमनेन सात्त्विक-प्रकरणारम्भः सूचितः. सर्वेषां शक्त्यभावे प्रमेयबलेन सर्वं करिष्यति इति प्रमेयप्रकरणारम्भः. षडक्षरैः षडध्यायात्मकं प्रमेयप्रकरणं सूचितम् ॥२१॥

:: उत्थानिका: ::

(१)एवम् भगवदाज्ञया भक्तिमार्गप्राकट्यार्थं स्वयं प्रकटो भूत्वा स्वप्रकटितभक्तिमार्गं स्वीयभक्तेषु स्वोपदेशस्वाचरणादिना स्वप्राकट्यसमये तेषु, सर्वं सम्यग् ज्ञापयित्वा अग्रेऽपि भगवता भक्तिमार्गाङ्गीकृतजीवेषु भक्तिमार्गप्रवृत्तिः स्ववंशव्यतिरेकेण न भवति इति स्ववंशकरणम् इति ज्ञापनाय अग्रिमं नाम आहुः —

(२)...

(३)ननु भक्तार्थम् एतत् स्वमार्गीयं सर्वं प्रकटितं तत् सर्वं स्वप्रादुर्भावसमये प्रमेयबलेनैव सर्वेषां ज्ञापितम्. प्रादुर्भावासमये स्वव्यतिरेकाद् अन्यत्र सामस्त्येन सर्वज्ञानाभावाद् अन्ये कथं ज्ञास्यन्ति तत्र आहुः —

(४/क)परोऽपि तथात्वाय —

(४/ख)अग्रे तेषां फलरूप-भक्तिप्राप्ति-साधनं नाम आहुः —

(५)यद्वा स्वसामर्थ्येन एतादृशपुष्टिमार्गप्राकट्येन दैवान् उद्धृत्य अग्रेऽपि

तदुद्धारार्थं यत्नकृतिहेतुम् उक्त्वा यत्नम् आहुः —

(६)एवम् अवतारकाले भक्तिप्रचारकत्वम् उक्त्वा तावता मार्गप्रवर्तकत्वं न भवेदिति अग्रेऽपि तत्प्रचारार्थम् उपायकर्तृत्वम् आहुः —

(७)द्विषष्टितमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत्[६२] **पिता**[६३]

:: टीका: ::

(१)भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृद् इति, **भुवि भक्तिप्रचारैक-कृते स्वान्वयकृत्** स्ववंशकर्ता. अत्र **'अन्वय'**पदस्य पुत्रपरत्वं ज्ञेयम्. **'एक'**पदेन मुख्यत्वं ज्ञापितम्. वंशे प्रकारान्तरनिराकरणपूर्वकं केवलम् औरसत्वज्ञापनाय उक्तं **पिता** इति.

(२)**भुवि...** इति, **भुवि भूलोके भक्तेः** सर्वत्र **प्रचारस्यैव** एकस्य **कृते** निमित्तं **स्वान्वयं** स्ववंशं अपत्यपरम्परां **कृतवान्** इति अर्थः. **वंशस्थापनन्तु** भाविजीवोद्धारार्थमेव इति भावः. सर्वस्माद् अनिष्टात् पाति इति **पिता** जनकः इति अर्थः. अत्र वक्तुरेव तत्पुत्रत्वाद् 'अस्मत्पिता' इति ज्ञेयम्.

(३)**भुवि भक्तिप्रचारैक...** इति, **भुवि** भक्तेषु यथा अग्रेऽपि **भक्तिप्रचारो** भवेत् तदर्थमेव **अन्वयकर्ता**. अत्र **'स्वान्वय'**पदेन एवं प्रतिभाति : स्वमार्गीयं सम्पूर्णं ज्ञानं स्वव्यतिरेके न भवेदेव. भक्तानाम् उद्धारस्तु एतज्ज्ञानेन सर्वथा कर्तव्यएव. सर्वदा भगवद्विप्रयुक्तत्वेन स्वस्थितिरपि अत्र अशक्या इत्येतत् सर्वं विचार्य भगवदभिप्रेतमपि कर्तव्यम् इति. भगवदभिप्रेतत्वात् स्वान्वयमेव अग्निकुमारं स्वयं साक्षाद् अग्निरूपेणैव प्रकटम्

अकरोद् इति स्वास्यं प्रादुर्भूतं चकार इति. पूर्वम् उक्तत्वाद् अत्र च तदग्निरूपत्वद्योतकस्वपदोपादानाद् अवगम्यते. एतेन अग्निकुमाराद् अन्यत्र अग्निस्वरूपेण आविर्भावकरणाभावात् न एतादृशरूपत्वम् इति सूचितं भवति. अयन्तु अग्नेः जातो अग्निरेव भवति इति तत्स्वरूपएव प्रकटः. यथा आचार्यस्वरूपं पूर्वोक्तालौकिकधर्मसहितम् एवमेव अग्निकुमारस्वरूपम् इति ज्ञेयम्. किञ्च **अनु** पश्चाद् अविद्यमानदशायाम् **अयः** शुभावहो विधिः येन सः **अन्वयः** पुत्रः कथ्यते. एतेन यथा आचार्याः सर्वेषां शुभावहस्वरूपाः तथैव सर्वेषां भक्तानां शुभावहस्वरूपो अग्निकुमारः. सतु साक्षात् स्वयमेव प्रभुः. अतः स्वाभिप्रायेणैव उक्तं **स्वान्वयकृद्** इति. एवंसति सर्वेषां ज्ञानेन निष्प्रत्यूहा फलसिद्धिः सिद्धा. ननु अत्र अन्वयस्य करणम् उक्तं तेन औरसत्वं न भविष्यति तदभावेन तद्रूपत्वमपि कथम्? तत्र आहुः **पिता** इति.**पिता** (इति), **पितृत्वेन** पितुः पुत्रः इति ज्ञापितम्. तेन **''आत्मा वै जायते पुत्रः''** (   ) इति वाक्यात् यादृशः पिता तादृशएव निरूप्यते.

(४/क)**भुवि...** (इति). सर्वथा पालकत्वाय **पिता** इति.

(४/ख)**भुवि भक्ति...** इति, **भुवि** भूमौ **भक्तिप्रचारस्य एक-कृते** मुख्य-करणार्थं **स्वस्य** यो अयं **अन्वयो** वंशः तस्य **कर्ता** इति अर्थः. अन्यथा स्ववंशव्यतिरेकेण **भक्तिप्रचारो** न स्यात्. तदभावे भगवन्मनोभिलषित-रससिद्धि-पूर्वकं तन्मनस्ताप-निवृत्ति-पूर्वकं तत्प्राकट्यं व्यर्थं भवेत् तदर्थं **स्वान्वयकरणम्** इति अर्थः. यद्वा **भक्तिप्रचारस्य** मुख्यकरणार्थं मुख्यत्वं पुष्टिमार्गीयत्वं तदर्थं **भुवि स्वान्वय-कृद्** इति अर्थः. **भुवि** इति कथनेन भगवरस-परिकरवत् स्वतःसिद्धस्थले स्थितमेव परन्तु **भुवि** तदर्थमेव तत्करणम् इति भावः. **अन्वये 'स्व'**पदोपादानेन **स्व-सम्बन्धं** विना **भक्तिप्रचारो** न भवेद् इति भावः. स्वतःसिद्धस्य करणोक्त्या यथायोग्यं **करोति** इति भावः. ननु अन्वयत्वं बहुधा भवति अत्र केन प्रकारेण? इत्यतः आहुः **पिता** इति. औरसत्वं ज्ञापनाय **पिता** इति. यद्वा **''आत्मा वै पुत्र नामासि''** (कौषि.उप.२।११) इति उक्तत्वात् स्वस्य तत्स्वरूपात्मकत्वेन

तदीयेषु रसपोषार्थं तथा उक्तम् इति भावः.

(५)**भुवि...** इति, नित्यलीलायान्तु **स्वस्य** आस्यरूपत्वेन स्वदर्शन-वल्गुवाक्य-वेणुनादादिभिः भक्तानां **भक्तिः** भवति. **भुवि**तु तदभावाद् **अन्वयेनैव** सा भवति इति तद्-**एकप्रचारार्थम् अन्वयकर्ता** नतु लोकवद्, अलौकिकत्वात्. **'स्व'**पदेन स्वस्य यथा साक्षात्पुरुषोत्तमपूर्णालौकिकगुणत्वं तथा दीपइव स्वान्वयेऽपि तथात्वं बोधितम्. **'अन्वय'**पदेन स्वपुत्रद्वारापि परम्परया वंशजननेच्छा सूचिता. वंशो द्विविधो विद्यया जन्मना च. तत्र विद्यया शिष्यरूपो जन्मना पुत्ररूपः. तत्र विद्यावंशेतु आरोपितसामर्थ्येन सर्वोद्धारः, तथा न भवेद् इति तदर्थम् आहुः **पिता** इति. स्वजनकः इति अर्थः. एतेन स्वस्य भुवि भक्तिप्रचारकर्तृत्वम् उक्तम्. तेन साक्षात्पुष्टिसम्बन्धस्तु साक्षाद्वंशेनैव, शरणसम्बन्धस्तु अपरेणापि भवति इति सूचितम्. अतएव पुरुषोत्तमदासादीनां शरणदानाज्ञा.

(६)**भुवि...** इति, **'एक'**पदेन इदमेव प्रयोजनं नतु लौकिकं किञ्चिद् इति सूचितम्. **'स्व'**पदेन **''आत्मा वै पुत्रनामा असि''** (कौषी.उप.२।११) इति पुत्रादिरूपो वंशो नतु विद्याकृतः इति सूचितम्. ननु तादृशएव वंशः शिष्यद्वारकः कुतो न कृतः? इति आशङ्कां परिहरन्तः आहुः **पिता** इति. स्वयं भक्तिमार्गीयत्वेन भगवदभिमत-पितृत्वप्रकारकवंशजनकत्वात् **पिता.** अतः तथा कृतवान् इति अर्थः. भक्तिमार्गे हि एवंविधएव वंशो भगवदभिमतः. अतएव तृतीये स्कन्धे **''स आत्मानं मन्यमानः''** (भाग.पुरा.३।२०।४९) इत्यस्याः सृष्टेः गुणातीतत्वम् उक्तम्. विदुरप्रश्नेच तस्यैव वंशस्य परमसम्मतत्वम् उक्तमिति एतत् सर्वं ततएव अवधारणीयम्. **''न माता न पिता तस्य''** (भाग.पुरा.१०।४३।३८) इति वाक्येन पितृवज्जीवभावम् आशङ्क्य इदम् उक्तम्. अत्र पितृत्वधर्मम् आदायैव अवतारः इति भावः.

(७)**भुवि भक्ति-प्रचारैक-कृते स्वान्वयकृद्** इति, **भूः** व्रजरूपा,

तस्यां **भक्तिः** स्नेहः, तस्य **प्रचारएव एकः** मुख्यः तत्**कृते** तदर्थं स्वस्य बलभद्रद्वारा **अन्वयम्** अनुगमनं करोति इति तथा. तद् उक्तं **''बलभद्रः कुरुश्रेष्ठ भगवान् रथम् आस्थितः सुहृद्दिदृक्षुः उत्कण्ठः प्रययौ नन्दगोकुलम्''** (भाग.पुरा.१०।६२।१) (इति). [२]यद्वा वृन्दावनभूमौ **अन्वयं** सम्बन्धं **कुरुते.** तद् उक्तं **''पूर्णचन्द्रकलामृष्टे कौमुदीगन्धवायुना''** (भाग.पुरा.१०।६२।१८). [३]यद्वा **स्वस्याः** श्रीयमुनायाः **अनु** पश्चात् गमनं कारयति. तद् उक्तम् **''अनागतां हलाग्रेण कुपितो विचकर्ष ह''** (भाग.पुरा.१०।६२।२३). श्रीयमुनाकर्षणं वीर्यम्. त्रिषष्टितमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **पिता** इति, **पिबति पाति** (इति) वा. तद् उक्तम् **''विरथीकृत्य पौण्ड्रकं शिरो अवृश्चद् रथाङ्गेन...''** (भाग.पुरा.१०।६३।२१) इत्यादि, **''मा भैष्ट इति अविता अस्मि अहम्''** (भाग.पुरा.१०।६३।३७) भक्तरक्षणं यशः.

:: उत्थानिकाः ::

(१)ननु पुत्रत्वेऽपि स्वतुल्यत्वं यदि वंशे न स्यात् तदा कथं स्वप्रवर्तितमार्गप्रवर्तकत्वं भवेद् इति आशङ्कानिरासाय आहुः —

(२)...

(३)ननु पितुः पुत्रत्वेऽपि लोकः उभयोः साम्यं न दृश्यते तत्र आहुः —

(४/क)स्नेहेन स्वधर्मस्थापनाय —

(४/ख)ननु तर्हि औरसत्वेन पितृपदेनच तावदेव रसपोषः भक्तिविस्तारणं च स्वीयेषु भविष्यति इति आशङ्क्य आहुः —

(५)ननु साक्षाद्वंशेऽपि आरोपितं तद् भवेद् इति आशङ्क्य आहुः —

(६)ननु वंशीयानां तथा सामर्थ्याभावात् कथं तत्प्रचारः इत्यतः आहुः —

(७)चतुःषष्टितमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमाहात्म्यः[६४] स्मयापहः[६५] पतिव्रतापतिः[६६]

:: टीका: ::

(१)स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमाहात्म्यः इति, **स्ववंशे स्थापितम् अशेषं** सम्पूर्णं **माहात्म्यं** येन सः. एतेन पूर्वकृताशङ्कानिरासो ज्ञापितः. ननु सर्वात्मना सम्पूर्णस्वमाहात्म्यस्य स्थापने आश्चर्यम् आशङ्क्य तन्निरासाय आहुः **स्मयापहः** इति. **स्मयं** आश्चर्यम् **अपहन्ति** दूरीकरोति इति **स्मयापहः**॥२२॥ ननु सिद्धवत्कारेण स्मयापहत्वकथने को हेतुः इति आशङ्कानिरासाय हेतुनिरूपकं नाम आहुः **पतिव्रतापतिः** इति, **पत्युः व्रतमिव** नियमइव **व्रतं** नियमो यस्याः सा **पतिव्रता** तस्याः **पतिः.** अनेन आचार्येषु यावन्तो अलौकिकाः धर्माः तावद् धर्मवत्त्वम् अत्रापि ज्ञापितं भवति, अन्यथा तत्-**पति**त्वमेव न उपपद्येत. यदि तावद्धर्मवत्त्वं तत्र तासु न स्यात् तदा आचार्याणाम् असमत्वेन तत्पतित्वमेव न उपपद्येत. अत्र अयम् आशयो : वंशे यत् तारतम्यं दृष्टं तद् बीजक्षेत्रतारतम्यहेतुकमेव नतु अन्यहेतुकम् इति. अत्रतु आचार्याणां साक्षात्पुरुषोत्तमास्यत्वं सोपपत्तिकं पूर्वं निरूपितमेव तत्परिग्रहेऽपि यदि तत्तुल्यत्वं न स्यात् तदा बीजक्षेत्रतारतम्याद् वंशेऽपि तारतम्यं भवेत्. अत्रतु उभयोः परमानन्दरूपत्वेन साम्यात् तत्प्रादुर्भूतवंशस्यापि तत्तुल्यत्वज्ञापनेन पूर्वोक्ताशङ्कानिरासः उक्तो भवति इति सर्वम् अनवद्यम्. अदृष्टस्य जीवधर्मत्वात् तत्कृताशङ्कासम्भवोऽपि न इति सर्वं सुस्थम्.

(२)स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमाहात्म्यः इति, **स्वस्य वंशे** पुत्रपौत्रादिषु

स्थापितम् अशेषं सर्वं **स्वमाहात्म्यं** स्वप्रतापो येन, इदन्तु दृष्टश्रुताभ्यां ज्ञेयम्. **स्मयापहः** इति, गर्वेण स्वसादृश्यं ये कर्तुम् इच्छन्ति तेषां **स्मयस्य** गर्वस्य **अपहन्ता** नाशकः इति अर्थः. **स्मयेन** ईषद्धासेन भक्तदुःखम् **अपनयति** इति वा॥२२॥ **पतिव्रतायाः** श्रीमहालक्ष्म्याः **पतिः** भर्ता इति अर्थः. **पतिव्रतालक्षणन्तु** धर्मशास्त्रे अभिहितम् **"आर्ता आर्ते, मुदिते हृष्टा, प्रोषिते मलिना कृशा, मृते म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता"** (. । ।   ) इति ज्ञेयम्.

(३)**स्ववंशे...** इति, **स्ववंशे** अग्निकुमारएव **स्थापितम् अशेषं स्वमाहात्म्यं** पूर्वोक्तं तादृशं येन सः. तेन तत्तुल्यत्वं सूचितम्. ननु एवम् अशेषमाहात्म्यस्थापने सर्वेषाम् आश्चर्यं भवति तत्र आहुः **स्मयापहः** इति॥२२॥ ननु केन प्रकारेण आश्चर्यं दूरीकुर्वन्ति तत्र आहुः **पतिव्रतापतिः** इत्यत्र **'पति'**शब्देन **"स वै पतिः स्याद्..."** (भाग.पुरा.भाग.पुरा.५।१८।२०) इति उक्तलक्षणधर्मसहितएव **पतिः** न अन्यः इति सूच्यते. आचार्यास्तु तादृशधर्मयुक्ताएव, अतः एतादृशे **पत्यौ व्रतम्** अनन्यव्रतं तद्व्यतिरिक्तम् अन्यत् किमपि न अस्ति इति व्रतं यस्याः सा **पतिव्रता,** तस्याः **पतिः.** एतेन या एवम् अनन्यव्रतेन आचार्यस्वरूपे सर्वात्मना प्रपन्ना, तस्याः तथारूपएव **पतिः.** पूर्वोक्तधर्मसहित**पति**त्वं तत्र प्रकटीकरोति. तत्प्रकटनन्तु अन्यभावेभ्यो रक्षणं स्वस्वरूपज्ञानपूर्वकं स्वस्मिन् सर्वात्मभावकरणञ्च. तेन सर्वोत्तमत्वम् अलौकिकस्वरूपत्वमेव **पतिव्रतायाः** सिद्धं भवति इति सूचितम्. एवं सति यत्र पूर्वम् अन्यसम्बन्धयुक्तायाअपि स्वपाणिसबन्धमात्रेणैव तादृशभावेन यत् सर्वोत्तमत्वालौकिकत्वकरणं तत्स्वमाहात्म्यस्थापनहेतुकमेव तत्र साक्षात्स्वरूपएव प्रकटे स्वान्वये अशेषमाहात्म्यस्थापने तत्स्वमाहात्म्यस्थापने किम् आश्चर्यम्! इति स्मयापहत्वमपि एवं सम्यक् सिद्धमेव इति भावः. किञ्च **पतिव्रतायाः** सर्वोत्तमत्वनिरूपणेन क्षेत्रस्यापि सर्वोत्तमत्वात् क्षेत्रकृततारतम्यसम्भावनापि न अस्ति इत्यपि ज्ञापितम्.

(४/क)**स्ववंशे...** इति. असाधारणधर्मवैलक्ष्येण गर्वाभावाय **स्मय...**

इति॥२२॥ भगवत्त्वाय **पतिव्रता...** इति.

(४/ख)**स्ववंशे...** इति. **स्ववंशे स्थापितम् अशेषं स्वमाहात्म्यं** यैः इति अर्थः. **'स्ववंश'**पदेन **'स्थापित'**पदेन च कालादिभ्यो बाहिर्मुख्यान्यथादर्शनप्रतीत्यापि न अन्यथा भविष्यति इति ज्ञापितं भवति. यथा शैलादिमूर्तिषु महापुरुषस्थापितासु न कदाचिदपि तत्कृपया भगवत्सान्निध्यं गच्छति. तत्र साक्षात्प्रभुस्थापने किं वक्तव्यम् इति भावः. यथा शालिग्रामशिलामूर्तौ स्थापनव्यतिरेकेणापि भगवत्सान्निध्यम् अस्ति; तथापि पुष्टिभक्तसेवनेन पुरुषोत्तमाविर्भावो अस्ति यथा, तथा अत्रापि तद्वंशत्वेन माहात्म्यम् अस्त्येव परन्तु **स्वमाहात्म्यं** पुरुषोत्तमात्मकं स्थापितम् इति भावः. **'अशेष'**पदेन तत्कृत-निवेदनानन्तरं सर्वेषां तथैव स्वस्य तल्लीलात्मक-स्वरूपादि-साक्षात्कारो भवति इति भावः. यत्तु कैश्चिद् उक्तं **'वंश'**पदं पुत्रपरं तत् सत्यं परं व्याख्यातृभिः अनवबोधाद् अन्यथा उच्यते. तस्य अर्थस्तु : वंशोक्तिः पुत्रीवंशेऽपि आयाति तदर्थम् उक्तं 'पुत्रपरम्' इति भावः. ननु एतादृशस्थापने किं प्रयोजनम् इत्यतः आहुः **स्मयापहः** इति, **स्मयं** गर्वम् **अपहन्ति** तथा. एतन्नाम-स्थापन-व्यतिरेकेण स्वकृपया जीवानां भगवद्भावे सति गर्वो भवेद् यत् स्वकृतसाधनैरेव अस्माकम् अयं भावो जातः इति तदभावाय तथा इति भावः. यद्वा स्मयम् आश्चर्यम् अपहन्ति इति तथा स्वतएव कथम् उत्पन्नो भावः इति आश्चर्यं दूरीकरोति इति अर्थः॥२२॥ ननु आश्चर्य-हरण-पूर्वकम् एतादृश-करणे को हेतुः इत्यतः आहुः **पतिव्रता...** इति, यः **पतिव्रतानां पतिः** इति अर्थः. पत्युः व्रतमिव व्रतं यस्याः सा **पतिव्रता.** यथा भगवद्व्रतं पुष्टिमार्गे स्त्रीष्वेव कृपां करोति तथा एतेषां जीवानामपि भगवानेव अस्मद्भर्ता. तद्भावेन ये भजनं कुर्वन्ति ते जीवाः **'पतिव्रता'**पदेन भावात्मकाः उच्यन्ते, तासां **पतिः** इति भावः. अन्यासां पतिव्रतात्वाभावात् तथा उक्तम्. तदेव उक्तम् आदिमहिषीभिः **"जीवच्छवं भजति कान्तमतिः विमूढा:..."** (भाग.पुरा.१०।६७।४५) इति, अन्येषु पतिलक्षणाभावात् कुतः पतिव्रतात्वम्! पतिलक्षणन्तु **"स वै पतिः स्याद् अकुतोभयः स्वयं समन्ततो याति भयातुरं जनम्"** (भाग.पुरा.५।१८।२०)इति. जीवानां **पतिः** भगवान् तं

परित्यज्य अन्यत्र पतिबुद्धिकरणमेव व्यभिचार:. तस्माद् एतद्भावव्यतिरिक्तस्थले पतिव्रतात्वाभावात्. किञ्च षष्ठस्कन्धे कश्यपवचनं "**पतिरेव हि नारीणां परमं दैवतं स्मृतं मानस: सर्वभूतानां वासुदेव: श्रिय: पति:**" (भाग.पुरा.६।१८।३३) इति, मानस-दैहिक-पतिद्वयप्राप्तौ पतिव्रताभावएव. तस्मात् भगवान् एकएव **पति:** इति सिद्धान्त:. भगवद्बुद्ध्या पतिसेवनं कर्तव्यं तदप्राप्तौ. तत्प्राप्तौ तद् अनुचितम्. तदप्राप्तावपि तदाशया तद्भजनमेव कर्तव्यं नतु अन्येषाम्. तद् उक्तम् आचार्यै: भ्रमरगीतविवृतौ. "**तद्दूरापत्वेऽपि तदाशया सर्वै: तद्भजनमेव कार्यम्**" (सुबो.प्रक्षे.१०।४४।६०) इति. अन्यत्र पतिव्रतत्वाभावोऽपि "**क्वेमा: स्त्रिय:...**" (सुबो.१०।४४।६०) इत्यत्र स्फुटमेव लिखितं प्रभुचरणैरिति न अधिकं लेखनीयम्. एतादृशानां जीवानां पति: इति भाव:. '**पति**'पदेन साक्षाद् भगवत्त्वं व्यज्यते इति भाव:.

(५)**स्ववंशे...** इति, '**स्व**'पदेन पुत्ररूपवंश: उच्यते. तत्रैव **अशेषमाहात्म्यं स्थापितं** 'स्व'पदेन साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धनिरूपितं तेन अशेषमाहात्म्यं श्रीमदग्निकुमारेष्वेव शेषन्तु सर्वत्रैव इति सूचितम्. यद्वा **अशेषमाहात्म्यं** सर्वत्रापि अन्यथा तद्द्वारा पुष्टिभक्तिप्रचारो न स्यात् कालबाधकत्वात्. तस्मिन् **स्थापिते**तु तस्य अबाधकत्वम्. यद्वा "दीपाद् दीप:" इति न्यायेन स्वस्मिन् सिद्धमेव अशेषमाहात्म्यं स्थापितस्तु स्वातिरिक्तेष्वेव इति स्थापितम् इति उक्तम्. स्थापनप्रयोजनन्तु उक्तमेव. अतएव आहु: **स्मयापह:** इति, '**स्मय**'शब्देन विस्मय: उच्यते. तथाच एतादृशे बाधके काले कथं वंशीयै: प्राकृतानां जीवानां पुष्टिसम्बन्धो भवति इति केषाञ्चिद् विस्मयो भवतीति तस्य हन्ता स्वमाहात्म्यस्य अचिन्त्यालौकिकत्वात्. यद्वा **स्मयो** गर्वो "वयमेव जगदुद्धारका:" इति तस्य तथा स्वमाहात्म्यस्थापनादेव. तथात्वं न स्वतइति माहात्म्यस्थापनेन स्ववंशद्वारस्यैव उद्धारकत्वाद् इति भाव:॥२२॥ परम् उद्धारे एतावान् विशेष: इति आहु: **पतिव्रतापति:** इति, ये पूर्वमपि भक्ता: भगवता भक्त्यर्थमेव लोके सृष्टा: दैवा: ते मर्यादाप्रवाहाद्यन्यसम्बन्धरहिता: '**पतिव्रता**'शब्देन उच्यन्ते. तेषामेव, न अन्यानां, **पति:** कालादिसर्वभयनिवारक:. यद्वा ये **पतिव्रतारूपा:** भक्ता: तेषां **पतिव्रतरूप:**

पति: तदेकहितकर्ता इति अर्थ:.

(६)**स्ववंशे...** इति, **स्व**भूतेषु पुत्रपौत्रादिरूप**वंशे स्थापितम् अशेषं** "**नमामि हृदये शेषे**" (भाग.सुबो.१०।१।१) इति कारिकोक्तं स्वहृदयस्य अन्तरङ्गलीलाधारत्वेन यत् शेषत्वं तद्व्यतिरिक्तं **स्वस्य** उपदेशेन जनोद्धारार्थम् अवतीर्णस्य तावन्मात्रं नामदानेन जनोद्धारणरूप**माहात्म्यं** येन तादृश: इति अर्थ:. तत्र तावदंशस्थापनेन अन्यदपि तद्द्वारा जनान् उद्धरति, गुरुस्तु स्वयमेव, '**स्थापित**'पदेन आगन्तुकत्वम् उक्तम्. तेन प्रयोजनसिद्धौ "**यावदधिकारम् अवस्थिति: आधिकारिकाणाम्**" (ब्र.सू.३।३।३२) इति न्यायेन पृथुवत् तत् तिरोभवति इति सूचितम्. तस्य भगवद्धर्मत्वेन अपहतपाप्मत्वात् न आधारदोषसम्बन्धो, जनोद्धारार्थमेव तत्स्थापनात्. स्वोद्धारार्थन्तु पृथुवत् तेनापि यत्नो कर्तव्यएव. उपदेशार्थमेव तत्स्थापनात्, तदनधिकारवति स्त्रीपुत्र्यादौ न तत्स्थापनम् इति ज्ञेयम्. नच '**नर**'पदस्य जीवगत'**पुंस्त्व**'वाचकत्वेन तत्रापि अधिकार: इति वाच्यं, कृष्णसेवा-दम्भादिराहित्य-श्रीभागवततत्त्वज्ञानान्यथानुपपत्त्यैव तत्प्राप्ते: '**नर**'पदम् अनर्थकं स्यात्. नच पुत्रेष्वपि धर्मान्तरत्रयाभावे अनधिकार: स्याद् इति वाच्यं, "**प्राचाम् आचार्याणाम्...**" (भ.हं.) इति भक्तिहंसोक्तन्यायेन तदुपपत्ते:. नच तर्हि नरत्वाभावेऽपि तथा स्याद् इति वाच्यं, नरत्वस्य स्वरूपान्तर्गतत्वेन स्वरूपयोग्यतापादकधर्मत्वात्. अतएव तत्र स्नेहस्यैव कृष्णसेवादिधर्मत्रयकारणी-भूतस्य प्राचीनगतत्वेन उपपत्ति: उक्ता नतु नरत्वस्य. अतो नरत्वन्तु अपेक्षितमेव इति ज्ञेयम्. अतएव टिप्पणान्तरेऽपि '**वंश**'पदं पुंस्त्वपरत्वेन व्याख्यातं नतु पुत्रीपरम् इति भाव:. ननु एवं सति जनोद्धारेऽपि वंशीयानान्तु स्वस्मिन् तादृशमाहात्म्यज्ञानेन प्रत्युत गर्वरूपो दोषएव सिद्ध: इत्यत: आहु: **स्मयापह:** इति, गर्वनिवर्तक: इति अर्थ:. स्वरूपबलेनैव दोषं निवर्त्य जनानिव तानपि उद्धरिष्यति इति भाव:॥२२॥ ननु एवं स्वस्यैव आग्रहेण उद्धारकरणे को हेतु:? तत्र आहु: **पतिव्रतापति:** इति, **पत्यौ** स्वस्मिन्नेव **व्रतं** नियमो येषाम् अनन्यभक्तानां, पुरञ्जनप्रसङ्गवत्, स्वाधीनत्वलक्षणस्त्रीत्वयु-क्तानां **पति:** "**समन्तत: पाति भयातुरं जनम्**" (भाग.पुरा.५।१८।२०)

इति वाक्याद् उद्धारकः. तेहि अनन्यत्वात् स्वोद्धारार्थम् अन्यं न आश्रयन्तएव, स्वमपि चेत् तान् न उद्धरेत् तदा अनुद्धृताएव भवेयुः. अतः एवम् आग्रहः इति भावः.

(७)**स्ववंशे स्थापिताशेष-स्वमाहात्म्यः** इति, **स्वे** अमृतरूपे, **अंशे** बलदेवे, **स्थापितं** निखिलं रमणं दैत्यादिमारणादिरूपं, **स्वमाहात्म्यं** येन सः. तद् उक्तं **''तत्र अपश्यद् यदुपतिं रामं पुष्करमालिनं सुदर्शनीयसर्वाङ्गं ललनायूथमध्यगम्''** (भाग.पुरा.१०।६४।९) इत्यादि. **''यादवेन्द्रोऽपि तं दोर्भ्यां त्यक्त्वा मुसललाङ्गले जत्री अभ्यर्दयत् क्रुद्धः सो अपतद् रुधिरं वमन्''** (भाग.पुरा.१०।६४।२५) इत्यादि च. रमणे श्रीः स्फुटा. पञ्चषष्टितमाध्यायार्थ-बोधकं नाम आहुः **स्मयापहः** इति, **स्मयः** कौरवाणां गर्वः **''आरुरुक्षति उपानद् वै शिरो मुकुटसेवितम्''** (भाग.पुरा.१०।६५।२४), **''असम्बद्धा गिरो रूक्षाः कः सहेत अनुशासिता !''** (भाग.पुरा.१०।६५।३९) इत्यादिरूपः, तं **अपहन्ति**. तद् उक्तं **''बलेन लाङ्गलाग्रेण नगरम् उद्विदार्य''** (भाग.पुरा.१०।६५।४१) **''सलक्ष्मणं पुरस्कृत्य साम्बं प्राञ्जलयः प्रभुम्''** (भाग.पुरा.१०।६५।४३) बलेन लाङ्गलाग्रेण नगरेषु विदीर्यमाणे साम्बं सलक्ष्मं पुरस्कृत्य प्राञ्जलयः प्रभुपादपतितैः कौरवैः. कौरवाः ऊचुः **''राम-राम ! अखिलाधार प्रभावं न विदाम ते''** (भाग.पुरा.१०।६५।४४) इत्यादि. भगवत्प्रभावस्फूर्तिः ज्ञानम्॥२२॥ षट्षष्टितमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **पतिव्रतापतिः** इति, **पतिव्रतानां** षोडशसहस्र-नायिकानां **पतिः** नायकः. तद् उक्तं **''गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रियः एकः उदाहवत्...''** (भाग.पुरा.१०।६६।२) इत्यादि, **''रेमे अङ्ग षोडशसहस्र-वराङ्गनानां सव्रीड-सौहृदनिरीक्षण-हासजुष्टः''** (भाग.पुरा.१०।६६।४४). [२]यद्वा **पतीनां** पालकानां सतां यद् व्रतम् अतिथि-पूजनादिः तस्य आसमन्तात् **पतिः** पालकः. तद् उक्तं **''तस्य अवनिज्य चरणौ तदपः स्वमूर्ध्ना बिभ्रद् जगद्गुरुतरोऽपि सतां पतिर्हि...''** (भाग.पुरा.१०।६६।१५) इत्यादि. **''ततो अन्यदा आविशद् गेहम्...''** (भाग.पुरा.१०।६६।१९) इत्यादिः. स सर्वः एतस्यैव प्रपञ्चः. **पतिव्रतानां पतित्वेन** अतादृशीषु वैराग्यः सूचितः.

:: उत्थानिकाः ::

(१)एवं स्ववंशस्य सोपपत्तिकं स्वसाम्यम् उपपाद्य स्वीयानाम् ऐहिकामुस्मिकफलदानसामर्थ्यम् आहुः —

(२)...

(३)ननु पतिव्रतायाः एवम् अलौकिकत्वेऽपि बहिस्तु लौकिकत्वमेव दृश्यते तत्र आहुः —

(४/क)सर्वथा उपास्यत्वाय —

(४/ख)एतन्नाम-पोषकम् अग्रिमं नाम आहुः —

(५)नतु केवलम् अनिष्टनिवर्तकत्वं किन्तु इष्टप्रापकत्वमपि इति आहुः —

(६)नच ऐहिकार्थन्तु अन्याश्रयणम् आवश्यकम् अतो अविशेषात् परलोकार्थमपि आश्रयणं स्याद् इत्यतः आहुः —

(७)सप्तषष्टितमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

पारलौकिकैहिकदानकृत्[६७]

:: टीका: ::

(१)पारलौकिकैहिकदानकृद् इति, स्वमार्गीयं **पारलौकिकं** भगवत्सम्बन्धरूपम्. **ऐहिकं** तत्सेवार्थमेव स्त्रीपुत्रधनादिरूपं तद्-**दानकृत्**.

यद्यपि अदृष्टादिना कस्यचित् तीर्थादिमरणेन **पारलौकिकं** फलम् अनुमीयते, पतिपुत्रादिरूपम् ऐहिकमपि दृश्यते तथापि पूर्वोक्तप्रकारकपारलौकिकैहिक फलदाने आचार्याणामेव सामर्थ्यं नतु अदृष्टादेरपि इति ज्ञापनाय उक्तं **पारलौकिकैहिकदानकृद्** इति.

(२)**पारलौकिकैहिकदानकृद्** इति, परलोकसम्बन्धि सुखं **पारलौकिम्**, इहलोकसम्बन्धि सुखम् **ऐहिकं**, तदुभयोः **दानं** भक्तेषु **करोति** इति अर्थः.

(३)**पारलौकिकैहिकदानकृद्** इति, यद्यपि आचार्यव्यतिरिक्तं पतिव्रतायां **पारलौकिकम् ऐहिकं** वा किमपि वाञ्छितं न अस्ति तथापि स्वमार्गीयं **पारलौकिकं** भगवत्सम्बन्धरूपम् **ऐहिकं** तत्फलरूपमेव सेवार्थं स्वान्वयादिरूपं स्वतः तद्-**दानकर्ता**, स्वमार्गे भगवत्सेवायाः आवश्यकत्वादिति. यद्वा आचार्यव्यतिरिक्तम् अन्यद् अवाञ्छितं तथापि भुवि भक्तिप्रचारैककृतएव एतद्-**दानकृत्**. एवं सति एतादृशम् **ऐहिकमपि पारलौकिकमेवेति** न लौकिकत्वगन्धोऽपि. अतएव उभयोरपि एकरूपत्वमेव इति ज्ञापनार्थमेव '**एक**'पदं दत्तम्. एवं सति अन्येऽपि सर्वात्मना अनन्यव्रतेन सर्वथा प्रपन्नाः तेषामपि उभयदानकर्ता इति सूचितम्.

(४/क)**पारलौकिक...** इति.

(४/ख)**पारलौकिकैहिक-दानकृद्** इति, **पारलौकिकं** च **ऐहिकं** च **पारलौकिकैहिके** तयोः **दानकर्ता** इति अर्थः. **पारलौकिकं** भगवत्साक्षात्कार-योग्य-देहप्राप्तिरूपम्, **ऐहिकं** तद्भाव-युक्तेन अनेनैव देहेन भगवत्सेवादिकरणं, तयोः **दानकर्ता** इति अर्थः. यद्वा **पारलौकिको** भगवान्, तस्य **ऐहिकं** वृन्दावनलीलायां रमणात्मकं तस्य **दानकर्ता** इति अर्थः. उभयलोकदानकर्तृत्वेन, यथा पतिव्रतायाः पतिः पारलौकिके स्वर्गादौ सएव भवति ऐहिके च भोगादिसुखं भवति; तथा अत्रापि ऐहिके श्रीवृन्दावनचन्द्रेण साक्षान्मन्मथत्वादिभावेन रसभोगः पारलौकिके सएव पुनः अलौकिकदेहप्राप्तौ

सत्यां पतिः भवतीति, तद्दान-करणोक्त्या पूर्वोक्तपतित्वं व्यज्यते. '**दान**'पदेन दत्तवस्तुनो, यथा तद्विनियोगे पुनर्ग्रहणं न सम्भवति; तथा अत्रापि प्रमादात् जीवस्वभावाद् वा अपराधेऽपि पुनः तस्य अन्यभावं न विचारयति इति ध्वन्यते.

(५)**पार...** इति, यथा पतिव्रतापतिरेव सर्वेष्टदाता तथा तेषां **पारलौकिकैहिकेष्टानां दानकर्ता**. पारलौकिकेष्टानि नित्यलीलास्थसर्वसम्पत्तिः. ऐहिकेष्टानि भगवत्सेवौपयिकसर्वसम्पत्तिः धनपुत्रादिः. एतेन उभयार्थम् अन्यभजनादिसर्वबाधकं निवारितं, स्वेनैव सर्वेष्टसिद्धेः. ''पुष्टिमार्गे प्रमेयेणैव सर्वम्'' इति सिद्धान्तः.

(६)**पार...** इति, उभयदानकृत् स्वयमेव. तेषां कर्मादिकरणन्तु आज्ञया नतु फलार्थमिति न अंशतोऽपि अन्याश्रयण-सम्भावना इति भावः.

(७)**पारलौकिकैहिक-दानकृद्** इति, परलोकसम्बन्धि **पारलौकिकं** विषयत्याग-ब्रह्मध्यान-सन्ध्या-होम-ब्रह्मजप-सूर्योपस्थान-देवर्षिपितृतर्पण-विप्रार्चन-धेनुदान-देवतागुरुभूतादि-नमस्कृति-मङ्गलस्पर्शादि. **ऐहिकम्** आत्मभूषणाज्यदर्शन-स्रक्-ताम्बुलानुलेपनादि. तयोः **दानस्य कृत्** कर्ता. तद् उक्तं ''**दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम्**'' (भाग.पुरा.१०।६७।४) इत्यादि, ''**आत्मानं भूषयामास**'' (भाग.पुरा.१०।६७।११) इत्यादि, ''**प्रदाप्य प्रकृतीः कामैः**'' (भाग.पुरा.१०।६७।१२) इति च. [२]यद्वा **पारलौकिकं** नारदपूजनम्, **ऐहलौकिकः** त्रिलोककुशलप्रश्नः, **दानं** खण्डनं राजदुःखस्य, तेषां **कर्ता**. तद् उक्तं ''**तं दृष्ट्वा भगवान् कृष्णः...**'' (भाग.पुरा.१०।६७।३३) इत्यादि, ''**अपि स्विद् अद्य लोकानां त्रयाणाम् अकुतोभयम्...**'' (भाग.पुरा.१०।६७।३५) इत्यादि, ''**प्रपन्नाः पादमूलं ते दीनानां शं विधीयताम्**'' (भाग.पुरा.१०।६७।३१) इत्यादि च. एवम् अन्यदपि ऊह्यम्. लोकद्वये साधनशिक्षणेन साधन-प्रकरणारम्भः सूचितः. शिक्षकत्वेन ऐश्वर्यम्.

:: उत्थानिका: ::

(१)यद्यपि पूर्वनाम्नि पारलौकिकैहिकदानकरणे न सन्देहः तथापि कदा केन प्रकारेण दास्यति इति जिज्ञासायाम् आहुः —

(२)...

(३)ननु अन्येषां कदा दास्यन्ति तत्र आहुः —

(४/क)गूढाशयत्वेनापि भगवत्त्वाय —

(४/ख)ननु एतादृश-दान-करणं किं प्रयोजनकम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः —

(५)महादानशौण्डो देयं-देयं न वदति निगूढहृदयो भवति तथा प्रभवोऽपि इति आहुः —

(६)ननु अवतीर्णस्तु सर्वैरपि दृश्यते अतः कथं पतिव्रतामात्रपतित्वम् अतः आहुः नामद्वयम् —

(७)अष्टषष्टितमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

निगूढहृदयो[६८] **अनन्यभक्तेषु ज्ञापिताशयः**[६९]

:: टीका: ::

(१)निगूढहृदयः इति, **नितरां गूढम्** ईश्वरत्वेन ज्ञातुम् अशक्यं **हृदयं** यस्य सः. तेन फलदाने न सन्देहः परन्तु ईश्वरेच्छायाः अनियम्यत्वात् कालविशेषनियमस्य अशक्यत्वज्ञापनाय उक्तं **निगूढहृदयः** इति. ननु सर्वेषाम्

इयमेव व्यवस्था अथवा स्वेच्छामपि केषुचिद् ज्ञापयति इति सन्देहनिवृत्त्यर्थम् अग्रिमं नाम आहुः **अनन्यभक्तेषु ज्ञापिताशयः** इति, **अनन्याः** अन्तरङ्गाः **भक्ताः** पद्मनाभदासप्रभृतयो विरलाः. तेषु **ज्ञापितः आशयः** अन्तःकरणं येन सः. तेन यं ज्ञापयति सएव समयविशेषं जानाति नतु सर्वेषां ज्ञानयोग्यता इति ज्ञापनाय उक्तम् **अनन्यभक्तेषु...** इत्यादि॥२३॥

(२)**निगूढहृदयः** इति, **नितरां गूढं** गुप्तं **हृदयम्** अभिप्रायो यस्य. **अनन्यभक्तेषु ज्ञापिताशयः** इति, **अनन्येषु** एकान्तिभ**क्तेषु ज्ञापितो** बोधितः **आशयः** अभिप्रायो येन, अन्यथा अकृतज्ञत्वप्रसङ्गः॥२३॥

(३)**निगूढहृदयः** इति, इदन्तु न ज्ञातुं शक्यते, नहि ईश्वरेच्छा ज्ञेया भवति कस्यापि. ननु कस्यापि ज्ञातुं शक्या वा न वा इति तत्र आहुः **अनन्यभक्तेषु...** इति, ये एतादृशाः **अनन्याः** तेषु **ज्ञापितः आशयो** येन. तैरपि स्वयं न ज्ञातः किन्तु एतज्ज्ञापितएव; परन्तु तादृशाः ते दुर्लभाएवेति, अग्निकुमारेष्वेव आशयो ज्ञापितः, न अन्येषु इति ज्ञापितं भवति॥२३॥

(४/क)**निगूढ...** इति. अंगीकृतेषु ज्ञापनेनापि तथात्वाय **अनन्य...** इति.

(४/ख)**निगूढहृदयः** इति, **नितरां** जीवागम्यं **गूढं** गुप्तं **हृदयं** यस्य इति अर्थः. यद्वा **निगूढो** भगवान् सएव **हृदयं** यस्य तस्य, तस्मिन् वा, तदर्थं वा, **हृदयं** यस्य इति भावः. तेन भगवद्रस-सेवासामग्री-सम्पादनमेव प्रयोजनम् इति भावः. ननु निगूढहृदयत्वेन अज्ञाते सति कथं सेवनं भवेद्? इत्यत्र आहुः **अनन्य...** इति, न विद्यते अन्यो येषां ते **अनन्याः**. अनन्याश्च ते **भक्ताश्च** तेषु **ज्ञापितः आशयो** येन इति अर्थः. **अनन्याः** दामोदरदासप्रभृतयः तेषु तथा. अन्यथा ते श्रीमत्प्रभुषु भक्तिसिद्धान्त-पद्यद्वयम् अर्थदानत्वेन न वदेयुः इति भावः॥२३॥

(५)**निगूढ...** इति, स्वमार्गीयमहाफलदित्सां हृद्येव कृत्वा दैवान् अङ्गीकरोति नतु उच्चारयति फलस्य अतिगोप्यत्वाद्, अतो **निगूढहृदयो** भवति. तथापि केषुचित् महाभाग्यवत्सु सर्वथा प्रपन्नेषु कृपया स्वाशयं ज्ञापयन्ति इति आहुः **अनन्य...** इति, न विद्यते परलोके इहलोके अन्यो येषां, ते **अनन्याः** दामोदरदासपद्मनाभदासादयः. तथैव **ज्ञापितः आशयो** येन सः, तथा आशयज्ञापनन्तु स्वप्राकट्यातिरहस्य-प्रयोजनपूर्वक-विविधालौकिक-रसभोगरूप-मार्गफलप्रकार-कथनम्. तत्तु केषुचिदेव भवति इति तथा उक्तम्. अतएव इदं श्रीप्रभुवाक्यमपि सङ्गच्छते "**हे दमला! त्वदर्थएव अयं मार्गः प्रकटितः**" (चौरा.वैष्ण.वा.१।१) इति. अतो महाप्रभ्वाशयः सर्वेषाम् अज्ञातएव भवति.

(६)**निगूढ...** इत्यादि. अन्येभ्यः सकाशात् **निगूढं** गोपितं **हृदि अयते** तादृशं तात्पर्यं येन किन्तु **अनन्यभक्तेष्वेव ज्ञापिताशयः**. तेन अन्येषां तात्पर्याज्ञानात् ते मार्गान्तरेणैव प्रपद्यन्ते **भक्ताएव** तात्पर्यज्ञानाद् अत्र प्रपद्यन्ते इति तेषामेव पतिः उद्धारकः इति भावः.

(७)**निगूढहृदयः** इति, "'गुहू' संवरणे" (पाणि.धा.पा.भ्वा.९२१) नितरां गूहति संवृत्य तिष्ठति भगवन्तम् इति **निगूढः** उद्धवः. तस्मिन् हृदयम् अभिप्रायः यस्य. तद् उक्तं "**सभ्यानां मतम् आज्ञाय कृष्णस्य च महामतिः**" (भाग.पुरा.१०।६८।१). [२]यद्वा **निगूढं हृद्** अस्य इति **निगूढहृद्** युधिष्ठिरः, तस्मै **अयः** गमनं यस्य. तद् उक्तम् "**अथ आदिशत् प्रयाणाय**" (भाग.पुरा.१०।६८।१२). [३]यद्वा **निगूढहृद्भिः** सह **अयनं** यस्य. तद् उक्तं "**नृ-वाजि-काञ्चनशिबिकाभिः अच्युतं सहात्मजाः पतिमनु सुव्रता ययुः वराम्बराभरण-विलेपन-स्रजःसुसंवृता नृभिः असि-चर्म-पाणिभिः**" (भाग.पुरा.१०।६८।१५). [४]यद्वा **निगूढं हृदयम्** अभिप्रायो यस्य. तद् उक्तं "**मा भैष्ट दूत भद्रं वो घातयिष्यामि मागधम्**" (भाग.पुरा.१०।६८।१९). [५](यद्वा) **निगूढे** भगवति **हृद्** यस्य सो **निगूढहृत्** युधिष्ठिरः तस्य गमनं यस्मै सः. तद् उक्तम् "**अभ्ययात् स हृषीकेशं**

प्राणाः प्राणमिव आदृतः" (भाग.पुरा.१०।६८।२४), "**दृष्ट्वा विक्लिन्नहृदयः...**" (भाग.पुरा.१०।६८।२५) इत्यादि. [६]यद्वा **निगूढहृद्भिः** युधिष्ठिरादिभिः सह **अयः** गमनं यस्य. तद् उक्तम् "**एवं सुहृद्भिः पर्यस्तः पुण्यश्लोक-शिखामणिः संस्तूयमानो भगवान् विवेश अलङ्कृतं पुरम्**" (भाग.पुरा.१०।६८।३१). [७]यद्वा **निगूढहृदां** गमनं यस्मै. तद् उक्तं "**सद्यो विसृज्य गृहकर्म पतीन् च तल्पे द्रष्टुं ययुः युवतयः स्म नरेन्द्रमार्गे**" (भाग.पुरा.१०।६८।३४) "**नार्यो विकीर्य कुसुमैः मनसा उपगुह्य**" (भाग.पुरा.१०।६८।३४-३५) इत्यादि. निगूढाशयत्वं वीर्यम्. एकोनसप्ततितमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **अनन्यभक्तेषु ज्ञापिताशयः** इति, **अनन्यभक्तेषु** मध्ये **ज्ञापितः आशयः** यस्मै सः. तद् उक्तम् "**एकदातु सभामध्ये...**" (भाग.पुरा.१०।६९।१), "**यक्ष्ये विभूतीः भवतः तत् सम्पादय नः प्रभो**" (भाग.पुरा.१०।६९।१३). [२]यद्वा **अनन्यभक्तेषु** युधिष्ठिरादिषु **ज्ञापितो** बोधितः **आशयो** येन सः. तद् उक्तं "**श्रुत्वा जितं जरासन्धं नृपतेः ध्यायतो हरिः आह उपायं तमेव अद्य उद्धवो यम् उवाच ह**" (भाग.पुरा.१०।६९।१५). [३]यद्वा न अन्यो **अनन्यः** शिवः, तस्य **भक्ताः** जरासन्धादयः. तेषां मध्ये **ज्ञापितः आशयः** येन सः. तद् उक्तं "**युद्धं नो देहि राजेन्द्र...**" (भाग.पुरा.१०।६९।२८) इत्यादि. [४]यद्वा **अनन्यभक्त**-जरासन्ध-निमित्तं **ज्ञापितः आशयो** भीमेन यस्मै सः. तद् उक्तं "**न शक्तो अहं जरासन्धं निर्जेतुं...**" (भाग.पुरा.१०।६९।४१) इत्यादि. [५]यद्वा न सदृशो अन्यो अस्य **अनन्यः** जरासन्धः, तस्य भज्यन्ते इति **भक्ताः** विभागाः, तन्निमित्तं **ज्ञापितः आशयो** भीमाय येन सः. तद् उक्तं "**शत्रोः जन्ममृती विद्वान् जीवितं च जराकृतं पार्थम् आप्याययन् स्वेन तेजसा अचिन्तयद् हरिः**" (भाग.पुरा.१०।६९।४२) इति. [६]यद्वा **अनन्यभक्तेषु** जरासन्ध-रुद्ध-राजसु **ज्ञापितः** प्रकटीकृतो भक्तमोचकत्वरूपः **आशयो** येन सः. तद् उक्तं "**मोचयामास राजन्यान् संरुद्धाः मागधेन ये**" (भाग.पुरा.१०।६९।४८). भक्तमोचनं यशः ॥२३॥

:: उत्थानिका ::

(१)एवं स्वकीयेषु फलाव्यभिचारित्वम् उपपाद्य कदाचिद् दुःसंसर्गात् स्वीयानामपि कृतिसाम्याद् अज्ञानाद् उपासनादिमार्गप्रवृत्तानाम् अज्ञाननिवृत्तिपूर्वकरक्षाकरणज्ञापकम् अग्रिमं नाम आहुः —

(२)...

(३)ननु अनन्यभक्तानामपि बहुविधमार्गस्य श्रुतत्वात् तत्र तत्र भ्रमरूपो मोहः कदाचित् तिष्ठेत् तदा सर्वोत्तमत्वं न स्यात् तत्र आहुः —

(४/क)मोहनिवारकत्वेनापि तथात्वाय —

(४/ख)ननु अनन्येषु तथात्वे अनन्यभाव-प्राप्त्यर्थं तेषां किं साधनम् इत्यत्र आहुः —

(५)अतो अनन्यव्यतिरेकेषु कदाचित् मोहसम्भवोऽपि तन्निषेधार्थम् आहुः —

(६)पतित्वस्वरूपम् आहुः —

(७)सप्ततितमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

उपासनादिमार्गातिमुग्ध-मोहनिवारकः[७०]
भक्तिमार्गे सर्वमार्गवैलक्षण्यानुभूतिकृत्[७१]

:: टीका ::

(१)उपासनादिमार्गातिमुग्धमोहनिवारकः इति, **उपासनादिमार्गाः** पूजाज्ञानयोगादयः तत्र भक्तिमार्गाभिमानेन ये **अतिमुग्धाः** अत्यन्ताज्ञानिनः

तेषां भक्तिमार्गनिरूपणेन **मोहस्य** अज्ञानस्य **निवारकः**. ननु भक्तिमार्गनिरूपणमात्रेणैव कथम् अज्ञाननिवृत्तिः इति आशङ्कानिरासाय अग्रिमं नाम आहुः **भक्तिमार्गे सर्वमार्गवैलक्षण्यानुभूतिकृद्** इति, अत्र निरूपणेन कथनमात्रं न विवक्षितं किन्तु कथनस्य अनुभवपर्यवसायित्वेन अज्ञाननिवर्तकत्वज्ञापनाय उक्तं **भक्तिमार्गे सर्वमार्गः** इत्यादि. वैलक्षण्यन्तु उपासनामार्गोपास्यदेवतायाः मन्त्राधीनत्वाद् विभूतित्वेन साक्षात्पुरुषोत्तमत्वाभावाद् भक्तिमार्गे सेव्यस्य केवलभक्त्यधीनत्वेन पुरुषोत्तमत्वाद् यथा उपासनामार्गाद् भक्तिमार्गे वैलक्षण्यं सोपपत्तिकम् **अनुभूतं** भवति तथा **कर्ता** इति अर्थः॥२४॥

(२)"**वाचं धेनुम् उपासीत**" (बृह.उप.५।८।१), "**अन्नं ब्रह्म इति उपासीत**" (मैत्रा.उप.६।१२) इत्यादिप्रसिद्धा या **देवतोपासना तद्आदि**पदेन कर्म उच्यते तत्प्रतिपादकाः ये **मार्गाः** ऋषिप्रणीताः सिद्धान्ताः तैः कृत्वा **अत्यन्तं मुग्धाः** मोहं प्राप्ताः ये जीवाः तेषां **मोहस्य** भक्तिमार्गप्राकट्येन **नितरां वारकः** तुच्छकारकः इति अर्थः. **भक्तिमार्गे सर्वमार्गवैलक्षण्यानुभूतिकृद्** इति, **सर्वेभ्यो मार्गेभ्यः** कर्मज्ञानादिभ्योऽपि भक्तिमार्गे सर्वस्माद् वैलक्षण्यम् "एतादृशो अन्यो मार्गो न अस्ति" इत्येवंविधं तस्य अनुभवं करोति इति तथा॥२४॥

(३)**उपासना...** इति, उपासनादिमार्गैः अतिमुग्धानां मोहस्य निवारकः. एतद् यथा-तथा भक्तिहंसे निरूपितम् इति सर्वम् अवदातम्. एतेन स्वमार्गस्तु सर्वविलक्षणः इति ज्ञापितं भवति. ननु सर्वविलक्षणत्वं कथं ज्ञायते तत्र आहुः **भक्तिमार्गे...** इति, स्वमार्गे **सर्वमार्गेभ्यो** यद् **वैलक्षण्यं** तद् **अनुभवं** प्रत्यक्षं स्वयमेव करोति तदा अन्यप्रमाणं कुतो मृग्यम्! अथवा भक्तानामपि तदनुभवकृद् तद्वैलक्षण्यानुभवस्तु स्वमार्गोक्तफलस्य मन्त्रोपासनाविधिभिः अस्पृष्टत्वेन तादृशस्यैव स्वसर्वस्वत्वकथनात् तत्फलस्य सर्वेन्द्रियरसास्वाद्यत्वेन भोगकरणम्. एवं सति एवम्प्रकारकफलानुभवस्यैव मन्त्रोपासनाविधिभिः अस्पृष्टत्वेन तादृशस्यैव स्वसर्वस्वकथनाद् भावनातोऽपि महद् वैलक्षण्यम्॥२४॥

(४/क)**उपासनादि...** इति. भगवत्त्वेऽपि पुष्टिपुरुषोत्तमत्वाय **भक्तिमार्गे...** इति॥२४॥

(४/ख)**उपासनादि...** इति, उपासनादयो ये मार्गाः, तेषु ये अतिमुग्धाः, तेषां यो मोहः, तस्य निवारकः इति अर्थः. तन्मोहनिवारणेन अनन्यत्वं भवति इति अर्थः. ननु भगवत्सृष्टानां कथं मोहः? तत्र उच्यते मार्कण्डेयपुराणे **"ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा बलाद् आकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति"** (मार्क.पुरा.श्रीदुर्गा.सप्तश.१।५५-५६) इति वचनात् मोहो भवत्येव, भगवता तस्याः तथा सामर्थ्यदानात्. ननु उपासनामार्गोऽपि भक्तेः (भक्तौ!) श्रूयते कथं तस्य मोहकत्वं, भक्तिमार्गश्च पुनः सर्वेभ्यो अतिरिक्तः कीदृशः इत्यत्र आहुः **भक्तिमार्गे...** इति, भक्तिमार्गे सर्वमार्गेभ्यो वैलक्षण्येन अनुभूतिं करोति इति भावः. यद्वा **भक्तेः मार्गो** यस्य असौ भक्तिमार्गो भगवान् तदर्थं सर्वमार्गेभ्यो **वैलक्षण्येन** स्वामिनीभावेन अनुभूतिं करोति इति भावः. अथवा **भक्तिमार्गे** स्वीयपुष्टिभक्तिमार्गे **'सर्वमार्ग'**शब्देन भगवान् तस्य **वैलक्षण्येन** स्वामिनीशृङ्गारादिरूपेण अनुभूतिं करोति इति भावः॥२४॥

(५)**उपासना...** इति, वैदिकतान्त्रिकोपासनादयो ये मार्गाः, तैः तेषु वा ये अतिमुग्धाः, "एभिरेव भक्तिमार्गफलानुभवो भविष्यति, एतएव भक्तिमार्गाः" इति, तेषां यो मोहः, तस्य गीताश्रीभागवतार्थनिरूपणेन तेषां विभूतिपरत्वनिरूपणेन च निवारकः. यथा ते पुनः मुग्धाः न भवन्ति. तेऽपि वचनमात्रेणैव केवलं निवृत्ताः न भवन्ति किन्तु तन्मार्गभक्तिमार्गवैलक्षण्यानुभवादपि तथा भवन्ति इति अनुभूतिकर्तृत्वम् आहुः **भक्ति...** इति, **भक्तिमार्गे** पुष्टिमार्गे उपासनादिसर्वमार्गेभ्यो यद् **वैलक्षण्यं** स्वरूपतः फलतः साधनतः च : स्वरूपं निःसाधनाङ्गीकारः, फलं भजनानन्दानुभवः, साधनं प्रेमेव; अतो महतः एतस्य अनुभूतिः, तस्याः कर्ता. अतः ततोऽपि ते मोहात् निवृत्ताः भवन्ति इति. नहि कश्चित् सिताम् आस्वाद्य गुडादौ प्रवर्तते. महाप्रभूणां कर्तृत्वन्तु स्वबलेन पुष्ट्यङ्गीकारेण॥२४॥

(६)**उपासनादि...**इति नामत्रयेण. साधारणसंसर्गात् जातं मार्गान्तरमोहं निवर्त्य भक्तिमार्गे मार्गान्तरीयविभूतिरूपत्ववैलक्षण्येन साक्षात्पुरुषोत्तमस्वरूपम् अनुभाव्य तादृशस्वरूपविषयकनवविधभक्तेः युगपत्सिद्धौ क्रमं विहायापि निवेदनभक्तिसिद्धौ वा हेतुभूतं **"प्रयतपाणिः शरणं प्रपद्ये"** (   ) इत्यत्र उक्तात् कर्ममार्गीयात् **"ब्रह्मणे त्वा महसे 'ॐ' इति आत्मानं युञ्जीत"** (महाना.उप.२४।२) इत्यत्र उक्ताद् ज्ञानमार्गीयात् पृथग्भूतं भक्त्यङ्गत्वेन भक्तिमार्गीयं शरणमार्गं नवरत्ने **"तस्मात् सर्वात्मना नित्यम्"** (न.र.९) इत्यनेन स्वीयेभ्यः उपदिशति इति त्रयार्थः. एतस्य भक्तिहेतुत्वम् एतच्छ्लोकटीकायां **"यस्माद् उक्तरीत्या स्वतः सर्वम् अशक्यम् अतः सर्वात्मना शरणागतौ प्रभुरेव सम्पादयिष्यति"** (न.र.प्र.तत्रैव) इत्यनेन स्फुटीकृतम्. इदं पतिव्रतापतित्वम् इति भावः.

(७)**उपासनादि-मार्गातिमुग्ध-मोहनिवारकः** इति, **उपासनं** समीपस्थितिः, तद्-**आदयः** **"पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां..."** (भाग.पुरा.१०।७०।५) इत्यादिना उक्ताः. पान-लेहन-घ्राणारम्भण-प्रणामादयः भगवता सह व्यवहाराः. तैः **मार्गो** मार्गणं स्वं मोचनार्थं भगवतो अन्वेषणं तेन **अतिमुग्धानाम्** असमर्थत्वेन अत्युत्सुकानां **मोहं** वैचित्त्यं **नितरां वारयति** सः. तद् उक्तं **"कृष्णसन्दर्शनाह्लाद-ध्वस्तसंरोधनक्लमाः..."**(भाग.पुरा.१०।७०।७) इत्यादि. [2]यद्वा उपासना आदौ येषां ते **उपासनादि-मार्गाः**, तैः **अतिमुग्धानां** राज्ञां मोहं निवारयति. उपासनाच अत्र अर्थाद् विषयाणाम्. तद् उक्तम् **"अथो न राज्यं मृगतृष्णिरूपितं देहेन शश्वत् पतता रुजां भुवा उपासितव्यं स्पृहयामहे विभो क्रियाफलं प्रेत्य च कर्णरोचनम्"** (भाग.पुरा.१०।७०।१४). [3]यद्वा **उपासना** सेवा **आदौ** यस्मिन् सः **उपासनादिः** भक्तिः, तस्याः **मार्गो** रीतिः, तस्मिन् **अतिमुग्धाः** अज्ञानिनः. अतः उक्तं **"तं नः समादिश उपायं येन ते चरणाब्जयोः..."** (भाग.पुरा.१०।७०।१५) इत्यादिः. तेषां मोहं निवारयति. तद् उक्तं **"सुदृढा जायते भक्तिः..."** (भाग.पुरा.१०।७०।१८) इत्यादिः. [4]यद्वा मुह्यते अस्मिन् इति **मोहः** संसारः, तं निवारयति. तद् उक्तं **"माम् अन्ते ब्रह्म यास्यथ"** (भाग.पुरा.१०।७०।२३). [5]यद्वा

उपासनं रोधनस्थाने सर्वेषां समीपस्थितिः, तया **अतिमुग्धानां** दुःखितानां **मोहं** दुःखं निवारयति. तद् उक्तम् "**इति आदिश्य...**" (भाग.पुरा.१०।७०।-२४) इत्यारभ्य "**विरेजुः मोचिताः क्लेशात्**" (भाग.पुरा.१०।७०।२७) इति मध्यं "**तथा चक्रुः अतन्द्रिताः**" (भाग.पुरा.१०।७०।३०) इत्यन्तम्. [६] यद्वा **उप** समीपाद् **असनं** प्रेरणं जरासन्धवधाय प्रेषणम्. तद्-**आदौ** यस्मिन् तद् **उपासनादिः** भगवद्दर्शनप्रतीक्षणं तस्य **मार्गः** प्रणाली, तेन **अतिमुग्धानां** युधिष्ठिरादीनां **मोहं** वैचित्त्यं, **निवारयति. तद् उक्तं** "**तत् श्रुत्वा प्रीतमनस इन्द्रप्रस्थनिवासिनो मेनिरे मागधं शान्तं राजा च आप्तमनोरथः**" (भाग.पुरा.१०।७०।३३). मोहनिवारणेन श्रीः उज्ज्वलीकृता. एकसप्ततितमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **भक्तिमार्गे सर्वमार्गवैलक्षण्यानुभूतिकृद्** इति, **भक्तिमार्गे** स्नेहमार्गे, **सर्वमार्गेभ्यो** मर्यादाप्रवाहादिमार्गेभ्यो वैलक्षण्यस्य अनुभवं युधिष्ठिरादीनां कारयति. तद् उक्तं "**ये स्युः त्रैलोक्यगुरवः...**" (भाग.पुरा.१०।७१।२-३) इति युगलेन. [२] यद्वा भक्तिमार्गप्राप्त्युपायो राजसूययज्ञः कर्मणां चित्तशोधनद्वारा उपकारकत्वात्. तस्मिन् **सर्वेभ्यो यज्ञेभ्यो मार्गेभ्यो** रीतिभ्यः च वैलक्षण्यानुभवं कारयति. तथाहि पूर्वं सौवर्णसर्वोपकरणेन, ततो ब्रह्मशिवाद्यागमेन, याजकानां देववर्चस्त्वेन, सर्वकनिष्ठस्य सहदेवस्य उपदेष्टृत्वेन, श्रीमत्पुरुषोत्तमस्य सदस्यत्वेन, देवाधिदेवे बलवत्तरे भगवति कटुवक्तृत्वेन शिशुपालस्य, पुनः तस्य मोक्षप्राप्त्या, यजमानभ्रातुः भग्नमानवत्त्वेन, श्रोतॄणाञ्च निष्पापवत्त्वादिना च सर्वमार्गेभ्यो वैलक्षण्यानुभवं भगवता कारितम् इति तथा. तद् उक्तं समस्ताध्यायेन. [३] यद्वा **भक्तेः** स्नेहस्य **मार्गः** तस्मिन् **सर्वमार्गवैलक्षण्यानुभवं** कारयति. तद् उक्तं "**प्रीतः प्रणयविह्वलः**" (भाग.पुरा.१०।७१।२६) इति. "**ईशो दुरत्ययः कालः...**" (भाग.पुरा.१०।७-१।३१) इत्यादिना च. अत्र अनुभवः ज्ञानम्॥२४॥

:: उत्थानिकाः ::

(१)ननु उपासनादिमार्गाणां पुरुषोत्तमापर्यवसायित्वेन अनुभवपर्यवसायिभक्तिमार्गनिरूपणेन तेषु मार्गेषु भक्तिमार्गाज्ञानरूपं यद् अज्ञानं स्वकीयेषु तन्निवृत्तिम् उक्त्वा शरणमार्गस्य पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वेन भक्तिमार्गत्वं भविष्यति

इति आशंकानिरासाय अग्रिमं नाम आहुः —

(२)...

(३)ननु भगवतो "**मन्त्रोपासना...**" (भक्ति.हं.मं) इति श्लोकोक्तो विधिभिः अस्पृष्टत्वेन कथनात् तेषां तत्प्रापकसाधनत्वाभावनिश्चयाद् नवरत्नभक्तिवर्धिन्याद्युक्तभक्तिमार्गीयसाधनानां जीवासाध्यत्वाभावे अशक्यत्वात् च जीवस्य स्वभावतएव दुष्टत्वात् भक्तिमार्गीयफलं कथं सेत्स्यति? तत्र आहु...ननु तन्मार्गे विधेः नियामकत्वेन मर्यादामार्गविधिभिः अस्पृष्टत्वं फलस्य भवतु परन्तु तन्मार्गेऽपि शरणमार्गः सर्वधर्मविधिरहितः "**सर्वधर्मान्**" (भग.गीता.१८।६६) इति उक्तो अस्ति. तत्र विधिराहित्येन स्पृष्टो भविष्यति तत्र आहुः —

(४/क)भक्तिमार्गस्थित्ययोग्येऽपि फलदानाय —

(४/ख)ननु स्वयम् अनुभूतिं करोति नतु अन्येभ्यः तद् ददाति इत्यत्र आहुः —

(५)एवम् अन्यमार्गनिवृत्तिपूर्वकपुष्टिमार्गे प्रवर्तकत्वं निरूप्य कदाचित् कस्यचिद् भ्रमो भवेत् शरणमार्गएव पुष्टिमार्गः इति तदर्थं पृथक् तदुपदेशकताम् आहुः —

(६)ननु प्रपत्त्यभावेऽपि परमकृपालुत्वाद् अन्येभ्यो कुतो न उपदिशति इत्यतः आहुः —

(७)द्विसप्ततिमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

पृथक्शरणमार्गोपदेष्टा[७२] **श्रीकृष्णहार्दवित्**[७३]

:: टीका: ::

(१)**पृथक्शरणमार्गोपदेष्टा** इति भक्तिमार्गात् पृथग् भिन्नो यः **शरणमार्गः** तस्य उपदेष्टा "न्यासादेशेषु..." (श्रीरामानुजीयवेदान्तदेशिकृतन्यासविं.१५) इत्यादिना स्वीयेषु उपदेशकर्ता. यद्यपि भक्तिमार्गीयोऽपि शरणमार्गो अस्ति "**तस्मात् मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहं गोपाये स्वात्मयोगेन सो अयं मे व्रतः आहितः**" (भाग.पुरा.१०।२२।१८) इति भगवतैव उक्तत्वाद्. भक्तिमार्गीयशरणस्य अग्रे स्वरूपानन्दानुभवफलपर्यवसायित्वात् तच्छरणस्य भक्तिमार्गीयत्वं यथा तथा मर्यादामार्गीयोऽपि शरणमार्गो भक्तिमार्गीयशरणमार्गाद् भिन्नो अस्ति मर्यादामार्गीयफलसाधकः. तयोः तारतम्यज्ञातृत्वम् आचार्याणामेव इति ज्ञापनायापि तन्नाम उक्तं **पृथक्शरणमार्गोपदेष्टा** इति '**पृथक्**'पदेन भगवता गीतासु पार्थं प्रति "**सर्वधर्मान् परित्यज्य...**" (भग.गीता.१८।६६) इत्याद्युपदिष्टस्य शरणमार्गस्य मर्यादामार्गीयत्वमेव, न शुद्धपुष्टिमार्गीयत्वम्. उपदिष्टशरणमार्गस्य "**नष्टो मोह...**" (भग.गीता.१८।७३) इति सर्वसन्देहनिवृत्तिपूर्वकं "**करिष्ये वचनं तव**" (भग.गीता.१८।७३) इति भगवदधीनत्वस्यैव फलत्वनिर्देशात् तस्य मुक्तिपर्यवसायित्वेन मर्यादामार्गीयत्वम्. ननु शरणमार्गस्य पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वेऽपि भगवदुपदिष्टत्वेऽपि "**न्यासादेशेषु...** " (श्रीरामानुजीयवेदान्तदेशिकृतन्यासविं.१५) इत्यनेन भक्तिमार्गभिन्नत्वनिरूपणे को हेतुः इति आशंकानिरासाय आहुः **श्रीकृष्णहार्दविद्** इति, **कृष्णस्य** फलात्मकस्य **हार्दम्** अभिप्रायं **वेत्ति** इति **श्रीकृष्णहार्दवित्**. शरणमार्गस्य भक्तित्वं चेत् स्यात् तर्हि भक्तेः साक्षात्स्वरूपसम्बन्धफलकत्ववत् शरणमार्गस्यापि तत्फलकत्वेनैव उपदेशः स्यात्. नतु पापनिवृत्तिफलकत्वेन प्रायश्चित्तादिवत्. किञ्च भगवान् हि यथाधिकारं साधनम् उपदिशति अर्जुनस्य मर्यादापुष्टौ अङ्गीकृतत्वाद् उभयांशत्वं ज्ञात्वा उभयसमाधानार्थं शरणगमनस्य पापनाशसाधनत्वेन समर्यादांशत्वं पापफलशोकनिवारणे साधनान्तरम् अनुक्त्वा स्वस्यैव साधनत्वेन पुष्ट्यंशत्वमपि ज्ञापयित्वा शरणमार्गोपदेशस्य केवलं स्वाधीनत्वेन स्ववाक्यकरणस्यैव फलत्वं ज्ञापयित्वा युद्धकरणे योजितवान्, नतु साक्षात्स्वसम्बन्धं कारितवान्. अतएव अर्जुनेन उक्तं "**करिष्ये वचनं तव**" (भग.गीता.१८।७३) इति, एतावद्भगवदभिप्रायज्ञानम् आचार्याणामेव न

अन्यस्य सम्भवति इति ज्ञापनाय उक्तं **श्रीकृष्णहार्दविद्** इति.

(२)गीतायां "**सर्वगुह्यतमं भूयः**" (भग.गीता.१८।६४) इति उपक्रम्य कर्मज्ञानोपासनाभक्तिभ्योऽपि उत्कृष्टत्वेन **पृथक्** स्वातन्त्र्येण उक्तः "**सर्वधर्मान् परित्यज्य** " (भग.गीता.१८।६६) इत्यादिना यो **मार्गः** तस्य **उपदेष्टा** स्वीयेषु इति अर्थः. '**पृथग्**' इति विशेषणं वा क्रियायाः. अतएव **श्रीकृष्णहार्दविद्** इति, **श्रीकृष्णस्य हार्दं** हृदिस्थम् अभिप्रायं **वेत्ति** जानाति इति तथा.

(३)**पृथक्शरणमार्ग...** इति, मर्यादामार्गीयशरणमार्गाद् भिन्नो अयं शरणमार्गः "**तस्माद् मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम्**" (भाग.पुरा.१०।२२।१८) इत्युक्तशुद्धपुष्टिमार्गीयशरणमार्गः तस्य "**न्यासादेशेषु...**" (श्रीरामानुजीयवेदान्तदेशिकृतन्यासविं.१५) इत्यादिना उपदेशकर्ता. एतेन अस्मिन् मार्गे शरणमार्गोऽपि भिन्नएवेति सूचितम्. तेन मर्यादामार्गीयशरणेनापि अस्पृष्टत्वेनैव फलानुभवं कुर्वन्तीति प्रमाणपूर्वकं स्पष्टीकृतम्. ननु "**तस्माद् मच्छरणम्...**" (भाग.पुरा.१०।२२।१८) इत्यादिना शरणमार्गस्तु उक्तएव तेषां पुनः भिन्नत्वनिरूपणे को हेतुः तत्र आहुः. **श्रीकृष्णहार्दविद्** इति, सदानन्दफलरूपस्य हार्दं विदन्ति. अयम् अभिप्रायः : श्रीकृष्णस्तु साक्षाफलरूपत्वेन भक्तानां साक्षात्फलं दातुमेव प्रकटः. तद्भक्ताः चेद् एवं शरणं प्राप्ताः भवेयुः तदा तद्दाने योग्यता भवेद् न अन्यथा. तद्दानेन स्वस्यापि तद्रसानुभवः सिद्ध्यति. तदर्थमेव आचार्यप्राकट्यं कृतम्. अतो यदा आचार्याः मर्यादामार्गभिन्नत्वेन स्वमार्गीयशरणं न निरूपयेयुः तदा इदानीं तज्ज्ञापनाभावाद् एतन्मार्गीयशरणस्य च शरणसाम्येन भक्तानाम् एकत्वज्ञानेन मुख्यतया सर्वात्मभावरूपा स्वमार्गीयशरणप्रपत्तिः न भवेदेव. तदा तत्फलभोगयोग्यतापि न सिद्ध्यति. तेन भगवदभिलषितमपि न भवेद्. एतत् सर्वं श्रीकृष्णहार्दं ज्ञात्वैव तद्भिन्नत्वनिरूपणम् इति भावः.

(अत्र ग्रन्थे वर्णकान्तरमपि उपलभ्यते)

पुष्टिमार्गात् **पृथक् शरणमार्गः** भक्तिमार्गात् पृथक्त्वेन शरणमार्गस्य

उपदेष्टा. लोके भक्तिमार्गशरणमार्गयोः ऐक्यमिव प्रतिभाति. श्रीमदाचार्यैस्तु भक्तिमार्गात् पृथक्त्वेन शरणमार्गो **“न्यासादेशेषु...”** (श्रीरामानुजीयवेदान्तदेशिकृत-न्यासविंश.१५) इत्यादिना निरूपितः. सच भक्तिमार्गीय व्यतिरिक्त धर्मेषु असाधकत्वज्ञानेन भक्तिमार्गीयधर्माचरणेषु प्रतिबन्धबाहुल्येन स्वाशक्तिदर्शनेन या स्वस्मिन् दोषाक्रान्तत्वबुद्ध्या सर्वसाधनराहित्यस्फूर्त्या च मनसि दैन्ये जाते तद् उत्पद्यते. तदा श्रीमहापुरुषद्वारा शरणमार्गशरणम् आगते सति करुणया प्रभुरेव तस्य अशक्यमपि सर्वं सम्पादयिष्यति इति हार्दं व्यञ्जितम्. अतएव ‘धर्मान्’इति पृथगुपदेशः. अतएव **“सर्वम् आश्रयतो भवेत्”** (विवे.धै.आ.९) **“तस्मात् सर्वात्मना नित्यम्”** (नवरत्न.९) **“अशक्ये वा सुशक्ये वा”** (विवे.धै.आ.११) **“विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य”** (कृष्णा.९) इत्यादिनिरूपितं श्रीमदाचार्यचरणैः शरणमार्गो भिन्नः इति.

(४/क)**पृथक्...** इति. **“सर्वधर्मान्...”** (भग.गीता.१८।६६) इति वक्तुः हार्दज्ञापनाय **श्रीकृष्ण...इति.**

(४/ख)पृथक्... इति, **पृथग्** भिन्नतया **शरणमार्गस्य उपदेशकर्ता** इति अर्थः. **‘पृथक्’**कथनेन भगवदुक्तशरणमार्गात् भिन्नतया स्त्रीभावेन इति भावः. ननु भगवदुक्तमार्गात् पृथक्त्वे अप्रामाणिकं स्यात् तदर्थम् आहुः **श्रीकृष्ण...** इति, **श्रीकृष्णस्य हार्दं** हृदयभावं जानाति. तेन सः मार्गो भगवद्हृद्गतएव इति भावः. आचार्याणां प्राकट्यं गूढार्थप्राकट्यार्थम्. तदेव उक्तम् अस्मत्प्रभुचरणैः **“अर्थं तस्य...”** (सुबो.१।१।१कारि.५) इत्यस्मिन् पद्ये. अत्र **‘श्रीकृष्णो’**क्त्या भगवत्तात्पर्यं स्त्रीभावएव इति भावः.

(५)**पृथक्...** इति, तत्र शरणागतिरूपसाधनापेक्षा अतो भेदः. यद्वा मर्यादाशरणमार्गात् **पृथक्** यः **शरणमार्गः** “तस्मात् मच्छरणं...” (भाग.पुरा.१०।२२।१८) इत्यत्र भगवता निरूपितः पुष्टिमार्गीयः तस्य **उपदेष्टा** भगवतः पुष्टिस्थत्वात् तच्छरणमार्गएव पुष्टिसाधकः इति तदुपदेष्टा. अतएव आहुः **श्रीकृष्ण...** इति, पुष्टिमार्गप्रकटनार्थं स्वावताराज्ञा. तदेव **“तस्यैव** आत्मानुभाव... (श्रीवल्ल.१) इत्यत्र निरूपितम्. तदाज्ञामात्रेणैव स्वावतारप्रयो-

जनान्यथानुपपत्त्या भगवतो हार्दमपि ज्ञातं साक्षात्प्रमेयमार्गप्रकटनाय इति. तदर्थं प्राकृतेषु उत्पन्नेषु दैवेषु काचिद् मर्यादापि अङ्गीकर्तव्या तन्मार्गानुकूला ततएव पृथक् तदुपदेष्टा. साक्षाल्लीलास्थभक्तेषुतु सापि बाधिका तदेव श्रीगोवर्धनोद्धरणप्रसंगे निरूपितम्. तदानीं सर्वे बहिर्मुखाः जाताः इति **‘श्रीकृष्ण’** पदेन स्वामिनीसंवलितपुष्टिपुष्टिप्रवर्तकः. तस्य हार्दं रसात्मकमेव भवति. करुणया तद्रसप्रकटनार्थमेव आज्ञा.

(६)(**पृथक्शरण...** इति) **श्रीकृष्ण...**इति, भक्तानुग्रहद्वारा भगवदनुग्रहद्वारा वा एतत् फलदानं भक्तानां भगवतः च मनीषितम्. अतो मार्गरुच्या कृपां निश्चित्य तेभ्यएव उपदिशति. अतएव **“परम् अत्र न सर्वेषां फलमुखाधिकारः किन्तु येषु भगवत्कृपा. कृपापरिज्ञानञ्च मार्गरुच्या”** (त.दी.नि.२।२२६) इति निबन्धे निरूपितम्. तथाच श्रीणां कृष्णस्य च हार्दविद् इति अर्थः.

(७)**पृथक्शशरणमार्गोपदेष्टा** इति, शरणात् पृथग्भूतः **पृथक्शरणः** दुर्योधनः तस्य **मार्गरीतिम् उपदिशति.** तद् उक्तं **“सर्वे मुमुदिरे ब्रह्मन्... दुर्योधनं वर्जयित्वा...”** (भाग.पुरा.१०।७२।१-२) इति. [2]यद्वा **पृथक्**तया **शरणा**गतानां **मार्गम् उपदिशति.** तद् उक्तं **“पितामहस्य ते यज्ञे...”** (भाग.पुरा.१०।७२।३) इत्यादि, **“एकदान्तःपुरे तस्य...”** (भाग.पुरा.१०।७-२।३) इत्यादि. [3]यद्वा **पृथक्** दुर्योधनः तस्य **शरणं** हिंसनं तस्य **मार्गम्** उपायम् **उपदिशति. तद् उक्तं** “जहास भीमः **तं दृष्ट्वा स्त्रियो नृपतयो अपरे. निवार्यमाणाअपि अङ्ग राज्ञा कृष्णानुमोदिताः”** (भाग.पुरा.१०।७२।३८).
[4]यद्वा **“‘शरणं’ गृहरक्षित्रोः”** (अमरको.३।५) (इति) दुर्योधनस्य गृह**मार्गम् उपदिशति.** तद् उक्तं **“निष्क्रम्य तूष्णिं प्रययौ** गजसाह्वयम्” (भाग.पुरा.१०।७२।३९). पृथक्त्वम् अत्र वैराग्यम् . त्रिसप्ततितमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **श्रीकृष्णहार्दविद्** इति. हृदि भवो **हार्दः** पुत्रः कामो वा तद् द्वयमपि प्रद्युम्ने वर्तते. हार्दं प्रद्युम्नं **विन्दयति “‘विद’ चेतनाख्याननिवासेषु”** (?) श्रीकृष्णः च असौ हार्दवित् प्रद्युम्नः तद्रूपः.

हार्दं विद्यते अस्मिन् इति वा. **हार्दं विचारयति** इति वा. तद् उक्तं **"किं नु वक्ष्ये अभिसङ्गम्य पितरौ रामकेशवौ"** (भाग.पुरा.१०।७३।३०). **'श्री'**पदेन ऐश्वर्यं **'कृष्ण'**पदेन फलप्रकरणारम्भः च सूचितौ. वेत्तृत्वेन सात्त्विकान्तर्गत्वम्.

:: उत्थानिका: ::

(१)एवं शरणोपदेशेन भगवदभिप्रायं ज्ञात्वा साक्षात् पुरुषोत्तमस्य पुष्टिमार्गीयफललीलायामेव हृदयं न अन्यत्रापि इति (च!) ज्ञा स्वयं साक्षात्पुष्टिलीलारसाभिनिविष्टो जातः इति ज्ञापनाय अग्रिमं नाम आहुः —

(२)...

(३)ननु कथं ज्ञायते एतद्भिन्नत्वनिरूपणे तज्ज्ञानेन तत्र प्रपन्नानां फलानुभवः सिद्ध्यति तत्र आहुः —

(४/क)उत्तरसलीलारसानुभावकत्वाय —
(४/ख)एतन्नामपोषकम् अग्रिमं नाम आहुः —

(५)अतः तद्रससंभृतएव प्रकटः इति आहुः —

(६)एवम् अवतारे भक्तोद्धाररूपम् उद्धारविषयनिष्ठं प्रयोजनं विस्तरतो निरूप्य दास्यरसानुभवरूपस्वनिष्ठं प्रयोजनं निरूपयितुं स्वस्य तद्रसानुभवप्रकारम् आहुः —

(७)चतुःसप्ततितमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

प्रतिक्षणनिकुञ्जस्थलीलारससुपूरितः [७४]
तत्कथाक्षिप्तचित्तः [७५] **तद्विस्मृतान्यो** [७६]

:: टीका: ::

(१)**प्रतिक्षणनिकुञ्जस्थलीलारससुपूरितः** इति, **प्रतिक्षणं निकुञ्जस्थस्य** या **लीला तस्यां यो रसः तेन सुष्ठु** बाह्याभ्यन्तरभेदेन **पूरितः** पूर्णः॥२५॥ ननु रसपूर्णतायाः आन्तरधर्मत्वात् कदाचिद् भक्तानां ज्ञानविषयत्वं न भविष्यति इति आशङ्क्य तद्धर्मज्ञापकम् अग्रिमं नाम आहुः **तत्कथाक्षिप्तचित्तः** इति, तद्-लीलारसकथायामेव **आसमन्तात् क्षिप्तं** प्रेरितं **चित्तं** येन सः. एतेन निरन्तरं तत्कथाकथनेन भक्तानामपि तद्रसपूरितत्वाज्ञानं सम्भवति इति पूर्वपक्षिकृता शङ्का परिहृता वेदितव्या. अथवा प्रतिक्षणनिकुञ्जस्थलीलारससुपूरितत्वोक्त्या भगवतो निकुञ्जे संयोगविप्रयोगोभयरसानुभवो ज्ञापितो भवति. तेन यदा आचार्याणां निकुञ्जस्थसंयोगलीलारसपूरितत्वं तदा बाह्याभ्यन्तरभेदेन तद्रसपूरितत्वमेव. यदा पुनः निकुञ्जस्थविप्रयोगलीलारससुपूरितत्वं यथा गीतगोविन्दे **"तव विरहे वनमाली सखि! सीदति"** (गी.गो.१०।१) इत्यादि. तदा स्थातुम् अशक्यत्वात् तत्कथाक्षिप्तचित्ततया कालनिर्वाहकत्वज्ञापनायापि उक्तं **तत्कथाक्षिप्तचित्तः** इति, एतेन आचार्याणाम् उभयरसपूरितत्वेन सदा पूर्णस्वरूपानन्दरसपूरितत्वं ज्ञापितं भवति. अथवा **तत्कथा**कथनार्थमेव **आक्षिप्तं** व्याकुलं **चित्तं** यस्य सः. ननु निरन्तरम् एतद्रसकथायाएव कथने को हेतुः इति आशङ्कानिरासाय अग्रिमं नाम आहुः **तद्विस्मृतान्यः** इति, तद्-रसकथयैव **विस्मृतम् अन्यत्** तदतिरिक्तं कथाननुगुणं सर्वं येन सः.

(२)**प्रतिक्षणनिकुञ्जस्थलीलारससुपूरितः** इति, **प्रतिक्षणं** क्षणे-क्षणे **निकुञ्जे** स्थितस्य भगवतो या **लीलाः** तत्कृतो यः कश्चन अनिर्वचनीयो **रसो** भावविशेषः, तेन अत्यन्तं **पूरितो** व्याप्तः इति अर्थः॥२५॥ तयोः निकुञ्जस्थयोः राधामाधवयोः **कथाभिः आक्षिप्तं** विक्षिप्तम् अस्थिरं **चित्तं** यस्य. **तत्कथाभिः आक्षिप्तं** भक्तैः अनुमितं **चित्तं** यस्य इति वा. **तद्विस्मृतान्यः** इति वा, **तयैव** कथयैव **विस्मृताः अन्ये** अतत्सम्बन्धिनो येन.

(३)**प्रतिक्षणनिकुञ्जस्थ...** इति, एतेन ये भक्ताः लीलास्थाः ते

ईदृङ्मार्गप्रपन्नाएव सिद्ध्यन्ति नान्यमार्गप्रपन्नाः भवन्ति इति सूष्ठूक्तं तथा इति. किञ्च इदं... नान्यद् इति भावः सूचितः. एवं सति आधुनिकाअपि एवं ज्ञानेन चेत् सर्वथा प्रपन्नाः भवन्ति तदा एतत्फलानुभवएव सेत्स्यति, न अन्यद् इति ज्ञापितं भवति॥२५॥ ननु प्रतिक्षणीय तद्रससुपूरितत्वं कथं ज्ञायते तत्र आहुः **तत्कथाक्षिप्तचित्तः** इति, तल्लीलाकथायामेव **आसमन्तात् क्षिप्तम्** उत्क्षिप्य धृतं स्थापितं **चित्तं** येन. एतेन अन्यावयवानाम् अन्यत्र व्यवहारेऽपि चित्तन्तु तत्रैव तिष्ठति. ननु कदाचिदपि अन्यत्र गच्छति इति भावः. एवं सति निरन्तरं तत्कथाकथनेन तद्रसस्वभावादेव पूर्वोक्तलीलारसो बहिः प्रकटो भवत्येवेति सर्वेषां पूरितत्वमपि ज्ञातं भवति. ननु निरन्तरं कथाकथनेऽपि अन्यस्मरणेन कदाचित् चित्तविक्षेपादिकं भवेत् तत्र आहुः **तद्विस्मृतान्यः** इति, तद्-व्यतिरिक्तस्य स्मरणमेव नास्ति कुतो विक्षेपसम्भावना. एतेन जीवनमपि कथैव इत्यपि सूचितम्. अन्यथा जीवनसाधनस्यापि विस्मरणेन तदभावात् जीवनस्य सर्वथा बाधः सम्भवति इति तदभावात् कथामृतमेव जीवनम् इति ज्ञापितं भवति. किञ्च विप्रयोगलीलारसपूरितत्वे तत्-तापतप्तानाम् एतत्कथामृतकथनमेव जीवनं भवति इति भावः.

(४/क)प्रतिक्षण... **इति॥२५॥**. बहिस्फूर्तिदशाम् आहुः **तत्कथा...** इति, कथानिरोधार्थं **तद्विस्मृत...** इति.

(४/ख)**प्रतिक्षण...** इति, **प्रतिक्षणं निकुञ्जस्थो** भगवान् तस्य यो **लीलारसः** तेन सुष्ठुः **पूरितः** इति अर्थः. यद्वा **प्रतिक्षणं निकुञ्जस्थलीलात्मिका** स्वामिनी तस्याः यो **रसः** तेन **सुपूरितः** इति अर्थः. यद्वा **प्रतिक्षणं निकुञ्जस्थं** स्वयं तस्मिन् **स्थितो लीलारसरूपो** भगवान् तेन तथा इति अर्थः. यद्वा **प्रतिक्षणं निकुञ्जस्थो** भगवान् **लीलारसेन सुपूरितो** येन इति भावः. **'सु'**ष्ठुक्त्या अन्यरस-राहित्येन इति भावः. **'पूरितो'**क्त्या भगवता स्वमनोभिलषित-प्रकारेण पूरितः इति भावः॥२५॥ सुपूरितत्वमेव आहुः नामद्वयेन **तत्कथा...** इति, **तत्कथया आक्षिप्तं** व्याप्तं **चित्तं** यस्य इति अर्थः. यद्वा तस्य **कथार्थम् आक्षिप्तं चित्तं**

येषाम् इति अर्थः. तद्व्याप्यत्वमेव आहुः **तद्विस्मृत...** इति, तद्-लीलया **विस्मृताः अन्ये** यैः इति अर्थः. यद्वा **तदर्थं विस्मृताः अन्ये** यैः इति वा.

(५)**प्रतिक्षण...** इति, क्षणं-क्षणं विलक्षणो यो **निकुञ्जस्थो निकुञ्जस्थानां** स्वामिनीनां वा **लीलाः** तत्सम्बन्धी यो **रसः** तेन सुतरां **पूरितः** नित्यलीलयामिव अधुनापि तद्रसम् अनुभवन्नेव तिष्ठति यद्वा तत्तत्क्षणसम्बन्धिनिकुञ्जस्थलीलारसैः प्रतिक्षणं पूरितः नवनव-रसानुभवकर्ता इति अर्थः॥२५॥ कदाचिद् उच्छलदवस्थायां स्वीयेषु कृपया श्रीमुखादपि निःसारयन्ति इति आहुः **तत्कथा...** इति, **तेषां** रसानां कथनं **कथा,** तस्मिन् आसमन्तात् **क्षिप्तं** पातितं पुनरुत्थानासमर्थीकृतं **चित्तं** यस्य, तत्कथायां श्रोतृणां तथाकृतं चित्तं येन इति वा श्रवणमात्रेणैव तेऽपि लीलायां निरुद्धाः भवन्ति इति अर्थः. अतएव प्रपञ्चविस्मृतिः इति आहुः **तद्विस्मृत... इति,** तया **विस्मृतं** सर्वम् **अन्यद्** येन सः. तथा विस्मृतप्रपञ्चः इति अर्थः. यथा स्वामिन्यः **''क्रीडाः तन्मयतां ययुः''** (भाग.पुरा.१०।१८।२०) इत्यत्र निरूपिताः.

(६)**प्रतिक्षण**...इति, नाममात्रेण निकुञ्जस्थानां भक्तानां भगवतः च लीलासु यो रसः संयोगरूपः तेन प्रतिक्षणं सुपूरितः तत्प्रकारेण सेवादिना तद्रसम् अनुभवति इति अर्थः॥२५॥ 'प्रतिक्षण'पदेन किञ्चिद् व्यवधानमपि सूचितं तदा द्वितीयानुभवम् आहुः तत्कथा...इति, **तत्कृताभिः कथाभिः** वियोगे ''वामबाहुकृतवामकपोल...'' (भाग.पुरा.१०।३२।२) इत्यादिना उक्ताभिः स्वरूपगुणवर्णनरूपाभिः **आक्षिप्तं चित्तं** यस्य तत्प्रकारेण तद्रसम् अनुभवति इति अर्थः. अत्रापि **'प्रतिक्षणम्'** इति ज्ञेयम्. तेन कदाचित् पूर्वदलानुभवः कदाचिद् उत्तरानुभवः इति सूचितम्. अग्रे तुरीयाश्रमव्याजेन आत्यन्तिकविप्रयोगस्य विशिष्टस्य उद्धवोपदेशानन्तरं तत्र सिद्धस्य अनुभवम् आहुः **तद्विस्मृतान्यः** इति, **तेन** विशिष्टेन **विस्मृतम् अन्यद्** बाह्यं देहादिकं येन. एतेन मानसी सिद्धिः उक्ता. पूर्वं संयोगे बहिः प्राकट्यात्, न वियोगत्वं; वियोगे

च प्रलापादिसत्त्वात्, न संयोगत्वम्. अतो अनुभवाभावाद् एकांशन्यूनतापि. अत्रतु बहिःप्राकट्याभावेन देहादेः बाह्यानुसन्धानाभावाद् विप्रयोगत्वं सर्वदा आन्तररमणेन अनुसन्धानानुभवात् प्रलापाद्यभावेन संयोगत्वमिति विशिष्टमेव आत्यन्तिकत्वं परन्तु द्वितीयदलस्य उत्तरत्वेन मुख्यत्वाद् 'विप्रयोग'पदव्यवहारः. इदमेव मुख्यं फलं, पूर्णरसानुभवात्. एतत्सिद्ध्यर्थम् उद्धवप्रेषणमिति वेणुगीते मुख्यप्रापणार्थं वा इत्यनेन मुख्यः इति भावः. पूर्वं **''न पारये अहम्''** (भाग.पुरा.१०।२९।२२) इति वाक्याद् भक्तप्रकारेण रसन्तु न अनुभूतवानिति एवम् आविर्भूय तत्प्रकारेण तत्क्रमेण स्वदास्यरसम् अनुभूतवान् इति निगर्वः. अग्निकुमाररूपेणतु स्वामिनीदास्यमपि अनुभूतवान् इति विभेदः. अतएव **''यावन्ति पदपद्मानि''** (स्वामिनीस्तो.११) इत्यादि तेषामेव वाक्यम्. भगवतो रसात्मकत्वेन यदा-यदा यो रसम् अनुभवति तदा तद्रूपएव **''जीवय मृतमिव दासम्''**(गी.गो.२३।५) इत्यादिवत् न अत्रापि आरोपितं किञ्चिद् इति विभावनीयम्.

(७)**प्रतिक्षण-निकुञ्जस्थ-लीलारस-सुपूरितः** इति, निगुञ्जस्थानां लीला **निकुञ्जस्थलीला**, **निकुञ्जस्थाः** च ताः **लीलाः** इति वा, इति **निकुञ्जस्थलीलाः** यासां, याभ्यो, याभिः वा, **निकुञ्जस्थलीला** येषु, येषां, येभ्यः, यैः इति वा. **प्रतिक्षणं निकुञ्जस्थस्य** स्वस्य भगवतो **लीला** येषु ते द्वारिकास्थाः, तेषां **रसेन सुतरां पूरितः**. तद् उक्तम् ''आह च अहम् इह आयात आर्यमिश्राभिसङ्गतो राजन्याः चैद्यपक्षीयाः नूनं हन्युः पुरीं मम'' (भाग.पुरा.१०।७४।२). [2]यद्वा **प्रतिक्षणं निकुञ्जस्थाः** याः **लीलाः** तासां **रसेन सुतरां पूरितः** इति, अतएव पूर्वाध्यायलीलायां शाल्वेन उपवनोद्याने भग्ने तदाधिदैविक-**निकुञ्जस्थ-लीलारसेन प्रतिक्षणं सुपूरितः** भगवान् तदसहमानः इन्द्रप्रस्थाद् आगत्य शाल्वं निहतवान्. तद् उक्तम् **''निमित्तानि अतिघोराणि पश्यन् द्वारवतीं ययौ''** (भाग.पुरा.१०।७४-।७). [3]यद्वा **निकुञ्जस्था लीला** प्रकृतिः, अन्या लीला विकृतिः तद् उक्तं **''ततो मुहूर्तं प्रकृतौ उपप्लुतः''** (भाग.पुरा.१०।७४।२१) इत्यस्य **निकुञ्जस्थ-लीलारस-सुपूरितः** इति अर्थः. **'मुहूर्त्तम्'** इत्यस्य

मुहूर्तावच्छिन्नत्वेन प्रतिक्षणम् इति अर्थः. अतएव बहिर्मुखानां भगवान् मुग्धः इति ज्ञानम्. नहि अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डाधीशस्य अखिल-देवाधिदेवस्य वश्यमायस्य पूर्णज्ञानशक्तेः पुरुषोत्तमस्य निकुञ्जस्थ-लीलानुसन्धानं विना अन्यमोहः सम्भवति इति अलं प्रसक्त्यानुप्रसक्त्या. प्रतिक्षणं लीलारस-सुपूरितत्वं वीर्यम्॥२५॥ पञ्चसप्ततितमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **तत्कथाक्षिप्तचित्तः** इति, **तस्य** दन्तवक्त्रस्य कथनं **कथा**, **''दिष्ट्या दिष्ट्या...''** (भाग.पुरा.१०।७५।४) इत्यादि. तेन **आक्षिप्तं** क्रोधयुक्तं **चित्तं** यस्य. तद् उक्तं ''कृष्णोऽपि तम् अहन् गुर्व्या...'' (भाग.पुरा.१०।७५।८) इत्यादि. [2]यद्वा **तेषां** स्तावकानां **कथनं** स्तुतिकरणं तेन **आ** समन्तात् **क्षिप्तं** दूरीकृतं **चित्तं** युद्धादिभ्यः यस्य सः. अतएव न्यस्तशस्त्रः. तद् उक्तम् **''एवं सौभं च शाल्वं च...''** (भाग.पुरा.१०।७५।१३) इत्यारभ्य **''निर्जितो जयति इति सः''** (भाग.पुरा.१०।७५।१६) इत्यन्तम्. [3]यद्वा **तस्य** कुरुपाण्डवयुद्धस्य **कथा** वार्ता, तया **आक्षिप्तं** दूरिभूतं **चित्तं** यस्य. तद् उक्तं **''श्रुत्वा युद्धोद्यमं रामः कुरूणां सह पाण्डवैः तीर्थाभिषेकव्याजेन मध्यस्थः प्रययौ किल''** (भाग.पुरा.१०।७५।१७). [4]यद्वा **तस्य** रोमहर्षण-सूतस्य **कथया आक्षिप्तं** क्रुद्धं **चित्तं** यस्य. तद् उक्तम् **''अप्रत्युत्थायिनं सूतम् अकृतप्रह्वणाञ्जलिम् अध्यासीनं च तान् विप्रान् चुकोप उद्वीक्ष्य माधवः''** (भाग.पुरा.१०।७५।२३). [5]यद्वा **तेषां** शौनकादीनां **कथा** **''अधर्मः ते कृतः प्रभो''** (भाग.पुरा.१०।७५।२९) इत्यादिरूपा तया **आक्षिप्तं** विकलं **चित्तं** यस्य. तद् उक्तं **''किं वः कामो मुनिश्रेष्ठा ब्रूत अहं करवाणि अथ अजानतस्तु अपचितिं यथा मे चिन्त्यतां बुधाः''** (भाग.पुरा.१०।७५।३७). [6]यद्वा **तस्य** बल्वलस्य **कथा** तया **आक्षिप्तं** क्रोधयुक्तं **चित्तं** यस्य. तद् उक्तम् **''इल्वलस्य सुतो घोरो बल्वलो नाम दानवः...''** (भाग.पुरा.१०।७५।-३८) इत्यादि. निर्मलत्वं चित्तशब्दार्थो यशः कथा वा यशः. षट्सप्ततितमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **तद्विद्विस्मृतान्यः** इति, **तेन** बल्वलवधावेशेन **विशेषेण स्मृते अन्ये** हलमुसले येन सः. तद् उक्तं **''सस्मार मुसलं रामः परसैन्यविदारणं हलं च दैत्यदमनं ते तूर्णम् उपतस्थतुः''** (भाग.पुरा.१०।७६।४). [7]यद्वा **तेन** तीर्थयात्रावेशेन **विस्मृतम् अन्यद्** गृहादिकं

येन. तद् उक्तम् "अथ तैः अभ्यनुज्ञातः..." (भाग.पुरा.१०।७६।९) इत्यादि. यदि गृहादिकं विस्मृतं न स्यात् तदा यात्रायां विघ्ने जातेऽपि पुनः यात्रां न कुर्यात्, प्रायश्चित्तान्तरं वा कुर्यात्. [८] यद्वा **तेन** गदायुद्ध-दर्शनेन **विस्मृतम् अन्यत्** लौकिकयुक्त्यादिकं येन. तद् उक्तं **"न तद्वाक्यं जगृहतुः बद्धवैरौ नृपार्थवद् अनुस्मरन्तौ अन्योन्यं दुरुक्तं दुष्कृतानि च दिष्टं तदनुमन्वानो रामो द्वारवतीं ययौ"** (भाग.पुरा.१०।७६।२८-२९). [९] यद्वा **तेन** अवभृथ-स्नानेन **विस्मृतम् अन्यत्** कौरववधादिकं येन. तद् उक्तं **"स्वपत्न्या अवभृथस्नातो ज्ञाति-बन्धु-सुहृद्वृतः रेजे स्वज्योत्स्नयेव इन्दुः सुवासाः सुष्ठ्वलङ्कृतः"** (भाग.पुरा.१०।७६।३२) श्रीः अत्र स्फुटा.

:: उत्थानिकाः ::

(१)ननु कथाननुगुणाप्रियत्वे कथानुगुणस्य एवं च प्रियत्वे किं नियामकम्? इति आशङ्कानिरासाय आहुः—

(२)...

(३)ननु 'कथा'शब्देन तल्लीलाकथनं कथेति कथनमेव उच्यते. एवं सति सर्वविस्मरणे सति तत्कथनं केन सह भवतीति तत्र आहुः—

(४/क)स्वामिनीवद् व्रजमात्रप्रियत्वाय—

(४/ख)ननु विस्मृतौ तत्स्थाने स्थितिः न भविष्यति इत्येतदर्थम् अग्रिमं नाम आहुः—

(५)अतएव इति आहुः—

(६)ननु राजलीलास्थभक्तप्रकारेणापि दास्यसम्भवे किमिति व्रजीयप्रकार-स्यैव आग्रहः इत्यतः आहुः नामत्रयम्—

(७)सप्तसप्ततितमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः—

:: मूलम् ::

व्रजप्रियः [७७] **प्रियव्रजस्थितिः** [७८]

:: टीकाः ::

(१)व्रजप्रियः इति, **व्रजः प्रियो** यस्य स **व्रजप्रियः**, 'व्रजप्रिय'त्वोक्त्या व्रजस्य कथानुगुणत्वात् तत्सम्बन्धिपदार्थमात्रस्य सर्वस्यैव प्रियत्वम् उक्तमिति सुष्ठूक्तं कथाननुगुणस्य अप्रियत्वम् इति. एवं पूर्वनाम्नि व्रजप्रियत्वम् उक्त्वा व्रजस्य प्रियत्वज्ञापनाय अग्रिमं नाम आहुः **प्रियव्रजस्थितिः** इति, **प्रिया व्रजस्थितिः** यस्य सः. यदि व्रजस्य प्रियत्वं न स्यात् तदा तत्र स्थितिं न कुर्यात्. **व्रजे स्थिति**कथनेन आचार्याणां व्रजप्रियत्वम् अत्यन्तं ज्ञापितं भवति.

(२)**व्रजप्रियः** इति, **व्रजो** व्रजवासिजनः स्थलं वा. **व्रजः** प्रियो यस्य, तस्य प्रियः इति वा. अतएव **प्रियव्रजस्थितिः** इति, **प्रिया** अभीष्टा **व्रजे स्थितिः** वा सो यस्य.

(३)**व्रजप्रियः** (इति), **व्रजस्थाः** लीलासम्बन्धिनो भक्ताः **प्रियाः** यस्य. एतेन तेषाम् एतल्लीलासम्बन्धित्वेन प्रियत्वेन तैः सहैव परस्परं तत्तदनुभूत-लीलाकथन-जनितपरमानन्द-रसभरेण सरसत्वार्द्रत्वपूर्वकं कथनं नान्येन सह इति ज्ञापितम्. तत्कथासम्बन्धित्वेन तेषां न विस्मरणमिति तद्व्यतिरिक्तानां सर्वेषां विस्मरणम् इत्यपि सूचितम्. ननु निरन्तरं तैः सह कथनं तत्र स्थित्यभावे कथं भवति तत्र आहुः **प्रियव्रजस्थितिः** इतिः. तेन निरन्तरं कथनं सम्भवति.

(४/क)**व्रज...** इति. अन्यत्र गत्यभावाय **प्रिय...** इति.

(४/ख)**व्रजप्रियः** इति, **व्रजः प्रियो** यस्य इति अर्थः. तेन विस्मरणेऽपि

स्वप्रियस्फूर्तिः भवत्येव इति भावः. यद्वा **व्रजस्य प्रियः** इति भावः. तेन स्वप्रियत्वेन व्रजमेव सर्वदा सेवते इति अर्थः. ननु व्रजप्रियत्वेऽपि तत्प्रियत्वाभावे स्थितिः न स्याद् इत्यतः आहुः **प्रियव्रजस्थितिः** इति, **प्रिया व्रजस्य स्थितिः** येषाम् इति अर्थः. यद्वा **प्रियव्रजो** भगवान् सएव **स्थितिः** यस्य इति अर्थः. यद्वा **प्रियव्रजस्य स्थितिः** यः इति भावः.

(५)**व्रज...** इति, **'व्रज'**पदेन व्रजस्थाः स्वामिन्यो लक्ष्यन्ते. यद्वा समानशीलव्यसनत्वाद् व्रजः स्वसमाजः. सएव तासां प्रियः, स्वप्रियपूर्णभाववत्वात्. अतएव एतदङ्गीकृतेभ्यः स्वसर्वस्वरूपं स्वभावं ददति. ''तद्द्वारा पुरुषे भवेत्'' (सुबो.१०।२६।१।कारि.२) इत्यत्र अयम् अर्थो निरूपितः. महाप्रभूणामपि तत्स्थानमेव प्रियम् इति आहुः **प्रियव्रज...** इति, **प्रिया व्रजस्थितिः** यस्य. यद्वा व्रजस्तु महान् तत्रापि **प्रियस्य** श्रीगोवर्धनाधीशस्य यो **व्रजः** क्रीडास्थानं बृहद्वनं वृन्दावनादि तत्रैव **स्थितिः** यस्य. स्थानस्य प्रियत्वम् अर्थाद् आगतम्. यद्वा **व्रजः** स्वसमाजः तत्र या **स्थितिः** सा **प्रिया** यस्य इति. तेन स्वामिनीसमाजएव सर्वदा प्रियगुणगानपरतया तिष्ठन्ति इति अर्थः.

(६)**व्रजस्य** व्रजीयजनस्य **प्रियः** तेन तन्निष्ठा स्वविषयिणी प्रीतिः उक्ता. स्वनिष्ठां तद्विषयिणीं प्रीतिम् आहुः **प्रिय...** इति, व्रजे स्थितिः येषां ते **व्रजस्थितयः प्रियाः** ते यस्येति एवम् अन्योन्यं प्रीतिः उक्ता. तमसः आनन्दांशधर्मत्वाद् एतेषामेव मुख्यो धर्मः. तामसत्वेन निःसाधनत्वात् पुष्टिरपि एतेषामेव मुख्या.

(७)**व्रजप्रियः** इति, '''व्रज' गतौ'' (पाणि.धा.पा.भ्वा.२६०) व्रजनं व्रजो गमनम् इति यावत्. **व्रजः प्रियः** यस्य सः सुदामा. तद् उक्तम् **''इति सञ्चिन्त्य मनसा गमनाय मनो दधे''** (भाग.पुरा.१०।७७।१३) सो अस्ति अस्य. तद् उक्तं **''कृष्णस्य आसीत् सखा कश्चिद् ब्राह्मणो**

ब्रह्मवित्तमः'' (भाग.पुरा.१०।७७।६). [2]यद्वा **व्रजः** संघातः **प्रियाणां** यस्य. तद् उक्तं **''गृहं द्वयष्टसहस्राणां महिषीणां हरेः द्विजः. विवेश एकतमं श्रीमद्ब्रह्मानन्दं गतो यथा''** (भाग.पुरा.१०।७७।१७). [3]यद्वा **व्रजनं प्रियं** यस्य सः. तद् उक्तं **''गृहीतहस्ताः परिबभ्रिम आतुराः''** (भाग.पुरा.१०।७७।३८). प्रियत्वस्य अभिप्रायज्ञानान्तरभावित्वात् 'प्रिय'पदेन ज्ञानं सूचितम्. अष्टसप्ततितमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **प्रियव्रजस्थितिः** इति, **प्रियेण** सुदाम्ना सह **व्रजस्थितिः** यस्य सः. तथाहि व्रजेहि श्रीदाम्नः प्रभृतिभ्यः स्वामिनीलीला न गुप्ता. दिवा स्वामिनीलीलाः विहाय एतेषां सुखाय गोचारणं, स्वरुच्या भोजनं, सहशय्यादि, विनापि साधनम् अदेयपदार्थदानादि. एवम् अत्रापि सुदाम्ना सह. तद् उक्तं **''प्रियापर्यङ्कम् आस्थितः सहसा उत्थाय च अभ्येत्य''** (भाग.पुरा.१०।७८।१८) **''पर्यङ्कस्थां श्रियं हित्वा परिष्वक्तो अग्रजो यथा''** (भाग.पुरा.१०।७८।२६), **''स्वयं जहार किम् इदम् इति पृथुकतण्डुलान्''** (भाग.पुरा.१०।७८।८), **''अथ उपवेश्य पर्यङ्के''** (भाग.पुरा.१०।७८।४), **''एतावता अलं विश्वात्मन्!''** (भाग.पुरा.१०।७८।११) अन्यदपि ऊह्यम्. किञ्च, व्रजं यथा भगवदागमनान्तरं रमाक्रीडम् अभूत् तथा अस्यापि भगवन्मिलनान्तरं रमाक्रीडम् अभूत्. तद् उक्तं **''सूर्यानलेन्दुसङ्काशैः विभावैः सर्वतो वृतम्''** (भाग.पुरा.१०।७८।२१), यथा **''श्रयते इन्दिरा शश्वद्...''** (भाग.पुरा.१०।२८।१) तथा **''रूपिणी श्रीरिव आलयात्''** (भाग.पुरा.१०।७८।२५). यथा **''जलौघैः प्लाव्यमाना भूः नादृश्यत नतोन्नतम्''** (भाग.पुरा.१०।२२।१०) तथा **''निम्नं कूलं जलमयं न प्राज्ञायत किञ्चन''** (भाग.पुरा.१०।७८।३७). यथा **''मुहूर्तम् अभवद् गोष्ठं रजसा तमसा आवृतम्''** (भाग.पुरा.१०।७।२२) तथा **''वातवर्षम् अभूत् तीव्रं निष्ठुराः स्तनयित्नवः''** (भाग.पुरा.१०।७८।३६). यथा भगवतो जन्मनः पूर्वं भूमिः माता तथाच अन्ये दुःखभागिनः तथा अत्र भगवन्मिलनात् पूर्वम् **''दरिद्रा सीदमाना सा वेपमाना अभिगम्य च''** (भाग.पुरा.१०।७८।८). यथा यज्ञपत्नीभ्यो अन्नयाचनं तथा अत्र **''किम् उपायनम् आनीतम्''** (भाग.पुरा.१०।७८।३) इति. यथा **''शरदोत्फुल्लमल्लिकाः वीक्ष्य रन्तुं मनः चक्रे''** (भाग.पुरा.१०।२६।१) तथा अत्र तदागमनकारणं अविज्ञाय

अचिन्तयत्. यथा ''तेतु ब्रह्महृदं नीताः मग्नाः कृष्णेन च उद्धृताः'' (भाग.पुरा.१०।२५।१५) तथा ''विवेश एकतमं श्रीमद्ब्रह्मानन्दं गतो यथा'' **(भाग.पुरा.१०।७८।१७)** ''स्वसुखेन अभिवन्दितः जगाम स्वालयम्'' (भाग.पुरा.१०।७९।१३). यथा ''तमेव परमात्मनं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः जहुः गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः'' (भाग.पुरा.१०।२६।११) तथा अत्र ''तद्ध्यानवेगोद्ग्रथितात्मबन्धनः तद्धाम लेभे त्वरितः सतां गतिम्'' (भाग.पुरा.१०।७९।४०). एवम् अन्यदपि ऊह्यम्. प्रियव्रजस्थित्या अप्रियेषु वैराग्यं सूचितम्.

:: उत्थानिकाः ::

(१)ननु व्रजस्य प्रियत्वेऽपि तत्र स्थितिकरणे को हेतुः इति आशङ्कापरिहाराय आहुः —

(२)...

(३)ननु निरन्तरं व्रजस्थितावेव को हेतुः तत्र आहुः —

(४/क)भावात्मकलीलारसानुभवाय —
(४/ख)एतन्नामपोषकम् अग्रिमं नाम आहुः —

(५)तत्पुष्टिस्थानमिति, तल्लीलाः तत्रैव भवन्तीति तत्कर्तृत्वम् आहुः —

(६)अतः स्वस्य स्नेहमार्गनिष्ठत्वात्...

(७)एकोनाशीतितमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

पुष्टिलीलाकर्ता[७९] **रहप्रियः**[८०]

:: टीकाः ::

(१)पुष्टिलीलाकर्ता इत्यत्र अयम् आशयो : भगवानपि **पुष्टिलीलां** रासादिलीलां व्रजएव कृतवान् इति ज्ञात्वा स्वयमपि स्वीयेषु तल्लीलाप्रकारज्ञापनाय तल्लीलानुकरणं कृतवान् इति ज्ञापनाय उक्तं **पुष्टिलीलाकर्ता** इति. यद्यपि स्वीयानां ज्ञापनाय अनुकरणेन रसानुभवं कारितवान् तथापि स्वयम् एतल्लीलारसानुभवम् एकान्तएव करोति इति ज्ञापनाय उक्तं **रहःप्रियः** इति, **रहः** एकान्तमेव **प्रियं** यस्य सः॥२६॥

(२)**पुष्टिलीलाकर्ता** इति, **पुष्टिः** अनुग्रहः. तन्मूलिका **लीला** पुष्टिलीला. तस्याः **कर्ता** इति अर्थः, लोकवेदातीतायाः इति वा. **रहःप्रियः** इति, **रहसि** एकान्ते **प्रियं** लीलाकरणं यस्य. एकान्तस्थितिः **प्रिया** यस्य इति वा॥२६॥

(३)**पुष्टिलीलाकर्ता** (इति), **पुष्टिलीलां** रासादिलीलां साक्षात्सम्बन्ध-रूपां स्वयं करोति. अत्र स्वस्य कर्तृत्वकथनेन स्वयं भगवानपि तदधीनएव तल्लीलां करोति. एतानपि एतदधीनएव अनुभावयति इति भावः सूच्यते. तेन यथा-यथा एतेषां रुचिः तथैव करोति इति ज्ञापितम्. तल्लीलानुभवस्तु व्रजस्थित्यैव भवेद् व्रजएव कृतत्वादिति निरन्तरं स्थितिरपि. ननु भगवान् एतदधीनएव लीलां करोति इति कथं ज्ञायते तत्र आहुः **रहःप्रियः** एकान्तमेव **प्रियं** यस्य. अत्र अयं भावः : स्वप्रेष्ठे मिलितेऽपि यथा-यथा तत्तद्भावजनिततत्तदभिलषितप्रकारानुभवः एकान्ते भवति तथा अन्तरङ्गायाः एकस्याअपि प्रियसख्याः समक्षं न भवति इति रहस्येव तादृग्लीलाकरणे तत्तत्प्रकारकानिर्वचनीयपरमरसानुभवेन भगवानपि एतदधीनो भवति. तेन भगवतोऽपि रहएव प्रियं भवति इति. एवं सति उभयोः परमरसानुभवकर्तृत्वेन रहएव प्रियं भवति इति भावः. एतेन एतदधीनत्वं स्पष्टमेव ज्ञातं भवति॥२६॥ —

(४/क)**पुष्टि...** इति. तदनुभवयोग्यतायै **रहःप्रियः** इति॥२६॥
(४/ख)**पुष्टिलीलाकर्ता** इति, **पुष्ट्यात्मिका** या **लीला** रासादिप्रका-

रिका तत्**कर्ता** इति अर्थः. यद्वा **पुष्ट्यर्थं लीला** स्वामिनीभावः तत्कर्ता इति अर्थः. एतन्नाम-सार्थकं नाम आहुः **रहःप्रियः** इति, **रहः** एकान्तः **प्रियः** यस्य इति अर्थः ॥२६॥

(५)**पुष्टि...** इति, **लीला**स्थस्वसमाजे प्रियेण सह कानन-श्रीगोवर्द्धन-यमुनापुलिनादिषु **पुष्टि**लीलारसात्मकलीला**कर्ता.** अतएव आहुः रहः... इति, अत्र रसाभाससम्भवात् तास्तु एकान्तएव सम्भवन्ति इति तत्**प्रियः** ॥२६॥

(६)**पुष्टिलीलाकर्तृत्वेन** तत्रापि पुष्टिमार्गनिष्ठत्वात् तत्प्रकारेणैव रसम् अनुभवन्ति इति नामत्रयार्थः. ननु एवं तद्विस्मृतान्यत्वं सर्वसङ्गो न सम्भवति अतः आहुः **रहः...** इति, अतएव तुरीयाश्रमे सर्वान् त्यक्तवान् इति भावः.

(७)**पुष्टिलीलाकर्ता** इति, मर्यादोल्लङ्घनं **पुष्टिः**. तथाच विनापि कल्पक्षयं कल्पक्षयवत् सूर्योपरागः, भगवत्सम्बन्धिनां श्रेयोविधित्सया अन्यत्र गमनं, परशुरामस्य निःक्षत्रीकरणं वर्णचतुष्टयभञ्जनं च **पुष्टिलीलाः** ताः करोति. तद् उक्तम् **''अथ एकदा द्वारकायां...''** (भाग.पुरा.१०।७९।१) इत्यादि. [२]यद्वा **पुष्टिः** पोषणं तृप्तिः इति यावत्. तदर्थं भोजन**लीलाकर्ता**. तद् उक्तं **''कृष्णदेवताः भुक्त्वा उपविविशुः कामम्''** (भाग.पुरा.१०।७९।११-१२) इति. [३]यद्वा **पुष्टयो** व्रजवासिनः, तैः **लीलां** करोति. तद् उक्तं **''नन्दः तत्र यदून् प्राप्तान्...''** (भाग.पुरा.१०।७९।३२) इत्यादिना. [४]यद्वा **पुष्टिः** पोषणं तदेव **लीला.** तद् उक्तम् **''एतौ अदृष्टपितरौ युवयोः स्म पित्रोः सम्प्रीणनाभ्युदय-पोषणलालनानि...''** (भाग.पुरा.१०।७९।३९). [५](यद्वा) **पुष्टिलीला** गोपीजनाश्लेषादि, तां करोति. तद् उक्तं ''भगवान् **तां तथाभूता विविक्तः उपसङ्गतः आश्लिष्य अनामयं पृष्ट्वा प्रहसन् इदम् अब्रवीत्''** (भाग.पुरा.१०।७९।४१). पुष्टिलीलाकर्तृत्वेन प्रमेय-प्रकरणीय-धर्मित्वम्. अशीतितमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **रहःप्रियः** इति, **रहसि** एकान्ते **प्रियाः** यस्य सः. तद् उक्तं ''तथा **अनुगृह्य** भगवान् **गोपीनां**

स गुरुः गतिः'' (भाग.पुरा.१०।८०।१). 'तथा'शब्दस्य रहसि इति अर्थः. **''विविक्तः उपसङ्गतः''** (भाग.पुरा.१०।८०।४१) इति पूर्ववाक्यबलात् 'गुरु'पदात् च गुरवः एकान्ते अनुग्रहोपदेशादिकं कुर्वन्ति इति भावः. [६]यद्वा **प्रियाः** रुक्मिण्यादयः. तद् उक्तं **''समेत्य गोविन्दकथा मिथो अगृणन्''** (भाग.पुरा.१०।८०।५). [७]यद्वा **प्रियाः** रोहिण्यादयः महिष्यः. तद् उक्तं **''भौमं निहत्य सगणं युधि तेन रुद्धाः...''** (भाग.पुरा.१०।८०।४०) इति. **रहः** त्यागः **प्रियो** यस्य. तद् उक्तं **''संसृतिविमोक्षम् अनुस्मरन्तीः पादाम्बुजं परिणिनाय य आप्तकामः''** (भाग.पुरा.१०।८०।४०). [८]यद्वा **रहः** त्यागः **प्रियः** यासां ताः सन्ति अस्य. तद् उक्तं **''न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भौज्यमपि उत वैराज्यं पारमेष्ठ्यं च आनन्त्यं वा हरेः पदं कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः''** (भाग.पुरा.१०।८०।४१-४२) ॥२६॥

:: उत्थानिकाः ::

(१)यद्यपि स्वयम् एकान्तएव स्वमनोरथपूर्तिप्रकारेण लीलाम् अनुभवति तथापि स्वान्तरङ्गभक्तेषु पुष्टिलीलाज्ञानार्तिं दृष्ट्वा तत्कथनेन तेषामपि तद्विषयिणीम् इच्छार्तिं पूरयति इति ज्ञापनाय उक्तं—

(२)...

(३)ननु एतेतु सर्वदा रहस्येव स्थित्वा एतल्लीलां कुर्वन्ति. कदाचिद् भक्तानां तल्लीलाज्ञानेच्छा भवेत् तदा कथं पूरयन्ति तत्र आहुः—

(४/क)एतादृशत्वेऽपि भक्तनिकटस्थितिसम्पादकत्वाय—

(४/ख)ननु एकान्तप्रियत्वे सर्वेषां भक्तानां कथं मनोरथाप्तिः भविष्यति इत्यतः आहुः—

(५)कदाचित् सर्वथाप्रपन्नदामोदरदासादीनाम् एतल्लीलादर्शनेच्छामपि पूरयन्ति इति आहुः—

(६)ननु एवम् अग्रे सम्पादनीये पूर्वमेव तत्सङ्गं कुतो कृतवान्? इत्यतः आहुः —

(७)एकाशीतितमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

भक्तेच्छापूरकः[८१] **सर्वाज्ञातलीलो**[८२] अतिमोहनः[८३]

:: टीकाः ::

(१)**भक्तेच्छापूरकः** इति, ननु यथा तदार्तिदर्शनेन कृपया कथनेन तदार्तिं शमयति तथा कृपया कदाचित् स्वमनोरथपूर्तिप्रकारकथनमपि भक्तेषु भविष्यति इति आशङ्कानिरासाय आहुः **सर्वाज्ञातलीलः** इति, **सर्वैः** भक्तैरपि **अज्ञाता लीला** यस्य सः. तेन स्वानुभवप्रकारातिरिक्तप्रकारमेव बोधयति. नतु साक्षात् स्वानुभवप्रकारमपि इति ज्ञापितं भवति. ननु स्वीयेष्वपि अतिप्रचुरभाग्ययोगेन कदाचिद् आचार्याः केन प्रकारेण भगवद्रसम् अनुभवन्ति इति मनोरथं दृष्ट्वा तन्मनोरथपूरकत्वज्ञापनाय अग्रिमं नाम आहुः **अतिमोहनः** इति, अस्य अयम् आशयः : यद्यपि भक्तमनोरथं जानन्ति तथापि तेषु कथनयोग्यां भगवल्लीलां तेन प्रकारेण कथयन्ति येन तत्प्रकारकश्रवणजनितरसावेशेन तथा मुग्धाः भवन्ति, येन सर्वमनोरथपूर्तिः भवति इति ज्ञापनाय उक्तम् **अतिमोहनः** इति.

(२)**भक्तेच्छापूरकः** इति, **भक्तानाम् इच्छायाः** पूर्तिकर्ता इति अर्थः. **सर्वाज्ञातलीलः** इति, **सर्वैः** भक्तेतरैः सर्वोत्कृष्टत्वेन न **ज्ञाता लीला** यस्य. **सर्वैः** भक्तैः आसमन्तात् **ज्ञातलीलो** वा. , निजरूपदर्शनेन भक्तान् अत्यन्तं मोहयति इति. निजरूपाप्रदर्शनेन अभक्तान् अत्यन्तं मोहयति इति वा.

(३)**भक्तेच्छापूरकः** इति, **भक्तानां** यद्-यद् अभिलषितं तत् सर्वं

पूरयन्ति. ननु यदि भक्तेच्छां पूरयन्ति तर्हि भक्तानां सम्पूर्णलीलाज्ञानं जातमेव भविष्यति तत्र आहुः **सर्वाज्ञातलीलः** इति, यद्यपि एते भक्तमनोरथपूरणार्थं कथयन्ति तथापि तेषां **सर्वा लीला ज्ञाता** न भवति इति सूच्यते. ननु कथितायामपि सत्यां ज्ञाता कथं न भवेत् तत्र आहुः **अतिमोहनः** इति**अतिमोहनः** (इति), कथने परम**मोहन**रूपः. अयं भावः : कस्यचिद् भक्तस्य सर्वात्मना प्रपन्नस्य तल्लीलाज्ञाने प्रचुरार्तिं दृष्ट्वा कृपया यत्किञ्चिल्लीलाकथनारम्भएव तद्रसभरजनित-परमानिर्वचनीय-स्वरूपसौन्दर्य-दर्शनेनैव अतिमोहिताः भवन्ति, पश्चाद् ईषन्मात्रकथने तल्लीलारसाब्धिबिन्दावेव मग्नाः भवन्ति. अतः सम्पूर्णलीलाज्ञानं कस्यापि न भवति. यद्यपि एते मोहनं न कुर्वन्ति तथापि स्वरूपस्वभावादेव तद् भवति इति.

(४/क)**भक्त...** इति आन्तरत्वेन अविदितचेष्टत्वाय **सर्व...** इति, कदाचित् प्रतीतावपि मोहेन तथात्वाय **अतिमोहनः** इति.

(४/ख)**भक्तेच्छापूरकः** इति, **भक्तानाम् इच्छां पूर**यति इति अर्थः. यद्वा **भक्ताः** व्रजभक्ताः, तासां मानापनोदनेन भगवतः स्वामिनी-वियोग-दूरीकरणेन ससन्तोष भगवत्प्राप्ति-हेतुत्वेन **इच्छापूरकः** इति भावः. ननु एतादृशः चेत् कथं न सर्वे भजन्ते इत्यत्र आहुः **सर्वाज्ञातलीलः** इति, **सर्वैः अज्ञाता लीला** यस्य इति अर्थः. यद्वा **सर्वाज्ञातो** भगवान्, तस्य **लीलारूपो** यः इति अर्थः. यद्वा **सर्वो** भगवान्, तेन ज्ञाता लीला यस्य इति अर्थः. यद्वा **सर्वा अज्ञाता लीला** यस्य इति अर्थः. ननु सर्वाज्ञात-लीलात्वेऽपि यत्किञ्चिज्ज्ञानेन कथं न सेवन्ते? इत्यतः आहुः **अतिमोहनः** इति, अत्यन्तमोहनः इति अर्थः. तेन एतादृशं मोहम् उत्पादयति येन तथा बुद्धिएव न भवति इति अर्थः.

(५)**भक्त...** इति, **भक्ताः** तादृशाः, तेषां तथा **इच्छापूरकः**. अनेन अन्यप्रदर्शनसामर्थ्यमपि उक्तम्. लीलायां सर्वम् एतदधीनमेव इति आशयः. केषाञ्चिदेव तथेच्छापूरको न सर्वेषाम् इति आहुः **सर्व...**

इति, **'सर्व'**पदेन साधारणाः भक्ताः उच्यन्ते, तैः **अज्ञातलीलः**. अन्तरङ्गाएव जानन्ति, न अन्यः इति अर्थः. ननु अन्ये कथं न जानन्ति? इति आशङ्क्य आहुः **अतिमोहनः** इति, अन्तरङ्गशक्त्या भगवानिव मोहनः. यथा निकुञ्जद्वार-रासलीलासु तया अन्यमोहनं तथा अत्रापि इति अर्थः. साधारणानां केवलमाहात्म्यज्ञानवताम् ईश्वरत्वेनैव ज्ञानम्; अन्तरङ्गाणान्तु परमरसनिधित्वेनैव ज्ञानम् इति आशयः.

(६)**भक्त...** इति, **भक्तानां** स्वोद्धारविषयिणी **इच्छा** भगवतो वा भक्तोद्धारेच्छा तत्**पूरकः**. भगवानेव भक्तान् उद्दिधीर्षुः एवम् आज्ञप्तवान् अतः तदिच्छया पूर्वं तथा कृतवान्. तदनन्तरं प्रयोजनसाधनेन तदिच्छापूर्तौ सर्वं त्यक्तवान् इति भावः. ननु एवमपि सर्वसङ्गे विशकलितानुभवोऽपि न स्याद्, अतः आहुः **सर्व...** इति, तिष्ठन्नपि अधिकारिणो अज्ञापयित्वा रसम् अनुभवतीति **सर्वैः अज्ञाता लीला** यस्य इति अर्थः. ननु प्रकटेऽपि एवम् अज्ञानम् अन्येषां सम्भवति नतु स्वीयानाम्? इत्यतः आहुः **अतिमोहनः** इति, यथाधिकारं सर्वानेव मोहयति. अतएव **''मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्''** (भाग.पुरा.१०।३०।३८) इति वाक्यम् इति भावः. एवं पूर्वरसानुभवस्तु भक्तैः सह भवति. अतः केषाञ्चिद् ज्ञानमपि सम्पादनीयम्.

(७)**भक्तेच्छापूरकः** इति, . **भक्तानां** मुनीनां दर्शने**च्छां पूरयति**. तद् उक्तम् **''आययुः मुनयः तत्र राम-कृष्णदिदृक्षया द्वैपायनो नारदश्च च्यवनो देवलो असितः...''** (भाग.पुरा.१०।८१।२-३). [२]यद्वा **भक्तानां** वसुदेवादीनां **इच्छां** वित्तगृहदारसुतात्मलोकेषणादिरूपां पूरयति. तद् उक्तं **''त्वन्तु अद्य मुक्तो द्वाभ्यां वै ऋषिपित्रोः महामते यज्ञैः देवर्णम् उन्मुच्य निर्ऋणो अशरणो भव''** (भाग.पुरा.१०।८१।४०). [३]यद्वा **भक्तस्य** वसुदेवस्य **इच्छायाः** यजन-मनोरथस्य पूरे पूर्तौ **कं** सुखं यस्य. तद् उक्तं **''तदा रामश्च कृष्णश्च स्वैः-स्वैः बन्धुभिः अन्वितौ रेजतुः स्वसुतैः दारैः जीवेशौ स्वविभूतिभिः''** (भाग.पुरा.१०।८१।५०). [४]यद्वा **भक्तस्य** वसुदेवस्य यजने**च्छां पूरयति**. तद् उक्तम् **''ईजे अनुयज्ञं विधिना अग्निहोत्रादिलक्षणैः''**

(भाग.पुरा.१०।८१।५१). [४]यद्वा **भक्तस्य** श्रीनन्दरायस्य **इच्छां** कामं **पूरयति**. तद् उक्तं **''ततः कामैः पूर्यमाणः सव्रजः सहबान्धवः''** (भाग.पुरा.१०।८१।-६७). अत्र **'भक्त'**पदेन सात्त्विकत्वम्. इच्छापूर्त्या फलप्राप्तिः. **पूरकः** इति पूर्णकार्थेन त्र्यक्षरेण पदेन प्रकरणत्रयसमाप्तिः. षडक्षरैः व्यस्तैः समस्तेन च एकपदेन धर्मिरूपता च सूचिता. द्व्यशीतितमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **सर्वाज्ञातलीलः** इति, **सर्वैः अज्ञाता लीला** यस्य. तद् उक्तं **''जाने वामस्य यत् साक्षात्प्रधानपुरुषौ परौ''** (भाग.पुरा.१०।८२।३), **''वेद अहं वां विश्वसृजाम् ईश्वरौ आदिपूरुषौ''** (भाग.पुरा.१०।८२।२९). अत्र उदाहरणे यद्यपि लीला ज्ञाता इति आयाति तथापि **''यस्य अमतं तस्य मतं यस्य वेद न वेद सः''** (केनोप.११) इति श्रुत्या अज्ञाताएव इति गूढाभिसन्धिः. **आसमन्तात् ज्ञाता** इति अर्थो वा. तदातु यथोदाहरणम्. [६]यद्वा अत्र आङ्, आप्रगृह्यः आ वा. तत्र 'आङः' अर्थचतुष्टयम् : **''‘आङ्’ ईषदर्थे अभिव्याप्तौ सीमार्थे धातुयोगजे''** (.। । ।). आकारस्यापि अर्थचतुष्टयम्, **''‘आ’ प्रगृह्यः स्मृतौ वाक्ये अनुकम्पायां समुच्चये''** (. । ।). 'आ'शब्दस्यापि तथा. **''आं स्मारणे अपाकरणे कोपसन्तापयोरपि''** (. । ।), **''‘आ’स्तु स्यात् कोपपीडयोरपि''** (. । ।) इति च. तेन 'आ' इत्यस्य अर्थाः : ईषद्-अभिव्याप्ति-सीमा-क्रियायोग-स्मृति-वाक्यानुकम्पा-समुच्चया-ऽपाकरण-स्मारण-कोप-सन्ताप-पीडाः त्रयोदश. तत्र ईषदर्थे यथा **''इदम् इत्थम् इति प्रायः तव योगेश्वरेश्वरः न विदन्त्यपि योगेशा योगमायां कुतो वयम्''** (भाग.पुरा.१०।८२।४४). अभिविधौ-व्याप्तौ यथा **''यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा स्याद् इदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः''** (भाग.पुरा.१०।८२।४). सीमार्थे यथा **''यस्य अंशांशांशभागेन विश्वोत्पत्तिलयोदयाः भवन्ति किल विश्वात्मन्! त्वान्तु आद्या अहं गतिं गता''** (भाग.पुरा.१०।८२।३१). क्रियायोगे यथा **''कृष्णरामौ समाश्राव्य पुत्रान् कंसविहिंसितान्''** (भाग.पुरा.१०।८२।२८) **''दिशात्वम् अवकाशो असि...आकृतीनां पृथक्कृतिः''** (भाग.पुरा.१०।८२।९). स्मरणे यथा **''स्मरन्ती कृष्णं प्राह...''** (भाग.पुरा.१०।८२।२८). वाक्ये यथा **''आकर्ण्येत्थं पितुः**

वाक्यम्'' (भाग.पुरा.१०।८२।२१). अनुकम्पायां यथा ''**इत एतान् प्रणेष्यामो मातृशोकापनुत्तये**'' (भाग.पुरा.१०।८२।५०). समुच्चये यथा ''**अहं यूयम् असौ आर्य इमे च द्वारकौकसः सर्वेऽपि एवं यदुश्रेष्ठ विमृश्याः सचराचरम्**'' (भाग.पुरा.१०।८२।२३). स्मारणे यथा ''**मुनीनां तद्वचः स्मृत्वा**'' (भाग.पुरा.१०।८२।२). अपाकरणे यथा ''**शाधि अस्मान् ईशितव्येश! निष्पापान् कुरु नः प्रभो**'' (भाग.पुरा.१०।८२।४६). कोपे यथा ''**नित्यं निबद्धवैराः ते वयं च अन्ये च तादृशाः**'' (भाग.पुरा.१०।८२।४२). सन्तापे यथा ''**सा तान् शोचति आत्मजान् स्वान् ते इमे अध्यासते अन्तिके**'' (भाग.पुरा.१०।८२।४९). पीडायां यथा ''**तेन आसुरीम् अगन् योनिम् अधुना अवद्यकर्मणा**'' (भाग.पुरा.१०।८२।४८). एवमेव एकाक्षरकोशाद्युक्ताः अन्यपदसंयोगजाः च अर्थाः यथायथम् ऊह्याः. षड् अक्षराः तेन अध्यायात्मक-गुणप्रकरणारम्भः सूचितः. अष्टौ हलः तेन अष्टविधैश्वर्यसूचनेन ऐश्वर्यरूपः प्रथमाध्यायार्थो बोधितः. त्र्यशीतितमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **अतिमोहनः** इति, अत्यन्तं मोहयति इति **अतिमोहनः**. तद् उक्तं ''**पौरैः सभाजितो अभीक्ष्णं रामेण अजानता च सः**'' (भाग.पुरा.१०।८३।४). अज्ञानं मोहः, सोऽपि वेदात्मनो बलस्येति अतिशयः पुनश्च. तद् उक्तम् ''**उभयोः आविशद् गेहम् उभाभ्यां तदलक्षितः**'' (भाग.पुरा.१०।८३।२६). अलक्षितत्वं **मोहः** सोऽपि राज्ञो ब्राह्मणस्य चेति **अतिशयः**. मोहश्च आधिदैविकादि-सात्त्विकादि-कायिकादि-भेदेन नवविधः. सच बलभद्रादिषु त्रिषु प्रत्येकं त्रिः-त्रिः प्रकारकः सम्पन्नः. भगवताअपि तावत्प्रकारैः वारितः. तथाहि बलभद्रे तामसः, कायिकः, आधिदैविकश्च ईश्वरत्वात्, क्रियया अधीनत्वात्, तामसत्वात् च. राज्ञि राजसो, वाचिकः, आध्यात्मिकः च इति जीवत्वात्, वाक्प्रमाणकत्वात्, राजसत्वात् च. ब्राह्मणे सात्त्विकः, मानसः, आधिभौतिकश्च इति वेदमयत्वात्, मुनित्वात्, दरिद्रत्वात् च. तदुदाहरणानि, बलभद्रे ''**तच्छ्रुत्वा क्षुभितो रामः पर्वणीव महार्णवः गृहीतपादः कृष्णेन सुहृद्भिः च अन्वशाम्यत**'' (भाग.पुरा.१०।८३।११), (राज्ञि) ''**दिनानि कतिचिद् भूमन् गृहाद् नो निवसद्द्विजैः समेतः पादरजसा पुनीहि इदं निमेः कुलम्**'' (भाग.पुरा.१०।८३।३६), (ब्राह्मणे) ''**स तर्कयामास कुतो मम अन्वभूद् गृहान्धकूपे पतितस्य सङ्गमः यः सर्वतीर्थास्पदपादरेणुभिः कृष्णेन च अस्य आत्मनिकेतभूसुरैः**'' (भाग.पुरा.१०।८३।४२) एवं मोहः. अथ मोहनिवारणम् : **अतिमोहं** नाशयति. उदाहरणानि ''**गृहीतपादः कृष्णेन सुहृद्भिः च अन्वशाम्यत**'' (भाग.पुरा.१०।८३।११), ''**इति उपामन्त्रितो राज्ञा भगवान् लोकभावनः उवास कुर्वन् कल्याणं मिथिलानरयोषिताम्**'' (भाग.पुरा.१०।८३।३७), ''**तदुक्तम् इति उपाकर्ण्य भगवान् प्रणतार्तिहा गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रहसन् तम् उवाच ह**'' (भाग.पुरा.१०।८३।५०) (इति) अतिमोहनाशकत्वं वीर्यम्.

:: उत्थानिकाः ::

(१)ननु पुष्टिमार्गीयभक्तेषु एतल्लीलाज्ञानसम्पादकत्वे अन्येषु असम्पादकत्वे को हेतुः इति आशङ्कानिरासाय अग्रिमं नाम आहुः—

(२)...

(३)ननु एतावत् ज्ञानं सर्वेषां कथं न करोति तत्र आहुः—

(४/क)...

(४/ख)ननु कथम् एवं मोहम् उत्पादयति? तदर्थम् आहुः—

(५)अतएव आहुः—

(६)तत्र यान् ज्ञापयति यान् च मोहयति तान् आहुः नामद्वयेन—

(७)चतुरशीतितमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः—

:: मूलम् ::

सर्वासक्तो[८४] **भक्तमात्रासक्तः**[८५]

:: टीका: ::

(१)**सर्वासक्तः** इति, **सर्वेषु** पुष्टिमार्गीयातिरिक्तेषु **असक्तः** कथनायोग्यत्वात् उपेक्षायुक्तः. अतः तेषु अज्ञापनमिति सुष्ठु उक्तं **सर्वासक्तः** इति. भक्तिमार्गीयिष्वेव एतज्ज्ञापनस्य आवश्यकत्वज्ञापनाय अग्रिमं नाम आहुः **भक्तमात्रासक्तः** इति, पुष्टिमार्गीयभक्तेष्वेव **आसक्तः** कृपायुक्तः. अत्र **'मात्र'**पदोपादानेन यथा भक्तमात्रेष्वेव आसक्तिः तथा तदितरमात्रेषु अनासक्तिरपि इति ज्ञापितम्.

(२)**सर्वासक्तः** इति, **सर्वेषु** भक्तेषु **आसक्तः**. **सर्वेषु** अभक्तेषु **अनासक्तः** इति वा. अतएव **भक्तमात्रासक्तः** इति. स्पष्टम्.

(३)**सर्वासक्तः** (इति), **सर्वेषु** पुष्टिमार्गीयव्यतिरिक्तेषु **असक्त**एव सर्वथा स्नेहजनितासक्तिरहितएव इति. अतः तान् ईषदपि न ज्ञापयन्ति इति भावः. ननु तर्हि मर्यादामार्गीयभक्तेष्वपि असक्ततत्वेन तेषामपि तन्मार्गीयज्ञानाभावात् तत्फलं कथं भवेत्? तत्र आहुः **भक्तमात्रासक्तः** इति. यद्यपि सर्वेषु असक्तएव तथापि पुष्टि(?)मर्यादाभक्तमात्रेषु **आ** ईषत् **सक्तः** तदपेक्षया ईषत् स्नेहासक्तिमान् तेन तन्मार्गीयफलं तेषां भवति इति भावः.

(४/क)**सर्वासक्तः** इति, एकप्रयोजनत्वाय **भक्त...** इति.

(४/ख)**सर्वासक्तः** इति, सर्वेषु असक्तः, न विद्यते सक्तता यस्य इति अर्थः. ननु सर्वासक्तत्वे भक्तेष्वपि तथा भविष्यति इति अतः आहुः **भक्तमात्रासक्तः** इति, **भक्तमात्रेषु आसक्तः** इति अर्थः. मात्रत्वकथनेन अनन्यत्वाभावेऽपि तत् सम्पाद्य कृपयति इति भावः.

(५)**सर्वासक्तः** इति, अन्तरङ्गव्यतिरेकेषु तथा तेषु न इति आहुः **भक्तमात्र...** इति, सर्वात्मभाववत्सेवायाम् आसमन्तात् **सक्तो** यथा स्वामिनीषु भगवान् अत्र, सर्वएव भगवद्गुणाः निरूपिताः, आसक्तिविषयेषु स्वरूपं

बोधयति.

(६)**सर्व...** इति, भक्तातिरिक्तेषु **सर्वेषु** स्वगेहीयेष्वपि **असक्तः** किन्तु भक्तमात्रेषु आसक्तः. अतः तान् मोहयति भक्तान् ज्ञापयति इति विभागः. आत्यन्तिकानुभवेतु भगवदतिरिक्तस्य सर्वस्यैव आन्तररमणबाधकत्वात् सर्वत्यागः इति भावः. ननु आभिमानिकसम्बन्धेन किञ्चित् फलन्तु सर्वेषामपि गेहीयानाम् उचितम्. अतएव उलूखलप्रसङ्गे स्वकीयत्वमात्राभिमानेनापि एतावतीम् अभूतपूर्वां कृपां करोति इति उक्तम्.

(७)**सर्वासक्तः** इति, **सर्वासु** श्रुतिषु **आसक्तः**. (तद् उक्तम्) **''अपरिमिताः ध्रुवाः तनुभृतो यदि सर्वगताः''** (भाग.पुरा.१०।८४।३०). [२]यद्वा **सर्वाः** स्त्रियः **आसक्ताः** यस्मिन्. (तद् उक्तम्) **''स्त्रिय उरगेन्द्र-भोगभुजदण्ड-विषक्त-धियः''** (भाग.पुरा.१०।८४।२३). अत्र सर्वासां श्रुतीनाम् आसक्तिनिरूपणेन यशो निरूपितं भवति. पञ्चाशीतितमाध्यायार्थ-बोधकं नाम आहुः **भक्तमात्रासक्तः** इति, **भक्तानां मात्रा** धनं लक्ष्मीः, तस्यां **सक्तः**. तद् उक्तं **''यस्य अहम् अनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः''** (भाग.पुरा.१०।८५।८). [३]यद्वा यावद्भक्ताः **भक्तमात्राः** तेषु **आसक्तः**. अतएव स्वकृताद् बिभ्यन्तं पराधावन्तं कम्पमानं सर्वत्र अलब्धशरणं परमभक्तं शिवं दृष्ट्वा **''दूरात् प्रत्युदियाद् भूत्वा बटुको योगमायया''** (भाग.पुरा.१०।८५।२७). [४]यद्वा **भक्तानां** मातरि लक्ष्म्याम् **आसक्तः**. तद् उक्तं **''प्रायस्ते धनिनो भोजा नतु लक्ष्म्याः पतिं हरिम्''** (भाग.पुरा.१०।८५।१) इति पूर्वम् उक्तम्. यद्वा **भक्तमात्राः आसक्ताः** यस्मिन् सः. तद् उक्तं **''ततो वैकुण्ठम् अगमद् भास्वरं तमसः परम्''** (भाग.पुरा.१०।८५।२५). लक्ष्म्याम् आसक्ति-कथनेन दिव्या श्रीः निरूपिता भवति.

:: उत्थानिका: ::

(१)यद्यपि पूर्वनाम्नि भक्तमात्रासक्तत्वं निरूपितं तथापि प्रकारान्तरेणापि

विशेषतो भक्तमात्रासक्तत्वनिरूपणाय अग्रिमं नाम आहुः —

(२)...

(३)ननु एवं यथासाधनं फलदाने किमपि असाधारणत्वं न भवति तत्र आहुः —

(४/क)असाधारणप्रयोजनार्थम् —
(४/ख)ननु भक्त-मात्रासक्तत्वं भवतु परं तेषां भक्तत्वे किं साधनम् इत्यतः आहुः —

(५)साधारणेषु माहात्म्यमेव इति आहुः —

(६)तत्र येषां प्रतिबन्धकत्वं तेषां तत्प्रतिबन्धेन पापसम्भवात् किञ्चिदपि फलं न भवेत् प्रत्युत पापेन पातः स्याद् इत्यतः आहुः —

(७)षडशीतितमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

पतितपावनः [८६]

:: टीकाः ::

(१)पतितपावनः इत्यत्र **पतितपावनत्वकथनस्य** अयम् आशयो : लोके प्रसिद्धपातकानां भक्तिमार्गीयेषु सर्वात्मना असम्भावितत्वेऽपि यत् पतितपावनत्वकथनं तद् एतन्मार्गीयपतितपावनपरत्वम् इति ज्ञेयम्. ननु एतन्मार्गीयं किं पातकम् इति चेद् उच्यते : यथा मर्यादामार्गे वर्णाश्रमविरुद्धनिषिद्धाचरणेन पतितत्वं तथा एतन्मार्गे साक्षाद्भक्तिमार्गविरुद्धधर्माचरणेनैव पतितत्वम्.

भक्तिमार्गीयेषु भक्तिमार्गविरुद्धधर्माचरणनिराकरणपूर्वकं साक्षाद्भक्तिमार्गीयधर्म-प्रवर्तनेन पावनसामर्थ्यम् आचार्याणामेव न अन्यस्यापि इति ज्ञापनाय उक्तं **पतितपावनः** इति, मार्गान्तरीयपातकानां तत्तत्प्रकरणोक्तैः प्रायश्चित्तैरेव निवृत्तिकथनाद् आचार्यानुपयोगः. अतएव भक्तिमार्गे भक्तिमार्गविरुद्धधर्मकरण-स्यैव पातकत्वज्ञापनायैव सन्न्यासनिर्णयेऽपि आचार्यैः उक्तम् **''अन्यथा पतितो भवेद्''** (संन्या.निर्ण.२२) इति स्वमार्गात् च्युतो भवेद् इति अर्थः ॥२७॥

(२)**पतितपावनः** इति, **पतितान्** ब्रह्महत्यादिमहापातकदूषितान् स्वीकारमात्रेण **पावयति** पवित्रयति इति अर्थः ॥२७॥

(३)**पतितपावनः** (इति), सर्वसाधनशून्यानां प्रत्युत निषिद्धाचरण**पति-तानामपि पावनः**. स्वकरुणादृष्ट्यैव तान् पावयति इति. एतादृशानामपि पावनकरणत्वेन असाधारणत्वं सम्पन्नं भवति इति ज्ञापितम् ॥२७॥

(४/क)**पतितपावनः** इति॥२७॥
(४/ख)**पतितपावनः** इति, पतितान् पावयति इति **पतितपावनः**. तेन तेषां साधनाभावेऽपि तेषां पतितत्वं स्वस्य पावनत्वं च विचार्य तेषु भक्तत्वं सम्पादयति इति अर्थः ॥२७॥

(५)**पतित...** इति, **पतितानामपि पावनः** इति माहात्म्यज्ञानं प्रवृत्तियोजकम् ॥२७॥

(६)**पतित...** इति, प्रमेयबलेन तान् पावयिष्यति इति भावः ॥२७॥

(७)**पतितपावनः** इति, **पत्ये तपन्ति** ते **पतितपाः** ब्राह्मणाः, तान् **अवति**. तद् उक्तं **''त्रिषु अधीशेषु को महान्''** (भाग.पुरा.१०।८६।१), **''भूयांसं श्रद्दधुः विष्णुम्''** (भाग.पुरा.१०।८६।१५), **''इत्थं सारस्वता विप्रा नृणां संशयनुत्तये पुरुषस्य पदाम्भोजसेवया तद्गतिं गताः''**

(भाग.पुरा.१०।८६।२०). [२]यद्वा पतितान् पावयति इति **पतितपावनः**. (तद् उक्तं) ''पुनीहि सहलोकं मां लोकपालान् च मद्गतान्'' (भाग.पुरा.१०।८६।११). [३]यद्वा **पाति** इति पतिः. तपति इति तपः. पतिः च तपः च इति पति-तपौ तौ अवति रक्षति इति **पति-तपा-ऽवनः**. ''अहं प्रजां वां भगवन् रक्षिष्ये दीनयोः इह'' (भाग.पुरा.१०।८६।३०) इति वाक्यात् **पतिः** अर्जुनः. ''**इदं प्रोवाच विलपन् आतुरो दीनमानसः**'' (भाग.पुरा.।१०।८६।२३) इति वाक्यात् **तपः** ब्राह्मणः. ''**अग्निं विविक्षुः कृष्णेन प्रत्युक्तः प्रतिषेधता**'' (भाग.पुरा.१०।८६।४५) इति वाक्येन अर्जुनस्य रक्षां, पुत्रानयनेन ब्राह्मणस्य रक्षां करोति इति तथा. [४]यद्वा **पतितं** पिबति इति **पतितपाः** भूमा पुरुषः तं **अवति** गच्छति. तद् उक्तं ''**दिव्यं स्वरथम् आस्थाय प्रतीचीं दिशम् आविशत्**'' (भाग.पुरा.१०।८६।४७). प्रसङ्गाद् 'अव'धातोः (''अव' रक्षण-गति-प्रीति-कान्ति-तृप्त्यवगम-प्रवेश-श्रवण-स्वाम्यर्थ-याचन-क्रियेच्छा-दीप्त्यवाप्त्याऽलिङ्गन-हिंसा-दान-भोग(भाग)-वृद्धिषु'' पाणि.धा.पा.भ्वा.६३९) अर्थाः अस्मिन् अध्याये प्रदर्श्यन्ते : (रक्षण)''अहं प्रजां वां भगवन् रक्षिष्ये दीनयोः इह'' (भाग.पुरा.१०।८६।३०), (गति)''अकिञ्चनानां साधूनां यम् आहुः परमां गतिम्'' (भाग.पुरा.१०।८६।१७), (प्रीति)''**सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिः**'' (भाग.पुरा.१०।८६।१८), (कान्ति)''**भ्राजन्मणिस्तम्भ-सहस्र-शोभितम्**'' (भाग.पुरा.१०।८६।५३), कान्तिः=शोभा, इच्छायाः पृथगुपादानात्. (तृप्ति)''निर्वृतः तर्पितः तूष्णीम्'' (भाग.पुरा.१०।८६।१३), (अवगम)''**मेने कृष्णानुकम्पितम्**'' (भाग.पुरा.१०।८६।६३), अवगतवान् इति अर्थः. (प्रवेश)''**ततः प्रविष्टौ सलिलम्**'' (भाग.पुरा.१०।८६।५३), (श्रवण)''**श्रवणपुटैः पिबन्ति अभीक्ष्णम्**'' (भाग.पुरा.१०।८६।३१), (स्वाम्यर्थ)''**भूयांसं श्रद्दधुः विष्णुम्**'' (भाग.पुरा.१०।८६।१५), स्वामिनं चक्रुः इति अर्थः. (याचन)''**पाहि पाहि प्रजां मृत्योः इति आह अर्जुनम् आतुरः**'' (भाग.पुरा.१०।८६।३६), (क्रियेच्छा)''**ईजे च अत्यूर्जितैः मखैः**'' (भाग.पुरा.१०।८६।६४), (भाग)''**द्विजात्मजा मे युवयोः दिदृक्षुणा**'' (भाग.पुरा.१०।८६।५९), (दीप्ति)''**तत्र अद्भुतं वै भवनं द्युमत्तमम्**'' (भाग.पुरा.१०।८६।५३), (अवाप्ति)''**सेवया तद्गतिं गताः**'' (भाग.पुरा.१०।८६।२०), अवापुः इति अर्थः. (आलिङ्गन)''**शयानं श्रिय उत्सङ्गे**'' (भाग.पुरा.१०।८६।८), (हिंसा)''**हत्वा नृपान् अधर्मिष्ठान् घातयित्वा अर्जुनादिभिः**'' (भाग.पुरा.१०।८६।६६), (दान)''**विप्राय ददुः पुत्रान्**'' (भाग.पुरा.१०।८६।६२), (वृद्धि)''**भजन्ति अनाशिषः शान्ताः**'' (भाग.पुरा.१०।८६।१८), (भोग)''**पुष्ट्या श्रिया कीर्त्या अजया अखिलर्द्धिभिः निषेव्यमाणं परमेष्ठिनां पतिम्**'' (भाग.पुरा.१०।८६।५७), पतनैक-स्वभावानां पावकत्वेन स्वभाव-विजयरूपो ज्ञानोत्कर्षो अत्र विचारितः.

:: उत्थानिका ::

(१)ननु एतन्मार्गीयपतितपावनसामर्थ्यं यदा आचार्याणाम् उक्तं तज्ज्ञापकासाधारणधर्मज्ञापकम् अग्रिमं नाम आहुः —

(२)...

(३)ननु पतितानामपि पावनत्वेन यदि साधारणमेव फलं दद्यात् तदा साधारणत्वमेव भवति, न असाधारणत्वं तत्र आहुः —

(४/क)तत्प्रकारार्थम् —

(४/ख)ननु तेषां पावनत्वम् अस्तु परन्तु स्वसाक्षात्कारं न दास्यति इत्यतः आहुः —

(५)स्वस्यापि कदाचित् पापसम्भवे चिन्ताभावाय उभयेषामपि भक्तानां स्वरूपमाहात्म्ययोः अनुभवाद् यशोगानद्वारा हृदि आविशन्ति इति आहुः —

(६)तात्पर्येण यैः सह तिष्ठति तान् अधिकारिणः आहुः —

(७)सप्ताशीतितमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

स्वयशोगान-संहृष्ट-हृदयाम्भोज-विष्टरः ८७.

यशः पीयूष-लहरी-प्ला वि ता न्य-र सः [८९]

:: टीकाः ::

(१)**स्वयशोगानसंहृष्टहृदयाम्भोजविष्टरः** इति, **स्वयशोगानेन संहृष्टाः** भक्ताः, तेषां **हृदयानि** भक्तिमार्गीयत्वेन **अम्भोजरूपाणि**, तान्येव **विष्टररूपाणि** आसनरूपाणि यस्य सः. अत्र अयम् आशयो : यदि सर्वात्मना स्वमार्गीयपातकनिवृत्तिः न स्यात् तदा यशसो निर्दुष्टत्वाद् यत्किञ्चिद्दोषसम्भावनायामपि तच्छ्रवणेन हृदये हर्षो न स्यात्. कदाचिद् वस्तुस्वभावाद् हर्षसम्भवेऽपि हृदयस्य भक्तिमार्गीयत्वं न स्यात्. भक्तिमार्गीयत्वाभावे तद्हृदये आचार्याणां स्थितिः न स्यात्. तस्मात् निवृत्तदोषेषु स्वीयेषु हर्षादित्रितयधर्मदर्शनात् स्पष्टमेव पतितपावनत्वम् इति. ननु कथं ज्ञायते तद्धृदये सर्वदा आचार्याणां स्थितिः इति आशङ्कानिरासाय सदा स्थितिज्ञापकम् अग्रिमं नाम आहुः **यशःपीयूषलहरीप्लावितान्यरसः** इति, यदि तेषां हृदये सर्वदा आचार्यस्थितिः न स्यात् तर्हि आचार्याणां **स्वयशोऽमृतलहरीभिः** तेषां हृदये **प्लावितान्यरसत्वं** न स्यात्. यशसः **पीयूषत्वनिरूपणेन** यथा स्वर्गे देवानां पीयूषमेव जीवनहेतुः तथा एतन्मार्गीयाणां तद्यशःपीयूषमेव जीवनहेतुः इति उक्तं भवति.

(२)**स्वस्य यशोगानेन सम्यग् हृष्टानि** प्रफुल्लितानि भक्तानां हृदयकमलानि तान्येव **विष्टरः** आसनं यस्य, तेषु आसनम् इति वा. **यशःपीयूषलहरीप्लावितान्यरसः** इति, गेय**यशोरूपं** यत् **पीयूषम्** अमृतं, तल्लहरीभिः तरङ्गैः **प्लाविताः**, तन्मध्ये पातिताः **अन्ये रसाः** शृङ्गारादयो येन. **यशःपीयूषलहरीभिः प्लाविताः** प्रवाहिताः तुच्छीकृताः **अन्ये रसा** येन इति वा.

(३)**स्वयशोगान**... इति, यदा **स्वकरुणारसार्द्रदृष्ट्या** पतितान् स्नपयति तदा ते पूताः भवन्ति. ततः श्रीमदाचार्याणां स्वरूपं दृष्ट्वा श्रुत्वा वा एते तद्**यशो** गायन्ति. तद्**गानेन सम्यक्प्रकारेण हृष्टानि** उल्लसितानि यानि **हृदयरूपाणि अम्भोजानि**. अम्भोजरूपत्वेन हृदये भक्तिरससरसत्वं

द्योतितम्. तत्र तान्येव वा **विष्टरः** आसनम् उपवेशनं यस्य. अम्भोजस्य आसनत्वकथनेन तेषां हृदये ब्रह्मरूपो भूत्वा निरन्तरं भावसृष्टिम् उत्पादयति इति भावः सूचितः. एवं क्रमेण तद्भावोदयेन असाधारणफलमपि ददाति इति सर्वम् अनवद्यम्. ननु कथं ज्ञायते भावान् उत्पादयन्ति? तत्र आहुः **यशः**... इति, निरन्तरं साक्षाद्भगवत्सम्बन्धिभावोदयेन तत्सम्बन्धाभावजनितप्रचुरार्तितापेन जीवनाशक्यत्वे सम्पन्ने तदेव **स्वयशः** श्रीमल्लीलामाहात्म्यरूपं तेषाम् अमृतरूपं जातं; तदवलम्बनेनैव तज्जीवस्थितिः भवति, तदा तत्स्वयशः**पीयूषलहरीभिः प्लाविताः** प्रवाहिताः भक्तानाम् **अन्ये** सर्वे **रसाः** येन. एतद्व्यतिरिक्तं सर्वं स्वतएव विस्मृतम् इति अर्थः. **'प्लावित'**पदेन अन्यरसगन्धोऽपि न स्थितः. एवं सर्वात्मना प्रपन्नता तद्भावोत्पादनेनैव भवति इति सूचितम्.

(४/क)**स्वयश**... इति. रसान्तरनिवर्तनाय **यश**... इति.

(४/ख)**स्वयशस्**... इति, स्वस्य **यशोगानेन संहृष्टानि** येषां **हृदयाम्भोजानि**, तेषु **विष्टरम्** आसनं यस्य इति अर्थः. यद्वा **स्वस्य** भगवतो यद् **यशोगानं**, तेन **संहृष्टानां** यानि **हृदयाम्भोजानि**, तेषु **विष्टरम्** आसनं यस्य इति अर्थः. यद्वा **स्वयशोगानेन संहृष्टो** भगवान्, कृपया भावात्मकतया कृतानि यानि **हृदयाम्भोजानि**, तेषु **विष्टरं** यस्य इति अर्थः. यद्वा **स्वयशोगानेन संहृष्टः** सन् हृदयेषु यानि **अम्भोजानि** वियोगतापापनोदार्थं स्थापितानि, तेषु **विष्टरं** यस्य इति भावः. अन्यथा तदभावे तैः तेषां मुख-नयन-कर-चरण-स्मारकैः तापाधिक्यं भवेद् इति भावः. ननु यशोगानेन तत्रैव आसनं करोति नतु अन्यत्र, तत् कथम्? इत्यत्र आहुः **यशःपीयूष**... इति, **यशोरूपाः** याः **पीयूषलहर्यः** ताभिः कृत्वा **प्लाविताः अन्यरसाः** येन इति अर्थः. तेन तत्र रसाधिक्यात् स्थितिः इति. यद्वा **यशःपीयूषलहरीभिः प्लाविताः अन्ये रसाः** यस्य सः इति अर्थः. यशसः 'पीयूष'त्वोक्त्या यथा पीयूषयोग्यत्वं देवानामेव तथा एतद्योग्यत्वम् एतन्निवेदनानन्तरं स्वलीलौपयिकदेहेन इति ध्वन्यते. 'लहरी'त्वोक्त्या समुद्रत्वं ध्वन्यते तेन ततोऽपि अगाधत्वं ध्वन्यते. प्लावनोक्त्या

रासलीला-समुद्रत्वं ध्वन्यते. तेन पुनः उद्गमनाभावः सूच्यते. तथैव उक्तं **"तरङ्गोत्क्षिप्त-मोक्षेषु पञ्चाध्यायी-रसाब्धिषु पुनः उत्थानराहित्यं चित्रं बिन्दौ निमज्जनम्"** (. । ।) इति. अन्येषां रसानाम् एतन्मज्जनेनैव रसत्वं न अन्यथा इति भावः. यथा शृङ्गार-रस-साहित्येन अन्येषां रसानां रसत्वं (तथा!) अन्य-रस-मज्जनोक्त्या अस्य रसस्य पुरुषोत्तमात्मकत्वं ध्वन्यते **"रसो वै सः"** (तैत्ति.उप.२।६). इति श्रुत्युक्तं स्वरूपम्. 'रसो'क्त्या श्रीमदाचार्याणां तदात्मकत्वं ध्वन्यते.

(५)**स्वयश...** इति, **स्वस्य यशो** द्विविधभक्तगीयमानं हि द्विविधं तस्य **गाने सम्यक्तया हृष्टम्.** भक्तानां हृदयमेव **अम्बुजं** भक्तिरसमकरन्दसम्भृतम्. तदेव **विष्टरम्** आसनं यस्य, निरन्तरं तत्र वसति इति अर्थः. एतेन यथा कमलासनः कमले स्थित्वा सृष्टिम् उत्पादयति तथा एतेऽपि तत्र स्थित्वा भावसृष्टिम् उत्पादयन्ति इति ज्ञापितम्. यशोमाहात्म्यम् आहुः **यशःपीयूष...** इति, **यश**एव अतिमधुरत्वात् **पीयूषं** तस्य, याः **लहर्यः** प्रतिक्षणं प्रोच्छलद्भावतरङ्गाः, ताभिः **प्लाविताः अन्ये** वैषयिकाः **रसाः** येन. यथा जलपूरेण क्षुद्रजलानि पूयगन्धीनि प्लावितानि भवन्ति तथा अन्ये रसाः इति अर्थः.

(६)**स्व...** इति, **स्वयशोगानेन संहृष्टं हृदयाम्भोजं** येषां, तत्संहितं **विष्टरं** स्थितिस्थलं यस्य, तैः सह तिष्ठति इति भावः. अन्यद् विहाय एतद्यशोगाने हेतुम् आहुः **यश...** इति, **यशःपीयूषलहरीष्वेव प्लाविताः** मज्जिताः **अन्ये रसाः** येन. "एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् **उपजीवन्ति"** (बृह.उप.४।३।३२) इति श्रुतेः.

(७)**स्वयशोगान-संहृष्ट-हृदयाम्भोज-विष्टरः** इति, **स्वस्य यशोगानेन संहृष्टानां हृदयाम्भोजो विष्टरो** यस्य सः. तद् उक्तं **"सुखं स्वपुर्यां निवसन्"** (भाग.पुरा.१०।८७।१), **"उपगीयमानो गन्धर्वैः"** (भाग.पुरा.१०।-८७।८), **"नटानां नर्तकीनां च गीतवाद्योपजीविनाम् क्रीडालङ्कार-वासांसि कृष्णो अदात् तस्य च स्त्रियः"** (भाग.पुरा.१०।८७।१२), **"अप्राप्य मुष्टहृदयाः"** (भाग.पुरा.१०।८७।२३), **"सम्प्रति अपास्त-कमलश्रियः इष्टभर्तुः"** (भाग.पुरा.१०।८७।२३). [२]यद्वा **"विष्टरो विटपी दर्भमुष्टिः पीठाद्यम् आसनं"** (अम.को.३।५।२६७४) तद् उक्तं **"शय्यासनाटनालापः क्रीडास्नानाशनादिषु"** (भाग.पुरा.१०।८७।४६) इति. [३]यद्वा **स्वयशः** (तद् उक्तं) **"कुररि विलपसि त्वम्..."** (भाग.पुरा.१०।८७।१५) इत्यादिरूपम्. तस्य **गानेन संहृष्टानां हृदयाम्भोजानि, विष्टरः** आसनं स्थितिस्थानं यस्य सः. तद् उक्तम् **"इति ईदृशेन भावेन कृष्णे योगेश्वरेश्वरे क्रियमाणेन माधव्यो लेभिरे परमां गतिम्"** (भाग.पुरा.१०।८७।२५). [४]यद्वा स्वस्य जन्मकर्म-रूपं **यशः** तस्य **गानेन संहृष्टानां हृदयाम्भोजानि विष्टराणि** यस्य सः. तद् उक्तं **"श्रुतमात्रोऽपि यः स्त्रीणां..."** (भाग.पुरा.१०।८७।२६). अत्र हृदयाम्भोजानां भगवदासनत्वकथनेन भगवद्व्यतिरिक्तेषु वैराग्यः सूचितः. भगवन्मनस्कत्वेन गुणातीतता सूचिता. दशभिः पदैः दशमस्कन्ध-समाप्तिः सूचिता. समासे दशपदानाम् एकार्थीभवनेन दशविधलीलानां श्रीकृष्णकर्तृत्वं सूचितम्. षोडशाक्षरैः षड्धर्म-सहितस्य दशविधाः लीलाः षोडशकलस्य वा लीलाः, षोडशसहस्र-नायिकापतेः इति वा. तद् उक्तम् **"आसीत् षोडश-साहस्रम्"** (भाग.पुरा.१०।८७।२९). षोडश-शृङ्गार-युक्तस्य वा, चतुर्विधपुरुषार्थसहितस्य पुरुषस्य वा, द्विगुणैश्वर्ययुक्तस्य वा, प्रकृति-पुरुष-रूपेण चतुर्दश-भुवनाधिष्ठातुः वा, पुरुषार्थ-पञ्चकदातुः मनःसहितेन्द्रिय-नायकस्य वा, त्रिविधभक्तानां हितकारिणः त्रयोदश-मासीया वा लीला, चतुरायुधस्य चतुर्भुजैः चतुर्लोकपालानां चतुःपुरुषार्थदातुः वा, अष्टदिक्पालानाम् अष्टविधैश्वर्यदातुः वा, दशानां षड्धर्मदातुः वा, दशविधभक्तिप्राप्यस्य षड्धर्मयुक्तस्य वा, भक्तिदायकस्य वा, नवधा-भक्ति दायकस्य पोषकस्य धर्मसहितस्य वा, षण्णां दशावृत्तिः इति पक्षे षष्टिसंवत्सरकृता वा लीला. एवम् अन्यदपि ऊह्यम्. षोडशतिथिकृता वा इत्यादि. एवं विंशत्यर्थभेदतात्पर्यैः दशविधाः लीलाः दशमस्कन्धे निरूपिताः इति सिद्धम्.॥२८॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरणपादुकैकतानेन
गोस्वामि मथुरानाथसूरि-सूनुना द्वारकेशेन
विरचितायां सर्वोत्तम-स्तोत्र-विवृत्तौ

दशमस्कन्धोत्तरार्द्धार्थकानि नामानि विवृतानि

श्रीमदाचार्य-चरण-रजःसिध्मासु(संलिप्सु !)ना मया।
भावप्रौढ्या कृतं सर्वम् अङ्गीकुर्वन्तु तेऽधुना॥

चम्पकारण्य-जन्मानां तैलङ्गकुल-भूषणम्।
श्रीविट्ठलेशजनकं वन्दे श्रीवल्लभाभिधम्॥

अथ मुक्तिलीलारसरूपैकादशस्कन्धार्थबोधकानि नामानि निरूपयन्तः श्रीमद्वल्लभनन्दनाःपुष्टिमार्गीय-भक्त्यासक्त्युपयोगरूप-सायुज्यप्रकरणोपपादित-सप्तमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **यशःपीयूषलहरीप्लावितान्यरसः** इति. **यशएव पीयूषं** तस्य **लहरीभिः प्लाविताः अन्ये रसाः** येन. अत्र अयं भावः : पूर्वं निरोधलीलायां दलद्वयात्मकस्य पूर्णशृंगाररसस्य अनुभवः कारितः. अतः परं मुक्तिलीलायां लीलानुभवः कार्यते. सच इहलोके दर्शनयोग्यो न भवति. अतः परोक्षेणैव कार्यो मुख्याधिकारिणाम्. मन्दमध्यमानान्तु स्थित्यर्थं **यशः** स्थापितं तदपि अनन्तत्वाद् अगाधत्वाद् अक्षोभ्यत्वात् आनन्दमयत्वेन प्रसन्नत्वाद् गभीरत्वादिभ्यः च जलधिरूपः. सएव भगवदीयत्वात् **पीयूषरूपत्वात्** च **लहरीभिः** तरङ्गैः **अन्ये** लौकिकाः **रसाः प्लाविताः** विस्मारिताः. (तद् उक्तं) "**समुद्रः सप्तमे अहनि एतां पुरीं च प्लाविष्यति**" (भाग.पुरा.११।७।३), यदुवाक्यं "**प्रायो धर्मार्थकामेषु विवित्सायां च मानवाः हेतुनैव समीहन्ते आयुषो यशसः श्रियः**" (भाग.पुरा.११।७।२७) (इति) भगवद्वाक्यम् अमृतभाषणम्. उद्धववाक्यं "**सत्यस्य ते सदृश आत्मनो अन्यं वक्तारम् ईश! विबुधेष्वपि न अनुचक्षे, सर्वे विमोहितधियः तव मायया इमे ब्रह्मादयः तनुभृतो बहिः अर्थभावाः**" (भाग.पुरा.११।७।१७), "**नाति स्नेहप्रसङ्गो वा**" (भाग.पुरा.११।७।५२) इत्यादिभिः अन्यरसानां प्लावकथनेन कायिकदोषनाशरूपो अध्यायार्थः प्रदर्शितः सप्तभिः पदैः. सप्तमाध्यायाद् आरभ्य नामार्थयोजनं सूचितम्. चतुर्दशाक्षराणि सप्तपदानि तैः चतुर्दशभुवनाधिपतिना अथवा चतुर्दशविद्याप्रतिपाद्येन षड्धर्मसहितधर्मिणा सह सायुज्यम् इति सूचितम्.

:: उत्थानिकाः ::

(१)ननु आचार्ययशसः कथं तदितरसर्वरसप्लावकत्वम् इति आशङ्कानिरासाय अग्रिमं नाम आहुः—

(२)...

(३)ननु एतेषां सर्वरसप्लावकत्वं कथं? तत्र आहुः—

(४/क)मुक्तार्थम्—
(४/ख)तदेव अग्रिमं नाम आहुः—

(५)एतद्यशोमाहात्म्यमेव यशसः एतादृशत्वे हेतुम् आहुः—

(६)अतएव—

(७)अष्टमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः—

:: मूलम् ::

परः[८९] **लीलामृत-रसार्द्रार्द्रीकृताखिल-शरीरभृत्**[९०]

:: टीकाः ::

(१)परः इति, अक्षरात् **परः** अगणितानन्दः पुरुषोत्तमः इति अर्थः. तेन आचार्ययशसः तदितररसप्लावने उपपत्तिः उक्ता भवति॥२८॥ एवम् आचार्ययशसा तदीयानां सर्वरसप्लावकत्वम् उपपाद्य भगवल्लीलारसेनापि बाह्याभ्यन्तरभेदेन पूरकत्वज्ञापनाय अग्रिमं नाम आहुः **लीलामृत-रसार्द्रार्द्रीकृताखिल-शरीरभृद्** इति, **लीला**रूपो यः **अमृतरसः**, तेन **आर्द्रार्द्रीकृताः अखिलाः** स्वकीयाः **देहभृतो** येन सः. **'आर्द्र'**पदस्य

द्विरुक्त्या बाह्याभ्यन्तरभेदेन सरसत्वं ज्ञापितं भवति. एतेन बाह्याभ्यन्तरभेदेन अत्यन्तम् आर्द्रं वस्त्रं यथा स्वजातीयं शुष्कमपि स्वसम्बद्धमात्रमपि आर्द्रं करोति तथा आचार्यैः लीलामृतार्द्रीकृताः भक्ताः स्वसम्बन्धात् स्वजातीयमपि आर्द्रं कुर्वन्ति इति ज्ञापनायापि उक्तं **लीलामृत-रसार्द्रार्द्रीकृताखिल-शरीरभृद्** इत्यादि.

(२)**परः** इति, पिपर्ति स्वीयान् पूरयति वा भक्तेच्छाम् इति **परः**॥२८॥ **लीलामृत-रसार्द्रार्द्रीकृताखिल-शरीरभृद्** इति, लीलामृत-रसार्द्रार्द्री-**कृताखिलाः** सर्वे **शरीरभृतो** भक्ताः येन सः.

(३)**परः** इति, रसरूपेषु सर्वोत्कृष्टो यतः॥२८॥ ननु कथं ज्ञायते सर्वोत्कृष्टत्वं तत्र आहुः **लीलामृत...** इति, यथा महासमुद्रपूरो यदा वर्द्धते तदा सर्वं प्लावयित्वा स्वरसेनैव सर्वं मग्नं करोति. पुनः-पुनः पूर्ववृद्ध्या तत्र **आर्द्रता** कदापि न गच्छति तथा अत्र तादृश**लीलामृतरसाब्धिपूर-**वृद्ध्या सर्वप्लावनेन **आर्द्रार्द्रीकृताः** समस्ताः **शरीरभृतः** स्वकीयाः येन. '**आर्द्र**'पदस्य द्विरुक्त्या एकलीलारसामृतेन आर्द्राएव तदैव अन्यलीलारसेन पुनः आर्द्राः भवन्ति. एवम् अनेकाः लीलाः, तत्तल्लीलामृताब्धिपूरेण सर्वदा आर्द्राएव तिष्ठन्ति इति ज्ञापितम्. यथा समुद्रस्य एकतरङ्गेण आर्द्रतायां विद्यमानायामेव द्वितीयः तरङ्गः आयाति, तेन सर्वदैव आर्द्रता तत्र तिष्ठति. तथा अत्र लीलामृतसमुद्ररूपं श्रीमदाचार्यस्वरूपं तत्र तदमृतपूरे प्रवृद्धे कथनद्वारा तरङ्गाइव तत्तल्लीलाभावाः उच्छलन्ति. तत्तरङ्गरूपैः तैः पुनः-पुनः सर्वदा आर्द्राएव तिष्ठन्ति इति भावः. यद्वा तद्रसार्द्राः ये भक्ताः तै तथा कृता अखिलाः शरीरभृतो येन इतिपरम्परयापि रसस्य महत्त्वं सूचितम्. अतः 'शरीरभृद्' इतिपदेन शरीरमात्रमेव साक्षात्फलानुभवे व्यवधायकं न अन्यदिति सूचितम्. एवं सति सर्वोत्कृष्टत्वं सर्वप्लावकत्वं च स्पष्टीकृतम्.

(४/क)**परः** इति, परं दृष्ट्वा निवर्तते इति॥२८॥ लीलासहितस्वस्थिति-ज्ञापनाय **लीला...** इति.

(४/ख)**परः** इति, पुरुषोत्तमः इति अर्थः॥२८॥ ननु पुरुषोत्तमस्य पूर्वसिद्धत्वात् लीलायाश्च श्रीमदाचार्याणाम् एतावत्करणं किं प्रयोजनकम्? इति आकांक्षायाम् आहुः **लीलामृत...** इति. **लीलामृत-रसार्द्र**तया **आर्द्रीकृताः अखिलाः शरीरभृतो** येन. यद्वा **लीलामृत**रसात्मिकाःयस्य, एतादृशो भगवान्; तेन आर्द्रार्द्रीकृताः अखिलाः शरीरभृतो येन इति अर्थः. यद्वा **लीलामृतरसार्द्रो** भगवान् तदर्थम् **आर्द्रीकृताः** स्त्रीभावात्मिकाः कृताः **अखिलाः शरीरभृतो** येन इति अर्थः. '**शरीरभृत्**'शब्देन तेषां तद्धारणं सार्थकं करोति इति भावः. यथा भ्रमरगीते श्रीमदुद्धववाक्यम्, "**एताः** परं तनुभृतो ननु गोपवध्वः" (भाग.पुरा.१०।४४।५८) इति. तथा एतेषां शरीरधारणं सार्थकं करोति इति भावः.

(५)**परः** इति, **परः** सर्वोत्कृष्टः पुष्टिस्थपुरुषोत्तमः इति अर्थः॥२८॥ अतएव अत्र तद्धर्माः इति आहुः **लीलामृत...** इति, यथा भगवता व्रजस्थाः सर्वएव **लीलामृत-रसार्द्रार्द्री-कृताः** प्रेम्णा परिप्लाविताः तथाकृताः येन सः. तथा शरीरधृक्कारेण तएव **शरीरभृतः**, सफलशरीरत्वाद् इति सूचितम्.

(६)**परः** (इति). तैः सह स्थित्वा तेभ्यो यद् उपकरोति तद् आहुः **लीलामृत...** इति, **अखिल**भक्तान् **लीलामृतरसेन आर्द्राद्रीक**रोति इति अर्थः. 'च्वि'ना पूर्वम् अनार्द्रत्वकथनाद् अग्रेऽपि कदाचिद् अनार्द्रत्वं सम्भाव्य पौनःपुन्यार्था द्विरुक्तिः. "**एताः परं** तनुभृतः" (भाग.पुरा.१०।४४।-५८) इति श्लोके भक्तानामेव तनुभृत्त्वम् उपपादितमिति '**शरीरभृत्**'पदेन भक्ताएव.

(७)**परः** इति, पिपर्ति, [१]पूरयति [२]पालयति [३]आस्थापयति [४]अग्रे गच्छति [५]प्रीणाति वा. [१]पूर्वनाम्नि अन्यरसानां प्लावनकथनेन अत्र स्वरसेन पूरणम् अर्थाद् आयाति सागरात् "**समृद्धकामो हीनो वा नारायणपरो मुनिः न उत्सर्पेत न शुष्येत सरिद्भिरिव सागरः**" (भाग.पुरा.११।८।६).

अतएवअग्रेउत्सर्पण-शेषण-प्रलोभ-बहुग्रामहिंसा-संग्रह-युवतिस्पर्श-स्त्र्यधिगम-दुःखसञ्चय-ग्राम्यगीतश्रवण-रसविमोह-लौकिकाशानां निषेधाः युज्यन्ते. आलौकिकाशानिषेधप्रतिप्रसवस्य भ्रमरगीते सत्त्वात्. [2]यद्वा पालयति इति परः **"शयीत अहनि भूरीणि निराहारो अनुपक्रमो यदि न उपनमेद् ग्रासो महाहिरिव दिष्टभुक्"** (भाग.पुरा.११।८।३). 'भुज' पालनाभ्यवहारयोः पूरयति **"अनन्तपारो ह्यक्षोभ्यः स्तिमितोदःइव अर्णवः"**(भाग.पुरा.११।८।५) [4]प्रीणाति तद् उक्तं **"नूनं मे भगवान् प्रीतो विष्णुः केनापि कर्मणा, निर्वेदो अयं दुराशायाः यद् मे जातः सुखावहः"**(भाग.पुरा.११।८।३७). [5]यद्वा पिङ्गलां स्वरसेन पूरयति. तद् उक्तं **"सन्तं समीपे रमणं रतिप्रदं वित्तप्रदं नित्यम् इमं विहाय अकामदं दुःखभयादिशोकमोहप्रदं तुच्छम् अहं भजे अज्ञा"**(भाग.पुरा.११।८।३१) वाण्या स्त्रीरूपायाः दोषनाशः परशब्देन उत्कृष्टवाचकेन निरूपितः. नवमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **लीलामृतरसाद्राद्री-कृताखिलशरीरभृद्** इति, **लीलैव अमृतरसः** तेन **आर्द्रैः आर्द्रीकृताः अखिलाः** सर्वे **शरीरभृतो** जीवाः येन सः. अनायाससाध्यं कार्यं हि लीला **"यथा ऊर्णनाभिः हृदयाद् ऊर्णां सन्तत्य वक्त्रतः तया विहृत्य भूयः ताम् ग्रसति एवं महेश्वरः"**(भाग.पुरा.११।९।२१) लीलैव अमृतरसः. तद् उक्तं **"कीटः पेशस्कृतं ध्यायन् कुड्यां तेन प्रवेशितः याति तत्सात्मतां राजन्! पूर्वरूपम् असन्त्यजन्"** (भाग.पुरा.११।९।२३) इति. **अखिलाः शरीराः** भृताः येन. **"एकएव अद्वितीयो अभूद् आत्माधारो अखिलाश्रयः कालेन आत्मानुभावेन साम्यं नीतासु शक्तिषु"** (भाग.पुरा.११।९।१७), **"सृष्ट्वा पुराणि विविधानि अजया आत्मशक्त्या वृक्षान् सरिसृपपशून् खगदंशमत्स्यान् तैस्तैः अतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय ब्रह्मावलोकधिषणं मुदम् आप देवः"**(भाग.पुरा.११।९।२८) इत्यादि. (यद्वा) **लीलामृतरसेन आर्द्रो** यद् दत्तात्रेयः तद्द्वारा **आर्द्रीकृताः** यदुप्रभृतयो **अखिलशरीरभृतो** जीवाः येन. **"एवं सञ्जातवैराग्यो विज्ञानालोक आत्मनि विचरामि महीम् एतां मुक्तसंगो अनहंकृतिः"** (भाग.पुरा.११।९।३०) **"अवधूतवचः श्रुत्वा पूर्वेषां नः स पूर्वजः सर्वसंगविनिर्मुक्तः समचित्तो बभूव ह"**(भाग.पुरा.११।९।३३) इत्यादि च. **लीलामृतरसेन आर्द्राः आर्द्रीकरणेन** मानसदोषनाशरूपो अध्यायार्थो

निरूपितः.

:: उत्थानिका ::

(१)एवं कृपया लीलामृतरसेन भक्तान् पूरयित्वा स्वप्रियस्थानज्ञापनाय अग्रिमं नाम आहुः —

(२)...

(३)ननु कदाचित् तल्लीलामृतेन सर्वेषाम् आर्द्राद्रीकरणाद् रसस्य न्यूनता भवेत् यथा पर्वोपरमे समुद्रस्येति तत्र आहुः —

(४/क)लीलामात्रपरत्वाय —

(४/ख)एवं लीलामृतरसार्द्रीकरणं स्वीयेषु उक्त्वा स्वस्य स्थितिः कुत्र इति आशङ्क्य स्थितिम् आहुः —

(५)एवं लीलाकरणम् उक्त्वा तदधिकरणम् आहुः —

(६)स्थितिस्थलम् आहुः —

(७)दशमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

गोवर्धनस्थित्युत्साहः ९० तल्लीलाप्रेमपूरितः ९१

:: टीका ::

(१)गोवर्द्धनस्थित्युत्साहः इति, **गोवर्धनस्थितावेव उत्साहः** अध्यवसायो निश्चयो यस्य सः. एवं स्वस्थितिज्ञापनेन स्वीयानां स्वस्थानस्वरूपं

ज्ञापितं भवति. ननु गोवर्धनस्थितावेव उत्साहे को हेतुः ? इति आशङ्कानिरासाय अग्रिमं नाम आहुः **तल्लीलाप्रेमपूरितः** इति, तस्य गोवर्धनस्य उद्धरणेन **"तस्माद् मच्छरणं..."** (भाग.पुरा.१०।२२।१८) इति विचार्य सर्वतः पृथक्कृत्य केवलस्वीयत्वसम्पादनपूर्वकं क्षुत्तृडादि-बाधानिवर्तक-स्वरूपानन्द-दानपूर्विका रक्षारूपा या **लीला** तज्जनितं यत् **प्रेम** तेन **पूरितः**॥२९॥

(२)**गोवर्धनस्थित्युत्साहः** इति, **गोवर्धने स्थितौ** स्थितिनिमित्तः **उत्साहः** औत्कण्ठ्यं यस्य. **तल्लीलाप्रेमपूरितः** इति, श्रीगोवर्धनसम्बन्धि**लीला**जनितं यत् **प्रेम** तेन **पूरितः**॥२९॥

(३)**गोवर्धनस्थिति...** इति, तस्यां तया वा **उत्साहो** मानसोल्लासो यस्य इति न न्यूनताभावः सूचितः. ननु तत्स्थित्या मानसोल्लासे सति कथं न्यूनताभावः तत्र आहुः **तल्लीला...** इति, निरन्तरं तत्प्रेमरसपूर्णएव. अयं भावो : यदा श्रीगोवर्द्धनोद्धरणं कृतं तदा पूर्वन्तु **"वयं नित्यं वनशैलनिवासिनः"** (भाग.पुरा.१०।२१।२४) इति भगवत्कृत-श्रीगोवर्द्धनमहोत्सव-जनित-परमानन्दरसभरेण आर्द्राएव भक्ताः, पुनः इन्द्रकृतवर्षानन्तरं परमाश्चर्यरूपं श्रीगोवर्द्धनोद्धरणेन केवलस्वकीयत्वराज्यदाने सकलभक्त-समाजे एकत्रैव मिलिते पुनः तत्तद्भक्तनिष्ठ-स्नेहभरजनित-परमानिर्वचनीय-रसामृताब्धिपूरोल्लास-तरलीकृत-स्वकटाक्षामृत-तरङ्गविलासैः अत्यन्तम् अ-भिषिक्तत्वेन आर्द्रीकृताः, पुनः स्वस्वमनोरथपूर्वकं कोटि-कन्दर्पलावण्याधिक-माधुर्यसीम-तत्तदङ्गस्पर्श-प्रोञ्छन-तादृशरसोद्विकसित-श्रीमुखावलोकनस्पर्शादि-लीलासुखजनित-परम-रसामृतेन आर्द्रीकृताः. पुनः श्रीमति गिरौ यथास्थाने कृते भगवति तादृक्स्नेहेनैव आरात्र्यादिकरणे जलादिकं वारयित्वा तत्पानेन परमानन्दिताः इत्येवं **तल्लीलाप्रेमपूर्णाः** जाताः यथा तथा आचार्याणामपि तल्लीलामध्यपातित्वेनैव तादृशप्रकारकलीलाप्रेमपूरितत्वम् उक्तम्. यद्वा अत्र **'पूरित'**पदम् 'अच्'प्रत्ययान्तं ज्ञेयम्. तदा **'तल्लीला'**पदेन गोवर्द्धने याः लीलाः कृताः ताः सर्वाएव वाच्याः, नतु केवलं गोवर्द्धनोद्धरणसामयिकाएव. एवं सति तास्ताः रासादिपर्यन्ताः लीलाः तासां **प्रेम**जनिताः **पूराः**

ते सञ्जाताः यत्र. तद्युक्ताः इति अर्थः सम्पन्नः. एतेन यथा तरङ्गाः समुद्रएव उत्तिष्ठन्ति बहिर्निर्गत्य सर्वत्र आर्द्रं कृत्वा पुनः समुद्रएव तिष्ठन्ति तथा आचार्याणां लीलाप्रेमपूरसञ्जातत्वकथनेन तद्रसपूराः तरङ्गाः कथनद्वारा बहिः निःसृत्य स्वकीयान् आर्द्रार्द्रीकृत्य पुनः तत्रैव तिष्ठन्ति इति सूच्यते. तेन आचार्याणां लीलासमुद्रत्वं निरूपितं भवति. यथा समुद्रतरङ्गयोः एकरूपता तथा एतत्स्वरूपतज्जातरसभावयोरपि इति सूचितम्. तेन अगाधत्वं पूर्णत्वं सर्वदा उद्वेलत्वं तिष्ठति इति उक्तम्. एवं सति न कदापि रसन्यूनता. तत्रैव स्थित्या एतद्रसानुभवो भवति न अन्यत्र इत्यतएव उल्लासोऽपि इति सर्वम् अवदातम्. किञ्च एवं लीलामृतरसार्द्रार्द्रीकरणेन आचार्यैः स्वीयानां केवलं स्वीयताराज्याभिषेकएव कृतः इति निगूढाशयोऽपि ज्ञापितः इति भावः॥२९॥

(४/क)**गोवर्धन...** इति. तन्मयत्वाय **तल्लीला...** इति॥२९॥

(४/ख)**गोवर्द्धन...** इति, **गोवर्द्धने स्थित्यर्थम् उत्साहो** यस्य इति अर्थः. यद्वा **गोवर्द्धने स्थितिः** यस्य, असौ गोवर्द्धनस्थितिः भगवान्, सएव **उत्साहो** यस्य इति भावः. यद्वा **गोवर्द्धनः** प्रभुः, तदर्थं या स्वस्य **स्थितिः,** सैव **उत्साहो** यस्य इति भावः. एवं स्थितिम् उक्त्वा स्थितौ प्रयोजनम् आहुः **तल्लीला...** इति. तत्स्थितौ या **लीला** तत्**प्रेम्णापूरितः** इति अर्थः. यद्वा **तस्मिन् लीला**करणेन तस्य **प्रेम,** तेन **पूरितः** इति अर्थः॥२९॥

(५)**गोवर्धन...** इति, सोहि गुणातीतो हरिदासवर्यो भगवल्लीलासाधको **गोवर्द्धनो,** भगवतो रसानुभाविकाः गावः, तासां वर्द्धनः. यद्वा भगवान् तदुच्चशिखरारूढो मेघगम्भीरया वाचा गाः समाह्वयति इति **गोः** वाणी तस्याः **वर्द्धनः**. तथा उच्चस्थाने वाणीवृद्धिः लोकसिद्धा, तादृशे **स्थितौ उत्साहः** परमानन्दो यस्य, पूर्वस्वलीलाधारत्वात् पुष्टिस्थानत्वात् तत्र उत्साहः उचितएव. अनेन पृथ्वीपर्यटने कुत्रापि न उत्साहः इति सूचितम्. अग्रे ततएव आहुः **तल्लीला...** इति, शिखरनिकरगह्वरकन्दरादिषु तत्सम्बन्धिन्यो

याः **लीलाः** तज्जनितं **प्रेम**वत् तत्सम्बन्धि वा, **''यद् रामकृष्णाचरण...''** (भाग.पुरा.१०।१८।१८) इत्यत्र निरूपितम्. ताभ्यां नखशिखपर्यन्तं **पूरितः** सर्वदा तदाविष्टएव इति अर्थः ॥२९॥

(६)**गोवर्धन...** इति, प्रयोजनार्थम् अन्यत्र **स्थिता**वपि **उत्साहः** तत्रैव इति भावः. तत्र हेतुः **तल्लीला...** इति, तत्र याः **लीलाः** तत्प्रेम्णैव **पूरितः** रासस्त्रीभावपूरितत्वाद् इति भावः. अयन्तु हेतुः पूर्वम् उक्तोऽपि अवसरे पुनः स्मारितः.

(७)**''गोः ना आदित्ये बलीवर्दक्रतुभेदर्षिभेदयोः स्त्री तु स्याद् दिशि भारत्यां भूमौ च सुरभावपि. नृस्त्रियो स्वर्गवत् जाम्बुरश्मिदृग्बाणलोमसु''** (   ) इति कोशात्. **गौः** यज्ञः **गोभिः** यज्ञैः **वर्धते** इति **गोवर्धनः** स्वर्गः. तत्र मानं यागात् स्वर्गो भवति इति श्रुतिः. तस्मिन् **स्थितौ उत्साहो** यस्मात्. **''तेनापि निर्जितं स्थानं यथा गच्छति तत् श्रुणु इष्ट्वा इह देवता यज्ञैः स्वर्लोकं याति याज्ञिकः''** (भाग.पुरा.११।१०।२२-२३) इत्यादि. [२]यद्वा **गवा** भगवद्वाचा **वर्धते** असौ गोवर्धनो धर्मः. तत्र **स्थितौ** इत्यादि. **''मया उदितेषु अवहितः स्वधर्मेषु मदाश्रयः''** (भाग.पुरा.११।१०।१) इत्यादि. [३]यद्वा **गोवर्धनो** गिरिः, सच वनानाम् उपलक्षकः तेन गिरिवनादिषु **स्थितौ उत्साहो** अस्य. **'निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परः त्यजेद् जिज्ञासायां सम्प्रवृत्तो नाद्रियेत् कर्मचोदनाम्''** (भाग.पुरा.११।१०।४). अत्र गृहादित्यागपूर्वकगिरिवनादिषु स्थितिकथनेन बाह्ययुक्तिनिरूपणरूपो अध्यायार्थः प्रदर्शितः. एकादशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **तल्लीलाप्रेमपूरितः** इति, सा च असौ बन्धमोक्षप्रकारेण बद्धमुक्तजीवोत्पादनरूपा लीला च **तल्लीला** तस्याः **प्रेम्णा पूरितः**. **''बद्धो मुक्तः इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतो गुणस्य** मायामूलत्वात् **न मे मोक्षो न बन्धनः''** (भाग.पुरा.११।११।१) इत्यादि. [४]यद्वा विरुद्धधर्मिणो धर्मार्थकाममोक्षैः एकत्र स्थितिरूपा **''अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्यं वदामि ते विरुद्धधर्मिणोः तात स्थितयोः एकधर्मिणि''** (भाग.पुरा.११।११।५)

इत्यादि. इन्द्रियादिषु स्थानरूपा [५]यद्वा अनुग्रहेण जीवेष्टसंसारासक्त्युत्पादनेन बन्धमोचनरूपा. तद् उक्तं **''न तथा बद्ध्यते विद्वान्... न व्यतिक्रियते बुधः''** (भाग.पुरा.११।११।१२-१५). [६]यद्वा कर्मवासनासंकल्पनाशनेन देहगुणविमोचनरूपा. तद् उक्तं **''यस्य स्युः वीतसंकल्पा प्राणेन्द्रियमनोधियाम्''** (भाग.पुरा.११।११।१४) इत्यादि. [७]यद्वा व्यतिकरीभाव-स्तुत्यभाव-निन्दाभाव-गुणदोषवर्जन-समदृष्टि-मननशीलत्व-कर्माभाव-वाचाभाव-ध्यानाभाव-आत्मारामत्व-परब्रह्मनिष्णाततत्व-व्यर्थपञ्चवस्तुसम्बन्धाभाव-भगवज्जन्मवर्णन-व्यतिरिक्तगीरधारण-भगवत्कर्मवर्णनातिरिक्तवागपोषण-रूपसद्धर्मरूपा. तद् उक्तं **''यस्य आत्मा हिंस्यते हिंस्रैः''** इत्यारभ्य **''लीलावतारेप्सित जन्म वा स्याद् वन्ध्यां गीरं तां बिभृयान्न धीरः''** (भाग.पुरा.११।११।१५-२०) इत्यन्तम्. [८]यद्वा भक्तिः हर्यनुवर्तिनां हरेः च अनुचरितरूपा. **''एवं जिज्ञासया अपोह्य... निरपेक्षः समाचरः''** (भाग.पुरा.११।११।२१-२२) इति श्लोकद्वयोक्ता **''एवं जिज्ञासया अपोह्य... मयि उद्धव! सनातने''** (भाग.पुरा.११।११।२१-२४) इति श्लोकचतुष्टयोक्ता. [९]यद्वा श्री-उद्धवप्रश्नानन्तरं **''कृपालुः अकृतद्रोहः... मे भक्ततमाः मताः''** (भाग.पुरा.११।११।२९-३३) इत्यादिपद्यपञ्चके भक्तलक्षणं निरूप्य **''मल्लिंग-मद्भक्तजन... सुहृत्सखा''** (भाग.पुरा.११।११।३४-४९) इति शृङ्गारावयवरूपैः षोडशभिः पद्यैः उक्ता शृंगाररसरूपस्य भगवतो निरोधलीला. [१०]यद्वा व्रजसुन्दरीभिः या लीला सा परामृश्यते. तदातु ताः प्रति ताभिः ताभ्यः तासां तासु वा लीला. तद् उक्तं **''अथ एतत् परमं गुह्यं... सुहृत् सखा''** (भाग.पुरा.११।११।४९) इत्यादिना अत्र व्रजसुन्दरीसम्बन्धिलीला प्रेम्णा पूरितत्वकथनेन आन्तरयुक्तिः निरूपिता.

:: उत्थानिकाः ::

(१)ननु आचार्याणां प्रभुकृतसर्वरसलीलापूर्णत्वे सत्यपि अधुना श्रीगोवर्द्धनोद्धरणलीलाप्रेमपूरितत्वकथने को हेतुः ? इति आशङ्कानिरासाय अग्रिमं नाम आहुः—

(२)...

(३)ननु एवं केवलस्वीयत्वराज्यमेव भक्तानां सम्पादितवन्तः इति कथं ज्ञायते असाधारणज्ञापकाभावात्? तत्र आहुः —

(४/क)हृदये स्वस्थितभगवद्भोगाय —
(४/ख)तल्लीलामेव अग्रिमनाम्ना आहुः —

(५)एवं पुष्टिलीलाविष्टत्वम् उक्त्वा सर्वभक्तनिरोधकतत्रत्यलीलान्तरकर्तृत्वम् आहुः —

(६)ननु "अदेदानदक्षश्च" (सर्वो.११) इत्यादिना आस्यत्वम् उक्तं, तेन सेव्यत्वम् आयाति. अन्यैश्च नामभिः तस्यैव सेवकत्वम् उक्तं तथाच विरुद्धम् उभयम् एकत्र कथं सम्भवति? इति आशङ्क्य न अधुनैव अयं धर्मः किन्तु पूर्वसिद्धः इति आहुः नामद्वयेन —

(७)द्वादशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

यज्ञभोक्ता[९३] **यज्ञकर्ता**[९४]

:: टीका: ::

(१)यज्ञभोक्ता इति, अत्र अयम् आशयो : यद्यपि **यागदत्तबलिभोज**नानन्तरं गोवर्धनोद्धरणं कृतं तथापि श्रीगोवर्धनोद्धरणे बलिभोजनस्यैव हेतुत्वं भोजनेच मुखस्यैव हेतुत्वम् इति आशयः. यद्यपि **"शैलो अस्मि इति अवदद् भूरिबलिम् आदद् बृहद्वपुः"** (भाग.पुरा.१०।२१।३५) इति वचनाद् भगवतएव भोक्तृत्वं तथापि आचार्याणाञ्च तन्मुखरूपत्वेन तद्भोक्तृत्वम्

आचार्याणामेव इति ज्ञापनाय उक्तं **यज्ञभोक्ता** इति. ननु यद्यपि आचार्याणां यज्ञभोक्तृत्वम् अस्ति तथापि यागकरणव्यतिरेकेण भोक्तृत्वं न सम्भवति इति यागकरणस्यैव पूर्वं निरूपणम् उचितम्. तथापि इन्द्रस्य वृष्टिकरणे साक्षाद्बलिभोजनस्यैव हेतुत्वं, बलिभोजने यागकरणस्यैव हेतुत्वमिति उभयोः साक्षात्परम्पराहेतुत्वज्ञापनाय व्यत्यासेन निरूपणम् इति ज्ञापनाय पश्चाद् **यज्ञकर्ता** इति उक्तम्. ननु यद्यपि अस्य यागस्य गोसवत्वेन वेदाप्रसिद्धत्वेन केवलं भगवदुपदिष्टत्वेन भगवतएव कर्तृत्वत्वम् आयातीति कथम् आचार्याणां यज्ञकर्तृत्वम् उक्तम्? इति चेत् सत्यं, यद्यपि उपदेशद्वारा तत्कर्तृत्वं भगवतएव तथापि उपदेशस्य वाग्रूपत्वेन तदधिष्ठातृत्वम् आचार्याणामेव इति कर्तृत्वम्. तत्रैव पर्यवस्यति इति ज्ञापनाय उक्तं **यज्ञकर्ता** इति.

(२)**यज्ञभोक्ता** इति, अग्निहोत्रादियज्ञस्य अग्निमुखेन हूयमानस्य **भोक्ता** स्वीकर्ता, पालकः इति वा. **यज्ञकर्ता** इति. **यज्ञानाम्** अग्निष्टोमादीनां **कर्ता**, यष्टा इति अर्थः.

(३)**यज्ञभोक्ता** इति, यथा भगवान् स्वीयानां केवलस्वीयत्वसम्पादनार्थमेव इन्द्रयागभङ्गं कृत्वा शैलयागे रचिते **"शैलो अस्मि"** (भाग.पुरा.१०।२१।३५) इति साक्षात्तु अयमेव भुक्तवान् तथा आचार्याणां तदास्यरूपत्वेन **यज्ञभोक्तृ**त्वकथनात् स्वीयानामपि तत्सम्पादनार्थं तत्समर्पितपदार्थानां भोगं स्वयं साक्षादेव करोति इति ज्ञाप्यते इति तत्त्वमपि तेषां सम्पद्यते इति भावः. ननु जीवसमर्पितानां भोगं कथं कुर्वन्ति तत्र आहुः **यज्ञकर्ता** (इति), यथा सर्वं त्याजयित्वा तेषां केवलस्वीयत्वसम्पादनाय स्वयमेव शैलयाग**कर्ता** स्वयमेव भोक्ता जातः. तथा अत्र आचार्याणां तदास्यरूपत्वेन श्रीनन्दादिषु इन्द्रयागनिवृत्तिपूर्वकं शैलयागकरणार्थं भगवदुक्ता या वाक्, तद्रूपत्वात् यागकर्ता इति नामकथनाद्, भक्तानां केवलस्वीयत्वसम्पादनाय सर्वं त्याजयित्वा फलरूपसेवाकरणोपदेशो, तत्र तत्स्वयंसम्पादितपदार्थानां समर्पणप्रकारोऽपि स्वयमेव उपदिष्टः. तेनैव तत्कर्तृत्वम्. अतः स्वकृतत्वादेव साक्षात् स्वयं भोक्ताऽपि भवति. तद् उक्तम् **"अद्धा तद्गोपिकेशः"**

(श्रीवल्ल.४) इति, "तदुत निजकृते" (श्रीवल्ल.४) इति. एतेन साधनफलयोरपि ऐक्यं ज्ञापितम्. एवं स्वीयानां सर्वप्रकारेण स्वीयत्वं सम्पाद्य पश्चात् लीलामृतरसेत्युक्तप्रकारकार्द्रार्द्रीकरणेन तद्राज्याभिषेकएव कृतः इति भावः. एतत् सर्वं श्रीमदग्निकुमारेष्वेव प्रकटितमिति स्वानुभवएव उक्तः इति ज्ञायते.

(४/क)**यज्ञभोक्ता** इति. स्वाविष्टत्वेनैव तथात्वज्ञापनाय **यज्ञकर्ता** इति.

(४/ख)**यज्ञभोक्ता** इति, **यज्ञस्य** नन्दादिकृतस्य अन्नकूटस्य **भोक्ता** इति अर्थः. भगवन्मुखारविन्दाग्नि-स्वरूपत्वेन **यज्ञभोक्ता** इति वा. ननु यज्ञभोक्तृत्वे सति गोवर्द्धनात्मकत्वमेव, तस्यच हरिदासत्वेनैव प्रामाण्यात् तत्त्वमेव भविष्यति इति आशङ्क्य भगवत्त्वेन तत्कर्तृत्वम् आहुः **यज्ञकर्ता** इति. नन्दादिभिः साकं गोवर्द्धनस्य गोसवात्मकस्य **कर्ता**.

(५)**यज्ञ...** इति, पुष्टिमार्गे अन्याश्रयो बाधकइति तन्निवारणार्थं केवलस्वीयताराज्याभिषेकार्थम् इन्द्रयागभङ्गं कारयित्वा स्वयागं विधाय भगवान् बृहद्वपुः भूत्वा श्रीगोवर्द्धनरूपेण स्वयमेव बलिं भुक्तवान्. श्रीमुखेनैव भुक्तमिति श्रीमदाचार्याएव **यज्ञभोक्तारः**. ततएव उक्तं **यज्ञ...** इति, यज्ञार्थम् आज्ञा श्रीमुखेनैव दत्तेति स्वयमेव नवीनयज्ञकर्ता. ततएव आहुः **यज्ञ...** इति..

(६)यज्ञ... इति, अत्र अपूर्वयागोपदेशेन अपूर्वदेवता स्वयमेव जातइति अपूर्वतत्फलभोगकथनाद् यज्ञभोक्तृत्वेन सेव्यत्वम् उक्तम्. "**कृष्णस्तु अन्यतमं रूपं**" (भाग.पुरा.१०।२१।३५) इत्यनेन भोगकथनाद् यज्ञभोक्तृत्वेन सेव्यत्वम् उक्तम्. उपदेशद्वारा यज्ञकरणात् सेवकत्वम्. भोगः उपदेशः च आस्येन कृतइति इन्द्रियभेदेऽपि गोलकस्य एकत्वादेव गोलकयोः अभेदाद् द्वयमपि वाक्पतेः धर्मः. तथाच धर्मिग्राहकमानसिद्धत्वात् न विरोधः प्रत्युत विरुद्धधर्माश्रयत्वेन भगवत्त्वं साधितं इति भावः.

(७)**यज्ञभोक्ता** इति, "'यज' **देवपूजासंगतिकरणदानेषु**" (पाणि.-

धा.पा.भ्वा.१०८७) भावे 'नङ्' यज्ञस्य भोक्ता अयं नतु यज्ञो अस्य भोक्ता. अतएव यज्ञः इमं न अवरुन्धे. तद् उक्तं "**न रोधयति मां योगः**" इति उपक्रम्य "**सर्वसंगापहो हि माम्**" (भाग.पुरा.११।१२।१-२) [२]यद्वा यज्ञः संगतिकरणं तेन भोक्ता पालकः. तद् उक्तं "**सत्संगेन दैतेयाः**" (भाग.पुरा.११।१२।३) इत्यादि. [३]यद्वा भावसहितयजनं यज्ञः तेन **भोक्ता** अङ्गीकर्ता. तद् उक्तं "**केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो खगाः मृगाः**" (भाग.पुरा.११।१२।८) इत्यादि. [४]यद्वा यज्ञो दानम्. तद् उक्तं "**यद् न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः**" (भाग.पुरा.११।१२।९) इत्यादि. [५]यद्वा दीव्यति शरीरे देवो दशविधप्राणः तस्य पूजा आराधानं यज्ञो योगः इति यावत् तस्य भोक्ता स्वामी "**न रोधयति मां योगः**" (भाग.पुरा.११।१२।१) इति. [६]यद्वा यज्ञो विष्णुः तेन सह भोक्ता जीवरूपेण. तद् उक्तं "**अदन्ति चैकं... एकम् अरण्यवासा**" (भाग.पुरा.११।१२।२३) इत्यादि. अत्र यज्ञे भोजननिरूपणेन तत्फलरूपा पुष्टिः उक्ता भवति. त्रयोदशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **यज्ञकर्ता** इति, **यज्ञः** च असौ **कर्ता** च. "**मया एतद् उक्तं वो विप्रा गुह्यं यत् सांख्ययोगयोः जानीत मा आगतं यज्ञं युष्मद्धर्मविवक्षया**" (भाग.पुरा.११।१३।३८). [२]यद्वा **यज्ञो** दानं खण्डनम् इति यावत् तस्य **कर्ता**. तद् उक्तम् "**इति मे छिन्नसन्देहाः मुनयः सनकादयः सभाजयित्वा परया भक्त्या अगृणत संस्तवैः**" (भाग.पुरा.११।१३।-४१). [३]यद्वा **यज्ञो** देवपूजा. "**तैः अहं पूजितः सम्यक् संस्तुतः परमर्षिभिः प्रत्येयाय स्वकं धाम पश्यतः परमेष्ठिनः**" (भाग.पुरा.११।१३।४२). यद्यपि पूजनं सनकादिकृतं तथापि प्रयोजकत्वन्तु भगवत्येव पर्यवस्यति, सर्वप्रेरकत्वात्. [४]यद्वा **यज्ञः** संगतिकरणम्. तद् उक्तम्. "**गुणेषु आविशते चेतो गुणाः चेतसि च प्रजाः, जीवस्य देहे उभयं गुणाः चेतो मदात्मनः**" (भाग.पुरा.११।१३।२५). [५]यद्वा **यज्ञः** सम्यक् प्रकारेण गतिः गमनम्. सर्वोत्कृष्टा गतिः इति यावत्. सा च गती रसज्ञैः हंसस्येव श्लाघिता इति तद्रूपेणेव गमनम्. "**तस्य अहं हंसरूपेण सकाशगमनं तदा**" (भाग.पुरा.११।१३।१९). [६]यद्वा देवस्य दशविधलीलाकर्तुः पूजाकर्ता तद् उक्तम् "**आगमो अपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च ध्यानं मन्त्रो अथ संस्कारो दश एते गुणहेतवः**"

(भाग.पुरा.११।१३।४). अत्र आगमः सर्गो, अपो विसर्गः, प्रजा स्थानं, देशो अनुग्रहः, कालः ऊतयः, कर्मः सद्धर्मः, जन्म ईशानुकथा, ध्यानं निरोधो, मन्त्र ज्ञानम्, संस्कारः प्रलयः, एते दश गुणानाम् अधिकारहेतवः साधनानि. अत्र "**कर्मनिष्ठा तदा ज्ञेया यदा चित्तं प्रसीदति**" (त.दी.नि.१।१७) इति वाक्योक्तकर्मरूपो यज्ञकर्तृत्वकथनेन चेतोगुण-परित्यागरूपो अध्यायार्थोऽपि सूचितः.

:: उत्थानिका: ::

(१)एवं यज्ञकर्तृत्वम् उक्त्वा यज्ञेनैव व्रजवासिनाम् "एषो अवजानतो मर्त्यान्" (भाग.पुरा.१०।२१।३७) इति कथनेन सर्वपुरुषार्थसाधकत्वज्ञापनाय अग्रिमं नाम आहुः—

(२)...

(३)ननु सर्वात्मना स्वीयसम्पादनैः सर्वत्यागस्य कृतत्वेन चतुर्वर्गसाधकधर्माणामपि त्यागेन तदुक्तं फलं न भविष्यति इति चेत् तत्र आहुः—

(४/क)तेनैव चतुर्विधभक्तिभक्तिमार्गीयतत्साधकत्वाय—

(४/ख)ननु यज्ञकर्तृत्वेन फलार्थम् अन्ययज्ञ-कर्तृत्वमेव कथं न भवेद् इति आशङ्क्य आहुः—

(५)अत्र अपूर्वयागोपदेशेन अपूर्वदेवता स्वयमेव जातइति अपूर्वतत्फल-चतुर्वर्गदाता स्वयमेव जातइति आहुः—

(६)तादृशेन आस्येनैव गुरुणा भक्तिमार्गीयपुरुषार्थसिद्धिः भवति इति सूचनाय तत्साधकत्वम् आहुः—

(७)चतुर्दशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः—

:: मूलम् ::

चतुर्वर्गविशारदः [९५] **सत्यप्रतिज्ञः** [९६]

:: टीका: ::

(१)**चतुर्वर्गविशारदः** इति, यद्यपि लोके '**चतुर्वर्ग**'पदेन धर्मार्थकाममोक्षाः उच्यन्ते तथापि व्रजवासिनां साक्षाद्भगवत्स्वरूपानुभवात् लोकसिद्धानां धर्मादीनाम् अत्र अनुपयोगात् स्वस्य गवाञ्च लीलोपयोगित्वेन तत्सुखेनैव सर्वपुरुषार्थसाधकत्वम् इति ज्ञापनाय उक्तं **चतुर्वर्गविशारदः** इति. यद्यपि "**एषो अवजानतो मर्त्यान् कामरूपी वनौकसो हन्ति ह्यस्मै नमस्यामः शर्मणे आत्मनो गवाम्**" (भाग.पुरा.१०।२१।३७) इति व्रजवासिनः प्रति भगवद्वाक्यं तथापि वागधिष्ठातृरूपत्वम् आचार्याणामेव इति तद्वाक्यम् आचार्येष्वेव पर्यवस्यति इति ज्ञापनाय आचार्यनाम उक्तं **चतुर्वर्ग...** इत्यादि. एवं पूर्वोक्तप्रकारेण व्रजवासिनां चतुर्वर्गसाधकत्वम् उपपाद्य स्वीयेष्वपि स्वमार्गीयचतुर्वर्गसाधकत्वज्ञापकम् अग्रिमं नाम आहुः **सत्यप्रतिज्ञः** इति, **सत्या** यथार्था **प्रतिज्ञा** यस्य सः. अस्य अयम् अर्थः : यदा आचार्यैः भगवदाज्ञया स्वमार्गप्राकट्यं कृतं तदा इयं प्रतिज्ञाऽपि कृता "**ये अस्मिन् मार्गे प्रपन्नाः भविष्यन्ति तान् सर्वानेव स्वमार्गीयपुरुषार्थदानेन उद्धरिष्ये**" स्वमार्गीयपुरुषार्थाः "**पुष्टिमार्गे हरेः दास्यं धर्मो अर्थो हरिरेव हि कामो हरेः दिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्य चेद् ध्रुवम्**" (वृत्रासु.चतु.४) **इति उक्ताः इति ज्ञापनाय उक्तं सत्यप्रतिज्ञः** इति.

(२)**चतुर्वर्गविशारदः** इति, **चतुर्णां वर्गाणां** धर्मादीनां करणेन **विशारदो** विस्तारकः, तत्साधननिपुणो वा. **सत्यप्रतिज्ञः** इति, **सत्या** यथार्था **प्रतिज्ञा** प्रतिश्रवो यस्य.

(३)पुष्टिमार्गीयाणां मर्यादामार्गीयचतुर्वर्गस्य फलत्वाभावात् पुष्टिमार्गीय-**चतुर्वर्ग**दाने **विशारदो**, अतिकोविदः समर्थः इति अर्थः. पुष्टिमार्गीयचतुर्वर्गस्तु

''**पुष्टिमार्गे हरेः दास्यं धर्मो अर्थो हरिरेव हि कामो हरेः दिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्य चेद् ध्रुवम्**'' (वृत्रा.चतु.४) इति. एतद्दानन्तु केवलस्वीयत्वेनैव भवति, न अन्यथा इति. तत् सम्पाद्य इदं फलं दत्तम् इति भावः. ननु कदाचित् न दद्यात्, तत्र आहुः **सत्यप्रतिज्ञः** (इति), ये एवं प्रपन्नाः तेषाम् एतत्फलदाने **सत्या प्रतिज्ञा** यस्य, नतु कदापि असत्या. एतेन अवश्यं ददात्येव इति सूचितम्. यथा व्रजवासिनां केवलस्वीयत्वं सम्पाद्य पुष्टिचतुर्वर्गदानेन **सत्यप्रतिज्ञ**त्वं भगवतः तथा एतेषामपि तद्रूपत्वेन स्वीयान् प्रति तद्दानार्थं सत्यप्रतिज्ञत्वमेव इति भावः.

(४/क)**चतुर्वर्ग...** इति. अङ्गीकृत्यन्यथाकृत्यभावाय **सत्य...** इति.

(४/ख)**चतुर्वर्ग...** इति, **चतुर्वर्गाः** धर्मार्थ-काममोक्षाः तेषु **विशारदः** इति अर्थः. तेन सर्वेषां चतुर्वर्गदाता इति अर्थः. एतन्नामसाधकम् अग्रिमं नाम आहुः **सत्यप्रतिज्ञः** इति, **सत्या प्रतिज्ञा** यस्य इति अर्थः.

(५)**चतुर्वर्ग...** इत्यत्र **चतुर्वर्गो** भक्तिमार्गीयो दास्यादिरूपः, तद्दाने **विशारदः** समर्थः इति अर्थः. अन्यदेवतावज्ञया कदाचिद् उपद्रवसम्भवे ''सर्वथा रक्षामि'' इति प्रतिज्ञा ''**तस्मात् मच्छरणम्...**'' (भाग.पुरा.१०।२२।-२८) इत्यत्र निरूपिता. सा कदाचिदपि न अन्यथा भवति इति आहुः **सत्य...** इति. **सत्या** कालत्रयाबाधिता **प्रतिज्ञा** यस्य. प्रतिज्ञा इति सामान्यवचनात् सर्वापि, सा सत्या. एवं पूर्वलीलाचरित्रम् उक्तम्. इह अवतारे भक्तेष्वपि तथा कुर्वन्तीति एतद् नामोक्त्या ज्ञापितम्.

(६)**चतुर्वर्ग...** इति. यत्र यथोचितं तत्र तथा ददाति इति **विशारद**त्वम् उक्तम्. अतएव संन्यासनिर्णये गोपिकानां गुरुत्वम् उक्तम्. सुधाभागित्वेन तासाम् आस्यत्वं ज्ञेयम्. वृन्दावनस्य ध्वजवज्रादिप्रतिफलनेन पादत्ववत्. चतुर्वर्गदाने हेतुम् आहुः **सत्य...** इति, ''**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच**'' (भग.गीता.१८।६६) इति **प्रतिज्ञा** तस्याः **सत्यत्वात्**. तथा ददाति इति अर्थः. केवलभावलभ्यरसस्यैव शोकनिवर्तकत्वोक्तेः इति भावः.

(७)**चतुर्वर्गविशारदः** ''शारदो अब्दे स्त्रियां तोयपिप्पलीसप्तपर्णयोः शस्ये क्लिबं शरज्जातनूतनाप्रतिमे त्रिषु (मेदिनी : ७७।४०). विशिष्टो विपरीतो वा ''**विशारदः पण्डिते च धृष्टे**'' (मेदि.७८।५३). चर्तुणां धर्मार्थकाममोक्षाणां सात्त्विक-राजस-तामस-निर्गुणतुरीयाणां, वेदा(दोक्ता!)नां **वर्गे** समूहे **विशारदः** चतुरः. ''**कालेन नष्टा प्रलये वाणी इयं वेदसंज्ञिता: मया आदौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः** (भाग.पुरा.११।१४।३). सात्त्विकादिषु तावत् ''**किन्देवाः किन्नराः नागाः रक्षः किम्पुरुषादयः** बह्व्यः तेषां प्रकृतयो रजःसत्त्वतमोभुवः'' (भाग.पुरा.११।१४।६), ''**धर्मम् एके यशः च अन्ये कामं सत्यं दमं शमम् अन्ये वदन्ति स्वार्थं वा ऐश्वर्यं त्यागभोजनम्**'' (भाग.पुरा.११।१४।१०). [२]यद्वा '''वृजि' वर्जने'' पुंसि संज्ञायां घः. वर्जनं **वर्गः** चर्तुणां वेदानां धर्मादीनां सात्त्विकानां **वर्गः** वर्जने **विशारदो** निपुणः. ''**न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव! न स्वाध्यायः तपः त्यागो यथा भक्तिः मम उर्जिता**'' (भाग.पुरा.११।१४।२०). स्वाध्यायो वेदो ''**धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता मद्भक्त्यापेतम् आत्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि**'' (भाग.पुरा.११।१४।२२). धर्मो ''**न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यं न योगसिद्धिः अपुनर्भवं वा मयि अर्पितात्मा इच्छति मद्विना अन्यत्**''(भाग.पुरा.११।१४।१४). अर्थमोक्षौ ''**कामैः अनालब्धधियो जुषन्ति यत् तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम**'' (भाग.पुरा.११।१४।१७) पारमेष्ठ्यं गुणातीतं, महेन्द्रधिष्ण्यं सात्त्विकं, सार्वभौमं राजसं, रसाधिपत्यं तामसम्. [३]यद्वा **चतुर्णां** ब्रह्म-रुद्र-संकर्षण-श्रीसहितात्मनां वर्जने. तद् उक्तं ''**न तथा मे प्रियतमः आत्मयोनिः न शंकरः नच संकर्षणो न श्री नैव आत्मा च यथा भवान्**'' (भाग.पुरा.११।१४।१५). ध्यान-ध्येय-योग-समाधीनां **चतुर्णाम्**. तद् उक्तं ''**सम आसने आसीनो समकायो यथासुखं हस्तौ उत्संगे आधाय स्वनासाग्रकृतेक्षणः**'' (भाग.पुरा.११।१४।३२) इत्यादि. **चतुर्णां** भुजानाम् आयुधानां वा. तद् उक्तं ''**दीर्घचारुचतुर्भुजम्**'',''**शंखचक्रगदापद्म...**'' (भाग.पुरा.११।१४।३८,-४०). अत्र मनसो निर्वाण-यान-कथनेन श्रद्धा-भक्ति-निरूपणादिरूपो

अध्यायार्थो निरूपितः. पञ्चदशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **सत्यप्रतिज्ञः** इति, **सत्यं** प्रतिजानाति. **सत्या प्रतिज्ञा** यस्य यस्मिन् यस्माद् यस्मै येन यम् इति वा. **सत्ये प्रतिज्ञे** इति वा. सत्यस्य सत्याय सत्येन वा. तद् उक्तं **''जितेन्द्रियस्य दान्तस्य जितश्वासस्य योगिनो मयि धारयतः चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः** (भाग.पुरा.११।१५।१) इत्यादि. **''मयि सत्ये मनो युञ्जन्...''** (भाग.पुरा.११।१५।२६) **''आज्ञाप्रतिहतागतिः... त्रिकालज्ञ-त्वम् अद्वन्द्वं... प्रतिष्ठम्भो अपराजयः''** (भाग.पुरा.११।१५।७-८). या-या सिद्धिः येन-येन प्रकारेण उक्ता सा-सा तेन-तेन प्रकारेण सिद्धैव भवति. अहतिः **सत्यैव प्रतिज्ञा.** अतएव अष्टाविंशतिभिः सिद्धीनां निरूपणेन भगवदावेशो निरूपितः. पञ्चभिः सिद्धीनां प्रतिबन्धकत्वनिरूपणद्वारा स्वस्यैव प्रभुत्वकथनेन स्वस्मिन् प्रवेशः निरूपितः.

:: उत्थानिकाः ::

(१)ननु सर्वात्मना सर्वांशेन प्रतिज्ञायाः सत्यत्वम् इयदवधि न कुत्रापि दृष्टमिति कथम् आचार्यप्रतिज्ञायाः सर्वात्मना सत्यत्वम् इति आशङ्कानिरासाय अग्रिमं नाम आहुः —

(२)...

(३)ननु एवं प्रतिज्ञा सत्यैव इति कथं ज्ञायते? तत्र आहुः —

(४/क)गुणक्षोभनिवर्तकत्वाय —

(४/ख)ननु सत्यप्रतिज्ञत्वं जीवेष्वपि भवति, तदर्थम् आहुः —

(५)ननु वैदिकमार्गादिष्वपि अयमेव नियामको अस्तु भगवत्त्वाद् इति, तन्निषेधार्थम् आहुः —

(६)ननु प्रसिद्धमोक्षेऽपि सामान्यतः शोकनिवृत्तिकथनात् तदेव कुतो न ददाति इत्यतः आहुः —

(७)षोडशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः

:: मूलम् ::

त्रिगुणातीतो[९७] **नयविशारदः**[९८]

:: टीकाः ::

(१)**त्रिगुणातीतः** इति, **त्रिगुणाः** सत्त्वरजस्तमोरूपाः, तान् **अतीतः** अतिक्रान्तः. अनेन सत्यप्रतिज्ञत्वे हेतुः उक्तः. अत्र अयम् आशयो : अन्येषां, प्रकृतिगुणसम्बन्धात् प्राकृतत्वेन दोषसम्बन्धात् तत्कृतप्रतिज्ञायाअपि दुष्टत्वात् निर्दुष्टस्यैव सत्यत्वात्, तत्प्रतिज्ञायाअपि असत्यत्वम्. आचार्याणान्तु प्रकृतिगुणराहित्येन निर्दुष्टत्वात् तत्प्रतिज्ञायाअपि निर्दुष्टत्वेन सत्यत्वमेव इति ज्ञापनाय उक्तं **त्रिगुणातीतः** इति. एवं सत्यप्रतिज्ञत्वे हेतुम् उपपाद्य यदुद्धारार्थं प्रतिज्ञाकरणं, तेषां स्वमार्गीयमर्यादाज्ञापनाय स्वसिद्धान्तनिरूपकग्रन्थकरणत्वज्ञाप-नाय अग्रिमं नाम आहुः **नयविशारदः** इति, **नये** स्वसिद्धान्तशास्त्रे **विशारदो** अत्यन्तनिपुणः इति॥३०॥

(२)**त्रिगुणातीतः** इति, **त्रीन् गुणान्** कामक्रोधलोभान् सत्त्वादीन् वा **अतिक्रम्य इतः** प्राप्तः. **त्रिगुणान्** **अतीत्य इतं** ज्ञानं यस्य इति वा. **नयविशारदः** इति. **नये** नीतिशास्त्रे **विशारदः** चतुरो, विस्तारकः इति वा. **नये** न्याये **विशिष्टा शारदा** यस्य इति वा॥३०॥

(३)**त्रिगुणातीतः** (इति), प्राकृत**गुणत्रयातीतो** अलौकिकगुणपूर्णः. अलौकिकं सर्वं सत्यमेवेति सुष्ठु उक्तं **सत्यप्रतिज्ञः** इति. ननु गुणातीतत्वं कथं ज्ञायते तत्र आहुः **नयविशारदः** (इति), **नये** त्रिगुणातीतालौकिके मार्गे **विशारदो,** विशिष्टा शारदा सरस्वती यस्य. एतेन या वाणी मुखात् निःसरति, सा स्वमार्गीयनयकथनरूपा अलौकिकानन्दरूपैव निःसरति इति गुणातीतत्वमेव ज्ञापितम्॥३०॥

(४/क)**त्रिगुणातीतः** इति. मर्यादया बाहिर्मुख्याभावाय **नय...**

इति ॥३०॥

(४/ख)**त्रिगुणातीतः** इति, **त्रिगुणैः** सत्त्वरजस्तमोभिः **अतीतः** इति अर्थः. यद्वा **त्रिगुण...** इति ब्रह्मा-विष्णु-रुद्रेभ्योऽपि **अतीतः** पुरुषोत्तमः इति अर्थः. ननु एतादृशत्वे सति लौकिककरणं किं प्रयोजनकम् इत्यत्र आहुः **नयविशारदः** इति, **नये** नीतौ **विशारदो** अतिचतुरः इति अर्थः. अन्यथा लौकिकानाम् अलौकिकदर्शनेन अन्यथाभावो भवेत्; सर्वेषां वा भक्तिः भवेत् तदा अनयो भवेत्, तदर्थम् उक्तं **नयविशारदः** इति ॥३०॥

(५)**त्रिगुण...** इति, तत्रतु देवाः सगुणाः, कर्मापि सगुणं, चतुर्वर्गोऽपि तथा. तदेतद् उक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्यां "**कामचारस्तु...**" (सिद्धा.मुक्ता.११) इति. अत्रतु सर्वमेव निर्गुणमिति परस्परं महान् भेदः. तत्र विभूतिः, परं भवतु, अतः **त्रिगुणातीतः** इति उक्तम्. ननु तर्हि वैदिककर्मत्यागापत्तिः इति आहुः **नय...** इति, **नयो** नीतिः मर्यादा वैदिककर्म इति यावत्, तत्र **विशारदो** निपुणः इति अर्थः ॥३०॥

(६)**त्रिगुण...** इति, मोक्षस्य ज्ञानसाध्यत्वात् "**सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्**" (भग.गीता.१४।१७) इति वाक्यात् सात्त्विकगुरोरेव तत्कार्यं नतु **त्रिगुणातीतस्य**, अतः तथा इति अर्थः. ननु स्वस्य गुणातीतत्वेऽपि अन्यस्य तत्सम्पादने किं बाधकम् इत्यतः आहुः **नय...** इति. **नये** नीतौ **विशारदः**, पुष्टिमार्गीयाणाम् अयमेव पुरुषार्थः उचितइति. नीतिं ज्ञात्वा तथा करोति इति भावः ॥३०॥

(७)**त्रिगुणातीतः** इति, **त्रिभ्यो** गुणेभ्यो **अतीतः** पृथक् स्थितिः. तद् उक्तं "**त्वं ब्रह्म परमं साक्षाद् अनाद्यन्तम् अपावृतम्**" (भाग.पुरा.११।१६।१). [२]यद्वा **त्रिषु** लोकेषु ये **गुणाः** श्रेष्ठभावाः तेषु **अतिशयेन इतो** मिलितः. तद् उक्तं "**याः काश्च भूमौ दिवि वै रसायाम्**" (भाग.पुरा.११।१६।५). [३]यद्वा **त्रिषु** आधिभौतिक-आध्यात्मिक-आधिदैविकेषु ये **गुणाः** श्रेष्ठाः तद्रूपः. [४]अथवा **त्रिषु** ये **गुणाः** गौणभूताः

तेभ्यो **अतीतो** भिन्नः. तद् उक्तम् "**अहम् आत्मा उद्धव! अमीषां भूतानां सुहृद् ईश्वरो अहं सर्वाणि भूतानि तेषां स्थित्युद्भवाप्ययः**" (भाग.पुरा.११।१६।९) इत्यादिभिः. "**सुपर्णो अहं पतत्त्रिणां... गुणानाम् चापि अहं साम्यं... तीर्थानां स्रोतसां गंगा... धीराणां देवलो असितः**" (भाग.पुरा.११।१६।१५-२८). अत्र त्रिविधसृष्टेः भगवद्विभूतिनां पृथक्त्वं स्फुटमेव. सप्तदशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **नयविशारदः** इति, नयति शुभां गतिं **नयो** वर्णाश्रमधर्मः तस्मिन् **विशारदो** निपुणः. तद् उक्तं "**वक्ता कर्ता अविता न अन्यो धर्मस्य अच्युत ते भुवि सभायामपि वैरिञ्च्यां यत्र मूर्तिधराः कलाः**" "**धर्म्यः एष तव प्रश्नो... वर्णाश्रमाचारवतां तम् उद्धव! निबोध मे**" (भाग.पुरा.११।१७।५-९) [२]यद्वा **नयो** न्यायः. तद् उक्तं "**धनेन अपीडयन् भृत्यान् न्यायेनैव आहरेत् क्रतून्**" (भाग.पुरा.११।१७।५१). [३]यद्वा नीयते प्राप्यते **नयो** मोक्षः. तद् उक्तं "**नैःश्रेयस्करो नृणाम्**" (भाग.पुरा.११।१७।९). **नयो** अर्थो वा. "**आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्भो ब्रह्मसेवनम् अतुष्टिः अर्थोपचयैः वैश्यप्रकृतयस्तु इमाः**" (भाग.पुरा.११।१७।१८). अत्र धर्मार्थकाममोक्षेषु विशारदत्वेन वर्णाश्रमधर्मरूपता उक्ता भवति.

:: उत्थानिका: ::

(१)एवं स्वीयानां स्वमार्गीयमर्यादाज्ञापकशास्त्रकरणं निरूप्य तत्करणहेतुभूतम् अग्रिमं नाम आहुः —

(२)...

(३)ननु नयकथने को हेतुः तत्र आहुः —

(४/क)सर्वथा दोषाभावोपायाय —
(४/ख)एतन्नामसाधकम् अग्रिमं नाम आहुः —

(५)द्विजतिलकावतारत्वं मर्यादास्थापनार्थं तथा, अतएव सर्वत्र जगति स्वकीर्तिं वर्द्धयति इति आहुः —

(६)एवं साधनफलनिरूपकत्वम् उक्त्वा प्रतिबन्धनिवर्तकत्वम् आहुः —

(७)अष्टादशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

स्वकीर्तिवर्द्धनः [९९] **तत्त्वसूत्रभाष्यप्रदर्शकः** [१००]

:: टीकाः ::

(१)स्वकीर्तिवर्द्धनः इति, स्वमार्गीयरहस्यग्रन्थनिरूपणेन स्वीयेषु **स्वकीर्तिवर्द्धनः** इति. एवं स्वीयेषु स्वकीर्तिवर्धकत्वम् उपपाद्य मायावादादिशास्त्रप्रवर्तकपण्डितेष्वपि स्वकीर्तिवर्धकत्वज्ञापनाय अग्रिमं नाम आहुः **तत्त्वसूत्रभाष्यप्रदर्शकः** इति, **तत्त्वसूत्राणि** ब्रह्मतत्त्वनिरूपकाणि व्याससूत्राणि, तेषां **भाष्यं** तदर्थप्रतिपादकशास्त्रं, तस्य **प्रदर्शकः** प्रकाशकः इति अर्थः. यद्यपि शङ्कराचार्यादीनामपि व्याससूत्रभाष्यकर्तृत्वं वर्तते तथापि तत्र लक्षणाम् आश्रित्य सूत्रार्थव्याख्यानात् तस्य **"सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म"** (तैत्ति.उप.२।१), **"रसो वै सः"**(तैत्ति.उप.२।६) इत्याद्युपनिषद्वाक्य-विरोधात् न साक्षात् तत्त्वसूत्रप्रतिपादकत्वम्. आचार्याणान्तु साक्षात्सूत्रार्थस्य **"सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म"** (तत्रैव), **"रसो वै स"** (तत्रैव) इत्याद्युपनिषद्वाक्याविरोधेन ब्रह्मधर्मप्रतिपादनपूर्वकं साक्षात्सूत्रार्थनिरूपकत्वज्ञाप-नाय उक्तं **तत्त्वसूत्रभाष्यप्रदर्शकः** इति. एतेन मायावादादिशास्त्रप्रवर्तकपण्डिते-ष्वपि असाधारणकीर्तिवर्द्धकत्वम् उक्तम्.

(२)स्वकीर्तिवर्द्धनः इति, उत्कृष्टपुण्यकर्माचरणेन **स्वस्य कीर्तिं** सत्ख्यातिं **वर्धयति** विस्तारयति इति अर्थः. **तत्त्वसूत्रभाष्यप्रदर्शकः** इति,

ब्रह्मतत्त्वप्रतिपादकानि यानि व्याससूत्राणि, तानि तत्त्वसूत्राणि इति उच्यन्ते. तेषां यद् **भाष्यं** आक्षेपसमाधानपरो ग्रन्थः, तस्य **प्रदर्शको** वक्ता इति अर्थः.

(३)स्वकीर्तिवर्द्धनः इति, अयं भावो : नयस्तु उन्मार्गगमनप्रतिबन्धकः. तेन स्वीयानां स्वमार्गीयनयोपदेशेन उन्मार्गगमनाभावात् फलमुखमार्गप्रापणेन च शीघ्रं फलं भवति. अतः स्वकीर्तिरपि तत्र वर्द्धतइति त्रिजगति स्वमाहात्म्यख्यापनार्थम् एतत् करणम् उक्तं **स्वकीर्तिवर्द्धनः** इति. ननु स्वमार्गीयनयस्तु सत्प्रमाणसम्मतो यदि न भवेत्, तदा कीर्तिः कथं भविष्यति तत्र आहुः**तत्त्व...** इति, **तत्त्वसूत्राणि** तत्त्वरूपाणि सूत्राणि व्यासकृतानि, तेषां **भाष्यप्रदर्शकः**. एतेन स्वोक्तनये व्याससूत्राणि प्रमाणम् उक्तं, तेन तत्सम्मतमपि उक्तम्.

(४/क)**स्वकीर्ति...** इति. तद्वर्द्धनप्रकारनिरूपणार्थं **तत्त्व...** इति.

(४/ख)**स्वकीर्तिवर्द्धनः** इति. **स्वस्य कीर्तिं** वर्द्धयति इति अर्थः. **स्वस्य** भगवतः **कीर्तिं** वर्द्धयति इति अर्थः. एतन्नामसाधकम् अग्रिमं नाम आहुः **तत्त्वसूत्रभाष्य...** इति, **तत्त्वसूत्राणां भाष्यप्रदर्शकः** इति अर्थः.

(५)**स्वकीर्ति...** इति, अग्निहोत्रादिपञ्चविधकर्मकरणात् तथा. अतादृशेषु एतन्मार्गगोपनाय स्वानपि तथा उपदिशति इति तत्**कीर्तिवर्द्धनो** वा. लोके कीर्तिः द्वेधा भवति कर्मतो ज्ञानतः च. तत्र कर्मतः उक्त्वा ज्ञानतः आहुः **तत्त्वसूत्र...** इति, **तत्त्व**प्रतिपादकानि जगतो ब्रह्मत्वप्रतिपादकानि व्यास**सूत्राणि**, तेषां यद् **भाष्यं** व्याख्यानं, तस्य **प्रदर्शकः**.

(६)**स्वकीर्ति...** इति, **कीर्ति**श्रवणेन अन्यासक्तिरूपं प्रतिबन्धं निराकृत्य अत्र प्रपन्नाः भविष्यन्ति इति भावः. कीर्तिवर्द्धने प्रकारम् आहुः **तत्त्व...** इति. उपलक्षणेन ग्रन्थान्तराण्यपि ज्ञेयानि.

(७)**स्वकीर्तिवर्धनः** इति, "**कीर्तिप्रसादयशसोः विस्तारे कर्दमेऽपि च**" (**विश्व.६१।६६**) "**कीर्तिमयी वनमाला**" (सुबो.१०।१८।५). तथाहि स्वस्य **कीर्तिं** वनमालां **वर्धयति**. तद् उक्तं "**वनं विविक्षुः... कन्दमूलफलैः वन्यैः... चरुपुरोडाशैः**" (भाग.पुरा.११।१८।१-७) इत्यादि. [२]यद्वा **कीर्तिः** कर्दमः. तद् उक्तं "**बहिः जलाशयं गत्वा**" (भाग.पुरा.११।१८।१९) [३]यद्वा विस्तारो यशःप्रसादो वा. तानि उक्तानि "**एकएव परो हि आत्मा**" (भाग.पुरा.११।१८।३२), "**इति मां यः स्वधर्मेण भजन् नित्यम् अनन्यभाक्, सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दते अचिरात्**" (भाग.पुरा.११।१८।४४), "**वर्णाश्रमवतां धर्मः एष आचारलक्षणः, सएव मद्भक्तियुतो निःश्रेयशकरः परः**" (भाग.पुरा.११।१८।४७). अत्र कीर्तिवर्धकत्वेन "**यथा वृक्षस्य सम्पुष्पितस्य** (महाना.४।१२) इति श्रुतिनिरूपितो द्विविधो धर्मो निरूपितः. तेन अध्यायार्थरूपता उक्ता भवति. एकोनविंशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **तत्त्वसूत्रभाष्यप्रदर्शकः** इति, तस्य लोकवेदप्रसिद्धस्य पुरुषोत्तमस्य भावः **तत्त्वं** तस्य चेष्टासूचकानि वा **सूत्राणि** तानि भाष्यन्ते अनेन इति **तत्त्वसूत्रभाष्यं**, तत् प्रकर्षेण दर्शयन्तीति तथा. अतएव यथा व्याससूत्रारम्भे "**जन्माद्यस्य यतः**" (ब्र.सू.१।१।१) इति स्थितं तथा अत्र "**त्वयि उद्धव आश्रयति यः त्रिविधो विकारो मायान्तरा आपतति नाद्यपवर्गयोः यद् जन्मादयो अस्य यदमी तव तस्य किं स्युः आद्यन्तयोः यदसतो अस्ति तदेव मध्ये**" (भाग.पुरा.११।१९।७) इति उक्त्वा श्रीमदुद्धवेन पृष्टे "**इत्थम् एतत् पुरा राजा भीष्मं धर्मभृतां वरम्**" (भाग.पुरा.११।१९।११) इत्यादिना. तद्भाष्यरूपाणि "**अजातशत्रुः पप्रच्छ सर्वेषां नो अनुशृण्वताम्**" (भाग.पुरा.११।१९।११), "**श्रद्धा अमृतकथायां मे**" (भाग.पुरा.११।१९।२०) इत्यादि वाक्यान् उक्तवान्. अष्टाविंशतितत्त्वानि तेषां सूचकानि सूत्राणि तेषाम् भाष्यम्. तद् उक्तं "**नव एकादश पञ्च त्रीन् भावान् भूतेषु येन वै ईक्षेत अथ एकमपि ऐषु तज्ज्ञानं मम निश्चितम्**" (भाग.पुरा.११।१९।१४). स्वपद-व्याख्यादि भाष्यम्. तदपि अत्र दृश्यते "**यदात्मनि अर्पितं चित्तं शान्तं सत्त्वोपबृंहितं धर्मं ज्ञानं सवैराग्यम् ऐश्वर्यं च अभिपद्यते**" (भाग.पुरा.११।१९।२५) इति उक्त्वा "**धर्मो मद्भक्तिकृत्**

प्रोक्तो ज्ञानं च ऐकात्म्यदर्शनम् गुणेषु असङ्गो वैराग्यम् ऐश्वर्यम् अणिमादयः" (भाग.पुरा.११।१९।२७). समन्वयाविरोध-साधन-फल-निरूपकाः चत्वारो अध्यायाः भाष्ये तथैव अत्रापि "**श्रुति प्रत्यक्षं ऐतिह्यम् अनुमानं चतुष्टयं प्रमाणेषु अनवस्थानाद् विकल्पात् स विरज्यते**" (भाग.पुरा.११।१९।१७). उद्धवस्य षड्विंशत् प्रश्नाः तत्त्वसूत्ररूपाः, तेषां भाष्यं व्याख्यानम् "**अहिंसा सत्यम् अस्तेयम् असंगो ह्रीः असञ्चयः आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमा अभयम् शौचं जपः तपो होमः श्रद्धा आतिथ्यं मदर्चनम् तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिः आचार्यसेवनम् एते यमाः सनियमाः उभयोः द्वादशः स्मृताः**" (भाग.पुरा.११।१९।३३-३५) इत्यादिना प्रदर्शयति. एतेन सर्वनिर्णयकथनरूपो अध्यायार्थः प्रदर्शितः.

:: उत्थानिका: ::

(१)ननु अधुना लोके मायावादस्यैव अतिप्रचुरत्वेन शास्त्रान्तरमतदूषकत्वं प्रतिभाति यथा तथा आचार्यप्रतिपादितव्याससूत्रभाष्यस्यापि दूषकत्वं भविष्यति इति आशङ्कानिरासाय अग्रिमं नाम आहुः —

(२)...

(३)ननु व्याससूत्राणां भाष्यं शङ्कराचार्यादिभिः कृतमेव भवद्भिरपि पुनः कृतं, तत्र को विशेषः तत्र आहुः —

(४/क)तद्वर्धनप्रकारनिरूपणार्थम्... —

(४/ख)ननु भाष्यप्रदर्शनं किं प्रयोजनकम् ? इत्यतः आहुः —

(५)मायावादेन स्वीयाः भ्रान्ताः न भवेयुरित्यतएव अग्रिमनामम् आहुः —

(६)ननु भाष्याणि पूर्वम् अन्यकृतान्यपि सिद्धानि, ततः तेषामपि

कीर्तिः कुतो न भवेद् इति आशङ्क्य आहुः नामद्वयम्—
(७)विंशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

मायावादाख्यतूलाग्निः [१०१] ब्रह्मवादनिरूपकः [१०२]

:: टीका ::

(१)**मायावादाख्यतूलाग्निः** इति, 'मायावादः' इति **आख्या** नाम यस्य, तदेव तूलमिव **तूलं** तस्य **अग्निः** दाहकः इति अर्थः. अत्र मायावादस्य तूलत्वनिरूपणेन आचार्याणाम् अग्नित्वनिरूपणेन यथा महानपि तूलराशिः अल्पाग्निसम्बन्धेनापि दग्धो भवति तथा आचार्यनिरूपितैकतत्त्वसूत्रार्थ-निरूपणेनापि सर्वोऽपि मायावादो निराकृतो भवति इति ज्ञापनायापि उक्तं **मायावादाख्यतूलाग्निः** इति. ननु पूर्वं मायावादनिराकर्ता इति निरूप्यापि पुनः यन्मायावादाख्यतूलाग्निः इति उक्तं, तस्य अयम् आशयः : पूर्वन्तु सामान्यतो निराकरणम् उक्तम् अधुना प्रतिसूत्रं निराकरणत्वज्ञापनाय उक्तमिति न पौनरुक्त्यम् इति सर्वम् अनवद्यम्. ननु मायावादनिराकरणं कं वादम् आश्रित्य कृतम् इति आशङ्कानिरासाय अग्रिमं नाम आहुः **ब्रह्मवादनिरूपकः** इति, **"सर्वं खलु इदं ब्रह्म"** (छान्दो.उप.३।१४।१), **"यदिदं किञ्च तत् सत्यम् इति आचक्षते"** (तैत्ति.उप.२।६) इत्याद्युपनिषद्वाक्यप्रतिपादितो यो **ब्रह्मवादः** तद्**निरूपकः** तत्प्रतिपादकः इति अर्थः ॥३१॥

(२)**मायावादाख्यतूलाग्निः** इति, 'मायावादा'ख्यं यत् **तूलं** प्रशिथिलावयवत्वेन अदृढं, तस्य अनायासेन दूरीकरणात् तस्य दाहको **अग्निः** इति अर्थः. अतएव प्रतिपक्षनिराकरणाद् **ब्रह्मवादस्य निरूपको** वक्ता प्रवर्तकः इति अर्थः ॥३१॥

(३)**मायावादाख्य...** इति, '**आख्या**'पदेन 'मायावादे'ति नाममात्र-

स्यापि भस्मकर्ता. तैः मायावादएव निरूपितः, एभिः सः दूषितः इति अयमेव विशेषः. ननु तं विदूष्य स्वयं किं स्थापितं तत्र आहुः **ब्रह्मवाद...** इति, सर्वं ब्रह्मैव इति सर्वस्यापि सत्यत्वं स्थापितम् ॥३१॥

(४/क)माया...इति. ब्रह्म... इति॥३१॥

(४/ख)मायावादाख्य... इति, '**मायावादः**' इति **आख्या** यस्य, तद्रूपं यत् **तूलं**, तस्य **अग्निः** दाहकः इति अर्थः. तेन मायावादनिराकरणार्थं भाष्यप्रदर्शनम् इति अर्थः. यद्वा **माया** लक्ष्मीः तदंशभूताः व्रजसीमन्तिन्योऽपि तत्त्वेन उच्यन्ते, तासां यो **वादः** स्वजय-प्रभुपराजय-**ख्या**पकः, सएव तूलं, तस्य **अग्निः** दाहको निराकर्ता इति भावः. एवं मायावाद-निराकर्तृत्वम् उक्त्वा ब्रह्मवादनिरूपकत्वम् आहुः **ब्रह्मवादनिरूपकः** इति, **ब्रह्म**ात्मको यो **वादः**, तस्य **निरूपकः** इति अर्थः. यद्वा **ब्रह्मणो** भगवतः स्वजय-स्वामिनीपराजयात्मको वादः तस्य **निरूपकः** इति अर्थः ॥३१॥

(५)**मायावाद...** इति, "सर्वं मिथ्या" इति **मायावादः**, सएव **तूलं**, तस्य **अग्निः** दाहकः. यथा वह्नेः तूलदाहः सुकरः तथा मायावादनिराकरणम् एतेषाम्. भस्मसादेव कृतः इति अर्थः. तर्हि को वादो निरूपितः इति अपेक्षायाम् आहुः **ब्रह्म...** इति. **"सर्वं खलु इदं ब्रह्म"** (छान्दो.उप.३।१४।१) **"ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्"** (छान्दो.उप.६।८-।७) इत्येवंरूपो **ब्रह्मवादः** श्रुतेः अलाक्षणिको अर्थः, तस्य भाष्यकरणेन **निरूपकः**. तेन सर्वासां लीलानां जगतः च अमायिकत्वेन नित्यत्वं स्थापितम् ॥३१॥

(६)**माया... ब्रह्म...** इति, अन्यथाज्ञानं निवर्त्य **ब्रह्मवादं** बोधयति इति अर्थः. उपनिषत्सु ब्रह्मैव तत्त्वं, तस्य (सर्वविशेष)**शून्यत्वेन** निरूपणे तत्त्वसूत्रत्वमेव न सिद्ध्यति. अतः तैः भाष्यैः स्वरूपमेव न सिद्ध्यति कुतो व्याख्यानम्? अतो न तेषां कीर्तिः इति भावः. एवं साधनं फलं प्रतिबन्धनिवृत्तिः च एतस्मादेव भवति इति सर्वार्थे तदीयैः अयमेव

आश्रयणीयः इति निरूपितम्॥३१॥

(७)**मायावादतूलाग्निः** इति, **मायया** भ्रमेण यो **वादोः** ''**गुणदोषभिदादृष्टिः निगमात् ते नहि स्वतो निगमेन अपवादाः च भिदाया इति ह भ्रमः**'' (भाग.पुरा.११।२०।५) इत्यादिरूपा. सएव आसमन्तात् ख्यातिः प्राप्तः एतादृशोऽपि तूलवत् तस्य **अग्निः** दाहकः. तद् उक्तं ''**योगेनैव दहेद् अंहो नान्यत् तत्र कदाचन**'' (भाग.पुरा.११।२०।२५). **मायावादाख्यतूलस्य** दाहकत्वेन मार्गत्रय-विरोधपरिहार-रूपो अध्यायार्थः प्रदर्शितः. **मायावादाख्यतूलं** यदि न दहेत् तदा मार्गत्रयेऽपि विरोधएव तिष्ठेत्. तद्बोधकवाक्यानां गुर्वादीनां कर्तॄणां च मिथ्यात्वात्. अत्रतु भगवता ''**योगाः त्रयो मया प्रोक्ताः नृणां श्रेयोविधित्सया ज्ञानं कर्म च भक्तिः च नोपायो अन्यो अस्ति कुत्रचिद्**'' (भाग.पुरा.११।२०।६) इति सत्यत्वज्ञापनेन मार्गत्रयविरोधम् परिहृत्य **मायावादाख्यतूलं** दग्धमिति सुस्थम्. एकविंशाध्याया-र्थबोधकं नाम आहुः **ब्रह्मवादनिरूपकः** इति, ''**निर्दोषं हि समं ब्रह्म**'' (भग.गीता.५।१९) तस्य वादो निर्दोषत्वसमत्वकथनं तस्य **निरूपकः**. तद् उक्तं ''**शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु द्रव्यस्य विचिकित्सार्थं गुणदोषौ शुभाशुभौ**'' (भाग.पुरा.११।२१।३) इत्यादि. [२]यद्वा **ब्रह्म** वेदः तस्य **वादो** विषयः तं निरूपयति. तद् उक्तं ''**वेदा ब्रह्मात्मविषयाः त्रिकाण्डविषयाः इमे, परोक्षवादाः ऋषयः, परोक्षं मम च प्रियम्**'' (भाग.पुरा.११।२१।३५). **ब्रह्मणो** वेदस्य **वादः** परस्परं प्रश्नोत्तररूपः तस्य निरूपयिता. तद् उक्तं ''**किं विधत्ते किम् आचष्टे किम् अनूद्य विकल्पयेद् इत्यस्याः हृदयं लोके नान्यो मद् वेद कश्चन**'' (भाग.पुरा.११।२१।४२) इति प्रश्नः. ''**मां विधत्ते अभिधत्ते मां विकल्प्य अपोह्यते हि अहम् एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्**'' (भाग.पुरा.११।२१।४३) इति उत्तरम्. अत्र निर्दोषस्य ब्रह्मणो **वादनिरूपकत्वेन** बाह्याभ्यन्तरशुद्धिरूपो अध्यायार्थः प्रदर्शितः.

:: उत्थानिका: ::

(१)एवं ब्रह्मवादनिरूपकत्वम् उपपाद्य अग्रिमनाम्ना...

(२)...

(३)ननु सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वनिरूपणेऽपि फलं कीदृशं निरूपितं तत्र आहुः —

(४/क)स्वरूपोत्कर्षेणापि तद्वर्द्धनाय —

(४/ख)एवं ब्रह्मवादनिरूपकत्वम् उक्त्वा केवलं भगवत्स्वरूपत्वमेव आहुः —

(५)अतएव श्रीभागवतप्रतिपादित-भगवल्लीला-भावभूषण-भूषितत्वम् आहुः —

(६)एवम् अवतारकालिकं सर्वम् उक्त्वा तदनन्तरं मूलरूपेण स्थितस्य स्वरूपम् आहुः षड्भिः नामभिः भगवत्त्वाय —

(७)द्वाविंशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

अप्राकृताखिलाकल्पभूषितः [१०३] सहजस्मितः [१०४]

:: टीका: ::

(१)अप्राकृताखिलाकल्पभूषितत्वकथनस्य अयम् आशयो : व्यास-सूत्रचतुर्थाध्यायस्य फलाध्यायत्वात् स्वमार्गफलत्वेन भगवद्भावत्वेन **अप्राकृताः** अलौकिकाः, **अखिलाः** सर्वे ये लीलारसभावाः तएव **आकल्परूपत्वेन** शोभारूपाः तैः **भूषितः** तच्छोभायुक्तः. यद्यपि अन्यैरपि भाष्यकृद्भिः

फलाध्याये स्वस्वमार्गीयफलं निरूपितम् अस्ति तथापि सर्वोत्कृष्ट-लीलारसफल-निरूपकत्व-कृतशोभा आचार्याणामेव, न अन्येषामपि इति ज्ञापनाय उक्तम् **अप्राकृताखिलाकल्पभूषितः** इति. एवं लीलारसभावजनितशोभायुक्तत्वं निरूप्य तद्युक्तत्वज्ञापकम् अग्रिमं नाम आहुः **सहजस्मितः** इति, **सहजं** लीलारसस्मरणस्वभावजनितं **स्मितं** यस्य सः.

(२)**अप्राकृताखिलाकल्पभूषितः** इति, **अप्राकृताः** अलौकिकाः **अखिलाः** अन्यूनाः ये **आकल्पाः** भूषणानि तैः **भूषितो** अलङ्कृतः इति अर्थः. **सहजस्मितः** इति, **सहजं** नैसर्गिकं **स्मितं** मुखे ईषद्धासो यस्य, नतु वैषयिकम् इति अर्थः.

(३)**अप्राकृत...** इति, **अप्राकृताः** अलौकिकाः **अखिलाः आकल्पाः** सकलशृङ्गार-रचितातिरमणीय-वेषाः भगवत्स्वरूपरूपाः तैः **भूषितः**. अयं भावः : तत्त्वसूत्रभाष्यस्य चतुर्थाध्याये स्वमार्गीयफलस्य साक्षाद्भगवत्स्वरूपसम्बन्धरूपस्य निरूपणात्, तत्र तल्लीलारसभरेण ये-ये भावाः उत्पद्यन्ते, तत्तद्भावानां भूषणभूषणाङ्गस्यापि **"व्यरोचत अधिकम्"** (भाग.पुरा.१०।२९।-१०) इति उक्तत्वात्, परमसुषमारूपभगवद्रूपत्वेन तत्रापि यादृग्रसविलक्षणाः भावाः अनेकविधाः तादृग्रसविलक्षणसुषमारूपत्वाद्, भगवतोऽपि अनेकवेषत्वेन च आचार्याणां तद्भावरूपत्वेन तन्निरूपणेन च तदात्मकतायां तत्तद्भावरूपभगवत्स्वरूपस्य तत्तत्परमसुषमोल्लासेन आचार्यस्वरूपमपि, सकलशृङ्गाररमणीयो रसोद्दीपकः परममाधुर्यसीमा यो नवीनवेषः, तेन भूषितं भवति, तादृशस्वरूपस्य स्वस्यैव अनुभूतत्वात् प्रभुभिः उक्तम् **अप्राकृत...** इति. ननु भवद्भिः अनुभूतम् इत्युक्तम् अन्यैः कथं ज्ञायते? तत्र आहुः **सहजस्मितः** (इति), **सहजं** स्वाभाविकं, तत्तद्भावेन सह जातं च ईषत् **स्मितं** यस्य. तत्तद्रसानुभवेन* तद्रसभरजनितानन्दपूरेण तादृशपद्मदलायतविलोचनेषु अधरेषु सर्वदा हास्यामृतं तिष्ठत्येव. तेन स्वीयान्तरङ्गाणां ज्ञातं भवति इति भावः. एवं सति सर्वदा **"व्यरोचत अधिकम्"** (तत्रैव) इति उक्तविशिष्ट-शोभारूप-भगवद्भावात्मक-भूषण**भूषितः** इति उक्तम्.

---

*तत्तद्रसानुभवितृत्वाद् इति पाठभेदः.

(४/क)**अप्राकृत...** इति. एतादृशोऽपि अनुसर्यत्वाय **सहज...** इति.

(४/ख)**अप्राकृत...** इति, **अप्राकृतानि** यानि **अखिलानि** आकल्पानि तैः भूषितः इति अर्थः. यद्वा अप्राकृतो भगवान् तदात्मकं यद् **आकल्पं** तेन भूषितः. एवम् उपरि भूषितत्त्वम् उक्त्वा सहजभूषितत्वम् आहुः **सहज...** इति, **सहजं स्मितं** यस्य इति अर्थः. कदाचिदपि न अन्यथा तिष्ठति सदा सस्मितएव तिष्ठति इति भावः.

(५)**अप्राकृत...** इति, **अप्राकृतानि** अलौकिकानि लीलाभावरूपाणि **अखिलानि** नखशिखपर्यन्तम् **आकल्पानि** आभरणानि तैः **भूषितः** नखशिखपर्यन्तं भगवद्भावभूषणैः भूषितः इति अर्थः. यद्वा भगवदास्यरूपत्वात् तत्सम्बन्धिनि यानि **अखिलानि** आभरणानि मुकुटकुण्डलादीनि भगवत्त्वाद् वा नखशिखपर्यन्ततदाभरणानि तैः तथा. स्वस्य ऋषित्वात् तानि स्वस्यैव प्रत्यक्षाणीति '**अप्राकृत**'पदेन ज्ञापितम्. अतिमहानेव एतादृशभूषणैः भूषितो भवतीति तल्लक्षणम् आहुः **सहज...** इति, **सहजं** स्वाभाविकं **स्मितं** यस्य. अतिमहतो लक्षणम् एतत्.

(६)**अप्राकृत...** इति, **अप्राकृताः** आनन्दमयाः ये **अखिलाः आकल्पाः** कुण्डलमुकुटादयः तैः **भूषितः**. एतेन आसुरव्यामोहनाय स्वीकृतानैश्वर्यतिरोभावेन ऐश्वर्यनिरूपितम्. वीर्यम् आहुः **सहज...** इति, स्वभावसिद्धं **स्मितं** यस्य. हासस्य मन्दत्वात् कांश्चिद् मोहयति कांश्चिन् न मोहयतीति वीर्यं निरूपितम्.

(७)**अप्राकृताखिलाकल्पभूषितः** इति, प्रकृतिसम्बन्धिनः **प्राकृताः** तद्भिन्नाः **अप्राकृताः**, ते च ते **अखिलाः कल्पाः** च तैः **भूषितः**. तद् उक्तं **"प्रकृतिः गुणसाम्यं वै प्रकृतेः न आत्मनो गुणः"** (भाग.पुरा.११।२२।१२), **"आत्मा यद् एषाम् अपरो यः आद्यः स्वया अनुभूत्या अखिलसिद्धसिद्धिः"** (भाग.पुरा.११।२२।३१). प्रथमः **"सत्त्वंरजः-तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्त-हेतवः"** (भाग.पुरा.११।२२।१२) **"तदन्यकल्पना**

अपार्थो ज्ञानं च प्रकृतेः गुणः'' (भाग.पुरा.११।२२।१३) इत्यादिना. अत्र **अप्राकृताखिलाकल्पभूषितत्वेन** जीवप्रकृति-संशयनिवारणरूपो अध्यायार्थः प्रदर्शितः. त्रयोविंशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **सहजस्मितः** इति, सह जायते इति **सहजम्** स्वाभाविकम् इति यावत्. एतादृशस्मिते मन्दहास्ये अस्य. तद् उक्तम् **''स एवम् आशंसितः उद्धवेन भागवतमुख्येन दाशार्हमुख्यः सभाजयन् भृत्यवचो मुकुन्दः तम् आबभाषे श्रवणीयवीर्यः''** (भाग.पुरा.११।२-३।१). [२]यद्वा सहते दुःखम् इति सहः भिक्षुः. तद् उक्तं **''एवं स भौतिकं दुःखं दैविकं दैहिकं च यद् भोक्तव्यम् आत्मनो दिष्टं प्राप्तं-प्राप्तम् अबुध्यत''** (भाग.पुरा.११।२३।४१). जायते इति जः ज्ञानम्. तद् उक्तं **''तस्य एवं ध्यायतो दीर्घं नष्टरायः तपस्विनः खिद्यतो बाष्पकण्ठस्य निर्वेदः सुमहान् अभूत्''** (भाग.पुरा.११।२३।१३). ते सहजे स्मापयति इति **सहजस्मितः** अन्तर्भावितणिजन्तात् कर्तरि क्तः. तद् उक्तम् **''इति एके विहसन्ति एनम् एके दुर्वातयन्ति च''** (भाग.पुरा.११।२३।४०). [३]यद्वा सहते इति सह्यं मनः. तद् उक्तं **''मनोवशे अन्ये हि अभवन् स्म देवा मनः च नान्यस्य वशं समेति भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान् युञ्जाद् वशे तं स हि देवदेवः''** (भाग.पुरा.११।२३।४८). तेन जायेते इति सहजे सुखदुःखे. तद् उक्तं **''नायं जनो मे सुखदुःखहेतुः न देवतात्मा ग्रहकर्मकालाः मनः परं कारणम् आमनन्ति संसारचक्रं परिवर्तयेद् यत्''**(भाग.पुरा.११।२३।४३). स्मयति तेन इति तथा. तद् उक्तं **''सुखदुःखप्रदो नान्यः पुरुषस्य आत्मविभ्रमः''** (भाग.पुरा.११।२३।६०). अत्र सहजे मनसि मन्दहासेन मनोदण्डनिरूपणरूपो अध्यायार्थः प्रदर्शितः.

:: उत्थानिकाः ::

(१)एतेन आचार्याणाम् अलौकिकाकल्पशोभां सकार्यां निरूप्य अतः परम् आचार्याणां शोभाकृतिहेतुत्वज्ञापनाय अग्रिमं नाम आहुः —

(२)...

(३)किञ्च केवलं स्वयमेव न भूषितः किन्तु अन्येषामपि भूषणरूपो

भवतीतिं तत्र आहुः —

(४/क)लौकिकोत्कर्षेणापि तथात्वाय —

(४/ख)एवं भूषितत्वम् उक्त्वा भूषणताम् आहुः —

(५)दैवानां महाभाग्योदयेनैव अयम् अवतारः इति आहुः —

(६)यशः आहुः —

(७)चतुर्विंशतितमाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

त्रिलोकीभूषणम्[१०५] **भूमिभाग्यं**[१०६]

:: टीकाः ::

(१)त्रिलोकीभूषणम् इति, अत्र अयम् आशयः : त्रयाणां लोकानां समाहारः **त्रिलोकी** इति व्युत्पत्त्या आचार्याणां तत्र भूषणत्वम् असम्भावितम् इति त्रिलोक्याः तमोरजःसत्त्वात्मकत्वेन तद्गुणविशिष्टाः स्वकीयाएव **'त्रिलोकी'**पदेन उच्यन्ते. तेषां **भूषणं** शोभा आचार्यासम्बन्धकृतैव न अन्यथा इति ज्ञापनाय उक्तं **त्रिलोकीभूषणम्** इति, एवं स्वीयानां शोभाहेतुत्वं निरूप्य आचार्यचरणसम्बन्धाद् भूमेरपि उत्कर्षसाधकम् अग्रिमं नाम आहुः **भूमिभाग्यम्** इति, **भूमेः भाग्यं** पूर्णपुण्यफलम् इति अर्थः. अत्र अयं भावो : भूमेः भक्तत्वाद् आचार्यैः शुद्धभक्तिमार्गस्यैव प्रकटितत्वात्, तज्जनितसन्तोषेण आचार्यस्थितिं स्वभाग्यत्वेनैव भूमिः मनुते इति ज्ञापनाय उक्तं **भूमिभाग्यम्** इति, भूमेः शुद्धपुष्टिमार्गीयभक्तत्वं श्रीभागवतएव **''भूमेः सुरेतरवरूथविमर्दितायाः''** (भाग.पुरा.२।७।२६) इत्यत्र भूमिमर्दनक्लेशनिवृत्ति-हेतुत्वेन भगवत्प्राकट्येनैव निरूपितम्. अतएव फलप्रकरणेऽपि **''व्रजभुवः**

शमयन् खुरतोदम्'' (भाग.पुरा.१०।३२।१६) इति उक्तम्.

(२)**त्रिलोकीभूषणम्** इति, **त्रिलोक्याः भूषणं** प्रकाशकत्वात् मण्डनमणिः इति अर्थः. **भूमिभाग्यम्** इति, **भूमेः** साक्षात्सम्बन्धात् मूर्तिमद्भाग्यमिव **भाग्यम्.**

(३)त्रिलोकीभूषणम् इति, त्रयाणां लोकानां समाहारः. अत्र **'त्रिलोकी'**पदेन भगवान्, भक्ताः, श्रीमदाचार्याः उच्यन्ते. तादृशलीलासमये एतत्त्रयाणामेव अवलोकनात् तस्याः **भूषणम्.** अत्र अयं भावो : भगवता हि भक्तानां स्वानन्ददानार्थं तद्द्वारा स्वयं तद्रसभोगार्थं तादृशोद्बुद्धरसात्मकं स्वस्वरूपं प्रकटीकृतम्. लीलायान्तु तत्तत्क्षणे रसभरवशेन प्रियाणां मानादिजनिताः तत्तद्भावविशेषाः उत्पद्यन्ते. तदा तादृशोद्बुद्धरसात्मकत्वेन क्षणमात्रमपि तदन्तरायासहिष्णोः स्वप्रभोः तदैव तत्तत्प्रकारेण तत्संयोजनसमर्था आचार्यमूर्तिरेवेति तत्करणात् तदा तत्सम्बन्धजनितानन्दभरोल्लासेन नवीना काचन अपूर्वा शोभा अलङ्कृतिः भवति प्रभोः. साच आचार्यकृतैवेति आचार्याणामेव भगवद्भूषणत्वं सम्पन्नम् इति भावः. तथैव तादृग्भक्तानामपि तादृशरसात्मकप्रियमिलनेन अन्तःसमीहितेन तदङ्गासङ्गानन्दरसजनिता नवीनैव सुषमा सौभाग्यत्वकृतिसम्पत्तिः भवति. सापि एतत्कृपयैवेति आचार्याणां भक्तभूषणत्वमपि सम्पन्नम्. किञ्च मिलनानन्तरम् उभयोः तादृग्रसभरोन्मीलन-प्रतिक्षण-नवनवानन्दानुभव-करणात् तस्याः आचार्यदत्तत्वेन मन्यमानयोः आचार्येषु तत्समोपकार-करणासमर्थत्वेन परमप्रेमभरेण ''त्वम् अस्मद् द्वयोः नेत्रयोः भूषणम्'' इति प्रेमास्पद-हृद्यवचनादि-लालनादि-विलासेनापि उभयोः भूषणम्. तथैव आचार्याणाम् उभयोः तादृशलीलारसानुभवेन स्वकृते प्रभुप्रसन्नताजनितानन्दभरेण च तत्तल्लीलारस-संवलित-तत्स्वरूप-द्वयस्यैव बाह्याभ्यन्तरस्फूर्त्या केवलतदात्मकतया तदात्मकत्वजनित-नवीनालौकिक-सुषमया पूर्वविलक्षणत्वात् स्वस्यापि भूषणम्. एवं त्रिलोक्याः भगवतो भक्तानां स्वस्यापि **भूषणत्वम्** इति उक्तं सिद्धम् इति भावः. यथा भूषणेन नवा शोभा भवति तथा तद्रसानुभवेन परमा शोभा भवति इति उक्तं **त्रिलोकीभूषणम्** इति.

यद्वा 'त्रिलोकी' पदेन तत्तद्गुणविलक्षणभाववन्तः स्वीयाः तेषां तत्तद्भावदानेन प्रियसंगमजनित परमशोभाकरणत्वेन स्वयमेव भूषणं भवतीति स्वानुभवएव उक्तः.किञ्च न केवलं तेषामेव भूषणं किन्तु तद्भूषणरूपत्वे भूमावपि महत् सौभाग्यं तत्र आहुः **भूमिभाग्यम्** इति, तदाधारभूतायाः **भूमेः भाग्यरूपमेव.** अयं भावो : भक्तानां लीलोपयोगिदेहप्राप्तिस्तु आचार्यचरणसरोज-सम्बन्धिरजसैव भवतीति आचार्यस्थित्या तच्चरणारविन्दस्पर्शाद् भूमिः अधुना तद्रजसा भक्तानां लीलोपयोगिदेहो भविष्यति, तदा ममापि तल्लीलासम्बन्धो भविष्यतीति तत्स्थितिं स्वभाग्यत्वेनैव मनुते इति उक्तं **भूमिभाग्यम्.**

(४/क)**त्रिलोकी...** इति. भूमौ विशेषतः तथात्वाय **भूमि...** इति.

(४/ख)**त्रिलोकी...** इति, **त्रिलोक्याः भूषणम्** इति अर्थः. त्रिलोक्याः 'स्त्री'-पद-प्रयोगेन प्रभूणां **'भूषण'**पद-प्रयोगेन च यथा स्त्रीणां भूषणं विना न शोभा तथा आचार्यप्राकट्यं विना त्रिलोक्याअपि इति भावः. एवं त्रिलोकीभूषणत्वम् उक्त्वा वृन्दावनवत् केवलं भूमिभाग्यमेव आहुः **भूमिभाग्यम्** इति, **भूमेः भाग्यरूपमेव** इति अर्थः

(५)**त्रिलोकी...** इति, सात्त्विकराजसतामसस्वभावाः **'त्रिलोकी'**पदेन उच्यन्ते, तेषां पुरुषोत्तमसम्बन्धकरणाद् **भूषणं** शोभाजनकम् इति अर्थः. यद्वा **त्रिविधभावयुक्तलीलास्थ** भक्ताः **'त्रिलोकी'पदेन उच्यन्ते. तेषां भगवदास्यत्वेन स्वदर्शनेन परमशोभाजनकइति तथा. यद्वा त्रिलोक्याः** स्वर्गभूमिपातालरूपायाः **भूषणं** ब्रह्माण्डातीतः चेत् तत्र स्वयम् आगतः तद्भूषणं भवत्येव ''धन्या त्रिलोकी यत्र अयम् अवतारः'' इति. एतस्य भूमौ आगमने भक्तायाः तस्याएव भाग्यं हेतुः इति आहुः **भूमि...** इति, यथा तत्र पूर्वं पुष्टिप्रकटनार्थम् आसुरनाशार्थं त...नाशार्थं भगवदागमनं तद्भाग्येनैव, तथा अधुनापि पुष्टिप्राकट्यार्थं दैवदुःखनिवारणार्थं मायावाद्यासुर-भावनाशार्थम् आगतमिति मायावादाद्यासुर(भाव)नाशार्थम् आगमनम् इति मूर्तिमत् तद्**भाग्यमेव** आगतम् इति तथा उक्तम्.

(६)**त्रिलोकी...** इति, **त्रिलोक्याः भूषणं** भगवत्कीर्तिः तद्रूपः

इति अर्थः. श्रियम् आहुः **भूमि...** इति, भूमेः **भाग्यं** श्रीरूपो धन्यत्वसम्पादकः इति अर्थः.

(७)**त्रिलोकीभूषणं...** इति, लोकदर्शने लोक्यन्ते ते **लोकाः** सर्वे दृष्टिगोचराः पदार्थाः ज्ञानविषयीभूताः च. "दृश्यते अनेन इति 'दर्शनम्'" इति व्युत्पत्त्या 'दर्शन'शब्दस्य ज्ञानार्थकत्वात्. तेषु दृग्ज्ञानविषयेषु ये त्रित्वसंज्ञायाम् आपन्नाः सत्त्वादयः, सच्चिदानन्दाः, वैकारिक-तैजस-तामसाहंकारभेदाः, तन्मात्रेन्द्रियमनांसि, भगवत्कमलब्रह्माणो(?) भूर्भुवस्स्वः लोकाः, तत्पालकाः, त्रिविधगतयः, त्रिविधकर्माणि, योगतपोभ्यासाः, आद्यन्तमध्यानि, अन्यानि च यानि कानिचित् तेषां समाहारः **त्रिलोकी** तस्याः तस्यां वा **भूषणम्** पूर्वपदोदाहरणानि "**तमोरजःसत्त्वम् इति**" (भाग.पुरा.११।२४।५) "**वैकारिकः तैजसः च तामसः च इति अहं त्रिवृत् तन्मात्रेन्द्रियमनसां कारणं चिदचिन्मयः**" (भाग.पुरा.११।२४।७), "**तस्मिन् अहं समभवम् अण्डे सलिलसंस्थितौ मम नाभ्याम् अभूत् पद्मं विश्वाख्यं तत्र च आत्मभूः. सो असृजत् तपसा युक्तो रजसा मदनुग्रहात् लोकान् सपालान् विश्वात्मा भूर्भुवःस्वर् इति त्रिधा**" (भाग.पुरा.११।२४।१०-११) "**त्रिलोक्यां गतयः सर्वाः कर्मणां त्रिगुणात्मनाम् योगस्य तपसः चैव न्यासस्य गतयो अमलाः**" (भाग.पुरा.११।२४।१३-१४) "**यस्तु यस्य आदिः अन्तः च स वै मध्यं च तस्य सन् विकारो व्यवहारार्थो यथा तैजसपार्थिवाः**" (भाग.पुरा.११।२४।१७). सर्गस्थितिभंगादयो अन्येऽपि उत्तरपदोदाहरणानि. "**मया प्रक्षोभ्यमाणायाः...कारणं चिदचिन्मयः**" (भाग.पुरा.११।२४।५-७) "**मया सञ्चोदिताः भावाः**" (भाग.पुरा.११।२४।१९) "**मम आयतनम् उत्तमम्**" (भाग.पुरा.११।२४।१९), "**मदनुग्रहात्... सिद्धानां त्रितयात् परम्**" (भाग.पुरा.११।२४।११-१२) "**भक्तियोगस्य मद्गतिः**" (भाग.पुरा.११।२४।१४), "**मया कालात्मना धात्रा**" (भाग.पुरा.११।२४।१५), "**तत् सत्यम् अभिधीयते**" (भाग.पुरा.११।२४।१८) "**ब्रह्म तत्त्रितयन्तु अहम्**" (भाग.पुरा.११।२४।१९), "**विराण्मया आसाद्यमानो**" (भाग.पुरा.११।२४।२१), "**जीवात्मनि मयि अजे**"(भाग.पुरा.११।२४।२७), "**परावरदृशा मया**" (भाग.पुरा.११।२४।२९) **भूषणं** श्रेष्ठः इति यावत्. **त्रित्वसंख्याकलोकसमाहारभूषणत्वकथनेन** सांख्य-प्रकारैकज्ञान-कथनरूपो अध्यायार्थः प्रदर्शितः. पञ्चविंशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **भूमिभाग्यम्...** इति, भूमिः स्थितौ स्थानमात्रे "**भूवः किद्**" इति 'मिः'. भज्यते "'**भज' सेवायां**" (पाणि.धा.पा.भ्वा.१०२३) सहलोः ण्यत्. भाग्यजननं **भागः** तस्य भावः कर्म वा भाग्यं ष्यञ्. "**भगं श्रीः योनिः वीर्येच्छाज्ञानवैराग्यकीर्तिषु माहात्म्यैश्वर्ययत्नेषु धर्मे मोक्षेऽपि ना रवौ**" ( ). "**ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रीयः ज्ञानवैराग्ययोः चैव षण्णां 'भगः' इति ईरिणा**" ( ). भूमेः स्थितेः स्थानमात्रस्य वा भाग्यं भगस्य श्री-योनि-वीर्येच्छा-ज्ञान-वैराग्य-यशो-माहात्म्यैश्वर्य-यत्न-धर्म-मोक्ष-सूर्याद्यर्थकस्य भावः कर्म वा **भाग्यम्** . तद् उक्तं "[१]**सत्त्वं च अभिजये युक्तो नैरपेक्ष्येण शान्तधीः**" (भाग.पुरा.११।२५।३५) इति "**श्रीगुणाः नैरपेक्ष्याद्याः**" ( ) इति स्मरणाद्. यस्य श्रीत्वं तस्य कर्म सत्त्वाभिजयः. तत् कर्तृत्वात् प्रेरकत्वात् सर्वरूपत्वाद् अत्र सतत्त्वं श्रीमदाचार्यचरणानाम्. एवं अग्रेऽपि ऊह्यम्. [२]यौनौ "**तस्माद् देहम् इमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसम्भवम् गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः**" (भाग.पुरा.११।२५।३३) "**योनिः स्त्रीपुंसयोः च स्याद् आकरे स्मरमन्दिरे**" (विश्व. । ।) इति विश्वः. "**योनिः कारणे भगतोययोः**" इति हैमः. "**ज्ञानविज्ञानयोः सम्भवो यत्र आकरम्**" इति यावत्. [३]"**हास्यं वीर्यं बलोद्यमः**" ( ) [४]"**कामः ईहा मदः तृष्णा**" ( ) [५]"**कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानम्**" (भाग.पुरा.११।२५।२४) [६]"**गुणसङ्ग विनिर्धूय**" (भाग.पुरा.११।२५।३४) [७]"**मदोत्साहो यशः प्रीतिः**" (भाग.पुरा.११।२५।३) [८]"**मयैव ब्रह्मणा पूर्णो**" (भाग.पुरा.११।२५।३६) [९]"**निर्गुणं स्मृतम्**" (भाग.पुरा.११।२५।३१) [१०]"**न बहिः नान्तरः चरेत्**" (भाग.पुरा.११।२५।३६) "**मां भजन्ति विचक्षणा**" (भाग.पुरा.११।२५।३४) [११]"**धर्मे च अर्थे च कामे च... यदा असौ परिनिष्ठितो गुणानां संनिकर्षो अयं श्रद्धारतिधनावहः**" (भाग.पुरा.११।२५।७) [१२]"**यदा चित्तं प्रसीदेत इन्द्रियाणां च निर्वृतिः देहे अभयं मनोऽसङ्गं तत् सत्त्वं विद्धि मत्पदम्**"

(भाग.पुरा.११।२५।१६) [१३]‘‘सत्त्वाद् जागरणं विद्याद् रजसा स्वप्नम् आदिशेत्’’ (भाग.पुरा.११।२५।२०) अत्र ‘जागरण’पदेन सूर्यः आक्षिप्यते. अत्र भूमेः भाग्यत्वकथनेन भूमेः च स्थानस्थितिमात्रार्थत्वेन ‘स्थान’शब्दस्य स्थित्यधिकरणवाचकत्वेन स्थितिश्च यस्य कस्य यत्र कुत्रचिद् वाच्या. साच प्रकरणवशाद् एतदध्यायोक्ता गृह्यते. अस्मिन् अध्यायेतु स्थितिकामधर्मार्थप्रवृत्तिलक्षण-सत्त्वरजस्तमो-ज्ञानत्रैविध्य-वनग्रामद्यूतसदनं त्रिविधकर्मकर्तृत्वश्रद्धाभोजनसुखपुरुषाव्यक्तदेहादिषु अत्र उक्ताः. तथाहि ‘‘धर्मे अर्थे च कामे च यदा असौ परिनिष्ठितः’’ (भाग.पुरा.११।२५।७) ‘‘प्रवृत्तिलक्षणे निष्ठा पुमान् यर्हि गृहाश्रमे स्वधर्मे च अनुतिष्ठेत गुणानां समितिः हि सा, पुरुषं सत्त्वसंयुक्तम् अनुमीयात् शमादिभिः कामादिभी रजोयुक्तं क्रोधाद्यैः तमसायुतम्’’ (भाग.पुरा.११।२५।८-९) ‘‘कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानम्’’ (भाग.पुरा.११।२५।२४) इत्यादिभिः. ‘‘वनन्तु सात्त्विको वासो, ग्रामो राजस उच्यते, तामसो द्यूतसदनं, मन्निकेतन्तु निर्गुणम्’’(भाग.पुरा.११।२-५।२५) इत्यादि. ‘‘सात्त्विको कारको असङ्गी, रागान्धो राजसः स्मृतः, तामसः स्मृतिविभ्रष्टो, निर्गुणो मदपाश्रयः’’ (भाग.पुरा.११।२५।२६) इत्यादि. ‘‘सात्त्विकी आध्यात्मिकी श्रद्धा, कर्मश्रद्धातु राजसी, तामसी अधर्मे या श्रद्धा, मत्सेवायान्तु निर्गुणा’’ (भाग.पुरा.११।२५।२७), ‘‘पथ्यं पूतम् अनायस्तम्’’ (भाग.पुरा.११।२५।२८) ‘‘सात्त्विकं सुखम् आत्मोत्थं, विषयोत्थन्तु राजसं, तामसं मोहदैन्योत्थं, निर्गुणं मदपाश्रयम्’’ (भाग.पुरा.११।-२५।२९) इत्यादि. ‘‘सर्वे गुणमयाः भावाः पुरुषाव्यक्तधिष्ठिताः’’ (भाग.पुरा.११।२५।३१) एवञ्च अत्र पञ्चविंशतिधा स्थित्यर्थकस्य भूमेः भाग्यं हि उत्तममेव भवितुम् अर्हति. यथाहि पुरुषस्य भाग्यमेव सारम्. तस्थितमेव हि पुरुषो अनुभवति तच्च अत्रापि अनेकविधमेव उक्तम्. तथाहि ‘‘मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्’’ (भाग.पुरा.११।२५।२४), ‘‘मन्निकेतन्तु निर्गुणम्’’ (भाग.पुरा.११।२५।२५), ‘‘निर्गुणो मदपाश्रयः’’ (भाग.पुरा.११।-२५।२६), ‘‘भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते’’ (भाग.पुरा.११।२५।-३२), ‘‘गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः निसङ्गो माम् भजेत् विद्वान्’’ (भाग.पुरा.११।२५।३४), ‘‘मयैव ब्रह्मणा पूर्णो न बहिः न

आन्तरः चरेत्’’ (भाग.पुरा.११।२५।३६). एवञ्च अत्र स्थितेः सारांशकथनेन स्थितिगुणानां सत्त्वादीनां जयरूपो अध्यायार्थो अत्र गोचरीकृतः.

:: उत्थानिका: ::

(१)एवम् आचार्याणां भक्तिमार्गप्रकटकत्वेन हेतुना भूमिभाग्यत्वं निरूप्य स्वीयानां निर्हेतुकदर्शनमात्रस्यैव स्वभाग्यहेतुत्वज्ञापकधर्मविशिष्टम् अग्रिमं नाम आहुः —

(२)...

(३)ननु ईदृशभूषणकृता शोभा कदाचित् सर्वदा न तिष्ठेत् तत्र आहुः —

(४/क)विषयप्रकारेणाऽपि तथात्वाय —
(४/ख)एतन्नामसाधकम् अग्रिमं नाम आहुः —

(५)तत्रापि सर्वालौकिकगुणसम्पन्नएव आगतः इति आहुः —

(६)ज्ञानम् आहुः —

(७)षड्विंशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः —

:: मूलम् ::

सहजसुन्दरः [१०७]

अशेषभक्त-सम्प्रार्थ्य-चरणाब्ज-रजोधनः [१०८]

:: टीका: ::

(१)सहजसुन्दरः इति, यद्यपि स्वीयानां साक्षात्स्वरूपदर्शनमेव

स्वभाग्यस्फूर्तौ हेतुः तथापि सौन्दर्यस्य अनागन्तुकत्वेन स्वाभाविकत्वज्ञापनाय उक्तं **सहजसुन्दरः** इति॥३२॥ एवं भक्तानां भाग्यरूपत्वेन आचार्याणां स्वरूपं निरूप्य तेषामेव तच्चरणारविन्दरजसएव ऐहिकामुष्मिकसर्वपुरुषार्थसाधकत्वज्ञापनाय अग्रिमं नाम आहुः **अशेषभक्त-सम्प्रार्थ्य-चरणाब्ज-रजोधनः** इति, **अशेषैः भक्तैः सम्यग्** ऐहिकामुष्मिकसर्वपुरुषार्थसाधकत्वेन **प्रार्थ्यं चरणाब्जरजोधनं** यस्य सः. अनेन भक्तानां चरणारविन्दरजो विहाय अन्यपदार्थस्य प्रार्थनीयत्वाभावो ज्ञापितः.

(२)**सहजसुन्दरः** इति, **सहजात्** स्वभावादेव **सुन्दरः. सहजं सुन्दरं** यस्य इति वा॥३२॥ **अशेषभक्त-सम्प्रार्थ्य-चरणाब्ज-रजोधनः** इति, **अशेषैः** सर्वैरपि अनन्य**भक्तैः सम्यग्** आग्रहेण **प्रार्थ्यं** याचनार्हं, **चरणाब्जरजो**रूपं चरणकमलपरागरूपं **धनं** अक्षयनिधिः यस्माद् इति.

(३)**सहजसुन्दरः** (इति), तादृशं **सौन्दर्यं सहजमेव**, नतु कदाचिद् आगन्तुकं इति सूच्यते॥३२॥ किञ्च **'सहज'**पदेन आगन्तुकमपि सौन्दर्यं यद् जातं तत् तथैव सर्वदा तिष्ठति नतु कदापि गच्छति. ननु पूर्वम् उक्तं भक्तानां लीलोपयोगिदेहप्राप्तिः आचार्यचरणसम्बन्धरजसा भवति इति कथं ज्ञायते? तत्र आहुः **अशेषभक्त...** इति, **अशेषभक्तैः सम्यक्** सर्वं विहाय प्रार्थ्यम् इदमेव इति **सम्प्रार्थ्यं चरणाब्जरजो**रूपमेव **धनं** यस्य इति. अतः तज्ज्ञातमपि भवति. किञ्च स्नेहरसरूपरजःप्रार्थनेन आचार्यदत्ततादृशरजोलाभेन तादृशसम्भवेन तादृशलीलासम्बन्धिपरमानन्दानुभवाद् आचार्याणां त्रिलोकीभूषणत्वं भूमेः भाग्यरूपत्वमपि सम्पन्नमेव इति सर्वम् अवदातम्.

(४/क)**सहज...** इति॥३२॥ तादृशे कर्तव्यबोधनाय **अशेष...** इति.

(४/ख)**सहजसुन्दरः** इति, **सहजमेव सौन्दर्यं** यस्य इति अर्थः. यद्वा **सहजा सुन्दरता** यस्य इति भावः. तेन आचार्यप्राकट्यं विना सर्वत्र सौन्दर्याभावः सूचितः॥३२॥ एवं सौन्दर्यम् उपपाद्य भक्तसेव्यस्वरूपम्

आहुः **अशेषाः** अनन्याः ये **भक्ताः** तैः **सम्प्रार्थ्यं चरणाब्जरजएव धन**रूपं यस्य इति अर्थः

(५)**सहज...** इति, भगवतइव वस्त्रालङ्काराद्युपाधिरहितस्वाभाविकसौन्दर्यवान् इति अर्थः. एतेन **''यत्र आकृतिः तत्र गुणाः वसन्ति''** (   ) इति न्यायेन अलौकिकसौन्दर्येण अलौकिकाएव गुणाः लक्ष्यन्ते॥३२॥ एतादृशस्य चरणरजो दुर्लभं धनमेव इति सर्वप्रार्थ्यत्वम् आहुः **अशेष...** इति, **अशेषाः** सर्वएव **भक्ताः**. यद्वा एतद्**भक्ताः** सर्वएव **अशेषाः** ब्रह्मादीनामपि शेषभूताः न भवन्ति. सर्वशिरोमणयः तैः **सम्यग्** दैन्यपूर्वकं **प्रार्थ्यं** नतु प्राप्तं **चरणाब्ज**योः **रजो**रूपं **धनं** यस्य. चरणयोः अब्जत्वेन सरसा पुष्टिभक्तिः उच्यते, तत्र परागस्थानीयं रजः तद्भावरूपं, तदेव दुर्लभं धनं दानैकलभ्यम्.

(६)**सहज...** इति, स्वभावसिद्धः **सुन्दरो** मायातत्कार्यलेशाभावेन वरेण्यं सुन्दरं ज्ञानमेव भवतीति ज्ञानरूपता उक्ता. एतैः त्रिभिः आनन्दसच्चिद्रूपतापि निरूपिता॥३२॥ अतएव पूर्वयोः धर्मत्वेन निरूपणम्. एतेषां स्वरूपत्वेन निरूपणम्. वैराग्यं आहुः **अशेष...** इति, **अशेषैः भक्तैः सम्प्रार्थ्यं चरणाब्जरज**एव **धनं** धन्यत्वसम्पादकं यस्य. एतेन हरेः चरणयोः प्रीतेः पुष्टिमार्गीयवैराग्यत्वात् सेवकेषु तत्सिद्ध्या **''श्रियो हि परमाकाष्ठा''** (भाग.सुबो.१०।१८।११/कारि.२४) इति न्यायेन स्वामिनि वैराग्यं निरूपितम्.

(७)सहजसुन्दर इति, **सहजसुन्दरं** सौन्दर्यं यस्य सः. तद् उक्तं **''मल्लक्षणम् इमं कायं लब्ध्वा मद्धर्म आस्थितो आनन्दं परमात्मानम् आत्मस्थं समुपैति माम्''** (भाग.पुरा.११।२६।१) [२] यद्वा **''**'जुगि वर्जने**''** (पाणि.धा.पा.भ्वा.१५७). बाहुलकाद् डुः. सह जुग्यते वर्जते इति **सहजः**. सुन्दरयति रुचिरं करोति इति **सुन्दरः**, तद् उक्तं, **''सङ्गं न कुर्याद् असतां शिश्नोदरतृपां क्वचित् तस्य अनुगः तमसि अन्धे पतन्ति अन्धानुगान्धवत्''** (भाग.पुरा.११।२६।३). अत्र असतां सङ्गस्य वर्जनेन अर्थात्

सत्सङ्गविधानमेव सङ्गस्य रुचिरीकरणम्. ''ततो दुःसङ्गम् उत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान्'' (भाग.पुरा.११।२६।२६) इति वाक्यात्. [३]यद्वा '''जुषी' प्रीतिसेवनयोः'' (पाणि.धा.पा.तुदा.१३१७). तद् उक्तं ''कामान् अतृप्तो अनुजुषन् क्षुल्लकान् वर्षयामिनीः न वेद यान्तिः न आयान्तीः उर्वश्याकृतकृष्टचेतनः'' (भाग.पुरा.११।२६।६). [४]यद्वा '''जेष' गतौ''. सह जेषति गच्छतीति सहजः तद् उक्तं ''पुंश्चल्या अपहृतं चित्तं कोनु अन्यो मोचितुं प्रभुः आत्मारामेश्वरम् ऋते भगवन्तं अधोक्षजम्'' (भाग.पुरा.११।२६।१५). [५]यद्वा '''जल' अपवारणे''. सह जल्पते अपवार्यते सहजः. तद् उक्तं, ''अथापि न उपसज्जेत स्त्रीषु स्त्रैणेषु च अर्थवित् विषयेन्द्रियसंयोगात् मनः क्षुभ्यति न अन्यथा'' (भाग.पुरा.११।२६।२२) [६]यद्वा जसु ताडने तद् उक्तं, ''कुतः तस्य अनुभावः स्यात् तेज ईशत्वमेव वा यो अन्वगच्छं स्त्रियं यान्तीं खरवत् पादताडितः'' (भाग.पुरा.११।२६।११) इत्यादि. [७]बहुप्रकारकः पुरूरवा सहजः तं सुन्दरं रुचिरं करोति इति सहजसुन्दरः. तद् उक्तं, ''एवं प्रगायन् नृपदेवदेवः स उर्वशीलोकम् अथो विहाय आत्मानम् आत्मनि अवगम्य मां वै उपारमत् ज्ञानविधूतमोहः'' (भाग.पुरा.११।२६।२५). [८]यद्वा सहजः स्वभावतएव सुन्दरः. तद् उक्तं ''मयि अनन्तगुणे ब्रह्मणि आनन्दानुभवात्मनि'' (भाग.पुरा.११।२६।३०). [९]यद्वा '''जप' व्यक्तायां वाचि मानसे च'' (पाणि.धा.पा.भ्वा.३९७). सह जपन्ति ते सहजाः साधवः तान् सुन्दरयति. तद् उक्तं ''तेषु नित्यं महाभाग महाभागेषु मत्कथाः सम्भवन्ति हिता नृणां जुषतां प्रपुनन्ति अघम्. ता ये शृण्वन्ति गायन्ति हि अनुमोदन्ति च आदृताः मत्पराः श्रद्धधानाः च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि'' (भाग.पुरा.११।२६।२८-२९). [१०]'''जसु' मोक्षणे'' (पाणि.धा.पा.१२३६) सह जस्यते मुञ्चते इति सहजः पुरूरवाः तं सुन्दरयति. तद् उक्तं, ''वैतसेनः ततोऽपि एवम् उर्वश्या लोकनिःस्पृहः. मुक्तसङ्गो महीम् एताम् आत्मारामः चचार ह'' (भाग.पुरा.११।२६।३५). अत्र अनेकार्थस्य सहजस्य रुचिरीकरणेन स्वात्मना बोधनिरूपो अध्यायार्थो निरूपितः. सप्तविंशाध्यायार्थबोधकं नाम आहुः **अशेषभक्तसम्प्रार्थ्यचरणाब्ज-रजोधनः** इति. न शेषाः भिन्नाः भक्ताः यस्मात् स अशेषभक्तः उद्धवः

''मुख्यं कृष्णपरिग्रहे'' (भाग.पुरा.३।४।२४) इति शुकवाक्यात्. अशेषः च असौ भक्तः च अशेषभक्तः उद्धवः ''न उद्धवो अण्वपि मन्न्यूनः'' (भाग.पुरा.३।४।३१) इति भगवद्वाक्यात्. उद्धवेन सम्यग्ब्रह्मादिसम्मतिपूर्वकं वाच्यवाचकस्तुतिपूर्वकं प्रकर्षेण वा इति हेतुना सर्वाधिकारदौर्लभ्यसूचनेन 'यथा' इति प्रकारप्रश्नेन 'अर्चति' इति विषयसूचनेन 'सात्त्वता' इति अधिकारिद्योतनेन 'सात्त्वतर्षभः' इति आधिदैविकत्वज्ञापनेन, अर्थ्यम् इति अर्थितुम् उपयाचितुं योग्यं भक्तिरूपं यत् चरणं तत्सम्बन्धिन्यो या आपः तज्जन्यं यद् रजः तदेव धनं यस्य सः. तद् उक्तं ''उद्धव उवाच : ''क्रियायोगं समाचक्ष्व भवदाराधनं प्रभो यस्मात् त्वां ये यथा अर्चन्ति सात्त्वताः सात्त्वतर्षभः'' (भाग.पुरा.११।२७।१) इत्यादि पद्यपञ्चकेन. [२]यद्वा अशेषैः व्यञ्जनैः सह स्थितेन भक्तेन ओदनेन सह सम्प्रार्थ्यम्. तद् उक्तं, ''गुडपायससर्पींषि शष्कुल्यापूपमोदकान् संयावदधिसूपान् च नैवेद्यं सति कल्पयेत्'' (भाग.पुरा.११।२७।३४). अत्र चकारेण ओदनः ग्राह्यः सूपसामिप्यात्. अतएव शिष्टाः नैवेद्यं संयावाद्यं ''राधाधर...'' (सेवाश्लो.१६ रश्मि : ४।३।१६) इत्यादि पद्यैः सम्प्रार्थयति. [३]यद्वा अस्य वासुदेवस्य शेषम् उच्छिष्टं तदर्थं भक्तः तद्योग्य इति यावत्. तदर्थं शेषं पूर्ववत्. तद् उक्तं, ''दत्त्वा आचमनम् उच्छेषं विष्वक्सेनाय कल्पयेत् मुखवासं सुरभिमत् ताम्बुलाद्यम् अथ अर्हयेत् (भाग.पुरा.११।२७।४३). विष्वक्सवतेः सेना यस्य स विष्वक्सेनो गरुडः ''गरुत्मता हन्यमानाः तुंडपक्षै नखैः गजाः'' इति वाक्यात्. [४]यद्वा अशेषैः उपगानादिभिः साधनैः स्तवादिभिः वा भक्तैः संप्रार्थ्यम्. तद् उक्तं ''उपगायन् गृणन् नृत्यन् कर्माण्यभिनयन् मम मत्कथाः श्रावयन् शृण्वन् मुहूर्तं क्षणिको भवेत्. स्तवैः उच्चावचैः स्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतेरपि स्तुत्वा प्रसीद भगवन् इति वन्देत दण्डवत्.'' (भाग.पुरा.११।२७।४४-४५) इत्यादि च. [५]यद्वा अशेषैः शरीरावयवैः भक्तैः इति पूर्ववत्. ते च अवयवाः ''पद्भ्यां कराभ्यां जानुभ्यां उरसा शिरसा तथा मनसा वचसा च इति प्रणामो अष्टाङ्ग ईरित'' ( ) इति वाक्योक्ताः ग्राह्याः. तद् उक्तं, ''शिरो मत्पादयो कृत्वा बाहुभ्यां च परस्परम् प्रपन्नं पाहि माम् ईश भीतं मृत्युग्रहार्णवात्''

(भाग.पुरा.११।२७।४६). [६]यद्वा अस्य वासुदेवस्य **शेषम् भक्तम्** भुक्तशेषं तदर्थं **सम्प्रार्थ्यम्**. तद् उक्तं, "इति शेषां मया दत्तां शिरसि आधाय सादरम्"(भाग.पुरा.११।२७।४७). [७]यद्वा **अशेषेषु** अर्चास्थंडिलसूर्यजलवह्नि-गुरुप्रभृतिषु **भक्तैः सम्प्रार्थ्यम्. तद् उक्तं** "अर्चादिषु यदा यत्र श्रद्धा मां तत्र च अर्चयेत् सर्वभूतेषु आत्मनि च सर्वात्मा अहं अवस्थितः" (भाग.पुरा.११।२७।४८). [७]यद्वा **अशेषैः** वैदिकतान्त्रिकमिश्रैः मार्गैः **भक्तैः सम्प्रार्थ्यम्. तद् उक्तं,** "एवं क्रियायोगपथैः पुमान् वैदिकतान्त्रिकैः अर्चयन् उभयतः सिद्धिं मत्तो विन्दन्ति अभीप्सिताम्** (भाग.पुरा.११।२७।४९). [८]यद्वा सार्ष्टि-सार्वभौमत्व-भुवनत्रय-ब्रह्मलोक-साम्यत्वात् **अशेष** फलार्थं **भक्तैः सम्प्रार्थ्यम्. तद् उक्तं** "पूजादीनां प्रवाहार्थं महापर्वसु अथ अन्वहम् क्षेत्रापणपुरग्रामान् दत्त्वा मत् सार्ष्टिताम् इयात्" (भाग.पुरा.११।२७।५१) इत्यादि. [९]यद्वा **अशेषाणां** कर्तृ-सारथि-हेत्वनुमोदितॄणां भागः फलम्. तदर्थं **सम्प्रार्थ्यम्** सेवनीयं **चरणाब्जरजोधनं** यस्य सः. अत्र सेवाबोधकेन 'सम्प्रार्थ्य'पदेन हरिपूजा-निरूपणरूपो अध्यायार्थः प्रदर्शितः. षोडशाक्षरैः षोडशकलापूर्णस्य भगवतो नामानि इति सूचितम्. दशभिः पदैः दशविधभक्तमनोरथपूरकत्वं, सर्गादिलीलाकर्तृत्वं, तल्लीलाप्रतिपाद्यत्वं, निजजनप्राणरूपत्वं च षट्त्रिंशद्भिः वर्णैः अथर्वणोपनिषदुक्त-षट्त्रिंशत्प्रश्नोत्तरसिद्धान्तरूपता, एकादशस्कन्धीयैकोनविंशाध्यायोक्त-प्रश्नोत्तरसिद्धान्तरूपता च निरूपिता.

:: उत्थानिका: ::

(१)एवम् आचार्याणाम् अष्टोत्तरशतनामानि निरूप्य उपसंहरन्ति —

(२)...

(३)एवं सर्वप्रकारेण अष्टोत्तरशतनामभिः आनन्दनिधिरूपत्वं निरूप्य उपसंहरन्ति —

(४/क)...

(४/ख)एवं नामानि उक्त्वा एतत्स्तोत्रफलम् आहुः —

(५)एवं नामानि उक्त्वा फलस्तुतिम् आहुः —

(६)उपसंहरन्ति —

(७)एवं नाम्नाम् अष्टोत्तरशतम् उक्त्वा उपसंहरन्ति —

:: मूलम् ::

इत्यानन्दनिधेः प्रोक्तं नाम्नामष्टोत्तरं शतम्॥३३॥
श्रद्धाविशुद्धबुद्धिर्यः पठत्यनुदिनं जनः॥
स तदेकमनाः सिद्धिमुक्तां प्राप्नोत्यसंशयम्॥३४॥

:: टीका: ::

(१)इत्यानन्दनिधेः इति, **इति** अनेन प्रकारेण. **आनन्दनिधेः** आनन्दसमुद्रस्य आचार्यस्य. आचार्याणाम् **आनन्दसमुद्रत्वोक्त्या** सदा अगाधत्वपूर्णत्वानवरतोच्छलत्-तरङ्गवत्त्व-विविधलीलारस-भावरत्नाकरत्वादि-धर्मवत्त्वं ज्ञापितं भवति. **नाम्नामष्टोत्तरं शतं** मया श्रीविठ्ठलेशेन **प्रोक्तं** प्रकर्षेण कथितम्. अत्र कथने '**प्र**'शब्दोपादानेन सिद्धानामेव नाम्नां प्रकाशकत्वं नतु कल्पयित्वा कथनम् इति ज्ञापितम्. एवं नामप्रकाशकत्वम् उपपाद्य तत्प्रकाशनप्रयोजनम् उत्तरार्द्धेन आहुः **श्रद्धा...** इति, **श्रद्धया विशेषेण शुद्धा** दुःसङ्गाद्यनपनोद्या **बुद्धिः** यस्य, सः **श्रद्धाविशुद्धबुद्धिः**. तादृशः सन् **यो जनः पठति**. अत्र '**यः**' इति सामान्योक्त्या स्वमार्गीयत्वमेव हेतुः. नतु वर्णविशेषस्यापि पठने निमित्तत्वम् इति ज्ञापितम्. एवं पठने स्वीयमात्राधिकारित्वम् उपपाद्य पाठस्य आवश्यकत्वज्ञापनाय कालनियमम् आहुः **अनुदिनम्** इति, प्रतिदिनम् इति अर्थः. यः पठति, **सः** पूर्वं **तदेकमनाः** भवति. **तेष्वेव** आचार्येष्वेव **एकं** केवलं **मनो** यस्य, तादृशो भवति. तदनन्तरम् **उक्तां** कृष्णाधरामृतास्वादरूपां **सिद्धिं** फलं **प्राप्नोति.**

स्वमनोभिलषितप्रकारेण फलानुभवज्ञापनाय **प्र**शब्दः. एवं फलप्राप्तिम् उक्त्वा फलप्राप्तेः अव्यभिचारित्वज्ञापनाय आहुः **असंशयः** इति, निःसन्दिग्धम् इति अर्थः ॥३३-३४॥

(२)**इत्यानन्दनिधेः** इति, **आनन्दघनस्य.** अन्यत् स्पष्टम्. **तदेकमनाः** तस्मिन् श्रीवल्लभएव, **एकस्मिन् मनो** यस्य. **उक्तां** कृष्णाधरामृतास्वादरूपाम् - ॥३३-३४॥

(३)**इत्यानन्दनिधेः** इति, एवं प्रकारेण स्वरूपतः साधनतः फलतः **आनन्दनिधेः** तत्समुद्रस्य **अष्टोत्तरं नाम्नां शतं** मया **प्र**कर्षेण **उक्तम्.** **'इत्यानन्दनिधेः'** इति उक्तत्वाद् एतानि नामानि प्रत्येकम् आनन्दनिधिरूपाण्येव इति ज्ञापितम्. यथा समुद्रतरङ्गयोः न भेदः तथा अत्रापि. यथा वारिधौ कानिचिद् रत्नानि बहिर्निष्कास्य दृश्यन्ते; स्वस्मिन् अलंक्रियन्ते न एतावता तेषां भिन्नत्वं भवति किन्तु तानि निधिरूपाण्येव, तथा अत्रापि नाम्नां पृथक्त्वेन कथनेऽपि न तद्भिन्नत्वम् इति भावः. **'निधि'**पदेन निधौ यत्रैव युक्तो भवति, तत्रैव किञ्चित् प्राप्नोति. तथा आचार्येषु यथा कथमपि युक्तोहि आनन्दमेव प्राप्नोति इति भावः. अत्र उक्तौ प्रकर्षकथनस्य अयं भावो : अत्र 'आनन्दसमुद्र'त्वोक्त्या यथा समुद्रस्य तरङ्गाः अनन्ताः तथा नामान्यपि अनन्तानि परन्तु अतिगोप्यानि परमरहस्यरूपाणि तेषु मया एतानि प्रकर्षेण रसपरवशत्वोत्कर्षेण उक्तानि नतु प्रकाश्यत्वेन. तदपि स्वकीयानाम् अर्थे न अन्येषाम्. अन्यानि यथास्थितानि तानि न उक्तानि इति सूचितम्. किञ्च एतेन एतन्नाम्नामपि यथास्थितानामेव प्राकट्यं नतु कल्पयित्वा कथनम् इत्यपि ज्ञापितम्. तेषाम् अनुभवोऽपि स्वस्यैव इत्यपि सूचितम्. एवं स्तोत्रं निरूप्य अस्य पठनप्रकारम् आहुः **श्रद्धाविशुद्ध...** इति, **श्रद्धया विशेषेण शुद्धा बुद्धिः यस्य.** श्रद्धया शुद्धौ अयमेव विशेषो यः. यद् यत्र यादृशं नाम उक्तं, तत्र तादृशरूपत्वेनैव सर्वात्मना स्फूर्तिः भवेद्

इति. एवं पूर्वं श्रद्धाविशुद्धबुद्धिः भवेत्, पश्चात् **तदेकमनाः** **तद्**-तन्नामनिरूपितलीलाविशिष्टस्वरूपएव **मनो** यस्य, एतादृशः सन् **पठति.** तदपि **अनुदिनं** निरन्तरं तदा **उक्तां** "**कृष्णाधरः...**"(सर्वो.६) इति उक्तां **सिद्धिं प्राप्नोति** सर्वथा. अत्र न सन्देहः. अत्र **'असंशय'**पदस्य अयं भावः : आचार्याणां साक्षात् श्रीकृष्णास्यस्वरूपत्वेन तत्तल्लीलाविशिष्टास्यरूपस्य अस्य अनुभवात् तदासक्त्या श्रीकृष्णाधरामृतास्वादसिद्धिः भवेदेव. 'भ्रमरकीट'न्यायेन इति स्वानुभवादेव, उक्ते न **संशयः** इति ॥३३-३४॥

(४/क)...

(४/ख)**इति...** इति, एवं प्रकारेण समाप्तौ वा **आनन्दनिधेः** केवलं भगवत्स्वरूपस्यैव **नाम्नाम् अष्टोत्तरं शतं प्रोक्तम्** इति अर्थः. तच्छ्रद्धया **विशेषेण शुद्धा** भगवत्साक्षात्कारातिरिक्त-कामरहिता **बुद्धिः** यस्य, एतादृशः सन् **अनुदिनं यो जनः पठति. 'जनः'** इति सामान्योक्त्या न अत्र वर्णादिविचारः. **सः तदेकमनाः** सन् **उक्तां** कृष्णाधरामृतास्वादात्मिकां **सिद्धिं प्राप्नोति** इति अर्थः. अस्मिन् अर्थे **संशयो** न अस्ति इति उक्तम् **असंशयः** इति ॥३३-३४॥

(५)**इति...** इति, **'इति'**इति समाप्तौ प्रकारे वा. एवं प्रकारेण **आनन्दनिधेः** आनन्दसमुद्रस्य पूर्णानन्द**नाम्नाम् अष्टोत्तरं शतं** स्वरूपगुणलीला-विशिष्टम् **उक्तं** मया इति शेषः. एतानि नामानि आनन्दनिधेरेव, नतु अंशकलादेः. वक्ता अहमेव इति एतत्कथनेन ज्ञापितम्. तच्छ्रद्धया दृढविश्वासेन **विशेषेण शुद्धा** कुतर्काद्यनुपहता **बुद्धिः** यस्य. तादृशो **यः पठति अनुदिनं** नियमपूर्वकम्. **जनो** जननधर्मा, **स तदेकमनाः**, **तस्मिन्** प्रभावेन **एकं मनो** यस्य, तादृशो भवति. नाम्ना प्रमेयबलेन निरोधकत्वात् पश्चात् जननधर्मरहितो भूत्वा **उक्तां सिद्धि**लोभस्थामृतास्वादरूपां **प्राप्नोति.** जीवस्य कथं सा सिद्धिः? इति शङ्कानिरासाय **असंशयः** इति उक्तम् मदुक्ते

अर्थे **संशयो** न कर्तव्यः इति आशयः ॥३३-३४॥

(६)**इत्यानन्दनिधेः** इति, सच्चितोरपि स्वरूपत्वेऽपि अत्र **आनन्दस्य** आधिक्यसूचनाय **'आनन्दनिधेः'** इति उक्तम्. **''आयुः हरति वै पुंसाम्''** (भाग.पुरा.२।३।१) इति न्यायेन शतायुषां कालेन हरणाभावः षडिन्द्रियस्वरूपद्वयानन्दभेदेन अष्टविधानन्दमयावाप्तिः च. एतत्पाठाद् भवति इति सूचयितुं तावतीं सङ्ख्याम् आहुः **अष्टोत्तरं शतम्** इति. **श्रद्धया विशुद्धिकथनेन** न अत्र चित्तशुद्ध्यर्थं तीर्थाद्यपेक्षा इति सूचितम्. **जनः** सेवकः. एवम् अधिकारिविशेषणद्वयम् उक्तम्. **तदेकमनाः** इति अवान्तरव्यापारः. **उक्ता सिद्धिः** कृष्णाधारामृतास्वादरूपा फलम्. तस्य अतिदुर्लभत्वेन संशयम् आशङ्क्य निराकुर्वन्ति **असंशयः...** इति ॥३३-३४॥

(७)**आनन्दनिधेः** इति, **''इति हेतुप्रकरणप्रकर्षादिसमाप्तिषु''** (   ) **''इति प्रकरणे हेतौ च प्रकाशादिसमाप्तिषु निदर्शने प्रकारे स्याद् अनुकर्षे च सम्मतम्''** (   ). श्रीकृष्णलीलार्थबोधकान् इति हेतोः **आनन्दनिधेः**. [२]यद्वा इति प्रकरणवशाद् **आनन्दनिधेः**. [३]यद्वा इति प्रकारस्य **आनन्दनिधेः**. पूर्वं श्रीमद्भागवते गूढं स्थितम्. [४]यद्वा इति एवम् आदीनि समाप्तानि इति वा निदर्शितानि इति वा प्रकारविशेषेण बोध्यानि इति वा. श्रीभागवताद् अनुकृष्टानि इति वा सप्रकारो अग्रे वाच्यः. **आनन्दनिधेः** इति, **आनन्दस्य** भगवतः निधिः निधानम्. **आनन्दो** भगवान् स **नितरां** धीयते धार्यते पोष्यते अनेन इति वा. आसमन्तात् **नन्दस्य** नन्दरायस्य **निधिः** तद्गृहभूषणे वा तस्य. **प्रोक्तम्** इति वचने प्रकर्षः. अत्र श्रीभागवताद् उद्धृत्य कथनरूपो ज्ञेयः. **नाम्नाम्** इति, **''णम् प्रह्वत्वे शब्दे च''** (   ) नामयन्ति भगवन्तं वैकुण्ठाद् अस्मिन् लोके आनयन्ति तानि तेषाम् **अष्टाभिः** उत्तरं शतम्. **श्रद्धया विशेषेण शुद्धा बुद्धिः** यस्य एतादृशः. **य** इति सर्वनामनिर्देशेन कृतात्मनिवेदिनां

सर्वेषाम् अधिकारः. **पठति** व्यक्तवाण्या उच्चारयति. **अनुदिनं** दिनं-दिनम् अनुदिनस्य योग्यम् इति वा विग्रहः. **यः पठति** सः **जनो** भवति तस्यैव जन्म सफलम्. **''तस्यर्ते यत्क्षणो नीतः''** (भाग.पुरा.२।३।१७) इति वाक्यात्. **सः तदेकमनाः सिद्धिम् उक्तां प्राप्नोति असंशयः** सपूर्वं **तदेकमनाः** भगवदेकतानो भवति. तद् **उक्तां** कृष्णाधरामृतास्वादसिद्धिं **प्रकर्षेण आप्नोति संशयो न** अस्ति. कुमारिकासु व्रतचर्यायाः **''एवं मासं व्रतं चेरुः कुमार्यः कृष्णचेतसः''** (भाग.पुरा.१०।१९।५) इति सन्दर्भे तथा अनुभवस्य सिद्धत्वात्.

:: उत्थानिकाः ::

(१)एवम् अव्यभिचारेण स्वकीयेषु स्वमार्गीयफलप्राप्तिं निरूप्य अस्य फलस्य इतरमार्गीयमुक्तिफलापेक्षया आधिक्यज्ञापनाय आहुः —

(२)...

(३)ननु तर्हि एतत्सिद्ध्यनन्तरं मोक्षो भविष्यति, तत्र आहुः —

(४/क)...

(४/ख)एवं फलम् उक्त्वा एतत्फलाभावे सर्वफलानां व्यर्थताम् आहुः —

(५)ननु मोक्षस्य परमफलत्वात् तत्साधकस्तोत्राणि अन्यान्येव पठनीयानि किम् अनेन? इति आशङ्क्य आहुः —

(६)फलान्तरानभिलाषार्थं फलस्तुतिम् आहुः —

(७)

:: मूलम् ::

तदप्राप्तौ वृथा मोक्षस्तदाप्तौ तद्गतार्थता ॥

अतः सर्वोत्तमं स्तोत्रं जप्यं कृष्णरसार्थिभिः ॥३५॥

॥ इतिश्रीमदग्निकुमारोक्तं श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥

:: टीका: ::

(१)**तदप्राप्तौ वृथा मोक्षः** इति, तस्य स्वमार्गीयफलस्य **अप्राप्तौ मोक्षोऽपि**, सायुज्यादिरपि **वृथा**. एतन्मार्गीयफलाभावात् निरर्थकः इति अर्थः. तस्य स्वमार्गीयफलस्य **आप्तौ** प्राप्तौ सत्यां तस्य सायुज्यादेः **गतार्थता** निरर्थकता इति अर्थः. एवं स्वमार्गीयफलस्य सर्वोत्कृष्टत्वं निरूप्य एतत्स्तोत्रपाठस्य एतत्फलसाधकत्वज्ञापनाय आवश्यकत्वनिरूपणाय च आहुः **अतः** इति, यतो अस्य स्तोत्रपाठस्य एतत्फलसाधकत्वम्, अतएव एतत्स्तोत्रस्य **सर्वोत्तमत्वम्** इति ज्ञापनाय स्तोत्रनामनिरूपणपूर्वकं पाठस्य आवश्यकत्वम् उक्तम्. पूर्वं **स्तोत्रपाठकथनेन** अधुना **जप्यत्वकथनस्य** अयम् आशयो : यावत् सर्वं स्तोत्रं निःसन्दिग्धं न आयाति तावत् पाठएव कर्तव्यः. सम्यगागमनानन्तरं गुप्ततया जपएव कर्तव्यो, नतु प्रकटतया पठनीयम् इति ज्ञापनाय उक्तं **जप्यम्** इति, एवं स्तोत्रस्य जप्यत्वं प्रतिपाद्य जपाधिकारिणः आहुः **कृष्णरसार्थिभिः** इति ॥३४-३५॥

एवं **स्तोत्रजपाधिकारिणो** निरूप्य स्तोत्रसमाप्तिं निरूपयन्ति **इतिश्रीमद्...** इति.

(२)**तदप्राप्तौ** आस्वादालाभे ॥३५॥

(३)**तदप्राप्तौ...** इति, **अतो मोक्षादपि सर्वात्मना उत्तमम्. सर्वेषु स्तोत्रेषु** वा इदमेव **उत्तमम्** इति सर्वोत्तमस्तोत्रम् इदं **जप्यम्.** अतिरहस्यत्वेन स्वहृदयएव जप्यम्. केन इति अपेक्षायाम् आहुः ये **कृष्णरसार्थिनः** तैः; तैः सह वा पठनीयम् इति अर्थः. एतेन एतद्रसानभिज्ञेषु सर्वथा न प्रकाशनीयम् इति ज्ञापितम्. **'कृष्णरसार्थि'**त्वोक्त्या उद्भूतभावानामेव अत्र

अधिकारो न अन्येषाम् इति सूचितम्. 'जप्य'त्वकथनेन यथा-यथा जपति तथा-तथा भावोद्रेकेण तद्रसस्वभावेन परमनिगूढत्वेन तत्तद्रसानुभवपूर्वकं स्वहृदयएव जप्यं भवति, नतु कस्यचिद् अग्रे कथयितुं शक्यं भवति इति भावः ॥३४-३५॥

(४/क)....

(४/ख)**तदप्राप्तौ...** इति, तस्याः **प्राप्तौ मोक्षोऽपि वृथा, तत्प्राप्तौ** सत्यां **तद्गतार्थता** भवति. **अतः** कारणात् **सर्वोत्तमस्तोत्रं कृष्णरसार्थिभिः जप्यम्** इति अर्थः. **'जप्य'**त्वोक्त्या नाम्नां मन्त्रत्वमेव इति भावः. **जपोक्त्या** तद्रसानभिज्ञेषु गोप्यत्वं सूच्यते ॥३५॥

(५)**तदप्राप्तौ...** इति, स्तोत्राद्यन्यसाधनैः **मोक्षप्राप्तावपि एतदप्राप्तौ** सर्वेन्द्रियाणां वैफल्यात् स वृथा जले निमग्नस्य जलपानवत्. अत्रतु अलौकिकरूपेण सर्वांशेन परमानन्दास्वादनम् इति, एतत्सिद्धिप्राप्तौ तस्य **गतार्थता.** नहि कश्चित् सिताम् आस्वाद्य गुडम् अपेक्षते महाराज्यं वा प्राप्य वणिजादिसमृद्धिम्. अतः एतदेव पठनीयम् इति आहुः **अतः** इति, यः एवम् **अतः** इदं **सर्वोत्तम...** इति, सर्वेषु **स्तोत्रेषु** उत्तमम्. वा **सर्वोत्तमस्य** वैकुण्ठनाथादपि उत्तमस्य लोकवेदातीतस्य रसात्मकपुरुषोत्तमस्य स्तोत्रं तदास्याम्बुजस्तुतिः तत्स्तुतिरेव इति. तत्स्तोत्रं **कृष्णरसार्थिभिः** कृष्णलक्षणो यः पूर्णः शृङ्गाररसः. यद्वा सदानन्दस्य रसात्मकस्यापि सारभूतो यो रसो लोभात्मकः तद्**अर्थिभिः जप्यम्.** प्रतिनाममन्त्ररूपत्वात् गुप्ततया मन्त्रवत् जप्यम्. अन्यार्थिभिः अन्यदेव जप्यम्. **कृष्णरसार्थिभिस्तु** एतदेव जप्यम् इति अर्थः. **'जप्यम्'**इति पदेन तत्तन्नामोक्तस्वरूपगुणलीलाध्यानपूर्वकं जप्यम् इति उक्तम् ॥३५॥

(६)**तदप्राप्तौ** इति, एवम् अङ्गानि निरूप्य विधिम् आहुः **जप्यम्**

इति, विधौ **'यत्'**प्रत्ययः. फलकामनारूपं मुख्यम् अधिकारिविशेषणम् आहुः **कृष्णरसार्थिभिः**...इति, साङ्गविधिनिरूपणेन फलस्य साधनाधीनत्वं सूचितं, साधनस्य भक्तिरूपत्वात् न विध्यधीनतादोषः. **'सर्वोत्तमम्'** इति अन्वर्थनाम ।।३५।।

(७)**तदप्राप्तौ** इति, तस्याः कृष्णाधरामृतास्वादसिद्धेः **अप्राप्तौ मोक्षो** अक्षरसायुज्यं **वृथा "अनिच्छतो गतिम् अण्वीं प्रयुंक्ते"** (भाग.पुरा.३।२५।३६) इति वाक्ये अनिच्छाविषयत्वात्. तस्या **आप्तौ तद्गतार्थता** तस्मिन्नेव समावेशो "भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः" (भाग.पुरा.।५।६।१७) इति वाक्यात्. **अतः सर्वोत्तमस्तोत्रं जप्यं कृष्णरसार्थीभिः**. यतः एतत्पठतां कृष्णाधरामृतास्वादसिद्धिः अतः **सर्वोत्तमं** सर्वम् उत्तमं येन यस्मै यस्माद् यस्य यस्मिन् वा सर्वे उत्तमा येन इत्यादि वा सर्वान् प्रति उत्तमं, सर्वैः प्रकारैः उत्तमं सर्वफलार्थं सर्वेभ्यः साधनेभ्यो **सर्वोत्तमं स्तोत्रं** स्तवनक्रियायाः करणभूतं **जप्यं** व्यक्तवाण्या मनसि उच्चार्यं जपविषयभूतं जपार्हम्. **कृष्णरसार्थिभिः** इति अधिकारिणो हि उक्ताः. **इति श्रीमद् अग्निकुमारप्रोक्तं सर्वोत्तमं स्तोत्रं समाप्तम्** इति, **इति** इति समाप्तौ. **श्रीमद्** इति भावप्रधानं श्रीत्वमन्तो ये **अग्निकुमाराः** तैः प्रकर्षेण सर्वाधिक्येन स्वानुभूतत्वेन **उक्तम्.** अतएव **सर्वप्रकारैः उत्तमं स्तोत्रं** समाप्तं पूर्णताम् अगमद् इति अर्थः.

:: उपसंहारः ::

(१)एवमाचार्यनामानि विवृतानि यथामति ।।
पितृपादाब्जकृपया नाऽन्यसाधनतो मया ।।१।।
यद्यत्र बुद्धिदोषेण विवृतावन्यथा कृतिः ।।
क्षमन्तामस्मदाचार्याः मद्भृत्योऽयमिति स्वतः ।।२।।[1]

---

[1]आचार्यनामशतकाष्टकमौक्तिकानि
श्रीविठ्ठलोक्तिरससागरनिर्गतानि ।।

श्रीमत्प्रभुचरणैकतानश्रीवल्लभविरचिता
श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रविवृतिः
सम्पूर्णा

(२)यदीयत्वं समाश्रित्य कृतं निर्वचनं मया ।।
नाम्नां स एव क्षमतां यदत्रानुचितं वचः।।१।।

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणकमलैकशरणश्रीरघुनाथस्य कृतौ
श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रविवरणं सम्पूर्णम्

(३)न साधनं न निष्ठा च न धर्मः कोऽपि वर्तते ।।
तथापि हि तदुक्तार्थविचारे यत् स्थितं मनः ।।१।।
क्षणैकं मे परं तत्र कारणं तत्कृपेक्षणम् ।।
तद्विचारोत्थिता भावाः परमानन्ददायिनः ।।२।।
अनूदिता मया त्वन्तः प्रभवो द्रढयन्तु तान् ।।
अयोग्ये मयि सम्भूता इति सत्त्वे तु संशयः ।।३।।
तत्संशयं तत्करुणादृष्टिरेव निरस्यतु ।।
यद्यपीह कृतं बाल्यं मूढेन तदपि स्वतः ।।४।।
तथात्मसात्कृतत्वेन क्षमन्तां प्रभवो मम ।।
श्रीमदाचार्यचरणाः श्रीमान् श्रीविठ्ठलप्रभुः ।।
तदीयास्तद्रसार्द्रा ये शरणं मम ते सदा ।।५।।

इति श्रीविठ्ठलेश्वरविरचितसर्वोत्तमस्तोत्रस्य
श्रीघनश्यामात्मज(चाचा)गोपेश्वरविनिर्मिता

श्रीवल्लभोक्तविवृतेर्गुणगुम्फितानि
कुर्वन्तु कण्ठभुवि भक्तजना जपार्थम् ।।३।।
श्रीवल्लभाचार्यपदाम्बुजाते यदि प्रभाते स्मृतिवर्त्मयाते ।।
चेतः पुनाते विपदे लुनाते श्रेयस् तदा ते सकलं ददाते ।।४।।

विवृतिकारेतरस्य कस्यचित् कृतिरियम्.

सर्वोत्तमभावप्रकाशिका समाप्ता

(४/क)इति श्रीहरिरायविरचितः सर्वोत्तमनामहेतुनिरूपणं सम्पूर्णम्

(४/ख)सर्वोत्तमस्य विवृता विवृतिर्भाववर्द्धिनी॥
तेनाचार्याः प्रसीदन्तु स्वीयं ज्ञात्वा सदैव माम्॥१॥
युक्तं वा यदि वायुक्तं यदत्र कथितं मया॥
क्षमन्त्वाचार्यचरणास्तत्स्वीयेषु दयालयः॥२॥
ज्ञात्वाज्ञात्वैव कथितं जीवबुद्ध्या हि यन्मया॥
स्वीयं मत्वा तत् क्षमन्तु दीने श्रीविठ्ठलेश्वराः॥३॥
श्रीविठ्ठलेशपादाब्ज-मकरन्द-मिलिन्दताम्॥
सर्वोत्तमस्य विवृतिः भावयेद् भाववर्द्धिनी॥४॥
भावोद्बोधकवाचां हि रचिता भाववर्द्धिनी॥
श्रीविठ्ठलेशपादाब्जे न्यस्ता पुष्पाञ्जलिः शुभा॥५॥

इति श्रीविठ्ठलनाथपादपद्मभ्रमरेण रचिता
सर्वोत्तमस्य भाववर्द्धिनी विवृतिः
सम्पूर्णा
॥श्रीवल्लभाचार्याः प्रसीदन्तु॥

(५)इति श्रीविठ्ठलरायात्मजवल्लभकृता
सर्वोत्तमविवृतिः
सम्पूर्णा

(६)स्वीयेषु कृपयोक्तस्य ग्रन्थस्यास्य महात्मभिः।
वदनानलदासोक्ता व्याकृतिः पूर्णताम् अगात्॥

इति श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभविरचिता
सर्वोत्तमटीका

(७)इति श्रीमद्गोस्वामिमथुरानाथसूरिसूनुद्वारिकेशविरचिता
सर्वोत्तमव्याख्या समाप्ता.

श्रीमद्विठ्ठलनाथप्रभुचरणविरचितम्

॥ श्रीवल्लभाष्टकम् ॥

॥ श्रीपुरुषोत्तमकृतश्रीवल्लभाष्टकविवरणविवृतिः ॥

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जरजांस्यहम्॥
तदष्टकीयविवृतेर् भावं वच्मि कृपाबलात्॥१॥

तत्र पूर्वम् उपोद्घाततया इदम् उच्यते : सर्वश्रुतिशिरस्सु परब्रह्मणएव परमतत्त्वं सच्चिदानन्दरूपेण वैयासदर्शनसिद्धम्. तच्च नानाप्रस्थानैः निर्विशेषसविशेषभेदेन प्रकृतिसम्बन्धशून्य-तद्युक्तत्वाभ्यां विष्णुशिवादिरूपेण च बहुधा विचारितम्. यत्र पुनः विष्णुरूपं विचारितं तत्रापि श्रुतिपुराणादिभिः पुरुषोत्तमत्वेन निर्णीतं नतु सच्चिदानन्दरूपकृष्णाकारतया. तथा फलविचारेऽपि स्वस्वरूपावस्थान-पुरुषोत्तमप्राप्ति-शिवप्राप्त्यादिरूपेण फलं विचारितं नतु "**ब्रह्मविद् आप्नोति परम्**" (तैत्ति.उप.२।१) इति ब्रह्मणो विवरणर्गुत्तरार्धोक्त-ब्रह्मसहभावक-सप्रधानक-सर्वकामभोगात्मक-परप्राप्तिरूपेण. काम्यन्ते इति-**कामाः** सत्यसंकल्पत्वादयः कल्याणगुणाः, ब्रह्मणा सह, तान् अश्नुते. दहरविद्यायां "**तस्मिन् यद् अन्तः तद् अन्वेष्टव्यम्**" (छान्दो.उप.८।१।१) इतिवद् गुणप्राधान्यं वक्तुं 'सह'शब्दः, 'वेदनम्'=उपासनं, फलोपासनयोः प्रकारैक्यं[१] "**यथाक्रतुः[२] अस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथा[३] इतः प्रेत्यः भवति**" (छान्दो.उप.३।१४।१) इति विवरणात्. व्यासचरणैस्तु वेदव्यासं, कतिचित् पुराणानि, कृत्वा वेदार्थप्रकाशकभारतजिज्ञासासूत्रकरणोत्तरमपि अपरितुष्यद्भिः नारदोपदेशेन समाधौ अनुभूय भक्त्युत्पादकसंहितारूपं श्रीभागवतं प्रकटीकृत्य शुकं पाठयित्वा परितुष्टम्. श्रीभागवतेच "**कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्**" (भाग.पुरा.१।३।२८) इति सूतोक्तिमुखेन प्रतिज्ञाय दशमैकादशयोः तत्रैव रूपे परब्रह्मत्वं बोधितम्. एकादशेच उद्धवोद्देश्यकभगवदुपदेशमुखेन

"अथ एतत् परम गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखा" (भाग.पुरा.११।११।४९)इत्यादि — "तस्मात् त्वम् उद्धव उत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनां प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च माम् एकमेव शरणम् आत्मानं सर्वदेहिनां याहि सर्वात्मभावेन यास्यसे हि अकुतोभयम्"(भाग.पुरा.११।१२।१४)इत्यन्त — वाक्यसिद्ध- व्रजभक्तरीतिक-सर्वात्मभावस्य साधनत्वं तल्लभ्यफलस्यैव फलत्वं च बोधितम्. तेन व्यासचरणानामपि अयमेव आशयः. सोऽयं यदि कैश्चिदपि ज्ञातः स्यात् प्रकटितएव स्यात्. तदप्राकट्ये च "असाधनं साधनं करोति" (द्रष्ट.त.दी.नि.प्र.१।१) इत्यादिरूपो भगवदनुभावो अप्रकटितएवेति तदर्थं पूर्वोक्तरूपो भगवान् स्वानुभावंप्रकटनार्थम् आज्ञापूर्वकं तत्रापि अनधिकारिणाम् उक्तफलस्य दुर्लभत्वाय लौकिकधर्मसंकीर्णतया श्रीमदाचार्यान् प्रकटयामास. तदिदं मन्दमध्यमादीनाम् असत्संगादिदोषेण अगोचरमिति तेषामेव भवति सन्देहः. अन्तर्यामिब्राह्मणे "यस्य आत्मा शरीरम्" (बृह.उप.(माध्यं)३।७।२२) इत्यनेन जीवात्ममात्रस्य भगवच्छरीरत्वे श्रावितेऽपि एकादशे श्रीमदुद्धवैः "यो अन्तर्बहिः तनुभृताम् अशुभं विधुन्वन् आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति" (भाग.पुरा.११।२९।६) इत्यनेन आचार्यचैत्यस्य वपुः स्पष्टम् उक्तम्. श्वेताश्वतरोपनिषदि च "यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ तस्य एते कथिताः ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" (श्वेता.उप.६।२३) इति मन्त्रेण देवगुरुभक्त्योः साम्यं श्रावितम्, तेन जीवमात्रे परस्य भोक्तृरूपेण स्थितिः, आचार्यचैत्येतु तनुभृदन्तर्बहिः अशुभविधूननसामर्थ्यपूर्वकम् इति. "'वं' सुखं 'पु'ष्णाति इति वपुः" इति आचार्यचैत्यस्य वपुष्ट्वम्. अतः श्रीमदाचार्येष्वपि आचार्यान्तरवदेव आवेशरूपा भगवत्स्थितिः उत "यस्य अवताराः ज्ञायन्ते शारीरैः अशरीरिणः तैस्तैर् अतुल्यातिशयैः वीर्यैः देहिषु असंगतैः" (भाग.पुरा.१०।१०।३४) इति दशमस्थनलकूबेरवाक्याद् उक्तमार्गप्रकटनवीर्यलिंगेन अवतारत्वम्. यदि अवतारत्वं तदापि किं शेषासन्यादिरूप-रामानुजमध्वाचार्यादितुल्यत्वम् उत कश्चिद् विशेषः इति? तस्यैतस्य अनपाकरणे "संशयात्मा विनश्यति" (भग.गीता.४।४०) इति वाक्याद् उत्कृष्टगुरु-

॥चतुर्थात्मज-श्रीवल्लभविरचितं विवरणम्॥

यत्पादरजसागत्य मनो मे चञ्चलीकृतम्।।
तत्कृताचार्यपद्यानां विवृतौ यत् प्रवर्तते।।१।।
विवृतेः सफलत्वाय नत्वा पितृपदाम्बुजम्।।
विवृतिः कर्तुम् आरब्धा ह्यतिविश्वासतो मया।।२।।

ननु **श्रीवल्लभाचार्याणां स्वरूपस्य तद्धर्माणां तदीयानां च सर्वेषामेव अलौकिकभावात् तादृशस्य लोके जन्माद्यसम्भवाद् जन्मादीनां प्रतीयमानत्वात् तदीयानां** तत्र हेत्वज्ञानाद् भवति **सन्देह**इति **पितृचरणैः तदीयानाम्** इतरसाधारण्येन **जन्माभावार्थं** प्रादुर्भावे **हेतुज्ञापनार्थं प्रादुर्भावस्य च असाधारणकार्यकर्तृत्वज्ञापनार्थं तत्स्वरूपप्रादुर्भावं तत्कृतासाधारणधर्मान् च ज्ञापयितुं पितृचरणाः सर्वसन्देहनिवृत्त्यर्थं तत्स्वरूपादिकम्** आहुः :

श्रीमद्-वृन्दावनेन्दु-प्रकटित-रसिकानन्द-सन्दोह-रूप-
स्फूर्जद्-रासादि-लीलामृत-जलधिभराक्रान्त-सर्वोऽपि शश्वत्।।

श्रीमद्वृन्दावनेन्दुप्रकटित... **इति, वृन्दावनस्य 'श्रीमत्'त्वोक्त्या इतरवन-वैलक्षण्यं निरूपितम्, एतदितरस्य श्रीमत्त्वाभावात्. यदि**

भक्त्यभावात् च श्रीमदाचार्योक्तार्थाप्रकाशेन तेषां कृतार्थता न स्यादिति श्रीमदाचार्यस्वरूपयाथात्म्यपरिचायनेन तम् अपाकर्तुं श्रीमत्प्रभुचरणाः श्रीवल्लभाष्टकं चक्रुः. तदपि व्याख्यानमन्तरेण न सुबोधमिति श्रीगोकुलनाथाः तद् विवरीतुं प्रतिजानते **यत्पादरजसा** इत्यादिद्वाभ्याम्. आद्यं श्लोकम् अवतारयितुं सन्देहबीजं वदन्तः आहुः **ननु** इत्यादि. **धर्माणाम्** इति अनुभूयमानानुभावानां कर्मणाम्. **तदीयानाम्** इति उत्तमसेवकानाम्. **तादृशस्य** इति अलौकिकस्वरूपधर्मकस्य. **जन्मादीनाम्** इति **'आदि'**पदेन इन्द्रियान्तःकरणधर्माणां ग्रहणम्. **तदीयानाम्** इति मन्दमध्यमानाम्. **सन्देहः** इति व्याख्यातरूपः. **तदीयानाम्** इति श्रीमदाचार्यस्वरूपधर्माणाम्. **जन्माभावार्थम्** इति जन्माभावज्ञाप-

शोभापरत्वेन कदाचित् श्रीमत्त्वम् उच्यते तथापि अत्र "श्रयते इन्दिरा शश्वद् अत्र हि" (भाग.पुरा.१०।२८।१) इति कथनात् साक्षाच्छ्रीनिवासाद् नैतत्समत्वम् इतरेषु. एतस्य अलौकिकत्वेनापि महद् वैलक्षण्यम्. अस्य अलौकिकत्वे धर्मान्तरमपि आहुः (इन्दु...इति) यथा लौकिकवनस्य अधिपतिः लौकिकः चन्द्रः "सोम औषधीनाम् अधिपतिः" (तैत्ति.संहि.३।४।५।१) इति श्रुतेः आह्लादकः स्वामृतस्यन्देन पोषकः च; तथा अत्र साक्षाद्रसात्मकपुरुषोत्तमस्य इन्दुत्वेन एतद्वनस्य एतदधिपतिकत्वम् एतदाह्लादकत्वम्. 'इन्दु'पदाद् अस्य वनस्य वेणुनादद्वारा सर्वत्र स्वस्वरूपामृतप्रवेशनेन एतदाद्रार्द्रीकरणत्वम्, "'उन्दी'=क्लेदने"(पाणि.धा.पा.रुधा.२०) इति धात्वर्थस्य तथैव सिद्धेः, "उन्देः इत् च" इति उः "आदेश्च" इति इकारः. इतोऽपि महद् वैलक्षण्यं तेन इन्दुना प्रकटितो यो रसिकेषु अन्तरङ्गभक्तेषु आनन्दसमूहः तद्रूपः तत्स्वरूपः सच असौ स्फूर्जजद्रासादिलीलामृतजलधिभराक्रान्त-सर्वः च. स्फूर्जन्तः स्फुरद्रूपाः ये रासादिलीलारूपाः अमृतजलधयः अमृतसमुद्राः. लीलानाम् अमृतत्वनिरूपणेन माधुर्यं मरणादिसर्वदोषनिव-र्तकत्वम् एतल्लीलाभिनिविष्टपेयत्वं न अन्येषां, तथा अत्रापि जलधित्वेन अगाधत्वं तरङ्गवत्त्वं च. तेन यथा जलधौ उत्तरोत्तरतरङ्गाधिक्यं तथैव एतल्लीलासमुद्राणाम् उत्तरोत्तररसभावाधिक्यं, तादृशानां जलधीनां भरः आधिक्यं तेन आक्रान्तं सर्वं देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणादि यस्य तादृशः. आक्रान्तेः कादाचित्कत्वनिराकरणार्थं शश्वद् इति उक्तम्. तेन सदा एतद्रसपूर्णत्वं निरूपितम्. तेन आचार्याणां बाह्याभ्यन्तरभेदेन धर्माः निरूपिताः.

नार्थम्. शेषम् उत्तानम्. व्याख्यानग्रन्थे उच्यते इति इतरस्य उच्यते. श्रीनिवासाद् इति, तथाच श्रीनिवासकृतशोभायाः इतरत्र अभावाद् इति भावः. आर्द्रीकरणत्वम् इति पचादित्वाद् ल्युः (द्रष्ट.पाणि.सू.३।१।१२४) इतोऽपि इति भगवदधिपतिकत्वाद् इति अर्थः. धर्माः निरूपिताः इति स्वरूपभूताः कार्यभूताः च मूलधर्माः इति अर्थः. तेन मूलस्वरूपाद् अभेदो अत्र बोधनार्थं प्रतिज्ञातः इति ज्ञापितम्.

अतःपरं तादृशस्य लोके इतरसाधारण्येन जन्मादिकम् असम्भावितम् इति लौकिकप्रकारेण जन्माभाववत्त्वं प्राकट्ये च हेतुम् आहुः. यद्यपि प्राकट्यं न सम्भवति तथापि प्रादुर्भावस्य भगवदिच्छाधीनत्वेन आवश्यकत्वात् प्राकट्यहेतुभूतां भगवदाज्ञाम् आहुः —

तस्यैवात्मानुभाव-प्रकटन-हृदयस्याज्ञया प्रादुरासीद्
भूमौ यः सन्मनुष्याकृतिर् अतिकरुणस् तं प्रपद्ये हुताशम्॥१॥

तस्यैव इति, तस्यैव भगवतएव आज्ञया प्रादुरासीत्, आज्ञायाम् आवश्यकत्वम् आहुः आत्मानुभावप्रकटनहृदयस्य इति, आत्मनः स्वस्य योऽयम् अनुभावो असाधारणलीलाकरणरूपः तस्य प्रकटने हृदयम् अन्तःकरणं यस्य. तादृशस्य आज्ञया. ननु कथम् आचार्याणामेव इयम् आज्ञा? तत्र हेतुः आज्ञायाम् आत्मानुभवप्रकटनहेतुत्वेन आत्मानुभवस्य लीलात्मकत्वेन तद्भावानाम् अनुभवैकवेद्यत्वेन लीलान्तःपात्यतिरिक्तस्य अवेद्यत्वेन तदन्तःपातिनएव वेद्यत्वाद् एतेषामेव आज्ञा. तेन प्रादुभार्वस्य आवश्यकत्वं निरूपितम्. तेन 'प्रादुरासीद्' इति पदेन तत्स्वरूपाज्ञानवतामेव लौकिकसाधारणधर्मादिस्फूर्तिः वस्तुतस्तु प्रादुर्भावएव, स्वरूपस्य अलौकिकत्वात्.

'प्रादुरासीद्' इति उक्त्वा अनुपदमेव भूमौ यः सन्मनुष्याकृतिः इति कथनात् तत्प्रकारिकैव प्रादुर्भावाज्ञा इति ज्ञायते, सर्वप्रकारोत्कृष्टतदा-कृतित्वाभावे भक्तानां सन्तोषेण प्रवृत्तिः न स्यात्. आज्ञयापि प्रादुर्भावे हेतुः अतिकरुणः इति, 'यच्'छब्दस्य सामान्यवाचकत्वात् प्रादुर्भूतस्य

असम्भावित्वाद् इति ब्रह्मादिप्रार्थनवद् अत्र प्रार्थनादेः अभावेन तथात्वाद् इति अर्थः. तथापि इत्यादि. तथाच आज्ञैव अत्र हेतुरिति न असम्भावितत्वम् इति अर्थः. तेन मूले "स्वस्य इच्छया" इति अनुक्त्वा तस्य आज्ञया इत्यादिकथनात् श्रीकृष्णावतारइव अत्रापि मूलरूपत्वावतारत्वाभ्यां प्राकट्यं गुप्ततया अभिप्रेतमिति आज्ञाहेतुसूचनार्था द्वितीया प्रतिज्ञा इति बोधितम्. तद्भावानाम् इति लीलास्थभक्तभावानाम्. तेन इति आज्ञायाः सप्रयोजनकत्वेन

स्वरूपानिर्देशात् तज्ज्ञानव्यतिरेकेण शरणागतेः असम्भवात् तत्स्वरूपम् आहुः हुताशम् इति, 'हुताश'पदस्य लोके साधारणाग्निवाचकत्वेन अत्रच लौकिकाग्नेः असम्भवाद् भगवन्मुखारविन्दाधिष्ठातृरूपालौकिकाधिदैविकानन्दमयो अग्निः अत्र ज्ञाप्यते, लौकिकाग्नेः पूर्वोक्तधर्माणाम् अभावाद् भगवदाज्ञापनस्यापि अभावात् प्रादुर्भूतस्य हुताशत्वनिरूपणात् पूर्वोक्तालौकिकधर्मवत्त्वं तस्य ज्ञाप्यते इति भावः ॥१॥

एवम् आचार्याणां स्वरूपं, प्रादुर्भावे निमित्तं, प्रादुर्भावप्रकारं च उक्त्वा तत्कर्तृकम् असाधारणकार्यम् आहुः :

नाविर्भूयाद् भवाँश्चेद् अधिधरणीतलं भूतनाथोदितासन्-
मार्गध्वान्तान्धतुल्या निगमपथगतौ देवसर्गेऽपि जाताः ॥

नाविर्भूयाद् इति, भवान् चेत् न आविर्भूयात् तदा निजफलरहिता एषा सृष्टिः व्यर्था स्याद् इति सम्बन्धः. भवान् चेद् भवान् यदि धरणीतलम् अधिकृत्य आविर्भूतो न भवेत् तदा अग्रे वक्ष्यमाणं कार्यद्वयं न भवेत्. यद्यपि सर्वदा भगवन्मुखारविन्दे स्वाधिकरणे तत्प्रादुर्भावो अस्त्येव तथापि तत्र स्थितस्य भगवदाज्ञप्तकार्यकरणासम्भवाद् अत्र प्रादुर्भूतस्यैव तत्कार्यकरणाद् अधिधरणीतलम् इति उक्तम्. कार्यद्वयञ्च मर्यादापुष्टिभेदेन तन्मार्गीयफलप्राप्तिरूपम्. ननु मर्यादामार्गस्य वेदमूलत्वाद् वेदे च तन्मार्गीयसाधनोपदेशात् कथं तत्साध्यफलस्य मुक्तेः अभावः? इति चेत्, सत्यं, यदि साधनफलयोः तदुक्तप्रकारेण ज्ञानं स्यात् तदा फलं भवेदेव. तदुक्तप्रकारकज्ञानाभावात् फलाभावः. ननु कथं तत्प्रकारकज्ञानाभावः? इत्थं : तत्साधकानां वेदवाक्यानां स्वस्वमतानुसारेण अर्थकल्पनात्. फलस्यापि स्वस्वमतानुसारेण अनेकविधत्वकल्पनाद् नैकरूपत्वं मुक्तेः. मतभेदेन साधनमुक्त्योः प्रकारभेदे हेतुम् आहुः भूतनाथोदित... इति, भूतनाथेन महादेवेन उदिताः प्रकटीकृताः ये असन्मार्गाः मोहकशास्त्राणि मायावाद-न्याय-मीमांसादीनि. तत्तच्छास्त्रेषु स्वस्वमतानुसारेण साधनफलनिरूपणाद्

आसुरमोहनार्थं प्राकृतानुकृतेः आवश्यकत्वेन. "भूमौ यो असौ मनुष्याकृतिः" इति वक्तव्ये यत् 'सत्'पदम् उक्तं तत्तात्पर्यम् आहुः प्रादुर् इत्यादि. प्रादुर्भावहेतुः इति जीवोद्धारे तत्स्वभावपरावर्तनश्रमबाहुल्यं सोढ्वापि, एवम् अतिकरुणत्वं प्रादुर्भावहेतुः इति अर्थः. तेन आज्ञायाः एतेभ्यएव दाने बीजसूचनरूपा तृतीया प्रतिज्ञा इति सूचितम्. प्रपदनकर्मनिरूपणेन अवताररूपनिश्चायनार्था चतुर्थी प्रतिज्ञा इति आशयेन आहुः 'यच्'छब्दस्य इत्यादि. शरणागतेः इति श्वेताश्वतरोक्तगुरुभक्तिज्ञापकशरणागतेः. तथाच तदर्थमेव अत्र प्रपदनकर्मत्वेन उक्तिः इति भावः. असम्भवाद् इति विवक्षितकार्यकर्तृत्वासम्भवात् ॥१॥

एवं प्रतिज्ञावाक्यार्थं व्याख्याय हेतुवाक्यानि व्याख्यास्यन्तः पूर्वोक्तसन्देहस्थाम् आचार्यान्तरसामान्यकोटिं तर्कैः वारयितुम् आपाद्यनिरूपणमुखेन विवक्षितानुभावप्रकटनसामर्थ्यरूपम् आज्ञाहेतुं सूचयन्तो द्वितीयां प्रतिज्ञां हेतुभिः साधयन्ति इति आशयेन आहुः एवम् इत्यादि. मूले आविर्भूयाद् इति सम्भावनार्थे लिंग्, आर्धधातुकत्वाभावेऽपि तर्कस्य अनिष्टप्रसञ्जनरूपत्वेन अभावमुखेन इष्टसाधकत्वाद् आपादकापाद्याभावरूपयोः आचार्याविर्भावदैवसृष्टिवैयर्थ्याभावयोः इष्टत्वेन उत्कण्ठया आशास्यत्वाद् आशिर्'लिंग्'प्रयोगः. अधिधरणितलम् इति विभक्त्यर्थेन अव्ययीभावः. तदेव उक्तम् अधिकृत्य इत्यनेन. स्वाधिकरणे इति भगवति इति अर्थः. मर्यादापुष्टिभेदेन इति मन्दमध्यमानाम् अक्षरसायुज्योत्तरं भगवदिच्छया लीलासम्बन्धस्य "अक्षरधियान्तु अवरोधः..." (ब्र.सू.३।३।३३) इति सूत्रे निर्णीतत्वात् सोऽपि मोक्षो अत्र कार्यत्वेन उक्तः. वेदमूलत्वाद् इति वेदमूलतया प्रसिद्धत्वात्. कल्पने बीजं वदन्ति इति आहुः मत...इत्यादि. मायावादन्यायमीमांसादीनि इति, "अक्षपादप्रणीते च काणादे सांख्ययोगयोः त्याज्यः श्रुतिविरुद्धो अंशः श्रुत्येकशरणैः नृभिः. जैमिनीये च वैयासे न विरोधोऽस्ति कश्चन" (पारा.पुरा. । ।) इति पराशरीयपुराणवाक्ये न्यायादिषु विरोधस्य जैमिनीयवैयासयोः तदभावस्य उक्तत्वेऽपि प्रस्थानभेदैः तदर्थस्य व्याकुलीकरणाद् मोहकत्वेन असन्मार्गत्वम् इति अर्थः. विरोधं दर्शयितुं वैदिकार्थं पूर्वम्

नैकविधत्वं साधनफलयोः. तद् यथा वेदेच ''ब्रह्मविद् आप्नोति परम्''-''ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकताम् आप्नोति'' (तैत्ति.उप.२।१।-द्रष्ट.महाना.उप.१२।३) इत्याद्यनेकश्रुतिभिः जीवस्य ब्रह्मप्राप्तिलक्षणो मुक्तिप्रकारः उक्तो, गीतायामपि ''विशते तदनन्तरम्'' (भग.गीता.१८।-५५.) इति जीवस्य स्वस्मिन् प्रवेशस्यैव मुक्तित्वम् उक्तं भगवता. मायावादिभिः तद्विरुद्धं कल्पितजीवस्य नाशो मुक्तिः इति इति उच्यते. तत्र आत्मनाशस्य अपुरुषार्थत्वाद् मुक्तेः च पुरुषार्थत्वात् तन्मतं वेदविरुद्धत्वाद् असद्रूपम्. नैयायिकैस्तु षोडशपदार्थतत्त्वज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वम् उच्यते, मुक्तेः च सुखदुःखात्यन्ताभावरूपत्वम्. वेदेच मुक्तेः आनन्दरूपत्वनिरूपणात् तन्मतमपि असत्. मीमांसकैस्तु यागसाधनसाध्यस्वर्गलोकसुखस्यैव मुक्तित्वकथनात् श्रुतौ ''यन्न दुःखेन सम्भिन्नम्'' (गरु.पुरा.१०९।४४) इति ब्रह्मानन्दानुभवस्यैव 'स्वर्ग'पदवाच्यत्वात् स्वर्गलोके च एतल्लक्षणाभावाद् न मुक्तित्वम्.एतन्मतानुवर्तिनां वेदोक्तमुक्तिमार्गगतिप्रतिबन्धाद् ध्वान्तत्वम्. यथा ध्वान्तं प्राप्यदेशगमनप्रतिबन्धकं तथा असच्छास्त्राणामपि, मुक्तिमार्गाज्ञापकत्वाद्, ध्वान्तत्वेन तन्मार्गानुवर्तिनो अन्धतुल्याः, आसुराणां गीतोक्तप्रवृत्तिनिवृत्त्यादिज्ञानप्रकाशात्यन्ताभावाद् वेदोक्तमुक्तिमार्गे स्वाभाविकान्धत्वम्. दैवानान्तु मुक्तियोग्यत्वेन श्रुत्युक्तभक्तिमार्गज्ञानास-

---

आहुः **तद् यथा** इत्यादि. अत्र ''ब्रह्मविद् आप्नोति परम्'' (तैत्ति.उप.२।१) इत्यनेन पुष्टिमार्गीयो मोक्षः **उक्तः**. द्वितीयया मुख्यगौणभेदेन मर्यादामार्गीयः उक्तः. '**सलोकता**'पदं सार्ष्ट्याद्युपलक्षकम्. ''**ब्रह्मणः** सायुज्यं **सार्ष्टिं** समानलोकताम् आप्नोति'' (द्रष्ट.महाना.उप.१२।३) इति श्रुत्यन्तरात्. श्रुत्यर्थनिश्चायनाय आहुः **गीतायाम्** इत्यादि. श्रुतिविरोधं प्रकटयन्ति **मायावादिभिः** इत्यादि. **कल्पित...** इति अविद्यायां ब्रह्मप्रतिबिम्बो जीवः इति, **मोक्षश्च अविद्यानाशः** इति अंगीकारात् तथा इति अर्थः. **वेद...** इति, **चः** पुराणसमुच्चयार्थः. **तन्मतमपि** इति '**अपि**'**ना** साधनांशेऽपि ''**तमेव विदित्वा**'' (श्वेता.उप.३।८) इत्यादिश्रुतीनां विरोधः सूच्यते. **यागसाधन...**इत्यादि यागसाधनानि प्रयाजाः तत्साध्यो यः स्वर्गलोकः ''सुवर्गाय

म्भवेऽपि असच्छास्त्रध्वान्तप्रवेशेन अन्धतुल्यत्वं नतु स्वाभाविकान्धत्वमिति 'तुल्य'पदप्रयोगः. यदा सत्सङ्गेन ध्वान्तनाशः तदा फलमपि इति भावः. अतएव 'अपि' शब्दः. कदाचित् तच्छास्त्रपराः आसुराः भविष्यन्ति इति शङ्काव्युदासाय आहुः देवसर्गेऽपि इति, एतच्छास्त्रपराणां दैवानामपि मुक्तिमार्गाज्ञानं ज्ञापितम्. एवं मर्यादामार्गे साधनफलज्ञानाभावं निरूप्य पुष्टिमार्गेऽपि तथात्वं निरूपयन्ति :

घोषाधीशं तदेमे कथमपि मनुजाः प्राप्नुयुर् नैव दैवी
सृष्टिर् व्यर्था च भूयाद् निजफलरहिता देव! वैश्वानरैषा॥२॥

तदा तस्मिन् समये तत्सङ्गाद् इमे मनुजाः पुष्टिमार्गीयजीवाअपि स्वमार्गीयसाधनज्ञानाभावात् स्वमार्गीयसाक्षाद्भगवत्सम्बन्धरूपं फलं न प्राप्नुयुः. तदा एषा पुष्टिमार्गीया सृष्टिः व्यर्था एव भवेत् फलाभावात्. यथा मर्यादामार्गे मुक्तिः फलं तथा पुष्टिमार्गे साक्षात्पुरुषोत्तमस्वरूपसम्बन्धः फलं, तत्साधनं च भक्तिमार्गीयो भावः. पुष्टिभक्तिमार्गे साक्षात्

वा एतानि लोकानि हूयन्ते'' (तैत्ति.ब्राह्म.३।४।१।८) इति श्रुत्युक्तः. तस्य मुक्तित्वकथनात् तत्सामान्येन वाक्यशेषोक्तसुखेऽपि असुरोपघाताभावम् आकल्पस्थायित्वं च आदाय लोकपरतास्थापनात्. तत्र आत्मसुखपक्षेऽपि जैवानन्दस्य परिच्छिन्नत्वात् ''**यं यं कामं कामयते सो अस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठन्ति**'' (छान्दो.उप.८।२।१०) इत्यादिश्रुत्यन्तरे आत्मानम् 'अमृतादि'लिङ्गैः ब्रह्म इति निगमयित्वा ''**एवंवित् स्वर्गलोकम् एति**'' (छान्दो.उप.८।३।३) इति उपसंहारेण उक्तश्रुतावपि अभिलाषादिलिंगैः ब्रह्मानन्दानुभवस्यैव 'स्वः'पदवाच्यत्वात् स्वर्गलोके **च**काराद् जीवात्मसुखे च एतल्लक्षणाभावात् तथा इति अर्थः. एतेन ''**निःसम्बन्धो निरानन्दो मोक्षः**'' (. । ।) इत्यपि संगृहीतं ज्ञेयम्. **ध्वान्तत्वम्** इति मार्गाणां ध्वान्तत्वम्. शेषं स्फुटार्थम्. अत्र मायावादमात्रग्रहणाद् रामानुजमाध्वप्रस्थानयोः संग्राह्यैकदेशत्वं सूचितं ज्ञेयम्. **तत्र साधनं भक्तिमार्गीयो भावः** इति '**घोषाधीश**'पदम् इति च. अत्र इदं हृदयं : पूर्वतन्त्रे अग्निहोत्र-पूर्णमास-ज्योतिष्ठोमेषु स्वर्गस्य

पुरुषोत्तमएव सेव्यइति 'घोषाधीश'पदं, ''पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृहएव...'' (सुबो.१०।२।१६) इति वाक्यात्. साक्षात्सम्बन्धसाधकत्वमेवेति देव वैश्वानर! इति सम्बोधनं, 'दिवु'धातोः क्रीडार्थत्वाद् वैश्वानरत्वेन मुखाधिष्ठातृत्वात् फलसाधकत्वम्. त्वत्प्राकट्यात् पूर्वं मार्गद्वयभेदस्य तन्मार्गीयसाधनफलभेदस्य च अज्ञातत्वात् प्राकट्यानन्तरमेव तज्ज्ञापनेनैव ज्ञापित्वात् सुष्ठूक्तं नाविभूर्याद् इति ॥२॥

फलत्वे कथिते कर्मसु अल्पत्वबाहुल्याभ्यां भाट्टादिभिः स्वर्गे वैजात्यम् अंगीक्रियते पुराणादिष्वपि कर्मभेदेन नाना स्वर्गाः प्रदर्श्यन्ते. उत्तरतन्त्रेऽपि ''यथाक्रतुः अस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथा इतः प्रेत्यापि भवति'' (छान्दो.उप.३।१४।१) इति छन्दोगश्रुतिसिद्धेन तत्क्रतुन्यायेन साधनफलयोः प्रकारैक्यं निश्चायते. तेन साधनवैजात्ये फलवैजात्यम् अविवादम्. तथा ''जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिम् अतीत्य तुरीयातीतो गोपाल ॐ तत्सद् भूर्भुवस्सुवः तस्मै वै नमोनमः'' (गोपा.उत्त.ता.उ.३।१७) इति गोपालोत्तरतापनीये विश्वाद्याधिदैविकसहित-जाग्रदाद्यतीतत्वश्रावणेन अवतारेष्वपि कृष्णावतारस्य श्रेष्ठत्वश्रावणेन गान्धर्विदुर्वाससोः संवादसन्दर्भेण च तस्मिन्नेव तदाकारके परत्वं विश्राम्यते. गीतास्वपि ''अहं सर्वस्य प्रभवः'' (भग.गीता.१०।८) इत्यादिसन्दर्भेण ''मन्मना भव'' (भग.गीता.१२।६५) इति ''सर्वधर्मान्'' (भग.गीता.१८।६६) इति सर्वगुह्यतमोपदेशमुखेन च श्रुत्युक्तं परत्वं स्वस्मिन्नेव निश्चाय्यते. तेन तत्र परत्वमप्यपि अविवादम्. तथा साधनविचारेऽपि ''अहं सर्वस्य'' (भग.गीता.१०।८) इति पद्ये पूर्वार्धेन स्वमाहात्म्यम् उक्त्वा उत्तरार्धे भावपूर्वकभजनमेव उक्तम्. भावश्च रतिरेव ''रतिः देवादिविषया भावः'' (.   ।   ।   ) इत्यादिवाक्यात्. सापि धर्मान्तरमेव नतु ज्ञानम्, एकादशे ''अथ एतत् परमं गुह्यं शृण्वतः ... सुगोप्यमपि वक्ष्यामि'' (भाग.पुरा.११।११।४९) इति प्रतिज्ञाय योगादिसाधनासाध्यत्वनिरूपणपूर्वकं ''केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः'' (भाग.पुरा.११।१२।८) इत्यादिना भावेन गोपीगोखगमृगादिनागान्तानां स्वप्राप्तिम् उक्त्वा भावेऽपि मुख्यं भावं निष्कृष्टुं ''रामेण सार्धम्...'' (भाग.पुरा.११।१२।९) इत्यादिसन्दर्भेण ''मत्कामा रमणं जारं मत्स्वरूपाविदोऽबला: ब्रह्म मां परं प्रापुः संगात्

शतसहस्रशः'' (भाग.पुरा.११।१२।१३) इति संगस्यैव उक्तत्वेन चित्तासक्तेरेव सूचितत्वात्. नापि इच्छा 'प्रीणामि'-'अनुरज्यामि'-'इच्छामि' इति अनुभवेनैव ततो भेदाध्यवसायात्. एवं सति तादृशभावरूपसाधनेन या परप्राप्तिः सा तत्क्रतुन्यायेन उक्तरूपैव सिध्यति. इयञ्च लक्ष्म्याअपि दुर्लभा ''नायं श्रियो अङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतो अन्याः रासोत्सवे अस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठलब्धाशिषां य उदगाद् व्रजवल्लवीनाम्'' (भाग.पुरा.१०।४४।६०।) इति श्रीमदुद्धवस्य ''न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिः न शंकरो नच संकर्षणो न श्रीः नैव आत्मा च यथा भवान्'' (भाग.पुरा.११।१४।१५) इति भगवता स्तुतस्य वाक्याद्, ''आसाम् अहो चरणरेणुजुषाम् अहं स्याम्'' (भाग.पुरा.१०।४४।६१) इति तच्चरणरेणुप्रार्थनात् च. तेन फलसाधनयोः उत्कर्षस्य अत्रैव विश्रान्तिः. तदिदं श्रीमदाचार्यचरणैरेव प्रकटितमिति रामानुजाचार्यमध्वाचार्यादिभिः मायावादं निराकृत्य भगवत्सायुज्य-लक्ष्मीसायुज्यादिरूप-मोक्षस्य स्थापनेऽपि ''सो अश्नुते...'' (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रावितस्य फलस्य आनन्दमयाधिकरणस्वतन्त्रवर्णकोक्तरीत्या घोषाधीशप्राप्तिरूपत्वेन अविवेचनात्. लिंगभूयस्त्वाधिकरणोक्तरीत्या सर्वात्मभावरूपसाधनस्य अविवेचनात् च न तन्मतेन एतत्प्राप्तिरिति न आचार्यचरणाविर्भावस्य गतार्थत्वम् इति भावः. वैश्वानरत्वेन इति, ''विश्वान् नरान् नयति'' (निरु.७।६।२१) इति यास्कोक्तनिरुक्त्या सर्वजननयनसामर्थ्यबोधनेन इति अर्थः. एवञ्च अत्र 'घोषाधीश'- 'वैश्वानर'पदाभ्यां यथायथम् ''असाधनं साधनं करोति'' (त.दी.नि.प्र.१।१) इत्यादिरूपानुभावप्रकटनाभिप्रायरूपो भगवन्निष्ठः सामर्थ्यरूपः आचार्यनिष्ठः च आज्ञाहेतुः अत्र समर्थ्यते इति सूचितम्. अत्र सिद्धः तर्कः एवं प्रयोक्तव्यो : यदि विवक्षितानुभावप्रकटनाय भवान् आविर्भूतो न स्यात् दैवानां रसात्मकपरप्राप्तिः इदानीं न स्यात्. यदि न इदानीं स्यात् तदा पुष्टिदैवजीवानाम् इदानीं सृष्टिः व्यर्था स्यात्. यदि तथा स्यात् नेदानीं स्यात्, यदि न सा स्यात् ''अभयं सत्त्वसंशुद्धिः'' (भग.गीता.१६।१) इत्युक्तलक्षणकाः घोषाधीशकथारुचयो न दृश्येरन् इति. यदि एतत्सामर्थ्यम् अन्यत्र स्याद् न युष्मान् प्रकटयेत्. यतो नैवम् अतो

ननु सन्मार्गाणां श्रुतिप्रतिपाद्यत्वात् तद्व्याख्यातृणां तदर्थज्ञानात् कथम् एतन्मार्गाज्ञानम् इति चेत्, सत्यं, व्याख्यातृणां तत्तात्पर्यानवबोधाद् न तज्ज्ञानम्. अनवबोधे को हेतुः इति चेत् तत्र आहुः :

नह्यन्यो वागधीशाच् छ्रुतिगणवचसां भावम् आज्ञातुम् ईष्टे
यस्मात् साध्वी स्वभावं प्रकटयति वधूरग्रतः पत्युरेव

नहि अन्यो **इति,** ''निःश्वसितम् अस्य वेदाः'' **इति वचनात् श्रुतीनां च भगवद्रूपत्वाद् अलौकिकाग्नेः च तदधिष्ठातृत्वाद् आचार्याणाम् अलौकिकाग्निरूपत्वात् श्रुतीनां तदेकपरत्वात् स्वतात्पर्यस्य अत्रैव ज्ञापनाद् अन्येषाम् अज्ञानम् इति. एतदेव अभिप्रेत्य उक्तं** वागधीशाद् अन्यः श्रुतिगणवचसां भावं **तात्पर्यम्** आसमन्तात् **सर्वात्मना ज्ञातुं समर्थो न भवति. तत्र** हेतुः यस्मात् साध्वी **इत्यादि.** साध्वी **सती** ''वेदैः च सर्वैः अहमेव वेद्यः'' **(भग.गीता.१५।१५) इति वाक्यात् श्रुतीनां भगवदेकपरत्वात् साध्वीत्वम्. सा** पत्युरेव अग्रे **स्वहार्दं** प्रकटयति **नतु अन्यस्य. तस्माद् उक्तार्थएव श्रुत्यभिप्रायात् तत्तात्पर्यस्य नान्यगम्यत्वम्. इदमेव अभिप्रेत्य उक्तं** यस्मात् साध्वी **इति** पत्युरेव...**इत्यन्तम्.**

नैवम् इतिच. एवं तर्कनिरूपणेन अत्र अनुमानमपि अभिसंहितं तत्प्रयोगस्तु : श्रीमदाचार्यप्रादुर्भावो भगवदभिसंहितावश्यककार्यजनको, भगवदाज्ञप्तत्वात्, श्रुत्यादिप्रादुर्भाववद्; भगवदाज्ञप्तो भूतनाथोक्तमार्गध्वान्तान्धनिवारकत्वाद्, व्यासाविर्भाववद् इति. एवं प्रादुर्भावावश्यकत्वसमर्थनेन इतरतुल्यत्वातिशययोः निवारणाद् आद्यकोटिं निवार्य अवतारत्वं समर्थितम्।।२।।

ननु निवृत्ते ध्वान्ते आन्ध्यनिवृत्तेः दृष्टत्वाद् उक्तध्वान्तस्य रामानुजाचार्यादिभिः निवारणे कृतेऽपि सामर्थ्यस्य सिद्धत्वाद् उक्तहेतोः आचार्यान्तरसाधारणत्वेन तेषामपि आज्ञप्तत्वसिद्धौ उक्तप्रयोजनस्यापि सिद्धिः इति आशंक्य साधारण्यनिवारणाय आचार्येषु वक्ष्यमाणप्रमाणैः परिचायनीयम् अग्नित्वं सिद्धवद् निरूपयन्तो अन्यासामर्थ्यं वदन्ति इति आशयेन आहुः **ननु सन्मार्ग...**इत्यादि. **अलौकिकाग्नेः** इत्यादि, ''मुखम् अस्य **विनिर्भिन्नं**

तस्माच् छ्रीवल्लभाख्य त्वदुदितवचनाद् अन्यथा रूपयन्ति
भ्रान्ता ये ते निसर्गत्रिदशरिपुतया केवलान्धन्तमोगाः ।।३।।

तदुक्तार्थे श्रुत्यभिप्रायं निरूप्य तत्र उपपत्तिं च निरूप्य तद्विपरीतव्याख्यातृणां भ्रान्तत्वं **भ्रमहेतुमपि आहुः** निसर्गात् **स्वभावतएव तेषाम् आसुरत्वं यतः. उक्तार्थपराणां किं फलम् इति आकांक्षायां तत्पराणाम् आसुरत्वाद् आसुरीं मुक्तिं फलत्वेन आहुः** केवलान्धान्तमोगाः **इति, श्रुतिरपि आह** ''अन्धन्तमः **प्रविशन्ति ये सम्भूत्तिम् उपासते''** (**ईशा.उप.१२) इति. 'सम्यक्'=प्राग् 'भवन्ति'=जायन्ते आसुराः अनया इति सम्भूतिः माया इति 'सम्भूति'पदस्य मायावाचकत्वाद्** '' 'माया'

लोकपालो अनलो अविशद् वाचा स्वांशेन येन असौ वक्तव्यं प्रतिपद्यते'' (द्रष्ट.भाग.पुरा.३।६।१६) इत्यादिवाक्यैः वाचो अग्न्यंशत्वेन अग्नेः अंशित्वाद् वागीशत्वं सिद्धम्. किञ्च वागीशत्वं समानन्यायेन आधिदैविकत्वेऽपि तुल्यं **''तेजोमयी वाग्''** (छान्दो.उप.६।५।४) इति श्रुतेः च, तथा **''उत त्वः पश्यन् न ददर्श** वाचम् उत **त्वः श्रृण्वन् न शृणोति एनां उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासा''** (ऋक्संहि.८।२।२३) इति श्रुत्यन्तरदृष्टान्तमुखेन पत्यौ स्वाशयं जाया प्रकटयति इति कथनात्, सिद्धे अत्र वाक्पतित्वे, एतेषामेव श्रुत्यर्थज्ञानाद् एतेषामेव तदर्थम् आज्ञप्तम् इति अर्थः. श्रुतौ 'त्व'शब्दो अन्यार्थको, अतः कस्मैचिदेव अभिप्रायं वाग् बोधयति इति सिद्ध्यति. ततः औचित्यात् स्वपत्युः अग्रएव सर्वं बोधयति. तेन आचार्याः भगवदभिप्रेतानुभावप्रकटीकरणसमर्थाः भगवदाज्ञारूपश्रुतिभावज्ञानसमर्थत्वात्, यदेवं तदेवं व्यासवद् यन्नैवं तन्नैवं शेषादिवद् इति, पूर्वोक्तसामर्थ्योपपादकानुमानान्तरेण साधारण्यनिवृत्तेः भगवदाज्ञप्तत्वरूपे पूर्वोक्तहेतावपि अभिसंहितानुभावप्रकटनसामर्थ्यालोचनपूर्वकम् इति विशेषणोपादानाद् अदोषः इति भावः. एवं सत्तर्केण अनुमानगर्भेण सार्धेन द्वितीयं प्रतिज्ञां साधयित्वा श्रीमदाचार्योक्तज्ञानोत्तरमपि एषां विपरीतभावना न निवर्तते तत्संगत्यागार्थं तेषां फलं स्वरूपं च वदन्ति इति आशयेन आहुः **तदुक्तार्थे**...इत्यादि **'' 'माया'इति असुराः इति''** (मुद्ग.उप.३।२) इति.

इति असुराः'' (मुद्र.उप.३।२) इति आसुराणां मायारूपस्य उपास्यत्वाद् उपासनायाः च अन्धन्तमःप्रवेशहेतुत्वात् तेषां तदेव फलम्. 'नित्यदुःखाः' इति पाठे यद्यपि तन्मतीयमुक्तौ दुःखाभावो अस्ति तथापि आनन्दाभावाद् दुःखाभावस्यापि अपुरुषार्थत्वाद् दुःखरूपत्वमेव इति भावः ।।३।।

तत्प्रादुर्भावस्य पूर्वम् एकम् असाधारणं कार्यं निरूप्य पुनरपि ततोऽपि अधिकं तस्य भगवतोऽपि अत्यन्तप्रीतिजनकम् असाधारणत्वम् आहुः :

प्रादुर्भूतेन भूमौ व्रजपति-चरणाम्भोज-सेवाख्य-वर्त्म-
प्राकट्यं यत् कृतं ते तदुत निजकृते श्रीहुताशेति मन्ये ।।

प्रादुर्भूतेन इति, प्रादुर्भूतेन त्वया व्रजपतेः चरणाम्भोजसेवाख्यवर्त्मप्राकट्यं भूमौ यत् कृतं तत् निजकृते स्वसन्तोषार्थम् इति अर्थः. यद्यपि लोके पूजादिमार्गप्राकट्यं स्थितं तथापि भक्तिमार्गीयसेवामार्गप्राकट्यं यत् कृतं तत् निजकृते आत्मसन्तोषार्थं, पूजादौ आत्मसन्तोषहेतोः अभावात्. तत्र हेतुः सेवायां पुरुषोत्तमएव सेव्यः पूजायां विभूतिरूपः. सेवायां नियामिका भक्तिः पूजायां विधिः, पूजायां कालोऽपि नियामकः सेवायां न कालनियमो, भक्तमनोरथाधीनत्वात्. पूजायां नैवेद्याद्युपचाराणां

अनया श्रुत्या मायायाः असुरोपास्यत्वे सिद्धे उपासनाविषयेषु मायिकत्वं वदताम् आसुरत्वमेव इति भावः. शेषं स्फुटार्थम् ।।३।।

ननु श्रुत्यर्थज्ञाने व्यासचरणाः समर्थाइति तएव पुनः कुतो न आज्ञप्ताः इति आकांक्षायां व्यासचरणापेक्षयापि किञ्चिद् विशेषं सूचयन्तः पूर्वोक्तमानस्य अबाधितप्रत्यक्षमूलकत्वं वदन्ति इति आशयेन अग्रिमश्लोकम् अवतारयन्ति तत्प्रादुर्भाव... इत्यादि. स्वसन्तोषार्थम् इति, स्वांगीकृतजीवानां स्वरूपादिषु विश्वासदार्ढ्यजननेन स्वकृतार्थत्वज्ञानेन च आनन्दाय इति अर्थः. सर्वोऽपि स्वार्थे प्रवर्तते भवन्तस्तु परार्थमपि स्वार्थइव प्रवृत्ताइति अतिकरुणत्वज्ञापनाय व्याख्यानान्तरमपि आहुः यद्यपि इत्यादि. ''अर्चिष्यन्ति मनुष्याः त्वाम्'' (भाग.पुरा.१०।२।१०) इतिवद् आचार्याणामपि भोगो भगवतो अभिसंहितः

पूज्यसन्तोषजनकत्वेन अदृष्टजनकत्वं सेवायान्तु समर्पितवस्तूनां साक्षाद् उपभोगेन सर्वदुर्लभपुरुषार्थसाधकत्वम्, इत्यादिसर्वप्रकारैः वैलक्षण्यात्. पूजामार्गस्य असन्तोषहेतुत्वाद् भक्तिमार्गीयसेवाप्रकटनम्. सेव्यचरणाम्भोजयोः 'अम्भोज'त्वोक्त्या सेवने अत्यन्तसुखदत्वं ज्ञापितम्. उत इति समुच्चये. तेन निजकृते इत्यत्र निजाः स्वीयाः तेषामपि कृते तत्प्रकारकसेवाकरणेन कृतार्थत्वाय.

यस्माद् अस्मिन् स्थितो यत्किमपि कथमपि क्वाप्युपाहर्तुम् इच्छ-
त्यद्धा तद् गोपिकेशः स्ववदनकमले चारुहासे करोति ।।४।।

किञ्च स्ववदनकमले करोति इति कथनस्य वदनाधिष्ठातृत्वात् तद्भोजनेन तदधिष्ठातुरपि भोजनसिद्धिरिति निजकृते इति उक्तम्. श्रीहुताश! इति सम्बोधनेन मार्गप्रकटनसामर्थ्यं द्योतितम्. मन्ये इति स्वविश्वासो ज्ञापितः. विश्वासस्य बीजम् आहुः यस्माद् इति. यस्मात् कारणाद् अस्मिन् तत्प्रकटितमार्गे यः स्थितः, स्थितिस्तु कायवाङ्मनसां तदेकपरत्वं, तादृशो यत्किमपि विविधं वस्तु कथमपि केनापि प्रकारेण—शास्त्रोक्तातिरिक्तप्रकारेणापि—क्वापि कस्मिन्नपि देशे

तत्रापि स्वाभेदेन नतु पृथक्त्वेन इति बोधयितुम् आहुः उत इति समुच्चये इति. तेन मुख्यं कार्यम् अनुभावप्रकटनं गर्भसंकर्षणादिवत्तु गौणत्वेऽपि मुख्यलीलावद् इति अर्थः. तदेव आहुः तेन इति.

किञ्च इति च. उक्ते अर्थे परिचायकं वदन्ति इति आहुः विश्वासस्य बीजम् इत्यादि. एवञ्च अत्र ''श्रीमदाचार्यप्रकटितसेवामार्गो भगवत्प्रियत्वसाधकभक्तिरूपः स्वसम्बन्धेन विलक्षणरुचिपूर्वकभगवद्भोजनसाधनत्वाद्, यन्नैवं तन्नैवं मार्गान्तरवद् यदेवं तदेवं व्रजभक्तमार्गवद्'' इति. ''स भूतनाथोदितमार्गध्वान्तान्ध्यनिवारकः उक्तफलरूपभावानुभावकत्वाद्'' इति च अनुमानं सिध्यति. ततश्च श्रीमदाचार्याः अतिकरुणाः ईदृशमार्गप्रवृत्तिहेतुत्वाद् भगवद्वद् इत्यनेन आज्ञापनबीजभूतविशेषसिद्धिः इति अर्थः. एतेन तृतीया प्रतिज्ञा साधिता. किञ्च अत्र हुताश! इति सम्बोधनाद्

उपाहर्तुं समर्पितुम् इच्छति इच्छां करोति तद् गोपिकेशः स्ववदनकमले करोति. 'गोपिकेशः' इति पदाद् अस्मिन् मार्गे तत्सहितएव सेव्यः. अतः तत्सहितएव वदनकमले करोति. अद्धा इति पदात् तत् साक्षाद् अङ्गीकरोति नतु मार्गान्तरवद् अङ्गीकारे भावनामात्रम्. चारुहासे इति पदाद् रुच्या अङ्गीकारः सूचितो अन्यथा हासो न उपपद्येत ॥४॥

पूर्वश्लोके हुताश इति कथनाद् "रुद्रो वा एष यद् अग्निः" (तैत्ति.संहि.५।४।३।१) इति रुद्रेऽपि अग्नित्वसम्भवाद् आचार्याणामपि तद्रूपाग्निरूपत्वम् अस्तु नतु भवदुक्तरूपत्वम् इति आशंकानिरासाय तद्धर्मवैधर्म्येण स्वोक्ताग्निरूपत्वम् उपपत्त्या आहुः :

उष्णैकत्व-स्वभावोऽप्यतिशिशिरवचःपुञ्ज-पीयूषवृष्टिर्-
आर्तेष्वत्युग्रमोहासुरनृषु युगपत् तापमप्यत्र कुर्वन् ॥

उष्णत्वैकस्वभावः इति, उष्णत्वरूपम् आदाय यद् रुद्रत्वम् आशंकितं तद् अग्रे वक्ष्यमाणैः भगवन्मुखाधिष्ठातृरूपाग्निधर्मैः अत्यन्तं विरोधाद् न रुद्ररूपत्वम् आचार्याणां, रुद्रोष्णत्वस्य एतदुष्णत्वस्य च वैजात्याद् न उष्णत्वसाम्यमपि. अन्यानपि विरुद्धधर्मान् आहुः अत्यन्तशिशिराणि तापहारकाणि यानि वचांसि तेषां पुञ्जाः समूहाः तएव आर्तेषु जीवनहेतुत्वेन पीयूषवृष्टयः ताः तैरेव वचःपुञ्जैः अत्यन्तम् उग्रः सांसारिको मोहो येषु एतादृशाः च ते आसुरनराः च आसुरजीवाः तेषु युगपदेव एकस्मिन्नेव समये तापमपि कुर्वन् तेन युगपदेव कार्यद्वयं

भगवद्भोजनरूपफलानुभवेन श्रीमदाचार्योक्ते विश्वासदार्ढ्याद् "अर्थं तस्य विवेचितुम्" (सुबो.१।१।०।५) इति श्लोकोक्तार्थे निश्चयोत्पत्त्या पूर्वोक्तवैश्वानरत्व-वागीशत्वादीनां सर्वेषां निश्चयो भवति इति ज्ञापितम् ॥४॥

एवं हुताशावतारत्वे निश्चायितेऽपि हुताशानाम् अनेकत्वात् प्रपदनकर्मभूतश्रीहुताशनिष्कर्षेण तुरीयप्रतिज्ञासाधनाय "ईशानः सर्वविद्यानां" (महाना.१७।५) "वंशस्तु भगवान् रुद्रः" (कृष्णोप.८) "वेदः शिवो शिवो वेदो" (   ) "रुद्रो वा एष यद् अग्निः" (तैत्ति.संहि.५।४।

स्वस्मिन् कृष्णास्यतां त्वं प्रकटयसि च नो भूतदेवत्वमेतद्
यस्माद् आनन्ददं श्रीव्रजजननिचये नाशकं चासुराग्नेः ॥५॥

कुर्वन् स्वस्मिन् कृष्णास्यतां त्वं प्रकटयसि नो भूतदेवत्वं नो रुद्रत्वम् इति अर्थः. रुद्रस्य आसुराणां तापनिवर्तकत्वमेव नतु तत्करणत्वं तेषां तस्यैव उपास्यत्वात्. उभयकार्यकरणे निदर्शनम् आहुः यस्माद् इति, यस्मात् कारणाद् एतत् कृष्णास्यं व्रजजनानां निचये समूहे आर्तिहरणाद् आनन्ददं "पीत्वा मुकुन्दसारघम्" (भाग.पुरा.१०।१२।४३) इत्यनेन असुराग्नेः दावाग्नेः नाशकत्वं "तम् अग्निम् अपिबत्" (भाग.पुरा.१०।१४।२५) इति वाक्यात् ॥५॥

३।१) इत्यादिश्रुतिभिः पूर्वोक्तधर्मवत्त्वं तत्रापि सम्भवतीति रुद्रत्वं वारयितुम् अग्रिमः श्लोकः इति आशयेन तम् अवतारयन्ति पूर्वश्लोके इत्यादि. आशंकितम् इति "रुद्ररूपाः च अग्नित्वाद् लौकिकाग्निवद्", "अग्निरूपाः उष्णत्वैकस्वरूपत्वाद् अग्न्यन्तरवद्" इति अनुमानेन आशंकितम् इति अर्थः. तद् दूषयन्ति तद् इत्यादि. 'तद्'इति पदं 'न' इत्यनेन सम्बध्यते. तत्र हेतुः वक्ष्यमाणैः इत्याद्युक्तः. वक्ष्यमाणैः इत्यारभ्य चतुर्षु श्लोकेषु वक्ष्यमाणैः इति अर्थः. तथाच तैः विरोधे रुद्रत्वसाधकस्य अग्नित्वादेः हेतो तैः सत्प्रतिपक्षत्वात् सूर्यसाधारणत्वात् च न तेन रुद्रत्वसिद्धिः इति भावः. ननु विजातीयत्वविशेषितेन उष्णत्वैकस्वभावत्वेन हेतुना अग्नित्वसिद्धौ सुखेन रुद्रत्वसिद्धिः इत्यतः आहुः रुद्रोष्ण... इत्यादि. तथाच एवंविशेषणे अग्न्यन्तरस्यापि सिद्धेः तावद् अर्थान्तरदोषः इति अर्थः. अन्यान् इति रुद्रत्वाभावसाधकान्. कृष्णास्यताम् इति "न अहं तथा अद्मि यजमानहविः विताने श्च्योतद्घृतप्लुतम् अदन् हुतभुङ्मुखेन" (भाग.पुरा.३।१६।८) इत्याद्युक्ताम् इति अर्थः. शेषन्तु अतिरोहितार्थम्. तात्पर्यन्तु अत्र केवलं स्पर्शविशेषात्मकविजातीयोष्णत्वैकस्वभावत्वं न भगवन्मुखाग्नित्वसाधकतया विवक्षितं किन्तु विवक्षितयुगपद्विरुद्धद्वय-कार्यकर्तृत्वविशिष्टम् अतो न दोषः इति. प्रयोगस्तु "श्रीमदाचार्याः भगवन्मुखाग्निरूपाः आर्ततापनिवृत्तिमहामुग्धासुर-तापयोः युगपदुत्पादकवचःपुञ्जपीयूषवर्षकत्वे सति उष्णत्वैकस्वभावत्वात्

अतः परं लौकिकाग्नित्वम् आशंक्य आचार्याणां कृष्णास्यत्वेन अलौकिककार्यकर्तृत्वेन अलौकिकानन्दमयत्वं साधयन्ति :

आम्नायोक्तं यदम्भोभवनमनलतस् तच्च सत्यं विभो यत्
सर्गादौ भूतरूपाद् अभवद् अनलतः पुष्करं भूतरूपम्॥

आम्नायोक्तम् **इति,** आम्नाये **वेदे सर्गारम्भे "तस्माद्** वा **एतस्माद् आत्मानः** आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोः अग्निः, अग्नेः आपः" **(तैत्ति.उप.२।१) इति उत्पत्तिक्रमनिरूपणं भौतिकानामेव, यतः** सर्गादौ **भौतिकाएव उत्पादिताइति अग्नेः तदुत्पन्नस्य जलस्यापि भौतिकत्वमेव.** पुष्करं **जलं, कार्यकारणयोः एकजातीयत्वनियमात्.**

भगवन्मुखाग्निवद्" इति कालभेद-रूपभेदाभ्याम् एकस्यैव दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावेऽपि अदोषः शास्त्रान्तरेऽपि तथा अङ्गीकारात्. अथवा "युगपद् आर्ततापनिवृत्त्यसुरतापरूप-कार्यद्वयजनकवचःपुञ्ज-पीयूषवर्षकत्वाद्" इति केवलव्यतिरेको हेतुः. व्यतिरेके शिवादिः च दृष्टान्तो अतो न शंकालेशः॥५॥

ननु अस्तु भगवन्मुखाग्निरूपत्वं तथापि आनन्दरूपत्वे किं मानं, सांसारिकतापनिवृत्त्यासुरतापयोः युगपदुत्पादकत्वस्य ज्ञानेऽपि दर्शनाद् ज्ञानरूपतायाएव सिद्धेः इति आकांक्षायां पूर्वोक्तसेवामार्गप्रकटयितृत्वेन हेतुना आनन्दमयत्वसिद्धिं हृदि कृत्वा अग्रिमं वदन्ति इति आशयेन व्याख्येयं श्लोकम् अवतारयन्ति **अतः** परम् इत्यादि. तत्र **लौकिकाग्नित्वम् आशंक्य** इति अलौकिकभगवन्मुखरूपे अग्नौ सच्चितोः अविनाभूतत्वेन **"तत् तेजः ऐक्षत"** (छान्दो.उप.६।२।३) इति ईक्षणक्रियाकर्तृतया चेतनत्वेन च ज्ञानरूपत्वसिद्ध्या अपां जनकतया प्रसिद्धभूताग्नित्वम् आशंक्य इति अर्थः. **इति उत्पत्ति...**इति, **'इतिः'** प्रकारवाची "तत् तेजः ऐक्षत बहु स्यां **प्रजायेय"** (यथोक्त.६।२।३) इति **"तद् अपो असृजत"** (छान्दो.उप.६।२।३) इति छान्दोग्यश्रुतेः संग्राहकः. **भौतिकानामेव** इति **'एव'**कारो अप्यर्थे. तथाच छान्दोग्ये तेजसो अपां सृष्टिम् उक्त्वा **"तस्माद् यत्र क्वचन शोचति स्वेदते वा पुरुषः तेजसएव तदधि आपो जायन्ते"** (छान्दो.उप.६।२।३)

इति निदर्शनश्रवणाद् इति अर्थः. छान्दोग्यश्रुत्युपन्यासस्तु 'अग्नि'शब्दाभावात् तस्याअपि क्रमसाम्येन एतदैकार्थ्यबोधनार्थत्वात् च. **'एव'**कारस्यापि अर्थं विशदयन्ति **यतः** इत्यादि, **यतः** सर्गादौ निदर्शनतया उच्यमानाः उत्पादिताः **भौतिकाएव** इति हेतोः. मूले 'च'शब्दसमुचितस्य अग्नेः जलस्य च भौतिकत्वमेव अभिप्रेतम् इति अर्थः. यद्वा 'भौतिक'पदं सद्रूपत्वाभिप्रायकं तेन न कोऽपि शंकालेशः. न्यायमते भूतत्वमूर्तत्वसांकर्येण जातित्वानंगीकाराद् अयं टीकायां प्रयासः. श्रौतेतु मते मनसो अन्नमयत्वेन भूतान्तःपातितया मूर्तत्वभूतत्वयोः व्याप्यव्यापकभावात् साजात्यं निर्बाधमिति मूले तथा उक्तम्. **विभो!** इति सम्बोधनात् तत्रापि रूपान्तरेण भवतामेव जलोत्पादकत्वम् इति बोधितम्. एवं दृष्टान्तं विविच्य दार्ष्टान्तिकं वदन्ति इति आहुः **तद्वद्** इत्यादि. तथाच **"श्रीमदाचार्याः** आनन्दैकस्वरूपाग्निरूपाः आनन्दैकस्वरूपकृष्णसेवारसाब्धिजनकत्वाद्, यो अग्निः यदम्बुजनकः स तत्सजातीयो भूतजलजनकभूताग्निवद्" इति कार्यलिंगकानुमानमेव आनन्दमयत्वं साधयत् पूर्वोक्तं भूताग्नित्वं निवारयति इति अर्थः. अत्र इदं हृदयं : शब्दप्रामाण्यवादिभिः तार्किकादिभिरपि अग्निजलयोः भूतत्वं निमित्तनैमित्तिकभावः च आद्रियते. सत्कार्यवादिभिः च सतएव सदुत्पत्तिं वदद्भिः तथा अङ्गीक्रियते. अतो अवान्तरजातिम् अनादृत्य व्यापकजात्यैव हेतुसाम्यं सर्वसम्मतम्. आयसपात्रादिनिर्माणे आयसघनादेः कारणत्वाद् अवान्तरजातिम् आदायापि साजात्यं लोके दृष्टम्. औपनिषदेच मते अग्निजलयोः उपादानोपादेयभावः. तयोः ऐकजात्यन्तु लोकेऽपि अविवादम्. अतो द्विविधेऽपि कार्यकारणभावे तयोः एकजातीयत्वस्यैव सर्वतन्त्रसिद्धत्वात् कृष्णसेवारसस्य इच्छात्वे धर्मान्तरत्वे आनन्दरूपत्वस्य अनुभूयमानत्वात्, तत्कारणभूतानाम् आचार्याणाम् आनन्दरूपत्वं निर्बाधमेव. एतद् ज्ञापनायैव मूले हि इति उक्तम्. वस्तुतस्तु **"स मानसीन आत्मा जनानां"** (तैत्ति.आर.३।११।१) **"रसो वै सः"** (तैत्ति.उप.२।६) **"यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखम् अस्ति भूमैव सुखम्"** (छान्दो.उप.७।२३।१) इत्यादिश्रुतीनाम् आनन्दमयाधिकरणस्वतन्त्रवर्णकोक्तरीत्या लिंगभूयस्त्वाधिकरणोक्तरीत्या च विचारे विभावानुभावव्यभिचारिभावकारणाभिव्यक्तिस्वभावो

आनन्दैकस्वरूपात् त्वदधिभु यद् अभूत् कृष्णसेवारसाब्धिः
चानन्दैकस्वरूपस् तदखिलम् उचितं हेतुसाम्यं हि कार्ये॥६॥

तद्वद् आचार्याणामपि **अलौकिकानन्दमयजलप्रादुर्भावहेतुत्वेन अलौकिकानन्दमयत्वज्ञापनाय** आहुः आनन्दैकस्वरूपाद् इति, **केवलानन्दस्वरूपात्** त्वत्तः अधिभु **भुवम् अधिकृत्य यस्मात्** कृष्णस्य **सदानन्दस्य** सेवा **रूपो यो** रसाब्धिः **परमानन्दसमुद्रो** अभूत् **प्रादुर्भूतो** जातः **तेन कार्यकारणयोः एकजातीयत्वनियमात् तवापि आनन्दमयत्वमेवेति** साम्यं हि कार्ये **इति उक्तम्.** हि **इति अखिलम् उचितम्**॥६॥

अतः परं धर्मान्तरेणापि लौकिकाग्निधर्मनिराकरणेन अलौकिकाग्नित्वम् आहुः :

स्वामिन्! श्रीवल्लभाग्ने! क्षणमपि भवतः सन्निधाने कृपातः
प्राणप्रेष्ठ-व्रजाधीश्वर-वदन-दिदृक्षार्तितापो जनेषु॥

स्वामिन्! **इति,** हे श्रीवल्लभ! अग्ने! स्वामिन्! भवतः क्षणमपि सन्निधाने **भवत्कृपातः** प्राणा**दपि** प्रेष्ठो **यो** व्रजाधीश्वरः तस्य वदनस्य

भगवानेव रसः. सच रसशास्त्रमर्यादया करणसामर्थ्यानुसारेण अभिव्यज्यते. एवं सति लौकिकैः पूर्वोक्तकरणैः अभिव्यज्यमानः चाक्षुषादिज्ञानवद् लौकिकएव अंशतः प्रकटो भवति. अलौकिकैः तैस्तु अभिव्यज्यमानः शास्त्रीय-योगज-भगवत्कृतज्ञानवद् उत्तरोत्तरो अत्यन्तालौकिकः पूर्णएव मायाम् अपसार्थ वेणुगीतपञ्चाध्याय्याद्युक्तरीत्या प्रकटो भवतीति निश्चीयते. तथाच द्वापरान्ते वेणुगानादिभिः भगवता यथा रसमार्गः आविर्भावितः तथा इदानीम् आचार्यैः उपदेशेन आविर्भावितः इत्यत्रापि कार्ये सपरिकरं हेतुसाम्यम् इति प्राकृतानुकृति(रूप)भोगो अत्र किञ्चिद् अधिकः इति च ज्ञापनाय हि **इति** अखिलम् उचितम् इति च उक्तम्. तेन सपरिकरोऽपि विचार्यमाणः आनन्दमयः. तथाच सेवायां समर्पितस्य भगवदङ्गीकारानुभवेन तत्र-तत्र स्वाधिकारानुरूपानुभावाद्यनुभवेन च सेवायाम् आनन्दविशेषाद्यनुभवात् तादृशसेवाप्रकटयितृणाम् आचार्याणां तथात्वे विश्वासो मन्दमध्यमयोरपि सुकरः

यत् प्रादुर्भावम् आप्नोत्युचिततरम् इदं यत्तु पश्चादपीत्थं

या दिदृक्षा **दर्शनेच्छा तदन्तरायेण या** या आर्तिः **तज्जनितो यः** तापः जनेषु प्रादुर्भवति तद् इदम् उचिततरम्. **यथा लौकिकाग्नितापे इन्धनस्य हेतुत्वं तथा त्वत्कृपायाः इति तथा उक्तम्. लौकिकाग्निसन्निधानेऽपि तापस्य दृष्टत्वाद् एतावत्साम्यम् आदाय उक्तम्** उचिततरम् **इति. वक्ष्यमाणधर्माणां सर्वात्मना लौकिकाग्नौ असम्भवात् तेषु चित्रत्वम्** आहुः यत्तु **इति.** 'तु'शब्दः **पूर्वोक्तसर्वलौकिकाग्निधर्ममात्रनिराकरणार्थः.** पश्चाद् **असन्निधाने** अपि **पूर्वसन्निधानानुभावाद्** इत्थं **पूर्ववदेव तापः** उदेत्येव.

इति भावः॥६॥

ननु अस्तु आनन्दरूपत्वं तथापि आनन्दे तरतमभावस्य श्रुतौ लोके च दर्शनाद् विवक्षितानन्दरूपत्वं कथम्? इति आकांक्षायां तत्परिचायनाय **धर्मान्तरं वदन्ति** इति आशयेन अग्रिमम् अवतारयन्ति **अतःपरम्** इत्यादि. आनन्दरूपत्वनिर्धारणोत्तरं विलक्षणतापात्मकानन्दजनकत्वरूपधर्मान्तरेणापि पूर्वोक्ताग्निधर्मनिराकरणेन आनन्दसारभूताग्निरूपत्वम् आहुः इति अर्थः. मूले सम्बोधनत्रयं कृपायोग्यतासम्पादकस्वदीनताबोधनाय. तत्रापि प्रथमम् ऐश्वर्यख्यापकं **"स्वामीतु ईश्वरः"** (अम.को.३।३।२०४५)इति कोशात्. तेन स्वस्य सर्वकरणसामर्थ्येन यदि कृपयसि तदेव विवक्षितस्वरूपं ज्ञातं भवति नतु प्रमाणबलेन इति ज्ञाप्यते. द्वितीयन्तु नामत्वेऽपि भगवदभेदस्फोरकतया तादृक्सामर्थ्यनिर्वाहकम्. तृतीयं स्वस्य स्वरूपज्ञातृत्वबोधकम्. टीकायां **तदन्तरायेण** इति दर्शनान्तरायेण. **तज्जनितः** इति दर्शनान्तरायजनितः. **उचिततरम्** इति कार्ये हेतुसाम्यरूपात् कार्याद् उचितम्. कृपापूर्वकसन्निधानहेतुकं भगवद्दिदृक्षार्तितापरूपं कार्यम् अतिशयेन उचितम् इति अर्थः. कथम् अस्य उचिततरत्वम् इति आकांक्षायाम् आहुः **यथा** इत्यादि. **तथा** उक्तमिति सहकारिलाभेन अस्य शीघ्रम् अनुभवाद् अतिशयेन उचिततरत्वम् उक्तम् इति अर्थः. यद्वा अग्नेः तापस्य च अलौकिकत्वाद् रसात्मकत्वात् च भूताग्नितापापेक्षया एतस्य अतिशयात् तथा इति अर्थः. पूर्वश्लोके अनुमानम्

दृष्टेऽप्यस्मिन् मुखेन्दौ प्रचुरतरम् उदेत्येव तच्चित्रम् एतत् ॥७॥

ततोऽपि अत्यन्तानिर्वचनीयानुभवम् आहुः दृष्टेऽपि **इति. सन्निधानव्यतिरेकेणापि दर्शनमात्रादपि** प्रचुरतरं **यथा स्यात् तथा तापोदयस्य आश्चर्यत्वात् चित्रत्वम् उक्तम्.** तत् **पूर्वोक्तम् असन्निधानेऽपि तापप्राकट्यम्, एतद्दर्शनेनापि तापप्राचुर्यं** चित्रम्. कृपातः **इति सर्वत्र अनुषज्जते. यद्यपि** मुखेन्दुत्वोक्त्या **तद्दर्शनस्य तापहारकत्वम् आयाति तथापि** 'इन्दौ अस्मिन्' **इति पदोपादानाद् आचार्यमुखस्य इतरेन्दुवैलक्षण्यज्ञापनात् तस्य जलप्रकृतिकत्वात् तापहारकत्वमेव उचितम्. आचार्याणान्तु भगवन्मुखाधिष्ठातृत्वेन अलौकिकानन्दमयाग्नि-रूपत्वात् मुखस्यापि तादृशत्वात् तद्दर्शनमात्रादपि तादृगानन्दरसात्मकता-पजननस्य आश्चर्यत्वात्** चित्रम् **इति उक्तम्.** एव **कारेण तापोदयस्य आवश्यकत्वम् उक्तम्** ॥७॥

अत्रतु प्रत्यक्षं प्रमाणं विलक्षणाग्नित्वे उक्तम् इति विशेषः. अतः परं लोकिकाग्निवैधर्म्यैण अलौकिकाग्नित्वं वदन्ति इति आशयेन आहुः **वक्ष्यमाण** इत्यादि. तान् आहुः **पश्चाद्** इत्यारभ्य **अनुषज्ज्यते** इत्यन्तम्. तथाच असन्निधानसामयिकपूर्वतुल्यतापादयः एतन्मुखचन्द्रदर्शनसामयिकतापोदयः कृपा-हेतुकतत्प्राचुर्यं च इति एते तद्विरुद्धाः धर्माः इति अर्थः. ननु सन्निधान-सामयिकतापस्य आत्यन्तिकत्वे तदुत्तरम् असन्निधानदशायामपि तदनुवृत्तिदर्शनाद् न अत्र चित्रत्वसिद्धिः वैधर्म्याभावाद् न अत्यन्तालौकिकत्वस्यापि सिद्धिः इत्यतः आहुः **यद्यपि** इत्यादि. **इन्दौ** इति विशेषणतया इति शेषः. **जलप्रकृतिकत्वाद्** इति, अयम् अर्थः : "**चन्द्रमा वा अपां पुष्पम्**" (तैत्ति.आर.१।२२।१) इति श्रुत्या रंहत्यधिकरणे अद्भिः सम्परिष्वंगोक्त्या पृथिव्याः जलजत्वेन च यथायथं चन्द्रमसो नायकादिमुखचन्द्रस्य च साक्षात् परम्परया च तथात्वेन तापापहत्वं दर्शनदशायाम् उचितम्. आचार्यमुखेन्दोः तापकत्वं च उचितं परन्तु दूरतो दर्शनेऽपि कृपामात्रेण तापोदयस्य चित्रत्वम् इति. मूलयोजनातु : यत् पश्चादपि इत्थं तद् एतत् चित्रं, यद् अदृष्टेऽपि अस्मिन् मुखेन्दौ इत्थं तद् एतत् चित्रं, यत्कृपातः इत्थं

पूर्वश्लोकैः आचार्याणां पूर्णत्वेऽपि भगवन्मुखाधिष्ठात्रग्निधर्मवत्त्वेन तद्रूपं निरूप्य इदानीमपि तद्धर्मान्तरनिरूपणपूर्वकं प्रमाणसिद्धं पूर्णत्वम् आहुः :

अज्ञानाद्यन्धकार-प्रशमनपटुता-ख्यापनाय त्रि लो क्या म्
अग्नित्वं वर्णितं ते कविभिरपि सदा वस्तुतः कृष्णएव ॥

अज्ञानाद् **इति, यथा लौकिकाग्नेः गृहान्धकारनिवर्तकत्वं तथा अस्य अग्नेः अलौकिंकत्वाद् विजातीयान्धकारनिवर्तकत्वम्** आहुः. **विजातीयान्धकारान् गणयन्ति** अज्ञानाद्यन्धकार... **इति.** अज्ञानम् आदिः येषाम् इति व्युत्पत्त्या. 'आदि'पदेन **कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यादयः तएव अन्धकाराः भगवन्मार्गज्ञाने प्रतिबन्धकाः.** तेषां प्रशमने **दूरीकरणे या** पटुता **सामर्थ्यं तत्** ख्यापनाय **तत्प्रसिद्ध्यै** कविभिरपि **पूर्णज्ञानिभिरपि** ते **तव** सदा अग्नित्वं वर्णितम्. **वस्तुतस्तु तत्स्वरूपविचारे क्रियमाणे अलौकिकानन्दमयत्वात्** कृष्णएव **प्रादुर्भूतः.**

तत् प्रचुरतरम् उदेत्येव एतत् चित्रम् इति. एतदेव ज्ञापयन्ति **एवकारेण** इत्यादिना ॥७॥

एवं पूर्वश्लोकसूचितप्रतिज्ञाचतुष्टये नाविर्भूयाद् इति द्वाभ्यां सोपपत्तिकः आज्ञाहेतुः साधितः. ततः प्रादुर्भूतेन इति एकेन आज्ञादानबीजं साधितम्. ततः उष्णत्वैक...इति त्रिभिः प्रपदनकर्मभूतावतारस्वरूपम् अनुमानप्रत्यक्षाभ्यां निष्कृष्टम्. तच्च एवं निष्कृष्यमाणं प्रत्यक्षेण सर्वात्मभावरूपतया पर्यवसन्नं तस्यच "**स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः**" (छान्दो.उप.७।२६।२४) इति श्रुत्या भगवदविनाभूतत्वाद् अविभागलक्षणभेदे "**सर्वेऽपि एवं यदुश्रेष्ठ!...**" (भाग.पुरा.१०।८२।२३) इति भगवदुक्तरीतिकाखण्डब्रह्मवादेन वास्तवाभेदे च सिद्धे साक्षात्कृष्णत्वमेव सिद्धम्. अनुभावप्रदर्शनन्तु इच्छाधीनम् इति तददर्शनेऽपि अनुगृहीतानां तथात्वज्ञानं सुघटम् इत्यादि हृदिकृत्य मूलरूपावताररूपे एकत्र बोधयन्तो भेदप्रतिज्ञां पूरयन्ति इति आशयेन आहुः **पूर्वश्लोकैः** इत्यादि. **पूर्वश्लोकैः** इत्यस्य **निरूप्य** इत्यनेन सम्बन्धः. **मात्सर्यादयः** इति. वस्तुतस्तु "**ते हि भागवताः प्रोक्ताः** शुद्धाः ते **ब्रह्मवादिनः**"

प्रादुर्भूतो भवाँस्त्वित्यनुभवनिगमाद्युक्तमानैर् अवेत्य
त्वां श्रीश्रीवल्लभेमे निखिलबुधजनाः गोकुलेशं भजन्ते ॥८॥

अत्र प्रमाणं भवान् इति तथात्वेन ज्ञाप्यमानत्वस्य हेतुत्वाय 'तु'शब्दः. पुनः तथात्वनिश्चये प्रमाणान्तराण्यपि आहुः अनुभवनिगमाद्युक्तमानैः इति. तत्र अनुभवः उच्यते : क्षत्रियः 'कृष्णदासः' इति आचार्यसेवकः स्थितः. तत्कृतासाधारणसेवया प्रसन्नैः आचार्यैः "त्वदभिमतं प्रार्थय!" इति उक्तः त्रयं प्रार्थितवान् : "[1]सर्वात्मना त्वन्मार्गीयसिद्धान्तज्ञानं मम अस्तु!" इति एकं, [2]स्वस्मिन् विद्यमानमौखर्यक्षमापनरूपं द्वितीयं, [3]आचार्यशरणगमनात् पूर्वं वैष्णवमन्त्रोपदेष्टृस्वगुरुगृहगमनप्रार्थनारूपं तृतीयम्". आचार्यैः प्रार्थितत्रयमपि दत्तम्. आचार्यगमनात् पूर्वम् एकदा स्वगुरुगृहे स गतवान्. तं नमस्कृत्य उपविष्टम्. गुरुः पृष्टवान् : "मां विहाय कथं त्वया अन्यो गुरुः कृतः?" इति उक्तः स उत्तरं दत्तवान् : "मद्गुरुः त्वमेव, गुरुप्रसादस्य भगवत्प्रापकत्वात् त्वत्प्रसाद् मम पुरुषोत्तमप्राप्तिः जातेति आचार्याः पुरुषोत्तमाएव न गुरवः". पुनः तद्गुरुणा उक्तं : "ते पुरुषोत्तमाः इति त्वदुक्ते किं प्रमाणम्?" इति उक्तः कृष्णदासो ज्वलदग्निम् अञ्जलिना गृहीत्वा इदम् उक्तवान् : "यदि ते पुरुषोत्तमाः तदा माम् अग्निः न ज्वालयिष्यति. नोचेद् ज्वालयिष्यति" इति उक्त्वा मुहूर्तमात्रं तथा स्थितवान्. तदा गुरुः तदुक्ते अर्थे सत्यत्वं ज्ञात्वा तद्गृहीतम् अग्निं भीतः सन् स्थानस्थितं कारितवान्. इति अनुभवरूपम् एकं प्रमाणम्.

(त.दी.नि.१।२१) इति निबन्धोक्तेः 'आदि'पदेन कर्मासक्तिः संग्राह्या इति भावः. पूर्णज्ञानिभिः इति "पूर्णाः भगवदीयाः ये शेषव्यासाग्निमारुताः" (ज.भे.१४) इति श्रीमदाचार्यस्वरूपतत्त्ववेत्तृभिः. कवीनां श्रोतुः अधिकारानुसारेण तत्त्वम् अनेकधा वदतां तथाच भगवत्सामर्थ्यबोधनार्था इयम् उक्तिः. नतु स्वरूपतत्त्वनिष्कर्षबोधनपर्याप्ता इति अर्थः. तर्हि किं स्वरूपम्? इत्यतः आहुः वस्तुतः इत्यादि. तथात्वेन इत्यादि भातेः डवतुः इति 'भवत्'पदसिद्धेः

निगमे पुरुषोत्तमस्यैव 'ब्रह्म'शब्दवाच्यत्वात् तस्य आनन्दमयत्वनिरूपणाद् अत्रापि तथात्वात् सएव अत्रापि प्रमाणम्. 'आदि'पदेन तत्स्वरूपानुभवकर्तॄणां भक्तानाम् अन्तःकरणानि प्रमाणत्वेन उक्तानि. तैः प्रमाणैः अवेत्य सम्यग् ज्ञात्वा बुधजनाः पूर्वोक्तज्ञानपूर्णा भूत्वा गोकुलेशमेव त्वां भजन्ते. वारद्वयं 'श्री'पदप्रयोगात् श्रियः परमानन्दशक्तिभेदेन द्विरूपत्वात् तदुभयवल्लभत्वोक्त्या त्वयि पुरुषोत्तमत्वं ज्ञापितम्॥८॥

भगवत्त्वेन भानमेव प्रमाणम् इति अर्थः. मन्दादीनां तथानुभवाभावात् तदर्थं प्रमाणान्तराणि वदन्ति इति आशयेन आहुः पुनः इत्यादि. व्याख्यानन्तु उत्तानार्थम्. स्मृतिपादे (जैमि.सू.१।३।१) प्रत्ययितरा(?!)नुभवस्य प्रामाण्यव्यवस्थापनात्. स्मृतिहेतुभूतानुभवस्येव अत्र अव्याप्त्या अनुभवस्य प्रामाण्यं पूर्वम् उक्तम्. अत्रच दिव्यरूपो अनुभवः तथा अग्निरूपत्वे अनन्तदासानुभवोऽपि, चरणे संवाह्यमाने तस्य अग्निस्पर्शेनैव हस्तयोः फलकोद्गमात्. ततः परोक्षप्रमाजनको निगमः, "अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः" (तैत्ति.उप.२।५) "आनन्दो ब्रह्म" (तैत्ति.उप.३।६) इत्यादिरूपः सोऽपि अनुभवसंवादेन आनन्दमयत्वबुद्धिदार्ढ्याधायकः. ततः तदुभयविशिष्टानि भक्तान्तःकरणानि धियः, "यदंघ्र्यनुध्यानसमाधिधौतया धिया अनुपश्यन्ति हि तत्त्वम् आत्मनः" (भाग.पुरा.२।४।२१) इत्यादौ उक्तानि तैः इति अर्थः. यद्वा निगमनं निगमो अनुभवं निगमयन्ति एकतरपक्षपातिनं कुर्वन्तीति अनुभवनिगमानि तादृशानि यानि उक्तमानानि पूर्वश्लोकसिद्धानुमानप्रत्यक्षाणि तैः. अथवा निगमो वेदः, श्रुतिः प्रत्यक्षम् ऐतिह्यम् अनुमानं चतुष्टयम्, इत्यादिरूपः "श्रुतिः प्रत्यक्षम् ऐतिह्यम् अनुमानं चतुष्टयम्" (भाग.पुरा.११।१९।१७) इति एकादशोक्तं भगवद्वाक्यं, 'आदि'पदेन पुराणं, निगमादीनि तद्गुणसंविज्ञानो बहुब्रीहिः. अनुभवश्च निगमाद्युक्तमानानि च तैः. अयम् अर्थो : "अत्र मां मार्गयन्ति अद्धा युक्ताः हेतुभिः ईश्वरं गृह्यमाणैः गुणैः लिंगैः अग्राह्यम् अनुमानतः" (भाग.पुरा.११।७।२१) इति भगवद्वाक्याद् गुणलिंगकानुमानम् अत्र ईश्वरत्वग्राहकम्. तच्च आनन्दैकस्वरूपकृष्णसेवारसजनकस्वरूपो गुणो भगवदसाधारणः, साधनसाध्ययोः जलाग्निरूपत्वपरित्यागेन भगवत्त्वमेव

॥ इति श्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचितं श्रीवल्लभाष्टकं सम्पूर्णम् ॥

पितृपादाब्जकृपया विवृतं वल्लभाष्टकम् ॥
क्षमयन्तु सदाचार्या भृत्ये श्रीवल्लभे मयि ॥१॥
इति श्रीपितृपादाब्जपरागारक्तचेतसा ॥
श्रीवल्लभेन विवृतम् अखिलं वल्लभाष्टकम् ॥२॥
श्रीमदाचार्यरूपं श्रीविट्ठलेशोदिताष्टकम् ॥
श्रीवल्लभोज्ज्वलं भक्ता मज्जन्त्वस्मिन् त्रिसंगमे ॥३॥

इति श्रीमत्प्रभुचरणैकशरणश्रीश्रीवल्लभविरचितं
श्रीवल्लभाष्टकविवरणं सम्पूर्णम्

गमयतीति पूर्वोक्तानुभवैतिह्यगुरुभक्त्युत्कर्षबोधकप्रत्यक्षश्रुतिश्च तत्र सहकरोतीति सर्वैः तैः गोकुलेशाभेदज्ञानं मन्दमध्यमयोरपि युक्तयोः उपपन्नम्. मन्दादीनां तज्ज्ञानवत्तानिश्चयः च तत्कृतभजनेन ज्ञायते इति सर्वम् अविवादमेव इति दिक् ॥८॥

एवं सार्धम् अष्टकं व्याख्याय उक्तार्थज्ञाने **प्रभूणां श्रीमदाचार्याणां** च **कृपैव साधनम्** इति बोधयन्तः उपसंहरन्ति **पितृपादाब्ज...**इत्यादि. एतेन येषाम् एवम् अर्थावबोधो नास्ति तेषु स्वापेक्षया कृपान्यूनतापि सूचिता इति शुभम् ॥८॥

इति श्रीवल्लभाचार्यदासेन कृपया मया ॥
तद्दर्शितेन मार्गेण विवृतिः सम्प्रकाशिता ॥१॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणदासानुदासेन श्रीपीताम्बरतनुजपुरुषोत्तमेन
विरचिता इयं श्रीवल्लभाष्टकविवृत्तिः सम्पूर्णा

-------०+०------

इह एकस्याः मातृकायाः अधस्ताद् श्रीगोपेश्वराणां निजहस्ताक्षरैः लिखिताः पादटीप्पण्यः : १.ज्ञानत्वं प्रकारः. २.'यथा'=यत्प्रकारकः 'क्रतुः'=उपासना, ''क्रियते असौ क्रतुः'' इति योगाद् यौगिकः शब्दः.

३.'तथा'=तत्प्रकारकः. ज्ञानत्वप्रकारः पुरुषः. ४.तथाच भावभावनात्रये भावभावना अत्र 'आत्मानुभाव...'इति शब्दात्.



॥श्रीकृष्णाय नमः॥

॥श्रीगोपीजनवल्लभायनमः॥

॥ श्रीवल्लभाष्टकम्॥

श्रीमद्-वृन्दावनेन्दु-प्रकटित-रसिकानन्द-सन्दोहरूप-

(१)श्रीमद्रघुनाथविरचिता श्रीवल्लभाष्टकटीका

यो रास-रसिकानन्द-सीधु-सिन्धु-सुधाकरः॥
तं वन्दे वल्लभकुले प्रादुर्भूतं निजेच्छया॥१॥

श्रीमद् इति. **यः आज्ञया भूमौ प्रादुरासीत् तं हुताशं प्रपद्ये** इति सम्बन्धः, **श्रीमद्** शोभायुक्तं, यद् **वृन्दावनं** तत्प्रकाशकत्वाद् यः तदङ्इन्दुः तेन **प्रकटितः**, तस्माद्वा, यो **रसिकानां** लीलारसपूर्णानाम् **आनन्दसन्दोहः** सुखसमूहः तं **रूप**यति इति **सन्दोहरूपं** यस्य इति वा. तद्रूपएवेति वा. **स्फूर्जन्** बहुविधरससंवलनेन गर्जन्निव यो **रासादिलीलामृतस-मुद्रो**, यथा प्राकृतसमुद्रो गंगादितूर्णतरंगिणीतः तरलिततरंगो घूर्णितः सशब्दो भवति तथा अत्रापि इति भावः.

(२)श्रीव्रजरायकृता टीका इति प्रवादः

पुष्टि-सृष्टि-प्रवृत्त्यर्थं प्रादुर्भूतोऽस्ति यः प्रभुः॥
तत्स्वरूपाप्तये नित्यं वन्दे श्रीवल्लभात्मजम्॥१॥

श्रीमद्विठ्ठलेश्वरचरणाः स्वीयेषु करुणया स्वाचार्यस्वरूपज्ञापनार्थं तत्प्रकटितमार्गप्रापक-तत्स्वरूपनिरूपकाष्टकं प्रकटयन्ति. तत्र श्लोकाष्टकेन निरूपणं धर्मिधर्मस्वरूपनिरूपणेनेति पूर्वं धर्मिस्वरूपं पद्यद्वयेन आहुः द्विदलरसरूपेण **श्रीमद्** इति. **यः भूमौ सन्मनुष्याकृतिः प्रादुरासीत् तं हुताशं प्रपद्ये** इति सन्बन्धः. तत्प्राकट्यस्य दुर्लभत्वेन विशेषयन्ति विशेषणेन **शश्वद्** निरन्तरम्. **श्रीमान्** अलौकिकभगवद्रमणैकशोभावान् यो **वृन्दावनेन्दुः वृन्दा** स्त्री, तद्वनस्य **इन्दुः** स्त्रीसुखात्मकः तेन **प्रकटितो** यो **रसिकस्य**

स्फूर्जद्रासादिलीलामृतजलधिभराक्रान्तसर्वोऽपि शश्वत्॥
तस्यैवात्मानुभावप्रकटनहृदयस्याज्ञया प्रादुरासीद्
भूमौ यः सन्मनुष्याकृतिरतिकरुणस्तं प्रपद्ये हुताशम्॥१॥

(१)

तस्य **भरेण** अतिशयेन **आक्रान्ताः** व्याप्ताः **सर्वाः** देहादिवृत्तयो यस्य. तदा**क्रान्ताः सर्वे** भक्ताः यस्य यस्माद् वा. लीलामृतसमुद्रैकमग्नोऽपि. किञ्च **यः शश्वदपि** सर्वदा एवंरूपोऽपि. यद्वा **शश्वद्** इति समस्तस्यैव विशेषणम्. एवंविधोऽपि **तस्यैव** वृन्दावनकलानाथस्यैव. किंल्लक्षणस्य? **आत्मनो** रासक्रीडादिजनितो यो **अनुभावो** "विक्रीडितं व्रजवधूभिः इदम्" (भाग.पुरा.१०।२९।४०) इत्याद्युक्तः, तस्य **प्रकटनं** व्यक्तीकरणम्. तत्र **हृदयं** चित्तं यस्य. नहि रासादिलीलावर्णनं श्रीवल्लभाचार्याद् अन्यः कर्तुं शक्नोति. अतएव तैः उक्तं "**अर्थं तस्य विवेचितुं नहि विभुः वैश्वानराद्** वाक्पतेः अन्यः" (सुबो.१।१।१का.५) इति. सर्वप्रकारेण ततः उन्मज्जनं

(२)

भगवतो अर्थे **आनन्दसन्दोहः** सारः तद्रूपो **यः स्फूर्जन्** अतिशोभितो यो **रासादिलीला**त्मको **अमृतजलधिः** तत्र **भरो** येषाम् अलौकिकानां भावरूपजीवानां तैः **आक्रान्तं सर्वतः सेव्यमानं सर्वं** स्वरूपं यस्य सः. तादृशोऽपि यो **भूमौ प्रादुरासीत् तं प्रपद्ये. 'अपि'**शब्देन स्वनिवेदितजीवभावरू-पसेवाद्यनपेक्षित्वं ज्ञाप्यते. यतः तल्लीलास्थभक्ताक्रान्तत्वात् तैरेव तत्सम्भवात्. ननु एवं चेत् तदा प्राकट्यं किम्प्रयोजनकम्? इति आकांक्षायाम् आहुः **तस्यैव** इति. **तस्यैव** भगवतः इन्दोः वा **आत्मानुभावप्रकटनहृदयस्य आत्मनः श्रीमदाचार्याणाम् अनुभावो** निवेदनमन्त्रार्थाधिदैविकशक्तिरूपस्वा-त्माप्रवेशेन रमणरूपः तत्**प्रकटनार्थहृदयस्य आज्ञया** रसरूपया तथा इति अर्थः. ननु भगवति स्वानुभावप्राकट्यं चेत् तदा वृन्दावनएव कथं न प्रकटीकृतवान्? भूमौ प्रादुर्भावे किं प्रयोजनम् इति आशंक्य आहुः **अतिकरुणः** इति. करुणत्वेन जीवेषु स्वरूपरसदानेच्छया तथा कृतवान्. करुणत्वमेव प्रकटयन्ति **हुताशम्** इति विशेषणेन. **हुतं** लौकिकस्वरूपम् **अश्नाति**

नाविर्भूयाद् भवाँश्चेद् अधिधरणितलं भूतनाथोदितासन्-
मार्गध्वान्ध-तुल्या निगमपथगतौ दैवसर्गेऽपि जाताः ॥

(१)

न शक्यमपि. यो भक्तार्थम् अतिकारुण्ययुक्तः तथा **सन्मनुष्याकृतिः** भूत्वा, मनुष्येषु **सत्त्वन्तु** सौब्राह्मण्य-सत्कुलप्रसूतत्वादिना ज्ञेयम्. अत्र यद्यपि अग्नित्वे रससमुद्रसम्बन्धो विरुद्धः तथापि अलौकिकत्वेन वडवानलवद् अविरोधः ॥१॥

एवम् अप्रादुर्भावे महद् अनिष्टम् इति आहुः **नाविर्भूयाद्** इति. भवतः **आविर्भावः** प्राकट्यं **चेद्** यदि न भवेत् **तदा इमे मनुजाः कथमपि घोषाधीशं** **नैव प्राप्नुयुः, सैषा दैवी सृष्टिः व्यर्था स्याद्** इति अन्वयः. तदेव प्रपञ्चयन्ति **अधिधरणितलम्** इति **धरणितलम् अधिकृत्य** आरभ्य, **भूतनाथो** रुद्रः तेन **उदितः** तामसमनुष्यादिषु उपदिष्टः. तस्माद् उदितो वा **यो असन्मार्गः** पाषण्डमार्गो मोहकशास्त्रम्. इदं सर्वं वाराहे

(२)

भस्मीकरोति इति भावः. कात्यायन्याधिदैविकम् इति भावः. हुतम् अलौकिकस्वरूपं विप्रयोगाग्नौ तत्तापरूपत्वात् स्वयमेव अश्नाति भोगं करोति इति भावः. एतेन गुणातीतस्त्रीभावात्मकस्त्रीभावकरेणुरूपम् इति भावः. **तम्** अहं शरणं **प्रपद्ये** (इति) स्वस्य तच्छरणगमनोक्त्या पाठकर्तॄणां शरणगमनं व्यज्यते. तेन एतादृशस्वरूपं ज्ञात्वा शरणीयः इति ज्ञापितम्. **सन्मनुष्याकृतिः** इति सात्विकभावापन्नः सदात्मकमनुष्यः पुरुषोत्तमः तद्वदाकृतिः यस्य इति अर्थः. यद्वा **यो** भूमौ **सन्मुष्याकृतिः प्रादुरासीत्** पुरुषोत्तमः तस्यैव **आत्मानुभावस्य** रसात्मकस्य स्वाचार्यरमणात्मकस्य प्रकटनार्थहृदयस्य हुताशं तापात्मकं प्रपद्ये इति भावः ॥१॥

एवं संयोगरसरूपदलेन पुम्भावात्मकेन धर्मिरूपं निरूप्य द्वितीयरसात्मकद-लरूपस्त्रीभावात्मकधर्मिरूपम् आहुः **नाविर्भूयाद्** इति. हे **देव**! क्रीडारूप! **वैश्वानर**! तापात्मक! **भवान्** तापरूपेण **चेत् न आविर्भूयाद् अधिधरणितलं** पृथ्वीम् अधिकृत्य, तदा त्रिविधापि **दैवी सृष्टिः वृथा भूयाद्. भूतनाथोदिता**

घोषाधीशं तदेमे कथमपि मनुजाः प्राप्नुयुर् नैव दैवी-

(१)

पाषण्डोत्पत्तिकथनावसरे ''त्वं च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय...'' (... । ।) इत्यादौ स्पष्टम्. तेन यद् **ध्वान्तम्** अज्ञानं वस्तुतत्त्वानिश्चयः तनैव **अन्धतुल्याः** बहिर्दृष्टिसद्भावेऽपि अन्तर्दृष्ट्यभावात् तत्तुल्यत्वम्. तादृशाः सन्तो वेदमार्गे स्थिताअपि **निगमपथगतौ** वेदमार्गपरिज्ञाने अन्धतुल्याएव इतिवा. एतेन उत्तमसाधनेऽपि न भगवत्प्राप्तिः इति सूचितम्. किञ्च **देवसर्गे** सात्त्विकसृष्टौ उत्पन्ना**अपि**. एतेन उत्तमाधिकारित्वेऽपि भगवदवतरणं विना न भगवत्प्राप्तिः इति सूचितम्. किञ्च ''द्वौ भूतसर्गौ लोके अस्मिन्'' (भग.गीता.१६।६) इत्यादिषु स्वप्राप्त्यधिकारिणी या **दैवी सृष्टिः** सापि **व्यर्था** स्यात्. नहि भगवत्प्राप्तिमन्तरेण दैवी सृष्टिः सफला भवति नच भवत्प्राकट्यमन्तरेणापि तत्प्राप्तिः इति युक्तं वैयर्थ्यम्. तदेव स्पष्टीक्रियते

(२)

जीवनाथो भगवान्, तदुक्ता ''दैवी सम्पद् विमोक्षाय'' (भग.गीता.१६।५।) इत्याद्युक्ता. **देवसर्गेऽपि जाताः मनुजाः** मर्यादादैवाः **कथमपि** अंशादिभेदेनापि **घोषाधीशं न प्राप्नुयुः** इति अर्थः. याथात्म्येन स्वसेव्यस्वरूपाज्ञानाद् अंशादिषु पुरुषोत्तमभ्रमात् न प्राप्नुयुः. ''**यो अन्यथा सन्तम् आत्मानम् अन्यथा प्रतिपद्यते**'' (महाभा.१।६८।२६) इति वाक्येन विपरीतमेव स्यात्. **निगमपथगतौ** पुष्टिश्रुतिरूपव्रजविलासिन्युक्तमार्गगतौ मार्गप्राप्तौ प्राप्त्यर्थं **देवसर्गे** क्रीडासर्गे **जाता**अपि जीवाः पुष्टिमार्गीयाः **सन्मार्गध्वान्तान्धतुल्याः** अन्ये ये असन्मार्गाः तद्रूपो यो अन्धकारः तेन अन्धतुल्याः सन्तो **घोशाधीशं न प्राप्नुयुः**. ननु पुष्टिमार्गीयदैवसृष्ट्युत्पन्नानां कथम् अन्यमार्गमोहः स्याद् इति चेद्, इत्थं : ''**स्वागतं वो...**'' (भाग.पुरा.१०।२६।१८) इत्यारभ्य ''**प्रतियात ततो गृहान्**'' (भाग.पुरा.१०।२६।२७) इत्यन्तं भगवदुक्तान्यमार्गमोहो भवेत्, तत्तत्सामयिकसौपयिकत्वस्थितिपक्षार्थकाज्ञानेन. तदा तासां भाग्येन तथा सम्बन्धो अभूत् परम् एवम् अन्येषां न भविष्यतीति न प्रवृत्तिः भवेद् इति भावः. तदर्थमेव आचार्यैः ''**भगवतो अतिदुरापत्वेऽपि तदाशया**

सृष्टिर् व्यर्था च भूयान् निजफलरहिता देव वैश्वानरैषा ॥२॥

नह्यन्यो वागधीशाच् छ्रुतिगणवचसां भावम् आज्ञातुम् ईष्टे

---

(१)

निजफलरहिता इत्यनेन, **निजं** मुख्यम्. **देव!** द्योतमानबालक्रीडादिपरा इतिवा. **वैश्वानर! विश्वे** सर्वेऽपि अनुकम्प्याः **नरा** यस्य इति. अनेन कारुण्यं सूचितं, संज्ञाशब्दत्वाद् न अत्यन्तं व्युत्पत्त्याग्रहः ॥२॥

पूर्वं निगमपथगतावपि अप्राप्तिः इति उक्तम् इदानीं वस्तुतः तत्पथगतिरपि अन्येषु नास्ति तत्त्वतः तत्परिज्ञानाभावात् किन्तु भवदधीनमेव तद् इति आहुः **नह्यन्यः** इति, वाचाम् अधीशो वैश्वानरो ''अग्निः मे वाचः'' (.   ।   ।   ) इति श्रुतेः. **वागधीशाद् अन्यः** **श्रुतिसमूहरूपवचसां**

(२)

तद्भजनम् अन्यभजनरहितं कुर्वद्भिरेव सर्वैः स्थेयम् इति भक्तिमार्गनिष्कर्षः'' (सुबो.१०।४४।६०) इत्यादि अगादि. प्रभुचरणैरपि विद्वन्मण्डने ''**तदाशया तथा चेद् भजनं करोति तदा भगवानपि अङ्गीकरोति**'' (विद्व.मं.नित्यली.५०) इत्यादि निरूपितम्. **एषा** स्वकीया पुष्टिपुष्टिरूपा. **निजफलरहिता निजफलम्** अध्यात्मभावेन सेवाकरणं **तद्रहिता** स्यात्, चकारेण इयं सृष्टिः यदा स्वफलरहिता स्यात् तदा अन्यसृष्टिः स्वफलरहिता स्याद् व्यर्थापि स्याद् इति व्यज्यते. तत्सृष्टिमध्ये एतत्सृष्टिसङ्कलनेनैव तत्सृष्टेः सार्थकत्वम्. अन्यथा जीवसम्बन्धरहितदेहसृष्टिः च व्यर्था स्यात्. अत्र **'वैश्वानर'**पदेन इदं व्यज्यते : यथा भगवता उक्तं ''**अहं वैश्वानरो भूत्वा... पचाम्यन्नं चतुर्विधम्**'' (भग.गीता.१५।१४) तथा तापात्मको भूत्वा सर्वेषु चतुर्विधपुरुषार्थान् रसरूपान् भोगरूपेण पक्वान् करोषि इति अर्थः. एतादृक्स्वरूपभोगकरणे द्वितीयदलस्यैव शक्तिरिति एतस्मिन् पद्ये द्वितीयदलात्मकधर्मिनिरूपणम् इति भावः. अतएव अस्मत्प्राणनाथैः निरूपितं ''**राधाधरसुधापातुः**'' इत्यारभ्य ''**नामसम्बन्धतो भवेद्**'' (सेवाश्लो.१६) इत्यन्तेन पद्येन ॥२॥

एवं धर्मिस्वरूपम् उक्त्वा धर्मभावनिरूपणे पूर्वम् ऐश्वर्यं निरूपयन्ति

यस्मात् साध्वी स्वभावं प्रकटयति वधूरग्रतः पत्युरेव ॥

तस्माच्छ्रीवल्लभाख्य त्वदुदितवचनाद् अन्यथा रूपयन्ति

भ्रान्ताः ये ते निसर्गत्रिदशरिपुतया केवलान्धन्तमोगाः ॥३॥

---

(१)

भावो तात्पर्यं **आसमन्ताद् ज्ञातुं न हि ईष्टे** नैव समर्थो भवति. अत्र हेतुः **यस्माद्** इति. **यस्मात्** कारणात् **साध्वी** पतिवृता **वधूः स्वभावं** हृदयं **पत्युः** भर्तुः **एव अग्रतः** पुरतः **प्रकटयति** नतु श्वश्र्वादिगुरुवर्गाणामपि. एवम् अत्रापि श्रुतिपतिव्रताधीशत्वस्य त्वय्येव सत्त्वाद्. अतो हेतो हे **'श्रीवल्लभा'भिध! त्वदुदितवचनात्** तव निरूपितश्रुतितात्पर्याद् **अन्यथैव** **ये रूपयन्ति** वर्णयन्ति, तेतु पूर्वं **भ्रान्ताः** अज्ञानात् तत्त्वाग्राहिणः शुक्त्यादिष्विव रजतार्थिनः. तर्हि मत्प्राकट्येऽपि कथं न प्रमा तेषु? अतः आहुः **निसर्ग...** इति, **निसर्गतः** स्वभावतएव, **त्रिदशरिपुतया** आसुरतया, आसुराणाम् अन्यथावगमो न दोषः. अन्यथा स्वभावपराहतिप्रसंगः ''**प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुः** आसुराः'' (भग.गीता.१६।७) इत्यादिवचनं च विरुध्येत. किञ्च नहि अज्ञानमात्रं तेषु अपितु सर्वदा दुःखमपि इति आहुः **केवलं** सुखसञ्चाररहितं यथा स्यात् तथा **नित्यदुःखाः**[१] **नित्यम्** अनवरतं दुःखमेव येषाम्. फलदशायामपि ते तादृशाः ॥३॥

(२)

न ह्यन्यः इति, **वागधीशाद्** भगवन्मुखारविन्दाद् **अन्यः श्रुतिगणवचसां** व्रजसौभाग्यवतीवाक्यानां **भावं** आसमन्ताद् अभिप्रायपूर्वकं **ज्ञातुं न ईष्टे** न समर्थो भवति इति अर्थः. कुतः? **यस्मात् साध्वी** पतीव्रता स्वपत्युरेव **अग्रे स्वभावं प्रकटयति; तत्रापि वधूः** नवोढा इति अर्थः. **तस्मात्** कारणात् **'श्रीवल्लभा'ख्य!, 'श्री'**शब्देन स्वामिनी उच्यते. तद्**'वल्लभ'**इति **आख्या** नाम यस्य तेन 'वल्लभे'ति तदभिप्रायकमेव. **त्वदुदितवचनाद्** तादृशस्य तव उक्तवचनात् तासां भावम् **अन्यथा रूपयन्ति** कथयन्ति **ये भ्रान्ताः ते निसर्गत्रिदशरिपुतया** साहजिकदेवद्वेषभावेन आसुरभावेन

१. 'केवलान्धन्तमोगाः' इत्यत्र 'केवलं नित्यदुःखाः' इति पाठः श्रीरघुनाथानाम्.

प्रादुर्भूतेन भूमौ व्रजपति-चरणाम्भोजसेवाख्य-वर्त्मप्राकट्यं
यत् कृतं ते तदुत निजकृते श्रीहुताशेति मन्ये॥
यस्मादस्मिन् स्थितो यत्किमपि कथमपि क्वाप्युपाहर्तुमिच्छ-

(१)

पूर्वम् अप्राकट्ये महद् अनिष्टम् उक्त्वा इदानीं प्राकट्ये महद् इष्टम् इति आहुः **प्रादुः** इति. **भूमौ प्रादुर्भूतेन** प्रकटितेन त्वया **व्रजपतेः सेवाख्यं यद् वर्त्म** भक्तिमार्गः तस्य **प्राकट्यं** प्रकाशनं **यत् कृतं तद् उत** अपि **निजकृते** स्वभक्तार्थमेव नतु अन्यार्थमपि इत्येव **श्रीहुताश!** यज्ञभोक्त! अहं **मन्ये** निश्चिनोमि. अत्र निश्चायकं **यस्माद्** इति. **अस्मिन्** त्वत्प्रकटितभक्तिमार्गे **स्थितः** सन् यः कश्चिदपि जनो **यत्किमपि** पत्रपुष्पादिकं **कथमपि** अतिशुद्धत्वापर्युषितत्वादिकं विनापि भूम्यन्तरिक्षासनाद्य-नियमेऽपि **उपाहर्तुं** भगवन्निवेदनं कर्तुम् **इच्छति** चेत् तत् सर्वं

(२)

केवलान्धन्तमोगाः अन्धन्तमसि गमिष्यन्ति इति अर्थः. यद्वा त्रिदशरिपुतया तिस्रो दशा यासां सात्त्विकादिभावेन तासां रिपुतया भगवद्भजनासहिष्ण्वासुरत्वेन **केवलं नित्यदुःखाः** नित्यदुःखस्वरूपाएव तिष्ठन्ति इति भावः. भगवन्मुखरूपत्वेन ऐश्वर्यता स्पष्टैव. भगवतोऽपि ऐश्वर्यभावो अयमेव यद् व्रजविलासिनीवचनोक्तन्यायेन सरणं श्रीमदाचार्याणामपि तद्वचनभावज्ञत्वनिरूप-णेन रसरूपैश्वर्यभावो निरूपितः ॥३॥

एवम् ऐश्वर्यरूपं निरूप्य कीर्तिस्वरूपम् आहुः **प्रादुर्भूतेन** इति **प्रादुर्भूतेन** भवता **व्रजपतिचरणाम्भोजसेवाख्यवर्त्मप्राकट्यं भूमौ यत् कृतं ते** त्वया **तद् उत** इति निश्चयेन **निजकृते श्रीहुताश!** इति अहं **मन्ये.** कुतः? **यस्माद् अस्मिन् मार्गे स्थितो** जीवो **यत् किमपि** नतु उत्तममेव. **कथमपि** भावात्मकस्वस्वरूपेण भवद्दास्येन वा. **क्वापि** वृन्दावने भावात्मकस्वगृहे वा. **उपाहर्तुम् उप** समीपे **आहर्तुं** समर्पितुं **आ** समन्तात् स्वकृतार्थतार्थे प्रसादत्वेन ग्रहणार्थं **उप** समीपएव **इच्छति**

त्यद्धा तद् गोपिकेशः स्ववदनकमले चारुहासे करोति॥४॥
उष्णत्वैक-स्वभावोऽप्यति-शिशिर-वचःपुञ्ज-पीयूष-वृष्टिर्

(१)

गोपीकेशः अद्धा साक्षादेव न ब्राह्मणमुखादिद्वारा **स्ववदनकमले करोति** निक्षिपति. अत्र **वदने**ति उपलक्षणम्. तेन यद् यत्र उपभोगाय उपयुज्यते तस्य तत्र उपभोगं करोत्येव इति भावः. कीदृशे? **चारुहासे** सुन्दरहासयुक्ते॥४॥

विरुद्धधर्माश्रयत्वेन अलौकिकत्वमेव आहुः **उष्णत्वैक...**इति, **उष्णत्वम्** एव **एको** असाधारणः **स्वभावो** यस्य तादृशोऽपि त्वम् अत्र अस्मिन् लोके **अतिशिशिराः** अत्यन्तशीतलाः ये **वचःपुञ्जाः** भक्ततापनाशकत्वात्

(२)

तद् अद्धा साक्षाद् **गोपिकेशः स्ववदनकमले चारुहासे** मनोहरहास्यसहिते त्वत्सम्बन्धात् **करोति** भोजनम् इति शेषः. अयं भावो : भगवान् यद् भुङ्क्ते तत्स्वामिनीमुखसम्बन्ध्येव तस्मात् पूर्वं स्वभोजनात् स्वार्थमेव इति अर्थः. अतएव अस्मत्प्रभुचरणैः समर्पणार्थकपद्यद्वयेन पुरुषोत्तमत्वं ''भाषणम्...'' (सेवाश्लो.१५) इत्यारभ्य ''नामसम्बन्धतो भवेद्'' (सेवाश्लो.१६) इत्यनेन. **'व्रजपति'**पदेन पुरुषोत्तमत्वं बोध्यते. **चरणा**नाम् **'अम्भोज'**त्वोक्त्या तत्सेवात्मकमार्गोक्त्या पुष्टिरूपता मार्गस्य उच्यते. **''न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम्''** (भाग.पुरा.१०।४४।६२) इत्युक्तप्रकारेण इति अर्थः. **'प्रादुर्भूत'**त्वविशेषेणेन प्रादुर्भावस्य भगवदर्थकत्वेन मार्गस्य स्वार्थकता भिन्नरूपेण व्यज्यते **वदनकमलो**क्त्या. तच्च रविकरसम्बधादेव उत्फुल्लं सत् स्वरसप्रकाशकं भवति तथा तापात्मकभवत्सम्बन्धिसामग्रीभोजनएव प्रभुः प्रसन्नो भूत्वा स्वरसदानं करोति इति व्यज्यते. अतएव **'चारुहास'**त्वं मुखविशेषणम् उक्तम्. भगवत्कीर्तिः इयमेव यद् भक्तेषु कृपां करोति. इह च सर्वत्र भोजनार्थं मार्गप्राकट्येन तथात्वं, तेन कीर्तिरूपता स्पष्टैव॥४॥

एवं कीर्तिरूपत्वं निरूप्य तापरूपत्वेन निरूपणात् सर्वेषां तथात्वे भक्तैः कथं सेव्यः स्याद्? अग्नित्वनिरूपणेन महादेवरूपत्वं भविष्यति

आर्तेष्वत्युग्रमोहासुरनृषु युगपत् तापमप्यत्र कुर्वन्।।
स्वस्मिन् कृष्णास्यतां त्वं प्रकटयसि च नो भूतदेवत्वम् एतत्
यस्माद् आनन्ददं श्रीव्रजजननिचये नाशकं चासुराग्नेः ।।५।।

(१)

शिशिरत्वं तद्रूपमेव यत् **पीयूषं** तस्य **वृष्टीः** वर्षा **आर्तेषु** संसृतितापतप्तेषु अत्यन्तम् **उग्रो** निबिडो **मोहो** अज्ञानं येषु तादृशेषु आसुरमनुष्येषु **तापं** दाहमपि **युगपद्** एककालमेव **कुर्वन्** वर्तसे यत् तत् **स्वस्मिन् कृष्णास्यताम्** एव **प्रकटयसि** तद्धर्मसाम्यवाचकात् **चकारात्.** कृष्णरूपत्वमपि **नतु भूतदेवत्वं** प्राकृताग्निरूपत्वम्. कुतः **एतत्?** **श्रीव्रजजननिचये** भक्तसमूहे **आनन्ददं** सुखदायकं **आसुराग्नेः** पाषण्डमार्गरूपाग्नेः **नाशकमपि.** तत्रापि दावाग्नि-

(२)

इति शङ्कां निराकुर्वन् यशःस्वरूपं निरूपयन्ति **उष्णत्वैकस्वभाव...** इति, **उष्णत्वमेव** तापरूपत्वमेव **एकः स्वभावो** विप्रयोगदलात्मकव्यभिचार(रि!)भावः. एतादृशो **अपि** तत्समयेऽपि **आर्तेषु** भावात्मकदासीभावप्राप्त-तत्सामयिकदर्शनजन्य-दुःखभरेण भगवन्मिलनप्रार्थकेषु **अतिशिशिरवचःपुञ्ज-पीयूषवृष्टीः** तदुक्तप्रकारेण भगवन्मिलनार्थकगमनरूपशीतलतमवचनानां यः **पुञ्जः** समूहएव **पीयूषं** अमृतं तस्य या **वृष्टीः** सर्वाङ्गसेचनं तद्रूपा इति अर्थः. तथैव **अति** अत्यन्तम् **उग्रो मोहो** येषां तत्सहिताऽऽसुररूपाः ये **नराः** तेषु **तापमपि कुर्वन् अत्र** अस्मिन् मार्गे **युगपदेव** भक्तेषु पीयूषवृष्टिः इतरेषु तापं कुर्वन् **स्वस्मिन् कृष्णास्यतां प्रकटयसि** प्रकटीकरोषि इति अर्थः. **चकारेण** मुख्यं रूपं तद्भावात्मकमेव परं युगपद् एतद्धर्मप्राकट्येन भगवन्मुखारविन्दरूपत्वमपि प्रकटीकरोषि इति व्यज्यते. यद्वा युगपदेव स्वरूपं भगवन्मुखरूपं च प्रकटीकरोषि तेन भावात्मकभक्तानां तादृक्तापदूरीकरणात्मक-स्वस्वरूपं प्रकटयसि असुरेषु तापकरणेन भगवन्मुखरूपत्वम् इति भावः. महादेवत्वापत्त्याशङ्कायाम् आहुः **नो भूतदेवत्वम्.** **'भूतदेव'**त्वोक्त्या तस्य आसुरपोषकत्वम् उक्तम्. एतत्तु तद्विपरीतम् इति आहुः **यस्माद् एतत् श्रीव्रजजननिचये** स्वामिनीसहितव्रजजनसमूहे **आनन्ददं** व्रजजनानां स्वामिनी-

आम्नायोक्तं यद् अम्भोभवनम् अनलतस्तच्च सत्यं विभो यत्
सर्गादौ भूतरूपाद् अभवद् अनलतः पुष्करं भूतरूपम्।।

(१)

नाशकत्वं प्रसिद्धं "पीत्वा मुकुन्दमुखसारघम्" (भाग.पुरा.१०।१२।४३) इत्यादौ कृष्णास्यस्य आनन्ददायकत्वं विरहाग्निनाशकत्वं च स्फुटम्. प्रकृतेऽपि व्रजस्थितानां श्रुतिरूपत्वाद् आसां च शब्दत्वेन आस्यैकव्यापाराधीनत्वात् तद्रूपत्वेनापि तदानन्ददायकत्वम् उचितम्।।५।।

ननु अग्नेः अलौकिकत्वम् अप्राकृतत्वं च श्रुतिविरुद्धम् इत्यतः आहुः **आम्नायोक्तम्** इति "अग्नेः आपः" (तैत्ति.उप.२।१) इत्यादिवेदोक्तं, **यद् अनलतो** अग्नेः सकाशात् **अम्भसो भवनम्** उत्पत्तिः **तत् च** तत्तु **सत्यम्** अद्धा अङ्गीकृतं **विभो** सर्वकरणसमर्थ, **सर्गस्य** सृष्टेः **आदौ** प्रथमतएव **यद्** यस्माद् **भूतरूपाद्** एव **अनलात्** **पुष्करं** जलमपि **भूतरूपम्** एव **अभवत्**, कारणाव्यभिचारित्वात्.

(२)

सहभावोक्त्या तत्सम्बन्धेनैव सर्वत्र आनन्ददानं व्यज्यते. अतएव श्रीमदाचार्यचरणैः "तद्द्वारा पुरुषे भवेत्" (सुबो.१०।२६।०का.२) इति निरूपितम्. **असुराग्नेः च नाशकं** भगवन्मुखस्यैव एतद्धर्मद्वयं यद् मुखारविन्देन व्रजजनानन्ददानं दावाग्न्यादिपानं च, न महादेवस्य. तेन तद्धर्मप्राकट्येन **कृष्णास्यताम्** एव **प्रकटयसि** इति अर्थः. भगवतः इदमेव यशो यद् भक्तेषु आनन्ददानेन पोषणं तदितराणां नाशकत्वम्. इहापि तथात्वेन यशोरूपत्वम् इति भावः।।५।।

एवं यशोरूपं निरूप्य श्रीरूपम् आहुः **आम्नायोक्तम्** इति, **अनलतः** अग्नेः **अम्भोभवनं** जलोत्पत्तिं **यद् आम्नायोक्तं तत् सत्यं, यस्मात् सर्गादौ** सृष्ट्यारम्भे **भूतरूपाद् अनलतः** महाभूताग्नितो भूतरूपमेव **पुष्करं** जलम् अभवत्. **ता** च साधारणसृष्टिः चेद् अलौकिके तथा **न** भवेत् तदा श्रुत्युक्तम् अन्यथा स्यात्. तद् अग्रे **विभो!** तत्सत्यकरणसमर्थ!

आनन्दैकस्वरूपात् त्वदधिभु यदभूत् कृष्णसेवारसाब्धिः
आनन्दैकस्वरूपस्तदखिलम् उचितं हेतुसाम्यं हि कार्ये॥६॥

स्वामिन्! श्रीवल्लभाग्ने! क्षणमपि भवतः सन्निधाने कृपातः

(१)

तवतु तदपेक्षया महदेव वैलक्षण्यम्. तदेव आहुः **आनन्दैक...**इति, आनन्दएव **एकं स्वरूपं** यस्य तादृशात् **त्वदधिभु** त्वत्सकाशाद् भवति जायते इति, क्लीबत्वाद् ह्रस्वता. ईदृशं **यत्** किञ्चिदपि **अभूत्** जातम्. किञ्च **कृष्णसेवा** अमृतसमुद्रः च तद् इदम् **अखिलं** कार्यजातमपि त्वज्जन्यत्वात् तव यादृशं स्वरूपं तादृशमेव भवितुम् उचितं नतु अन्यथा. कुतः एतत्? हि यस्मात् **कार्ये हेतुसाम्यं** कारणगुणकत्वमेव उचितं, नहि कटककुण्डलादीनि कनकगुणान् त्यजन्ति. प्राकृताग्निजन्यत्वात् प्राकृतत्वमेव अम्भसां श्रुतौ प्रतिपादनम् अत्रतु तदभावाद् न श्रुतिविरोधः इति भावः॥६॥

स्वामिन् इति, हे **श्रीवल्लभाख्याग्ने,** **भवतः कृपातः क्षणमपि**

(२)

आनन्दैकस्वरूपात् त्वत् त्वत्तः **अधिभु** भुवनम् अधिकृत्य **यत् कृष्णसेवारसाब्धिः अभूत् तत्** तस्माद् रसाब्धेः **आनन्दैकस्वरूपम् अखिलं** जगद् **अभूत् तत्** कार्ये हेतुसाम्यं **कारणसाम्यम् उचितं हि** इति युक्तत्वज्ञापनाय. तापात्मकात् सेवारसाब्धिप्राकट्योक्त्वा सेवात्मकमार्गप्राकट्यं यत् तत् तापस्य यत्किञ्चित् स्वार्थ्यार्थं कृतम् इति व्यज्यते. तदनन्तरम् आनन्दैकरूपता च प्रभोः आनन्दमयत्वादेव. तस्माद् एतन्मार्गीयैः सेवा च एवमेव कर्तव्या. रसाब्धौ शयानस्य प्रभोः सेवनं श्रीरूपमेव अतएव "**लक्ष्मीसहस्रलीलाभिः सेव्यमानम्**" (सुबो.१०।१।०का.१) इति आचार्यैः निरूपितम्. अत्रापि सेवारसाब्धित्यनिरूपणेन श्रीरूपता स्पष्टैव॥६॥

एवं श्रीरूपतां निरूप्य वैराग्यरूपम् आहुः **स्वामिन्** इति, **स्वामिन्!** प्रभो! **श्रीवल्लभाग्ने! क्षणं भवतः सन्निधाने** नैकट्ये सति **प्राणप्रेष्ठव्रजाधीश्वरवदनदिदृक्षार्तितापः प्राणाद्** अधिकत्वेन नायकभावेन

प्राणप्रेष्ठ-व्रजाधीश्वर-वदन-दिदृक्षार्ति-तापो जनेषु॥
यत् प्रादुर्भावम् आप्नोत्युचिततरम् इदं यत्तु पश्चादपीत्थं

(१)

भवत्सन्निधौ सामीप्ये सति **प्राणाद्** अपि **प्रेष्ठः** प्रियतमः **व्रजाधीश्वरः** तस्य **वदनस्य** या **दिदृक्षा** द्रष्टुम् इच्छा दर्शनाप्राप्तौ सत्यां यः तज्जनितः **आर्तितापो जनेषु** स्वकीयेषु **प्रादुर्भावं** उदयम् **आप्नोति** इति **यत् तद् उचिततरं,** तादृशचिन्तासन्तानस्य फलरूपत्वेन भगवदीयेषु उचितत्वात् किन्तु अन्यदपि आश्चर्यम् इति आहुः **यत्तु** इति, यत् पुनः **अस्मिन् मुखेन्दौ** यद्दर्शनाद् आर्तितापः आसीत् तस्मिन् मुखचन्द्रे दृष्टेऽपि **पश्चात्** तदनन्तरमपि

(२)

व्रजाधीश्वरस्य वदनदर्शनेच्छाजनिता या **आर्तिः** तज्जनितो यः **तापः**. **आर्तिः तापः** च इति वा. **जनेषु** जन्मादिक्लेशयुक्तेष्वपि **यत् प्रादुर्भावम् आप्नोति इदम् उचिततरं** भवति इति अर्थः. यथा अग्नेः सान्निध्ये तापः उचितः तथा तापात्मकभवत्सान्निध्येऽपि भवतीति **उचिततरत्वकथनस्य** अयं भावः. **श्रीः** च **श्रीवल्लभः** च **तौ** तयोः उभयोः तापात्मकाग्निरूपस्य सान्निध्ये अधिकः स भवेत् तत्र क्षणं सन्निधानं समपर्णार्थं तत्समये च तत्स्वरूपप्रभुस्वरूपस्मरणात् तापाधिकता इति भावः. तथा सति **क्षणस्य** समय इति अर्थः. समयं विचार्य सन्निधाने इति अर्थः. '**व्रजाधीश्वर**'नाम्ना अतिसुलभत्वज्ञाने सति **दिदृक्षा** व्यज्यते. तस्य पुनः दुर्लभत्वेन आर्तियुक्ततापाधिक्यं भवति यथाच उक्तम् अस्मत्सर्वस्वेन "**पशुपराजसुदुर्ललितः सुतः**" (   ) इत्याद्येन पद्येन. भवत्समर्पण**सन्निधाने** सति तथाभावेन तापोत्पत्तिः उचिततरा. यत्तु **कृपातः** परमफलदानेच्छया भावतः **प्राणप्रेष्ठो यो व्रजाधीश्वरः तद्वदनदिदृक्षार्तितापः** त्वत्सङ्गरसात्मकतादृग्वदनदर्शनेच्छारूपो **अस्मिन् मुखेन्दौ दृष्टे** सति, मुखस्य इन्दुत्वेन विप्रयोगपाण्डुरत्वम्. तस्मिन् दृष्टे **प्रचुरतरं** यथा स्यात् तथा **उदेति.** इदं विचित्रम्. अस्य भावस्य दुर्लभत्वात् '**चित्रता**' उक्ता. इन्दौ दृष्टे तापाधिक्यस्य

दृष्टेऽप्यस्मिन् मुखेन्दौ प्रचुरतरमुदेत्येव तच्चित्रमेतत् ॥७॥

अज्ञानाद्यन्धकार-प्रशमन-पटुता-ख्यापनाय त्रिलोक्याम्
अग्नित्वं वर्णितं ते कविभिरपि सदा वस्तुतः कृष्णएव ॥
प्रादुर्भूतो भवान् इत्यनुभवनिगमाद्युक्तमानैरवेत्य

(१)

इत्थं पूर्ववत् **उदेति** उदयं प्राप्नोत्येव इति यत् तद् एतत् **चित्रम्** अत्याश्चर्यम्. अयं भावो : व्रजातिरिक्तस्थले भगवद्दर्शनावधि सर्वेषां तापो नतु अनन्तरमपि व्रजवासिनान्तु निरुद्धानां प्रत्यहं दिवाऽदर्शनतापस्य सद्भावात्. भवदीयानान्तु भवत्सान्निध्यमात्रेण तादृशावस्था भवति इत्येतत् चित्रम् इति ॥७॥

वास्तवं रूपम् आहुः. अत्र वास्तवं रूपं विहाय वह्नित्वं यद् **वर्णितं** तद् यत्किञ्चितद्धर्मसाम्येन नतु सर्वांशेन. तत्र किमंशेन साम्यम्? इति अपेक्षायां **अज्ञानं** तदाऽऽदि यत् पापादि तद्रूपं यद् **अन्धकारं** तस्य **प्रकर्षेण शमनं** प्रादुर्भावपूर्विका निवृत्तिः, तत्र **पटुता** सामर्थ्यातिशयः **तत्ख्यापनायैव त्रिलोक्यां कविभिः** उत्प्रेक्षालापचतुरैः **अपि, वस्तुतः** तत्त्वतो विचार्यमाणे **सदा कृष्णएव प्रादुर्भूतः** प्रकटितो **भवान् इति**

(२)

च चित्रता भवत्येव. **इत्थम्** इति विप्रयोगप्रकारेण इति भावः ॥७॥

भगवतो भक्तातिरिक्तेषु वैराग्यं भक्तेषु अनुरागः तथा अत्र समर्पितभक्तेषु तथादानेन तदतिरिक्तेषु वैराग्यं ज्ञायते इति वैराग्यरूपतां निरूप्य ज्ञानरूपतां निरूपयन्ति **अज्ञानाद्यन्धकार...** इति. **अज्ञानम् आदिः** यस्य सएव **अन्धकारः तत्प्रशमनं** दूरीकरणं तत्र **पटुता** समर्थता **तत्ख्यापनाय त्रिलोक्यां ते** तव **अग्नित्वं कविभिरपि** शब्दार्थरसिकैः शास्त्रार्थज्ञैः वा **वर्णितं सदा** नित्यम् इति अर्थः. **वस्तुतो अनुभवनिगमाद्युक्तमानैः** अनुभवात्मकनिगमरूप-व्रज-सीमन्तिन्याद्युक्तमानैः स्वानुभवात्मकनिगमाद्युक्तमानैः च **भवान्** अग्निरूपः तापात्मकः **प्रादुर्भूतः** इति **त्वाम् अवेत्य**

त्वां श्रीश्रीवल्लभेमे निखिलबुधजनाः गोकुलेशं भजन्ते ॥८॥

इति श्रीमद्विठ्ठलदीक्षितविरचितं श्रीवल्लभाष्टकं सम्पूर्णम्

(१)

एवंरूपम् **अनुभवनिगमाद्युक्तमानैः**, '**अनुभव**'पदेन प्रत्यक्षादीनि चत्वारि लौकिकप्रमाणानि उपलक्ष्यन्ते. **निगमो** वेदः. तदाद्याः भारतेतिहासादीनि एवंविधानि उक्तानि शास्त्रे कथितानि यानि प्रमाणानि कृत्वा **इमे** परिदृश्यमानाः **निखिलाः** सर्वे **बुधजनाः** तत्त्वदर्शिनः **त्वां श्रीश्रीवल्लभः** श्रीयोऽपि मण्डनरूपं **गोकुलेशम् अवेत्य** ज्ञात्वा **भजन्ते** पूर्वम् अनधिकारित्वात्. यद्वा एवम् अवेत्य त्वां ये भजन्ते ते गोकुलेशमेव भजन्ते त्वद्भजनेनैव तद्भजनचारितार्थ्यम् इति भावः ॥८॥

श्रीवल्लभाष्टकम् इदं व्याकृतं यत्कृपादृशा ॥
स एव क्षमतां देवो यदज्ञानादलेखि तत् ॥१॥

इति श्रीवल्लभाष्टकटीका श्रीरघुनाथचरणकृता सम्पूर्णा

(२)

कृष्णएव तापात्मकं **त्वां** वर्णयन्ति. अतो **निखिलबुधजनाः** रसज्ञाः **इमे** इति समर्पितात्मनः, **श्रीश्रीवल्लभ!** श्रीद्वयस्यापि वल्लभं **त्वां गोकुलेशं भजन्ते**. यद्वा यतः **प्रादुर्भूतः कृष्णः** सदानन्दोऽपि **वस्तुतो भवान्** तापः इति **त्वां** वर्णयन्ति इति हेतोः **निखिलबुधजनाः** भगवत्स्वरूपविदः **इमे** त्वत्समर्पितात्मनः अनुभवात्मक**निगमरूपाः** व्रजनितम्बिन्यः त्वद्**उक्तमानैः** प्रमाणैः तत्तापनिरूकएव पुरुषोत्तमो न अन्यः इत्याद्यैः **त्वाम्** एव **प्रादुर्भूतगोकुलेशं** पुरुषोत्तम् **अवेत्य** ज्ञात्वा **भजन्ते**. अतएव भगवता "**गोपीनां मद्वियोगाधिम्**" (भाग.पुरा.१०।४३।३) इत्यादि "**किं करिष्यति किं वदिष्यति**" (गी.गो.७)इत्यादिषु च तथैव गीयते. पुरुषोत्तमस्वरूपम् एतादृगेवेति नाधिकं विचारणीयम् अत्र. अतएव श्रीशुकैरपि "**नमोनमस्तेऽस्तु**" (भाग.पुरा.२।४।१४) इत्यस्मिन् पद्ये भगवत्स्वरूपं तथैव निर्णीतम्. ज्ञानस्वरूपम्

एतदेव यत् पुरुषोत्तमस्वरूपयाथात्म्यस्फूर्तिरेव. एतस्य ज्ञानस्वरूपत्वं स्पष्टमेव इति दिक्॥८॥

इति श्रीगोकुलाधीशवल्लभाष्टकमद्भुतम्॥
प्रकाशितं तेन भूयात् प्रसन्नो मत्प्रभूर्मयि॥१॥
यथोक्तमत्र तं ज्ञात्वा स्वरूपं मत्प्रभोः सदा॥
भजन्तु भक्तास्तेष्वेव कृपयिष्यत्ययं तथा॥२॥
एवंरूप-स्वरूपस्य सेवनादेव सर्वदा॥
निश्चिन्ताः स्मो यतः कृष्णो वल्लभात्मजनन्दनः॥३॥
कृपया श्रीघनश्यामो ववर्ष मयि सन्ततम्॥
स्वाचार्यचरणाम्भोजस्वरूपरसबिन्दुभिः॥४॥

इति श्रीमत्प्राणेशश्रीविठ्ठलनाथचरणानुरक्तचरणजोधनविरचितः
श्रीवल्लभाष्टकविवरणभक्तिरसजलधिः
सम्पूर्णः



श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम्
(केषाञ्चिद्* व्याख्यया समेतम्)

यः कृष्णलीलामृतसारसिन्धुषु
प्रवृद्धतत्प्रेमपरिप्लुतः स्वयम्॥
तावत्स्वरूपैः सुरसात्मकैः सदा
क्रीडत्ययं मां कृपया स ईक्षताम्॥१॥
यदर्थम् ईदृग्रसमूर्तिर् आविर्जाता हि वैश्वानरसूनुमूर्तिः॥
सा[१] चापि तादृग्रसभावरूपा कृपादृशा मां शरणं करोतु॥२॥

अथ श्रीमदाचार्याणां लोकिकेषु प्राकट्याद् अलौकिकोत्कर्षम् अजानतां स्वीयानां तज्ज्ञापनार्थं श्रीमत्प्रभुचरणाः श्रीमदाचार्याणां रसात्मकानन्दरूपस्वरूपनिरूपणेन अलौकिकोत्कर्षं लोकेष्वपि अलौकिकधर्मप्रकटनेन कालत्रयेऽपि एतादृशस्य अन्यस्य अभावात् सर्वोत्कृष्टत्वं च तादृग्रसानुभवजनिताति विगाढभावप्रौढ्या निरूपयन्ति —

स्फुरत्-कृष्ण-प्रेमामृत-रसभरेणाति-भरिता
विहारान् कुर्वाणा व्रजपति-विहाराब्धिषु सदा॥
प्रिया गोपीभर्तुः स्फुरतु सततं 'वल्लभ' इति
प्रथावत्यस्माकं हृदि सुभगमूर्तिः सकरुणा॥१॥

अत्र त्रिधा स्वरूपं निरूप्यते : १.एकं सौभाग्यरूपं मूलभूतम्, २.अपरं लीलारसात्मकं ३.तृतीयम् अवताररूपम् अन्येषां फलदायकं सर्वोत्कृष्टं च इति.

---

*आद्यसम्पादकीयं : अत्र व्याख्यातुः नाम नास्ति तथापि श्रीगोस्वामिचरणतृतीयतनुजानां श्रीबालकृष्णानां कृतिः एषा भवेद् इति सम्भाव्यते.

तत्र प्रथमं सौभाग्यरूपम् आहुः : तस्य सा सुभगा मूर्तिः **अस्माकं हृदि सततं स्फुरतु.** 'सुभगमूर्ति'त्वकथनेन यथा श्रीकृष्णो मूर्तिमान् शृङ्गाररसः तथा तद्रसलीलाजनितं यत् परं सौभाग्यं तदेव मूर्तिमद् इयम् इति ज्ञापितम्. अतएव समस्तपदम् उक्तम्. सा का? इति अपेक्षायां तामेव विवृण्वन्ति या **गोपीभर्तुः प्रिया** अत्यन्तं प्रियतमा. अत्र '**गोपीभर्तृ**पदेन उभयोरपि अतिप्रिया इति ज्ञापितम्. तेन पूर्णसौभाग्यं निरूपितम्. अन्यथा भर्तृप्रियत्वेऽपि स्वामिनीप्रियत्वाभावे तथात्वं न स्यात्. स्वामिनीप्रियत्वेऽपि तत्प्रियत्वाभावेति न तथात्वमिति उभयोः प्रियत्वकथनेन सम्पूर्णः सौभाग्यातिशयः उक्तः.

किञ्च **गोपीभर्तुः** इत्यत्र 'भर्तृ'पदेन "**निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा**" (भाग.पुरा.२।४।१४) इत्यत्र निरूपितो गृहस्वामी प्रभुः उच्यते. तत्र (सुबो.२।४।१४) गृहदासानामेव सुलभः इति उक्तत्वाद्, अत्रापि, तादृशानां तथा इति सूच्यते. एवं सति तादृशस्वस्वामिनो गृहे या यावत्सर्वकार्यकर्त्री तत्रापि स्वस्वामिनः प्रिया परमप्रेमास्पदात्यन्तरङ्गरहस्यनर्मवार्ताभिज्ञा. अतएव स्वाधीनभूतभर्तृका. तस्याः तद्रसानुभवजनितं सौभाग्यं किमु वाच्यम्! इति भावः. लोकेऽपि या एतादृशी भवति तस्याः स्वस्वामिगृहे कश्चन पदार्थो नाज्ञातो भवति. सापि भर्तुः परमसुभगा कथ्यते. इयन्तु तादृशालौकिकसाक्षात्स्व-स्वामिगृहे तादृशीति किम् अधिकः सौभाग्योत्कर्षे इति भावः. ननु उभयोः प्रियत्वम् उभयोः अतिप्रियकृतिकरणेनैव भवति तत् किं कृतम् अनया येन एतादृशप्रियत्वम् आसीद्? इति तद् विशेषणेन आहुः **स्फुरद्** इति, स्फुरन्नवनवत्वेन प्रतिक्षणं विस्फूर्जन् यः कृष्णस्य रसात्मकगूढभावरूपस्य सदानन्दपूर्णस्य **प्रेमरूपामृतभरः** तेन **अत्यन्तभरिता** बाह्याभ्यन्तरं पूर्णा.

यद्यपि सदैव श्रीकृष्णप्रेमपूर्णा इयं तथापि तत्तत्क्षणे प्रियाणां प्रियदत्ततादृग्रसभरस्वभावेन मानादिजनितव्यभिचारिभावाः नव-नवाः विलक्षणाः उत्पद्यन्ते, तदा तद्रसोद्बोधक-नर्मपरिहास-काक्वादिनामादिसम्माननेन तन्मेलने कृते तादृशरसभरे प्रियान्तरायासहिष्णोः अत्यातुरस्य स्वप्रभोः अतिप्रियकरणेन तत्तद्रसविशेषभावोत्पादनेन च अतिशयितपरमसुखानुभावनेन च तादृशसमयोच्छ-

लितो यः स्वविषयको अनिर्वचनीयो नवप्रेमामृतभरः तेन अतिपूर्णा बाह्याभ्यन्तरपूर्णा तदैव स्वामिन्यपि स्वमनोभिलषितस्यैव करणेन तादृशपरमसुखानुभावनेन तत्प्रेम्णापि पूर्णा जाता. एवम् उभयोः प्रियत्वे हेतुः उक्तः.

ननु हरिप्रियास्तु अनेकाः एकस्याः अनुकूलकरणे अन्यस्याः तत् प्रतिकूलं चेत् तदा तत्करणे तत्प्रियत्वाभावेन तज्जनितसौभाग्यमपि न भविष्यति तत्र आहुः **विहारान्** इति, अत्र '**व्रजपति**' पदेन यावत्यो व्रजसम्बन्धिन्यः प्रियाः तासां पतिः. 'पति'पदेन गृहस्वाम्येव आयाति. तादृशस्य व्रजपतेः विहाराब्धयः तासु सर्वासु प्रत्येकं रसविलाससमुद्राः तेषु **विहारान् कुर्वाणा** निरन्तरं तत्तदनुभवं करोति इति अर्थः. यदि तासां सर्वासाम् अनुकूलं न कुर्यात् तदा तद्विहारमध्यपातित्वेन तदनुभवो न घटेतेति सर्वानुकूलत्वेन सर्वप्रियत्वेन सर्वजनिततादृशसौभाग्योत्कर्षोऽपि सिद्धः इति भावः. कादाचित्का-भावाय **सदा** इति उक्तम्. एवं सति सर्वानुकूलत्वेन तन्मूर्तेः तासां सर्वासामपि एतदनुकूलतयैव रसानुभवः सिद्ध्यति न अन्यथा इति ज्ञापितम्. अतएव सर्वान्तःपातित्वेन तद्विहारानुभवकरणं तस्य तत्कृतत्वाद् इति. एतेन एकमूर्त्यैव सर्वकार्यकरणं सर्वरसानुभवकरणम् अन्यस्य अशक्यम् इति तत्करणेन इदम् अलौकिकसामर्थ्यं द्योतितम्. एतादृशी सौभाग्यरूपा **मूर्तिः अस्माकं हृदि स्फुरतु**. तादृशलीला सौभाग्यरूपिण्येव प्रकटीभवतु यथा बह्वीनां तासां हृदि प्रियमिलनार्थं मिलनान्तरमपि स्फुरद्रूपा जाता तथा अस्माकमपि हृदि तं मेलयित्वा स्फुरतु. **अस्माकम्** इति स्वस्य अग्निकुमारत्वेन तेषां षोडशसहस्ररूपत्वेन स्वस्यापि तत्सम्पृक्तभावरूपत्वेन प्रभूरसानुभवाद् बहुवचनम् उक्तम्.

ननु या परमकाष्ठापन्नपूर्वोक्तानन्दसौभाग्यवती सा भवदर्थे लोके किमर्थम् आगमिष्यति? तत्र आहुः : या अस्माकमेव अर्थे भुवि प्रकटा सती '**वल्लभः**' **इति प्रथावती** प्रसिद्धा इति प्रत्यक्षप्रमाणम् उक्तम्. '**अस्माकम्**' **इति** '**प्रथावति**'-'**हृदि**' एतदुभयमध्यस्थत्वाद् देहलीदीपन्यायेन योज्यम्.

ननु एवं प्राकट्ये को हेतुः? तत्र आहुः **सकरुणा** इति भगवद्विप्रयोग-जनितास्मत्-तापासहिष्णुः. एतेन एतत्प्राकट्येन सर्वथा अधुना प्रभुमिलनं भवत्येव इति ज्ञापितम्. ननु आचार्यमूर्तिस्तु एतादृश्येव परन्तु इदानीं तादृशीत्वं न दृश्यते इति पक्षान्तरेण समाधानम् उच्यते. अथवा या इदानीं **'वल्लभः' इति भुवि प्रथावती सैव अस्माकं हृदि स्फुरतु.** सा कीदृशी? या **गोपीभर्तुः प्रियाः** इदन्तु महद् अलौकिकं यद् आधुनिकपरिदृश्यमानव्यक्तित्वेऽपि गोपीभर्तुः प्रियात्वम्. ननु प्रियात्वेऽपि तदाधारभूतरसदानं न भविष्यति! तत्र आहुः **स्फुरद्** इति, तादृक्प्रकारक-रसदानेन **अतिभरिता** अत्यन्तं बाह्याभ्यन्तरं पूर्णा नतु किञ्चिदपि न्यूना. एतेन व्यक्त्यभावेऽपि तद्दानेन अत्यलौकिकपरमोत्कर्षः उक्तः. ननु एवं भगवान् एकान्ते सर्वसमर्थत्वेन रसं ददाति परन्तु इतरप्रियाविहारादिषु न प्रवेशो भविष्यति तत्र आहुः **विहारान् कुर्वाणा** इति, सर्वप्रियाणां विहाराब्धिषु विहारान् कुर्वाणा. अब्धीनां बहुत्वेन सर्वत्र स्वच्छन्दविहारत्वं यथाकामम् अवगाहनं द्योतितम्. या व्यक्त्यभावे सकलप्रियतमाविहारिणो हरेः प्रिया अभूत् तत्सौभाग्योत्कर्षः केन वाच्यः! एवं सति एतादृश्या यद् भुवि प्राकट्यं तद् अस्मदुपरि करुणयैव इति तत्प्राकट्ये तत्स्वरूपज्ञानपूर्वकतदनुभवेन सदा हृदि स्फुरणेन तद्भावेन तद्रसानुभवो भवति इति भावः.

ननु तथापि एतावन्तं कालं स्वप्रियतमाभिः सह विहरतो हरेः स्वान्तरायत्वेन एतादृश्याः प्राकट्यकरणं न सम्भवतीति असाधारणो हेतुः कश्चिद् वक्तव्यइति पुनः पक्षान्तरेण उच्यते : यद्वा अत्र पुष्टिमार्गप्रकटनार्थं जीवानां पुष्टिफलप्रापणार्थं स्वस्य तद्रसानुभवार्थं स्वरिरंसया भगवतैव आचार्यप्राकट्यं कृतम् इति वल्लभाष्टके सर्वोत्तमे च उक्तं **''तस्यैव आज्ञया''** (श्रीवल्ल.१) इति **''स्वास्यं प्रादुर्भूतं चकार''** (सर्वो.३) इत्यादिना. अत्रापि तदभिप्रायेणैव प्रार्थ्यते. तथाहि **स्फुरन् वर्धमानः कृष्णस्य प्रेमामृतरसभरः** तेन **अतिभरिता** . अयम् आशयो : यत्फलदानार्थं यत्र च स्वस्य रसानुभवार्थं तादृशाचार्याणां स्वान्तरायत्वेन प्राकट्यं यत् कृतं तत् तस्मिन् प्रेमभरव्यतिरेकेण न किन्तु तत्प्रेमातिशयेनैव. अन्यथा

तादृशलीलासमाजे पुष्टिपुष्टिरूपाभिः स्वप्रियाभिः स्वच्छन्दं विहरतो हरेः स्वास्यरूपत्वेन तादृशाचार्यप्राकट्यकरणं न सम्भवति स्वान्तरायत्वेन अतो यदर्थम् एतावत् कृतं तत्र कश्चन महान् रसविशेषो अत्यलौकिकः पुष्टिमार्गीयो असाधारणः सर्वातिविलक्षणो अतिगोप्यो अस्ति इति अवगम्यते. तदनुभवार्थं तत्रापि प्रेमातिभरेण श्रीमदाचार्यप्राकट्यं कृतम् इति अयमेव असाधारणो हेतुः. ततः तद्द्वारा तत्प्राकट्येन श्रीकृष्णस्य पूर्वोक्तरसानुभवः सिद्ध्येद् इति अर्थः सूचितः. एवं सति स्फुरत्कृष्णस्य गूढभावात्मकस्य यः रसविशेषानुभवार्थं प्रेमातिभरिता तन्मिलनविलम्बासहिष्णुतया तत्प्रेमामृतभरेण पूर्णा सती पुनः तत्तापशान्त्यर्थं भुवि प्रकटा वल्लभ इति प्रथावती प्रसिद्धा इति अर्थः सम्पन्नः. क्वचिद् 'अनु' इति पाठः. तदा 'अनु' पदेन पश्चाद् उच्यते. तेन पूर्वपदमपि आक्षिप्तम्. तथाच पूर्वं **स्फुरत्कृष्ण...** इत्युक्तगूढभगवद्भावो निरूपितः. सएव प्रतिकृतिरूपः कोशो जातः, तस्मिन् प्रेमामृतरसेन **अनुभरिता.** यथा रसेन भृता मूर्तिः तद्रूपाकृतिरेव भवति तथा इयमपि तादृशरसेन भृता तादृग्भावात्मिकैव जाता इति भावः. अतएव सौभाग्यस्यैव मूर्तिः उक्ता तज्जन्यत्वनियमात्.

ननु कदाचिद् अत्र प्राकट्ये भगवल्लीलारसान्तरायो भवेत् तत्र आहुः **विहारान्** इति, एतेन भुवि प्राकट्येऽपि तल्लीलानुभवेन अत्यलौकिकत्वं द्योतितम्. अतएव **गोपीभर्तुः प्रिया तादृग्विहारादपि विशिष्टरसानुभावनेन प्रिया जाता सा मूर्तिः अस्माकं हृदि इदानीं सकरुणा स्फुरतु.** अत्र करुणावत्त्वं प्रियमेलनाभिप्रायेण उक्तम्. यथा स्वतः करुणया एतावत्कृतं तथा अधुनापि प्रियं शिघ्रं मिलितं कुरु. तदभावे तव करुणैकस्वभावत्वं गमिष्यति इति भावः. यतः त्वं सुभगमूर्तिः सर्वेषां सौभाग्यरूपैव मूर्तिरिति तव प्रियमेलनैकस्वभावः उचितो, नतु क्षणमपि तद्विलम्बसहिष्णुत्वं रसाभासहेतुत्वात्. एवं सति एतादृशास्तु अग्निकुमाराएव तेष्वेव रसदानार्थं श्रीमदाचार्यप्राट्यं कृतम् इति एतत्प्रार्थनया ज्ञाप्यते इति भावः ॥१॥

ननु इदानीं पूर्वोक्तधर्माः श्रीमदाचार्येषु सन्तीति कथं ज्ञायते प्रमाणाभावाद्

बहिः तत्प्राकट्याभावात् च इति तज्ज्ञापकं भावात्मकं रूपम् आहुः —

श्रीभागवत-प्रतिपद-मणिवर-भावांशु-भूषिता मूर्तिः ॥
'श्रीवल्लभा'भिधा नस् तनोतु निजदासस्य सौभाग्यम् ॥२॥

यस्य **मूर्तिः** श्रीभागवतस्य यानि **प्रतिपदानि** तान्येव **मणयः** तेषां **वरभावरूपाः अंशवः**. **'वर'**पदेन पुष्टिरूपलीलासम्बन्धिनः उक्ताः. तैः **भूषिता** बाह्याभ्यन्तरम् अलंकृता. यथा अन्यापि सौभाग्यमूर्तिः स्वपतिदत्तमणिहारादिकिरणांशुभिः भूषिता भवेत् तथा इयं तद्भावांशुभिः अलंकृता इति भावः. अथवा वरो हि नूतनरसभोक्ता श्रीकृष्णएव तत्सम्बन्धिनो भावाः निगूढत्वेन हृदये उत्पद्यन्ते यथा नूतनवरे नववध्वाः. ते एवम् अत्युतकटत्वेन उच्छलिताः यदा भवन्ति, तदा बहिः अंशुरूपत्वेन मूर्तिं भूषयन्ति. अतएव उक्तं केनापि **"सखि! तथापि अयं कश्चिद् भावः स्फुटतरम् अभूदेव तरले"** (   ) इति. एतेन एतन्मूर्तेः एतद्रसभावांशुकृतबाह्याभ्यन्तरशोभादर्शनेन तत्पूर्वोक्तधर्मरूपज्ञानमपि स्वीयानां भवति इति भावः सूचितः.

किञ्च यद्यपि **"निगमकल्पतरोः..."** (भाग.पुरा.१।१।३) इति उक्तत्वेन सर्वस्यापि श्रीभागवतस्य रसरूपत्वात् प्रतिपदान्यपि रसरूपाण्येव; तथापि 'वर'पदेन फलप्रकरणीयभावाएव केवलरसरूपाः न अन्ये इति शुद्धपुष्टिभावांशुभिरेव भूषिता न अन्यैः. तथापि **प्रतिपदमणि**रूपभावकथनेन प्रतिपदेषु वेदोक्तकर्मादीनामपि निरूपितत्वात् तेऽपि धर्माः आधिदैविकालौकिकर-सात्मकक्रियाज्ञानशक्तिरूपाः तादृशाएव एतन्मूर्तौ सन्ति इति ज्ञाप्यते. एतेन यत्र-यत्र तादृशो भावः तत्र-तत्र अलौकिकाधिदैविक-तत्तद्भावरूपत्वम् इति सूचितम्. अवताराणामपि **"अदीनलीलाहसित..."** (भाग.पुरा.२।२।१२) इत्यत्र तत्तद्रूपत्वेन निरूपणात् तेऽपि स्वरूपात्मकत्वेन रसरूपाएवेति तत्र न अन्यथा इति भावः. एवं सति सम्पूर्णश्रीभागवतभावरूपता निरूपिता. यस्य जीवस्य यथैव प्रतिपत्तिः तथैव तस्य साधनहीनस्यापि स्वकृपयैव

तत्साधनानि सम्पाद्य उद्धरणसमर्थाः, यथा श्रीभागवतं सर्वाधिकाररूपत्वात्. तेन श्रीमदाचार्यस्वरूपन्तु तादृग्रसभावात्मकमेव किन्तु जीवोद्धारार्थम् आविर्भूतस्य तस्य लोके स्वाङ्गीकृतानां जीवानां लौकिकवैदिकधर्माणां स्वधर्मकत्वेन करणाद् अस्वधर्मत्वेन अकरणात् च भगवद्भजनं न सिद्ध्येत्. स्वधर्मत्वेन लौकिकवैदिकधर्मकरणे भक्तिमार्गबाधसम्भवात्. अकरणेतु वेदाज्ञायाः अकरणात् तथात्वाद् अस्मिन् मार्गे अप्रामाण्यशङ्का स्यात् साधारणानाम् इति कापट्येन तदाचरणोपदेशार्थं सेवोपयोगिलौकिकवैदिकधर्माचरणं नतु सहजधर्मत्वेन. अतएव उक्तं च **"लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्याद्"** (पु.प्र.म.२०) इति **"वैष्णवत्वं हि सहजम्"** (पु.प्र.म.२१) इति पुष्टिप्रवाहमर्यादायाम्. यस्य एतादृशी मूर्तिः स श्रीवल्लभाभिधानः पूर्वोक्तरूपः प्रभुः **निजदासस्य सौभाग्यं तनोतु** एतद्दास्यसौभाग्यस्वरूपन्तु पूर्वश्लोके निरूपितमेवेति तादृशं सौभाग्यं विस्तरेण तनोतु इति प्रार्थना. एवं सति तद्दास्यसौभाग्यं स्वस्मिन्नेव सम्भवतीति स्वस्मिन्नेव तद्दानं न अन्यत्र इति एतादृशस्वरूपनिरूपणेन ज्ञापितम् इति अन्यस्य अतिदुर्लभत्वमपि इति भावः ॥२॥

ननु आचार्याणाम् एतादृशम् अलौकिकरूपन्तु केवलं भवतामेव ज्ञातम् अभूत् तद्दत्तफलमपि प्राप्तमिति ये जीवाः दैवसृष्टौ उत्पन्नाः तेषां संसारमहान्धकूपपतितानाम् अज्ञानावृतचेतसां कर्माद्यसच्छास्त्रसङ्गजनितमोहान्ध-कारभ्रान्तानां स्वपथम् अलभमानानां का गतिः ? इति चेत् तदर्थं मार्गप्रकाशकत्वेन अवताररूपं निरूपयन्ति —

मायावादतमो निरस्य मधुभित्सेवाख्यवर्त्मादभुतं
श्रीमद्गोकुलनाथसंगमसुधासम्प्रापकं तत्क्षणात् ॥
दुष्प्रापं प्रकटं चकार करुणारागादिसम्मोहनः
सश्रीवल्लभभानुर् उल्लसति यः श्रीवल्लवीशान्तरः ॥३॥

सः पूर्वोक्तएव **श्रीवल्लभो भानुरिव लोके उल्लसति यो मायावादरूपं तमो** अज्ञानान्धकारं **निरस्य** दूरीकृत्य ज्ञानोपासनादीनामपि

स्वस्वमतएव प्रवर्तनात् तत्र-तत्र साक्षाद्भगवत्सम्बन्धाभावात् तेषामपि तमोरूपत्वेन स्वीयानां तत्र प्रवृत्त्यभावार्थं **मधुभिदो** दोषनिवारकस्य **सेवाख्यं वर्त्म** मार्गं **प्रकटं चकार.** यथा भानू रात्रिजं तमो दूरीकृत्य सन्मार्गं प्रकाशयति अन्यथा मार्गाज्ञाने उन्मार्गगमने नाशः स्याद् इति. तथा सर्वविलक्षणतया सर्वोत्कृष्टं सेवामार्गं प्रकटं चकार इति अर्थः.

ननु तन्मार्गप्रकटनेन जीवानां तत्र प्रवृत्तिः भविष्यति परन्तु अग्रे फलं कदा कीदृशं भविष्यति? इति तत्र आहुः **श्रीमद्** इति, श्रीमान् यो **गोकुलस्य नाथः** साक्षाद् रसात्मकपुष्टिपुरुषोत्तमः तस्य **संगमरूपा सुधा** तस्याः सम्यक् **प्रापकं तत्क्षणादेव** मार्गप्रवृत्त्यनन्तरमेव उभयरसात्मकं पूर्णं भजनानन्दम् अनुभावयति इति भावः. कदाचित्कालकृतप्रतिबन्धो भवेदिति **'मधुभित्'** पदेन कालनियामकत्वेन तत्कृतप्रतिबन्धोऽपि अत्र नास्ति इति ज्ञापितम्. **'मधु'** पदस्य वसन्तवाचकत्वात् तत्परत्वमपि सम्भवति इति अर्थः. ननु भगवत्सेवामार्गप्रवृत्तानामपि अन्येषाम् एतत्फलम् एतावत्पर्यन्तं न श्रुतं कथम् अधुना एतत्प्रकटितत्वेन अयं मार्गः तत्फलदायकः इति चेत् तत्र आहुः **करुणा...** इति, करुणया श्रीमदाचार्यकरुणया यो **रागादिः** साक्षात्पुरुषोत्तमे स्नेहः. **'आदि'** पदेन आसक्तिव्यसनसर्वात्मभावादयः तैः **सम्यङ् मोहनं** मनआदिसर्वेन्द्रियाणां भगवत्स्वरूपे निरोधकं रसात्मकस्वरूपव्यतिरिक्ते सर्वत्र अरुचिकारकम्. एतेन मार्गप्रवृत्तावपि रागादिस्तु तदधिष्ठातृकरुणयैव भवेद् न अन्यथा इति ज्ञापितम्. अतएव एतत्फलस्य अतिदुर्लभत्वज्ञापनाय उक्तं **दुष्प्रापम्** इति, ईदृग्रागादिजनितविगाढभावरूपदुःखेन प्राप्यम् अन्यथा दुष्प्रापम्. अन्येषाम् अप्राप्यमेव इति भावः. एवं सति एतन्मार्गस्य इतरमार्गाद् उत्कृष्टत्वम् एतत्फलमपि एतदाचार्यकृपयैव प्राप्यं न अन्यथा इति ज्ञापितम्.

ननु एवं प्रकाशकत्वादिधर्मसाम्येन भानुरूपत्वं निरूपितं परन्तु भानोः प्राकृतत्वाद् एतेष्वपि तथात्वम् आशङ्क्य तेषाम् अप्राकृतत्वम् आहुः **श्रीवल्लवीशान्तरः** इति, **श्रीवल्लवीशः** साक्षाल्लीलासहितो रसात्मको यः पुरुषोत्तमः स **आन्तरे** हृदये यस्य. भानौ **''...नारायणः सरसिजासनसंनिविष्टः''** (आदि.हृद.५५) इति नारायणः तिष्ठति. अत्र साक्षात्पूर्णपुरुषोत्तमः इति ततो वैलक्षण्यं ज्ञापितम्. किञ्च सतु एकभानुः अयन्तु पुरुषोत्तमस्य आस्यरूपत्वात् ''श्रीवल्लवीशरूपम् आन्तरं सर्वं यस्य'' इति व्युत्पत्त्या सूर्याधिकप्रकाशरूपत्वेन श्रीवल्लवीशएवेति ततो अलौकिकत्वं निरूपितम्. 'आन्तरम्' इति उपलक्षणं, बाह्याभ्यन्तरम् इति यावत्. यथा भानुः मार्गप्रकाशकत्वेन लोकानाम् इष्टप्रापकः तथा अयमपि इति सर्वम् अवदातम्. अथवा ननु आचार्याणाम् **''स्वास्यं प्रादुर्भूतं चकार ह''** (सर्वो.३) इति उक्तत्वात् साक्षाच्छ्रीश्रीकृष्णास्यं वास्तवं रूपं तदधिष्ठातृत्वेन आधिदैविकानन्दमयाग्निरूपं वल्लभाष्टके निरूपितम्. अग्निरूपत्वेनैव भावरूपत्वमपि निरूपितम्. इहतु भानुरूपत्वनिरूपणे स्वरूपद्वैविध्यापत्तिः. नच मायावादतमोनिरासकत्वादिधर्मसाम्येन तद्रूपत्वम् उक्तमिति अग्निरूपत्वस्यापि तथात्वापत्तेः तस्यापि अज्ञानाद्यन्धकारनिवृत्तिहेतुत्वेन तथात्वम् अस्तु इति वाच्यम्, अवास्तवत्वापत्तिरूपानर्थक्यसम्भवात्. नच भानुरूपत्वस्यापि वास्तवत्वमेव अस्तु इति वाच्यं, तथात्वस्य कुत्रापि अनिरूपणात्. अग्निरूपत्वस्यतु ''अग्निः चकार तत्त्वार्थदीपम्'' (त.दी.नि.प्र.१।१) इत्यादिना निरूपितत्वात् च इति चेद् अत्र गूढाभिसन्धिम् उद्घाटयन्तः पक्षान्तरेण तत्स्वरूपं निरूपयन्ति **मायावादतमः** इति, अत्र निकुञ्जस्थलीलासामयिकं स्वरूपम् उच्यते. एतदेव उक्तं सर्वोत्तमे **''प्रतिक्षणनिकुञ्जस्थ...''** (सर्वो.२५) इति. तथाहि : आदौ भगवता स्वयं निकुञ्जे स्थित्वा व्रजसमुदायस्थभक्तानयनार्थं प्रेषिता पूर्वोक्तपरमसौभाग्यरूपा श्रीमदाचार्यमूर्तिः तत्र गत्वा भगवत्-सौन्दर्य-माधुर्य-परमस्नेहार्दत्वादि-गुणनिरूपकत्वेन रसोद्बोधिका अतएव मायारूपाः मोहरूपाः ये वादाः तैः **तमः** पत्यादि-भयजनित-गमनाभावरूपम्. अथवा पत्यादिवाक्यान्येव मायावादरूपाणि तज्जनितं यत् तमः तं निरस्य यद् अज्ञानं तद् **निरस्य** दूरीकृत्य मानरूपं वा. **मधुदैत्यः** तापको भवति अत्र चिरसञ्चितमनोरथप्राप्तप्रिये पत्यादि-प्रतिबन्ध-रचित-मिलनाभाव-जनितः तापः तद्रूपएवेति तं **भिनत्ति** इति तादृशी या **सेवा साक्षात् सर्वसमर्पणरूपा ताम् आसमन्तात् ख्याति प्रकर्षेण कथयति. अनेन मार्गेण सा भविष्यति इति भावः. यद्यपि अन्ये मार्गाः बहवः तत्र प्रकटाः सन्ति परन्तु**

ते सर्वदृग्गोचराः निरन्तर-सर्वप्रवृत्ति-संयुक्ताअपि न तादृशानां तापनाशकाइति तादृशं वर्त्म दुष्प्रापं तेषामेव इति अर्थः. पूर्वोक्तमार्गस्थितानाम् अन्येषाम् इति वा **प्रकटं चकार**. तादृशभक्तानां पत्यादिसर्वत्यागपूर्वकं तज्जनितभयाभावपूर्वकं च निकुञ्जसदनोन्मुखत्वं प्रमाणत्वेन ज्ञापितं चकार इति अर्थः. अतएव **अद्भुतम्**. व्रजाद् निकुञ्जस्थानपर्यन्तं बहवो मार्गाः प्रसरन्ति तन्मध्यतएव सर्वाज्ञातं ज्ञापितम् इति तथा. अयम् अर्थस्तु दशमस्कन्धीयसप्तदशाध्याये ''**मार्गाः बभूवुः**...'' (भाग.पुरा.१०।१७।१६) इत्येतच्छ्लोकविवरणे ''**पूर्वं ये तेन**...'' (सुबो.१०।१७।१६) इत्यादिना स्फुटीभवति. विशेषतः टिप्पण्यां ''**यावत्पर्यन्तं तद्विषये संस्कारानुत्पत्तिः**'' (सुबो.टिप्प.१०।१७।१६) इति. तथाच संस्कारोत्पादकत्वं श्रीमदाचार्याणामेव इति सर्वं सुस्थम्. ननु कदाचित् तत्र गमनेऽपि इतरमार्गाणां तत्र विद्यमानत्वाद् मार्गविस्मृत्या न तत्प्राप्तिः भवेद् इति चेत् तत्र आहुः **श्रीमद्** इति तेनैव मार्गेण भगवान् निकुञ्जे गतः तदा तच्चरणारविन्दावलोकन- जनितपरमार्त्या तत्र गमने तत्क्षणादेव तादृशसुधासम्प्रापकं भवति इति अर्थः. एतेन अयमेव भगवन्मार्गो न अन्यः इति सूचितम्.

ननु सच कदाचिद् उन्मार्गत्वेन दुःखदो भविष्यति इति चेत् तत्र आहुः **करुणा...** इति तन्मार्गप्रवृत्तिमात्रेणैव अतिरमणीय-परमहंसादि-विहंगममिथुन-रचित-विविधकलकूजित-श्रवणेन प्रियचरण-सम्बन्धजनित-भूम्यादि-सरसत्वादि-धर्मावलोकनेन च प्रकटो यो भावः करुणात्मकः सात्त्विकाविर्भावजन्यो दैन्यरूपः तेन कृत्वा यो **रागादिः** ''**चक्षूरागः प्रथमः**...''* इत्याद्यवस्थाः ताभिः सम्यङ् मोहनं रसात्मकत्वेन सकलदेहप्राणेन्द्रियादिकं स्वरूपात्मकं करोति इति अर्थः. यत्र मार्गस्य एवं मोहकत्वं तत्र स्वरूपस्य किं वाच्यम्! इति भावः. तस्मिन् समये **सश्रीः** नीयमानश्रीसहितो यो भगवतो वल्लभत्वेन **वल्लभः**. समये भानुरूपः **उल्लसति** निकुञ्जस्थितो

*आद्यसम्पादकीयं : चक्षूरागः प्रथमः चित्तासंगस्ततोऽथ संकल्पः। निद्राच्छेदस् तनुता विषयनिवृत्तिस् त्रपानाशः॥ उन्मादो मूर्च्छा मृतिः इत्येषा दश दशाः स्मरस्य स्युः॥

भगवानेव तदागमनं प्रतीक्षते तदा ''अयम् आगतो-अयम् आगतः'' इति तन्मार्गोन्मुखस्य प्रभोः लोचने अयमेव उल्लसति लोचनरूपएव भवति इति अर्थः. एवं सति भानुरूपत्वं सम्पन्नं तस्य तद्रूपत्वादिति कार्यमपि तेन कृतम् इति सुष्ठूक्तं तथा. अथवा तादृशप्रियायाः आनयने भगवतो दिनमिव करोतीति भानुरूपता. एतेन अपेक्षितभक्तविषयिका भगवतो अवस्था निरूपिता. एवं सति अस्यैव अयं मार्गो न जीवस्य इति सूचितम्. अतःपरं मार्गस्थितस्य अवस्थाम् आहुः **श्रीवल्लवीशान्तरः** इति, श्रीयुक्तो वल्लवीशः आन्तरे सर्वत्र यस्य. या मार्गे नीयते तत्सहितप्रभुलीला-भावनाजनित-तद्रसानुभवेन देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणात्मानः तदात्मकाएव भवन्ति इति भावः. एवं मार्गस्य स्वरूपनिरूपणहेतुकं भानुरूपत्वं निरूपितम्. अतएव ''**भक्तिमार्गाब्जमार्तण्डः**'' (सर्वो.९) इत्यत्रापि तथा निरूपणं ज्ञेयम्. **उल्लसति** इति भावार्थः सूचितः॥३॥

ननु करुणयैव तत्प्रकाशितमार्गप्रवृत्तावपि नवरत्नभक्तिवर्द्धिनीविवेकधैर्याश्रयाद्युक्तसाधनानां जीवसाध्यत्वाभावात् तदभावे अत्र तच्छब्देन पूर्वपरामर्शाद् एतादृशएव अधुना मार्गप्रकाशको भानुरूपः फलं कथं भविष्यति इति चेत् तत्र आहुः

यदङ्घ्रिनखमण्डलप्रसृतवारिपीयूषयुग्-
वराङ्गहृदयैः कलिस्तृणमिवेह तुच्छीकृतः।
व्रजाधिपतिरिन्दिराप्रभृतिमृग्यपादाम्बुजः
क्षणेन परितोषितस्तदनुगत्वमेवास्तु मे॥४॥

यदंघ्रि... इति, **यद् अंघ्रिनखमण्डलात् प्रसृतं** यद् **वारिरूपं पीयूषं** तेन **युञ्जि** युक्तीभवन्ति **वराङ्गानि** मूर्धानः **हृदयानि** च **वराणि** श्रेष्ठानि वा तानि येषां, तैः जनैः **कलिः तृणमिव तुच्छीकृतः** यथा तृणम् अतिलघुत्वाद् अगण्यं भवति तथा अयं कृतः इति अर्थः. अथवा यदैव एतच्चरणजलसम्बन्धेन श्रेष्ठानि तानि जातानि तदैव कलिः स्वयमेव

निवृत्तो भस्मीभवनभयात्. अतएव तृणसादृश्यं कलेः उक्तम्. एतेन तज्जलस्य रसात्मकत्वं सूचितम्. यश्च पुनः **इन्दिराप्रभृतिभिः मृग्यमेव पादाम्बुजं** यस्य तादृशः स **व्रजाधिपतिः** पूर्वोक्तलीलारसरूपः **क्षणेन** तच्चरणजलप्रभावेणैव तैः **परितोषितः तदनुगत्वमेव** मम **अस्तु** इति भावः. अत्र इयं गूढाभिसन्धिः : तच्चरणन्तु भक्तिरसरूपं तज्जलमपि तद्रूपमेव तत्सम्बन्धेन पुष्टिरससम्बन्धएव भवति. तेन स्वरूपनिष्ठाः भावाएव उत्पद्यन्ते, तैः प्रत्यङ्गानि हृदयादीनि तद्रसरूपप्रत्यङ्गदर्शनस्पर्शनाभिलाषप्राचुर्येण तदात्मकतया तद्रूपाण्येव भवन्तीति तेनैव अग्निना कलिमपि तुच्छीकृत्य दुःखदत्वेन कलिं विरहरूपं क्लेशं वा दूरीकृत्य तत्क्षणेन साक्षात्सम्बन्धेन व्रजाधिपतिपरितोषमपि कुर्वन्तीति चरणारविन्दजलस्य अलौकिकरसरूपो महान् उत्कर्षो निरूपितः. एवं सति तच्छरणगमनेन तच्चरणारविन्द-जलसम्बन्धे रसात्मक-व्रजाधिपति-रतिः उत्पद्यते, तया नवरत्नाद्युक्तसाधनानि तत्स्वभावादेव भवन्तीति पूर्वोक्तशङ्कापि निरस्ता इति ज्ञेयम्. किञ्च अत्र भावान्तरेणापि ध्वन्यते. तथाहि : पूर्वश्लोके आचार्याणां भानुरूपत्वं निरूपितम् अस्मिन् पद्ये चरणनखमण्डलसम्बन्धिजलस्य कलिखण्डनत्वं भगवत्सन्तोषकत्वम् उक्तम्. तेन यथा रविमण्डलाद् आविर्भूतस्य कालिन्दीजलस्य पूर्वं कलिखण्डनत्वरूपं सर्वसाधारणधर्मं ''**यमोऽपि...**'' (यमुना.६) इति श्लोकेन उक्त्वा पश्चात् ''**इयं तव कथाधिका**'' (यमुना.८) इति असाधारणो धर्मो निरूपितः. यथावत् सान्निध्यकृत-तनुनवत्व-प्रार्थनपूर्वकं भगवत्परितोषकरणरूपोऽपि असाधारणो धर्मो निरूपितः तथा एतच्चरणसम्बन्धे जलस्यापि कलिखण्डनत्वं सर्वसाधारणधर्मो व्रजाधिपतिपरितोषकत्वम् असाधारणधर्मः इति. तनुनवत्वहेतुभूतसान्निध्यार्थं तदनुगत्वमेव अस्तु इति प्रार्थनम् इति भावः. एवं सति मुररिपुरतिः न दुर्लभा इति अभिप्रायेण ''**व्रजाधिपतिः...**'' इत्यादि उक्तम् इति ज्ञेयम्. एतेन यथा कालिन्दीस्वरूपं केवलतद्रसात्मकं तथा एतज्जलस्वरूपं तद्रसात्मकमेव इति. यथा कालिन्दी पूर्वं कुमारीकामपूरिका जाता तथा अधुना अस्माकमपि कामं पूरयेदिति तदनुगत्वपूर्वकं प्रार्थनम् इति भावः ॥४॥

ननु संसारग्रस्तस्य जीवस्य श्रीमदाचार्यस्वरूपज्ञानाभावाद् भावदुष्टत्वात्

च तच्चरणजलसम्बन्धेऽपि कथं कलितुच्छीकरणम्? ''**सर्वेण गाङ्गेन जलेन**'' (   ) इति वाक्याद् भावदुष्टानां न कदाचिदपि शुद्धत्वम् इति चेत् तत्र आहुः —

अघौघतमसावृतं कलिभुजंगमासादितं
जगद्विषयसागरे पतितम् अस्वधर्मे रतम्॥
यदीक्षणसुधानिधिः समुदितोऽनुकम्पामृताद्
अमृत्युम् अकरोत् क्षणाद् अरणम् अस्तु मे तत्पदम्॥५॥

अघौघ... इति, **अघौघतमसा आवृतम्** एतेन आन्तर् अन्धत्वं निरूपितम्. अन्तर्ज्ञानाभावाद् बाह्यदृष्टिरपि अन्धैव यतो यद्विषये आसक्ताः तमेव पश्यन्ति इति बाह्याभ्यन्तरम् अन्धत्वम् उक्तम्. तत्रापि पुनः **कलिभुजंगमेन आसादितम्** आसमन्ताद् ग्रस्तम्. तद्विषजनितमोहेन अत्यन्तम् अन्धतममेव इति सूचितम्. तत्रापि **जगद्रूपः** संसाररूपो यो **विषयसागरः** तत्र **पतितं** बाह्यान्तरान्धत्वेऽपि कदाचित् सर्वथा न नाशो भवेदिति **कलिभुजंगम...** इति उक्तम्. तद्विषजमोहस्यापि निवृत्तिः तन्मन्त्रवेदिना कदाचिद् भवेदिति **जगद्** इति उक्तम्. एतादृशं चेत् सागरे पतितं सत् सर्वथा मज्जत्येव स्वतः परतोऽपि तिमिंगिलाद्यधिष्ठानत्वात् तस्येति. अतएव **अस्वधर्मे रतम्** इति उक्तम्. संसारनिवर्तकेतरधर्मेष्वेव रतम्. समुद्रे पतितस्यापि तरणासम्भवाद् मज्जनधर्मेष्वेव रतम् इति अर्थः. एवं सर्वथा नश्यन्तमपि जीवं **यदीक्षणसुधानिधिः** करुणारसार्द्रेक्षणरूपामृतसमुद्रः **क्षणाद् अमृत्युं** मरणरहितं कालभयरहितम् **अकरोत्. तत्पदं** मे **अरणं** शरणम् **अस्तु** यत्र सर्वथा नाशसम्भवेऽपि न नाशः इति. ननु एतादृशे अतिदुष्टे कथं दृष्टिः पतति! इति तत्र हेतुम् आहुः **अनुकम्पामृताद् यः समुदितः** अमृताद् उद्गतो मरणादिभयरहितमेव करोति इति अर्थः. एतेन एतादृशम् आपद्गतम् अज्ञं जीवं दृष्ट्वा प्रभुषु करुणैव उत्पद्यते. अतः तादृशी दृष्टिः क्रियते तदैव मरणहेतुकं सर्वं त्यक्त्वा शुद्धभावेन आचार्यशरणगमने तत्पदजलसम्बन्धेन कलितुच्छीकरणम् इति ज्ञापितम्. **अकरोद्** इति भूतार्थत्वस्य

सिद्धवत्कारेण उक्तत्वात् जीवार्थमपि स्वतःकरुणाकरणैकशीलत्वं यद् आचार्याणां तत् स्वानुभूतमेव इति ज्ञापितम्. अतएव तद् **अरणं** प्रार्थितम्. यः पूर्वम् एतादृशं जीवम् ईदृशम् अकरोत् तत्पदं मे शरणम् इति. तदपि अत्र श्रीमत्प्रभुचरणाः कदाचित् तद्विप्रयोगरसानुभवदशायां तज्जनितप्रचुरार्त्या तद्भावस्वभावजनितदैन्यवन्तः इति न अनुपत्तिः काचित्॥५॥

एवं करुणयैव एतादृक्सहजदुष्टजीवोद्धारकरणेन श्रीमदाचार्याणां परमोत्कर्षम् उक्त्वा कालत्रयेऽपि ईदृग्धर्मविशिष्टो न अन्यो अस्तीति निरुपमत्वम् आहुः—

मायावादकरीन्द्रदर्पदलनेनास्येन्दुराजोद्गत-
श्रीमद्भागवताख्यदुर्लभसुधावर्षेण वेदोक्तिभिः॥
राधावल्लभसेवया तदुचितप्रेम्णोपदेशैरपि
'श्रीमद्वल्लभ'नामधेयसदृशो भावी न भूतोस्त्यपि॥६॥

मायावाद... इति, **मायावादरूपो** यः **करीन्द्रः** महामत्तगजेन्द्रो अन्यानपनोद्यः तस्य यो **दर्पः** तद् **दलनेन** ततः **आस्येन्दुराजः समुद्गतो** यः **श्रीमान्** अलौकिकषड्गुणात्मकश्रीयुक्त्या 'भागवताख्यो' नामात्मको अन्तःपूर्णानन्ददायको यो **दुर्लभः सुधावर्षः** तेन. अर्थाद् दुःखरूपं मायावादं दूरीकृत्य स्वप्रकटितभक्तिमार्गानन्ददानेन पुनः **वेदोक्तिभिः** रसात्मकानन्दरूपब्रह्मनिरूपिकाभिः तदुक्तधर्मस्थापनरूपाभिः च. ततः पुष्टिमार्गफलरूपया **राधावल्लभसेवया** स्वमार्गे लीलास्थभक्तसहितस्यैव सेव्यत्वात् तद्वल्लभत्वेन उक्तम्. तत्रापि रसस्य तत्रैव अवस्थितत्वात् तद्दत्तत्वेनैव प्राप्यो न अन्यथेति भक्तेष्वपि मुख्यस्यैव नाम उक्तम्. सेवापि मानस्येव उत्कृष्टेति तत्से**वोचितप्रेम्णा** सर्वात्मभावरूपेण पुनः स्वीयान् प्रति **तदुपदेशैरपि श्रीमद्** एतदुक्तसर्वोत्कृष्टधर्मश्रीयुक्तम् **यद् वल्लभनाम** तत्**सदृशो न भावी, न भूतो, न अस्त्यपि** कालत्रयेऽपि एतादृशो न अन्यो अस्ति इति अर्थः. अन्यत्र कालत्रयेऽपि समस्तधर्मासम्भवात्. एतेन श्रीमदाचार्याणां प्राकट्यात् पूर्वे काले तथा प्राकट्यसमये पुनः पूर्वभावप्रपत्तौ च एकरूपत्वमेव नतु धर्मवैलक्षण्यम्

इति निरूपितम्. किञ्च अत्रापि परोक्षवादएव ज्ञेयः. तदा **'करिन्द्र'**पदेन मानो व्यज्यते॥६॥

ननु मायावादनिराकर्तृकपाण्डित्य-निगमगति-तत्क्रिया-भगवत्सेवादि-धर्माः अन्यत्रापि लोके दृश्यन्तइति एवं सिद्धवत्कारेण न एतादृशः कोऽपि कालत्रये इति कथम् उक्तं तत्र आहुः—

क्वचित् पाण्डित्यं चेत् न निगमगतिः सापि यदि न
क्रिया सा सापि स्याद् यदि न हरिमार्गे परिचयः॥
यदि स्यात् सोऽपि श्रीव्रजपति-रतिर् नेति निखिलैः
गुणैर् अन्यः को वा विलसति विना वल्लभवरम्॥७॥

क्वचिद् इति, यदि मायावादनिराकर्तृकं **पाण्डित्यं क्वचिद्** भवति तथापि तस्मिन् तादृशी **निगमगतिः** प्रवेशः रसात्मकानन्दब्रह्मज्ञानम् आद्यन्तपरामर्शेन यथार्थत्वेन च सर्वधर्मज्ञानं च न भवति. यदि कदाचिद् निगमे गतिः भवति तथापि तदुक्तसाङ्गा **क्रिया न. सापि यदि स्यात्** तथापि हरिमार्गे **परिचयो अभ्यासो न.** 'हरि'पदेन सर्वदुःखहर्ता भगवान् तन्मार्गे साक्षात् फलरूपभक्तिमार्गे इति सूचितम्. किन्तु तेषां ज्ञानादिमार्गेष्वेव प्रवृत्तेः तत्रैव परिचयः. यदि **सोऽपि स्यात्** साक्षात् फलरूपत्वेन मार्गे परिचयोऽपि भवेत् तथापि **व्रजपतिरतिः** साक्षाद् रसात्मकलीलासहिते प्रभौ **रतिः** साक्षाद् अङ्गसम्बन्धिनी रतिः रिरंसा प्रीतिः नास्त्येव. इहतु यथा श्रीमदाचार्याणां तादृशे प्रभौ रतिः तथा एतेष्वपि प्रभोरिति सुतरामपि उत्कर्षइति **निखिलैः** समस्तैः एतैः **गुणैः वल्लभवरं** वल्लभरूपं वरं **विना अन्यः को वा विलसति! वा** इति अनादरे अपितु न कोऽपि इति अर्थः. एतेन पूर्वम् एतन्मूर्तेः **'मणिवरभावांशुभूषित'**त्वोक्त्या मणीनां गुणसङ्गं विना शोभाजनकत्वाभावात् भावरूपमणीनाम् ईदृग्गुणैरेव संयोगाद् वैजयन्तीरूपत्वेन शोभाजनकत्वम् एतत्स्वरूपं विना न अन्यत्रेति **"विलसति विना वल्लभवरम्"** इति उक्तम् इति भावः. किञ्च एभिः गुणैः सह

एतद्विलासोक्तिकथनेन एते गुणाअपि एतादृशं वरं प्राप्य विलसिताः जाताः. अन्यथा एतत्स्वरूपसम्बन्धाभावे गुणानामपि स्वसमानाधिष्ठानाभावाद् निरर्थकता विलासादिजनितशोभाद्यभावएव इत्यपि ज्ञापितम्. यथा पत्नीगुणाः स्ववरएव विलसन्ति तथा व्रजपतिरतिगुणाः वल्लभवरएव विलसन्ति न अन्यत्रेति. अतःपरं कः उत्कर्षो वाच्यः! इति सर्वोत्कर्षेण षड्गुणो धर्मी निरूपितः ॥७॥

संसारसिन्धुनिमग्नं विषयोर्मिप्रचालितम् ॥
श्रीमदाचार्यचरणाः प्रोद्धरन्तु स्वतो हि माम् ॥१॥
यदज्ञेनापि लिखितं मन्ये तत् तत्कृपाबलम् ॥
यदि हृद्यं हि तज्ज्ञानां तदेदम् अखिलं शुभम् ॥२॥

इति श्रीविट्ठलदीक्षितविरचितसप्तश्लोक्याः
कैश्चित्कृता व्याख्या सम्पूर्णा



स्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम्
(श्रीहरिरायकृतव्याख्योपेतम्)

नमामि श्रीमदाचार्यचरणाम्बुरुहद्वयम् ॥
यत्कृपालेशतो बुद्धिः श्रीमत्प्रभुकृतौ भवेत् ॥१॥
श्रीविट्ठलेशचरणं क्लेशमात्रनिवर्तकम् ॥
वन्दे विशेषविज्ञानसंसिद्ध्यै तत्कृताविह ॥२॥
नमामि तातचरणान् सततं सपितामहान् ॥
यदाश्रयाद् अहं जातः स्वाचार्यशरणं गतः ॥३॥

अथ श्रीमत्प्रभुचरणाः स्वाचार्यस्वरूपं निरूपयन्तो "निखिलबुधजनाः **गोकुलेशं भजन्ते**" (श्रीवल्ल.८) इति उक्ततया तत्त्वेन निरूप्यस्य तल्लक्षणभूतैः धर्मैरेव तथात्वमिति लक्षणरूपान् 'भग'शब्दार्थभूतान् धर्मिसहितान् धर्मान् स्वेन गुणैः च सप्तधा फलदातृताज्ञापनार्थं सप्तभिः श्लोकैः निरूपयन्तः प्रथमं तदाधारत्वेन धर्मिणं निरूपयन्ति :

स्फुरत्-कृष्ण-प्रेमामृत-रस-भरेणाति-भरिता
विहारान् कुर्वाणा व्रजपति-विहाराब्धिषु सदा ॥
प्रिया गोपीभर्तुः स्फुरतु सततं 'वल्लभ' इति
प्रथावत्यस्माकं हृदि सुभगमूर्तिः सकरुणा ॥१॥

स्फुरद् इति, **अस्माकं हृदि सा सुभगमूर्तिः सततं स्फुरतु** इति सम्बन्धः. अत्र 'मूर्ति'पदेन धर्मी निरूप्यते. **सुष्ठु** समीचीनाः **भगाः** यस्याः इत्यनेन अन्तरङ्गाः धर्मिरूपाः पुष्टिमार्गीयाः ऐश्वर्यादयो निरूप्यन्तइति

षड्भिः विशेषणैः तान् निरूपयन्तः प्रथमम् ऐश्वर्यं निरूपयन्ति —

स्फुरत्... इति पुष्टिमार्गीयैश्वर्यं हि भगवतो रसशास्त्रोक्तरीत्या रमणं पूर्णब्रह्मत्वं च. तथा अत्रापि स्फुरद्धृदये यत् कृष्णप्रेम तदेव अमृतं मोक्षरूपं देहादिभावविस्मारकत्वेन परमानन्दानुभावकत्वेन च. अथवा **'अमृत'**पदेन सुधाजीवनसम्पादकत्वाद् विरहानुभवाकुलतादृशदेहदायकत्वात् च. अथवा **न** विद्यते **मृतं** मरणं यस्माद् इति. हृदि स्फुरद्भावस्य स्वरूपप्राकट्यहेतुत्वेन तात्कालिकतथाभावनिवर्तकत्वात्. अथवा गुणगानदशायां **हृदि स्फुरत्** प्रकाशमानं यत् **कृष्णस्य** तद्भावात्मकस्य सम्बन्धि **प्रेम** स्वामिनीहृदयदेशे प्रादुर्भूतो भावविशेषः, तेन प्रकटं यद् **अमृतं** सुधा भावात्मकभगवदात्मिका **''रन्ध्रान वेणोः...''** (भाग.पुरा.१०।१८।५) इत्यत्र निरूपिता. तत्सम्बन्धी यः स्वामिनीमुखारविन्देषु गुणगानदशायाम् आविर्भूतो मुख्यो अधररसः तस्य यो **भरः** प्रतिस्वामिनी-प्रतिमुखारविन्दप्राकट्यात्, तेन सुवर्णादिरसेनेव स्वात्मतासम्पादकेन **भरिता,** श्रीमदाचार्याणां मुखारविन्दरूपत्वेन तत्सुधाभरितात्मत्वस्य उचितत्वात्. तथाच सदा तद्भरितत्वं तत्पूर्णत्वं तन्निष्पन्नत्वं वा प्राकृतानुकृत्या अन्यजनमोहकत्वं च ऐश्वर्यमेवेति तथा इति अर्थः. रसान्तरामेलनेन अन्तर्बहिः तथात्वज्ञापनाय **'अति'** इति उपसर्गः.

वीर्यं निरूपयन्ति **विहारान् कुर्वाणा व्रजपतिविहाराब्धिषु सदा** इति. वीर्यं हि भगवतो भक्तानां स्वलीलामृताम्बुधिषु निमग्नानां ततः पृथक्करणम्. द्वितीयतृतीयादिलीलानुभावकत्वं सर्वोपमर्दिस्वविरहभावाद् जीवन-सम्पादनं तथा अत्रापि **व्रजस्य** निःसाधनस्य **पतिः** फलात्मा नियामको रक्षकः सर्वधर्माधारो अनन्यतासम्पादकः स्वधर्मतद्भावबोधको निरुपधिप्रियः स्वसम्बन्धेन अन्यसम्बन्धकारकः तत्स्वार्ध(?तद्रसार्द्र!)ताबोधकः तस्य ये **विहाराः** विशेषेण मनोहरणसमर्थाः स्वस्वरूपधर्ममर्यादात्यागपुरःसरं क्रियमाणक्रीडाविशेषाः दासादिरूपाः ते स्वामिनीनां मुखारविन्देभ्यो गुणगानदशायां निःसरन्तो रसाब्धिरूपाः तेषु **विहारान्** देहेन्द्रियादिविस्मारकान् लीलाविशेषान् **कुर्वाणा** भावप्रकारेण सदा अव्यवधानेन तादृशस्य स्वान्यानुसन्धानरहितस्य स्वभक्तानां

सर्वेभ्यः पृथक्करणं तत्तलीलानुभावकत्व-स्वदत्तविप्रयोगभावेऽपि जीवनसम्पादनं वीर्यम् इति तथा इति अर्थः.

यशो निरूपयन्ति **प्रिया गोपीभर्तुः** इति. यथा भगवतो भक्तानां निजदर्शनार्तियुतानाम् आर्तिनिराकरणेन उभयस्वरूपामृतदानेन च यशस्वित्वं तथा अत्रापि **गोपीनां** निःसाधनानां तदेकनाथानां तत्परिग्रहरूपाणां क्षणवियोगासहिष्णूनां नित्यदा तदार्तियुतानां **भर्तुः** निष्कारणार्तिनिराकर्तुः स्वरूपामृतदानेन पोषकस्य नियामकस्य भगवतः प्रियतया तद्धर्मवत्त्वेन तथाविधवचनैः स्वभक्तानां तदनुकूलदास्योपयोगित्वेन तथाविधकृत्या भगवतोऽपि आर्तिनिराकरणस्वरूपानन्ददानाभ्यां तथात्वम् इति अर्थः. यद्वा गोपीनां तद्भर्तुः च स्वयं श्रीयमुनावत् तत्सम्बन्धसम्पादकत्वेन विविधलीलोपयोगित्वेन **प्रिया** क्षणमपि अपरिहेया. तथाच प्रभोः भक्तानां च आर्तिहृति-स्वरूपानन्द-प्रतिपादनाभ्यां तथा इति अर्थः. अथवा ''गोपीनां भर्तुः ता बिभर्ति'' इति विग्रहेण स्वहृदि तत्स्वरूपधारकस्य भगवतः तद्विप्रयोगदशासामयिकं रूपम् उच्यते. तथाच तथा समये तद्वार्तादिकथनादिना आश्वासनेन तदार्तिनिराकरणात् **प्रिया** इति तथा इति अर्थः.

श्रियं निरूपयन्ति **'वल्लभः' इति प्रथावती** इति. श्रीमत्त्वं हि स्वतोभूषणभूषणाङ्गस्य भक्तार्थं प्राकट्ये तत्साहित्येन शक्तिसहितपुरुषस्येव अधिकशोभावत्त्वम्. तथा अत्रापि विश्वोद्धारार्थं भुवि प्राकट्ये **'वल्लभः' इति** 'प्रियः' इति **प्रथा** विस्तृता प्रसिद्धिः तद्वत्त्वेन सर्वदैव स्वभक्तसाहित्येन तादृशशोभावत्त्वात् तथा इति अर्थः. अत्र अयं भावः : सर्वदा वल्लभत्वेऽपि तत्प्रथायाः आविर्भावावसरएव सत्त्वात् स्वीयसकलजनवेष्टितत्वम् आविर्भावइति सदैव आविर्भावे तथा शोभावत्त्वम् इति. अतएव भगवतोऽपि आविर्भावएव एतच्छोभावत्त्वम् इति शुकोऽपि **''व्यरोचत अधिकं तात पुरुषः शक्तिभिः यथा''** (भाग.पुरा.१०।२९।१०) इति उक्तवान्. यद्वा **वल्लभ इति प्रथावती** इति अनेन आविर्भावसामायिकं रूपम् उच्यते. तथाच आविर्भावे **''त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुः दधत्''** (भाग.पुरा.१०।२९।१४) इति वाक्याद्

भगवतइव अत्रापि तथात्वम् इति अर्थः. ननु आविर्भावे स्वरूपसौन्दर्यमेव प्राप्यते न पूर्वोक्तं भक्तसाहित्यकृतं तद् इति चेद्, न, भक्तार्थमेव भक्तसाहित्येनैव आविर्भावेन तादृशतदुपलब्धेः. अतएव उक्तम् आचार्यैः तत्त्वदीपनिबन्धतृतीयप्रकरणाद्यपद्यव्याख्याने "**'कृष्ण'शब्देन परं वस्तु उच्यते. तदेव कदाचित् 'परमसौन्दर्यं स्वगतं प्रकटीकरिष्यामि' इति इच्छया प्रादुर्भूतं सत् श्रीकृष्णः इति**" (त.दी.नि.३।१।१).

ज्ञानं निरूपयन्ति **सुभगमूर्तिः** इति, यथा भगवतः पुष्टिमार्गीयं ज्ञानं वियोगदशाजनिताबहिःसंवेदने सखीवचनसमुद्भूतं रसशास्त्रप्रकारकं; तथा अत्रापि **सुष्ठु** समीचीनं पुष्टिमार्गीयं पूर्वोक्तप्रकारकं **भगो** ज्ञानं यस्याः इति वियोगदशायाम् अतिशयितभावाधीनान्यथाभावसम्भावनायां प्रादुर्भूत-भगवदभिहित-विविध-प्रकारक-स्वास्थ्यसम्पादक-वाक्यजनित-ज्ञानमेव इति तथा इति अर्थः. 'भग'शब्देन केवलज्ञानमपि उच्यते व्यासादिषु ऐश्वर्याद्यभावेऽपि 'भगवच्'शब्दप्रयोगात्. यद्वा **सुष्ठु भगो** ज्ञानं येन यत्र यतो वा. तथाच प्रभोरपि तथा दशायां तज्ज्ञानदायकस्य स्वस्य तज्ज्ञानसम्पत्तेः उचितत्वाद् इति भावः. अस्मिन् पक्षे सुभगस्य मूर्तिरिति व्याख्येयम्. अथवा सुभगा सुन्दरा चासौ मूर्तिः इति. तथाच"**यत्र आकृतिः तत्र गुणाः वसन्ति.**" ( ) इति न्यायेन तथाविधज्ञानसत्त्वे किम् आश्चर्यम्! तद्दास्यानुकूलसौन्दर्यस्य यावत्तद्गुणसमानाधिकरणत्वाद् इति भावः. यद्वा **सुष्ठु** समीचीना प्रकाशमानतया **भगा** भगवदैश्वर्यादयो यस्याः तथाच यत्सम्बन्धेन अन्येषामपि भगवदैश्वर्यादीनां प्रकाशः तत्र तद्धर्मज्ञानसत्त्वे किम् आश्चर्यम् इति भावः.

वैराग्यं निरूपयन्ति **सकरुणा** इति. वैराग्यं हि भक्तेषु कृपा, तदतिरिक्ते रागाभावः तथा अत्रापि निरुपधिकरुणावत्त्वेन तथा इति अर्थः. ननु करुणामात्रोक्त्या तदतिरिक्तरागाभावः कथं प्राप्यते? इति चेद्, न, **करुणा**हि निरुपधिपरदुःखप्रहाणेच्छा साच आचार्येषु भक्तिविषयैव उपलभ्यते तदर्थं प्रादुर्भूय असुरमतनिराकरणात्. तथाच तदतिरिक्तरागाभावः सिद्धः इति भावः. अतएव "**रोषदृक्पातसम्प्लुष्टभक्तद्विड्**" (सर्वो.१४) इति मत्प्रभोः सर्वोत्तमे

नाम. यद्वा करुणो भगवान् तत्सहितेति तस्य सर्वदा तथाविधवैराग्यवत्त्वेन तत्साहित्याद् अत्रापि तथा इति अर्थः. यद्वा स्वस्य सहजकरुणावत्त्वेऽपि करुणभगवत्साहित्योक्त्या द्विगुणिततद्वत्त्वेन भगवदभिमतागोपन-शुद्धपुष्टिमार्ग-प्राकट्याद् भगवदपेक्षयापि तथात्वम् इति अर्थः. यद्वा भगवदीयाखिलधर्मवत्त्वेऽपि विस्पष्टकरुणासाहित्योक्त्यैव तस्याः प्राचुर्यं ज्ञाप्यते. तथाच अन्तःकरणप्रबोधोक्त-भगवदाज्ञाद्वयाकरणेनापि स्वीयहितकर्तृत्वात् तथात्वम् इति भावः. अतएव '**महाकारुणिकः**' (सर्वो.१०) इति मत्स्वामिनः सर्वोत्तमे नाम.

अस्माकम् इति हृदये स्वसम्बन्धित्वोक्त्या यत्र हृदये स्वसम्बन्धः तत्रापि स्फुरतु इति भावो भाव्यः. बहुवचनन्तु अनुपदोक्तमहात्म्यसूचनाय॥१॥

एवम् अन्तरङ्गधर्मसहितधर्मीस्वरूपम् एकेन निरूप्य बहिरङ्गैश्वर्यादीन् निरूपयितुम् अखिलजनोद्धारकत्वरूपम् ऐश्वर्यमिति श्रीभागवतगूढभावार्थप्रकाशनद्वारा तथात्वं वदन्तः तदंशुभूषितत्वेन भावानां हृदि तदुदयाधीनोदयवत्त्वं च ज्ञापयन्तः तथाभूते दास्यमेव फलमिति तत् प्रार्थयन्ते—

श्रीभागवत-प्रतिपद-मणिवर-भावांशु-भूषिता मूर्तिः॥
'श्रीवल्लभा'भिधा नस्तनोतु निजदास्सस्य सौभाग्यम्॥२॥

श्रिया शोभया शब्दार्थनिष्ठया रसिकजनश्रवणमनोभिरामया आश्रितनिखिल-लौकिकालौकिक-विविधमनोरथ-पूरिकया प्रकटप्रभुस्वरूपसमताबोधिकया लक्ष्म्या वा प्रत्यवतारम् अवतरणशीलया गुणगानैकतानया युक्तं यद् **भागवतं** भगवतः षड्गुणस्य अनन्तमूर्तेः अपारलीलस्य प्रभोः परमकाष्ठापन्नस्य सम्बन्धिचरित्रमाहात्म्यप्रतिपादकत्वेन अखिलस्वसेविजन-तत्सम्बन्धसम्पादकम्. यद्वा "भगवतः इदम्" इति विग्रहे "भगवतः इदं रूपान्तरम्" इति अर्थः, श्रीभागवतस्य नामात्मकतत्स्वरूपात्मकत्वात्. तदपि श्रीयुक्तं प्रकटम् इति अर्थः, भगवतोऽपि अवतारदशायामेव तत्साहित्यात्. तथाच जगदुद्धारार्थमेव एतत्प्राकट्यम् इति भावः. यद्वा श्रीश्च भगवांश्च तत्सम्बन्धी इति अर्थः.

तल्लीलाप्रतिपादकत्वेनोभयसम्बन्धि तदेव भूषणं **सर्ववेदेषु** आभरणरूपं तस्य यानि **प्रतिपदानि** तान्येव **मणयो** माया तमोवती तन्निवारणपटवः स्वप्रकाश-प्रकाशिताखिल-वस्तुतत्त्वाः क्षुद्रदीपादिप्रकाश-संकाशज्ञानादि-प्रकाशननिरपेक्षाः सुवर्णजनसम्बन्धे तस्य भूषणत्वसम्पादकाः भूषणप्रियप्रभुप्रीतिप्र-साधकाः अचिन्त्यप्रभाववन्तो भगवद्वशीकरणसमर्थाः प्रेक्षकजनमनो-लोलुपतापादकाः परिदृश्यमानाल्पपरिमाणवत्त्वेन ग्रहणसुकराः परमभाग्यवत्पुरुषप-रिचरणीयाः अतिशयितमूल्यवन्तः तेऽपि **वरा** वरणीया या नामात्मकभगवदवयव-भूततया अतिशयितशोभावत्त्वेन भूषणभूषणरूपाः श्रेष्ठाः असाधारणाः तेषां ये **भावाः** तात्पर्यवृत्तिप्रतिपादितार्थाः तएव **अंशवः** कराः सर्वतः प्रसृततया अखिलहृदयगमनसर्मथाः स्वसम्बन्धिहृदयाज्ञानान्धकारनिवर्तकाः स्वाधारमहा-त्म्यप्रतिपादकाः स्वसम्बन्धेन स्वाधारसाक्षात्कारकारकाः तैः **भूषिता** अलंकृता इति अर्थः. एतेन अत्र सर्वदा तथाविधभूषणमणिगणकिरणभूषितत्वेन अलंकृतिप्रियस्य प्रभोः प्रियत्वम् उक्तं भवति. किञ्च **श्रीभागवतप्रतिपद-मणिवरभावानाम् अंशुत्वोक्त्या** तेषाञ्च मणीनां चन्द्रसूर्यसदृशत्वं व्यज्यते. तथाच तेषाम् एतत्सम्बन्धोक्तया एतद्वचनगतैः तैः संसारतापनिवारणं भगवद्दिदृक्षार्तितापजनननिवारणे च सूचिते भवतः इति भावः. यद्वा **श्रीभागवतप्रतिपदमणिवरभावाएव अंशुभूताः** तैः **भूषिता** इति तन्मूर्तैव चन्द्रसूर्यरूपतया तथात्वम् इति अर्थः. ननु भावांशुभूषितत्वे सूर्यस्य तेजोमयत्वमिव भावात्मकत्वमेवेति निराकारत्वेन कस्यचित् शङ्का स्यात् तदभावाय आहुः **मूर्तिः** इति, एतेन भावस्य मूर्तिमत्त्वमपि उक्तं भवति **"रसो वै सः"** (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुत्या रसरूपस्य "आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि..." (   ) इति स्मृत्या तथात्वेन सिद्धेः. ननु एतल्लोकप्रकटितमूर्तेः न भावात्मकत्वम् इति आशङ्क्य आहुः **श्रीवल्लभाभिधा** इति. **श्रीणां** भजनानन्दानुभवार्थम् आविष्टलक्ष्मीरूपाणां मुखारविन्दभक्तिरूपत्वेन **वल्लभः** प्रियः. यद्वा **श्रिया** परमशोभया **'वल्लभः'** इत्येव **अभिधा** अभिधानं यस्याः, तथाच एतस्याएव मूर्तेः पूर्वोक्तभावात्मकत्वम् इति भावः. एतादृशे **दासस्य** फलरूपत्वेन स्वकृत्यसाध्यत्वज्ञापनाय प्रार्थयन्ति **नो** अस्माकं **निजदासस्य** यत् **सौभाग्यं** तत् **तनोतु** इति. **नः** इति स्वकीयाभिप्रायेण

बहुवचनम्. सौभागस्य बहुविधत्वेन इतरेभ्यो व्यावर्तयन्ति **निजदासस्य** इति. दासानामपि साक्षात्परम्पराभेदेन अनेकविधत्वमिति तद्व्यावृत्त्यर्थम् आहुः **निज...** इति. यद्वा **निजाः स्वकीयाः श्रीमदाचार्यसम्बन्धिनः स्वतन्त्रभक्त्या भक्ताः तल्लीलास्थिताः तद्दासस्य** इति अर्थः. एतेन परम्परयापि दासस्य प्रार्थनीयत्वेन कैमुतिकन्यायः प्रदर्शितः. तस्यापि न दानमात्रम् अपितु विस्तारणम् इति आशयेन आहुः **तनोतु** इति. अनेन एतदुत्पत्तिवृद्ध्योः केवलं तदधीनत्वं न साधनसाध्यत्वम् इति उक्तं भवति. "निजदासस्य फलम्" इति अनभिधाय यत् **सौभाग्यम्** इति अभिहितं तेन तत् सर्वदा प्रकटएव प्रभौ भार्यायांइव पत्यौ भवतीति सर्वदा प्राकट्यमेव प्रार्थितम् इति भावः ॥२॥

एवम् ऐश्वर्यं निरूप्य वीर्यं निरूपयन्तः परपक्षक्षपण-स्वपक्षरक्षण-रूपं **"वीर्यं मे दुश्चरं तपः"** (भाग.पुरा.२।९।२३) इति वाक्यात् तपोरूपं च तदुभयविधमपि सूर्यरूपइति तद्रूपतां निरूपयन्ति —

मायावादतमो निरस्य मधुमित्सेवाख्य-वर्त्माद्भुतं
श्रीमद्-गोकुलनाथ-सङ्गमसुधा-सम्प्रापकं तत्क्षणात् ॥
दुष्प्रापं प्रकटं चकार करुणा-रागाति-सम्मोहनः
स श्रीवल्लभ-भानुरुल्लसति यः श्रीवल्लवीशान्तरः ॥३॥

मायावादतमो निरस्य इति, **मायया** कापट्येन, तत्त्वार्थगोपनपुरःसरम् अन्याकथनरूपेण, मायायाः वा कर्तृत्वादिरूपेण, **वादः** सएव **तमः** सर्वविषयकज्ञानतिरोधायकत्वात् प्रकाशकभगवच्छास्त्रनिरसनीयत्वात् च तद् **निरस्य** नितरां पुनरापतनराहित्येन, यस्य दूरे प्रक्षिप्य दूषणार्थं दूरस्थस्येव दर्शनमात्रं न स्वस्य तत्सम्बन्धः इति भावः. एवं तमोनिरासकत्वेन रवित्वम् उक्त्वा मार्गप्रकाशनेनापि आहुः **मधुभित्सेवाख्यवर्त्म प्रकटं चकार** इति, स्वेच्छया स्वयुयुत्साजनितकण्डूनिवृत्तये निष्पादितः स्वश्रुतिमलरूपो यो **मधुदैत्यः** तं **भिनत्ति** विदारयति इति तत्सम्बन्धिसेवायामपि स्वेच्छया स्वाप्राप्तये

सृष्टाः ये आसुराः जीवाः प्रकृत्यंशत्वात् श्रुत्यर्थविदूषकत्वेन तन्मलरूपाः तद्भेत्तृत्वेन तत्कृतविघ्नाभावः सिद्धः इति भावः. यद्वा मध्विव मधु अक्षरं ब्रह्म मधुविद्यायां "**असौ वा आदित्यो देवमधु**" (छान्दो.उप.३।१।१) इत्यादिना मधुत्वेन निरूपणात्. तथाच तद् **भिनत्ति** स्वकीयेभ्यो भिन्नं करोति. स्वस्वरूपात्मकानन्ददायकत्वाद् इति भावः.

यद्वा **मधून्** यादवान् **भिनत्ति** स्वलीलास्थतया अनित्यत्वे सर्वेभ्यो भिन्नान् करोति इति अर्थः. तथाच तत्सम्बन्धिसेवाभिनिविशिष्टस्य तत्सिद्धौ लीलाप्रवेशे नित्यत्वमपि भवति इति भावः. यद्वा **मधु** लोभगतो रसः तं भक्तेभ्यो दातुं वेणुनादप्रवेशाय स्वस्थानाद् भिन्नं करोतीति तथाभूतः. तस्य या सेवा चेतस्तत्प्रवणं, नतु पूजा, तस्याः अन्यत्र निरूपितत्वात्, सैव **आख्या** अभिधा यस्य तादृशं **वर्त्म** इति अर्थः. तस्य उपवनविचरणमार्गवद् नयनादिसाफल्यसम्पादकत्वम् आहुः **अद्भुतम्** इति आश्चर्यरूपत्वेन स्वसम्बन्ध्येकैकवस्तुविषयकचेतःप्रवृत्त्या चेतसः तत्रैव लयसम्पादकम्. अथवा **अद्भुतम्** इति अल्पसाधनेन महाफलप्राप्तेः कौतुकरूपम् इति अर्थः. ननु मार्गप्राकट्ये कृतेऽपि फलसंशयालोः अप्रवृत्तिः इत्यतः आहुः **श्रीमद्गोकुलनाथसंगमसुधा सम्प्रापकम्** इति श्रीमतो "**रमाक्रीडम् अभून् नृप**" (भाग.पुरा.१०।५।१८) "**श्रयते इन्दिरा शश्वद् अत्रहि**" (भाग.पुरा.१०।२८-।१) इत्यादिवाक्यैः सदा लक्ष्मीसहितस्य. यद्वा **श्रीः** शोभा अतिशयिता तद्वतः "**तद् विष्णोः परमं पदम्**" (कठोप.३।९) इति श्रुतेः.

अथवा **श्रीः** लक्ष्मीः विद्यते यत्र इति बहुव्रीहिणा उत्तरपदार्थप्रधानेन इतरपदार्थगौणतासूचकेन श्रियो गुणभावेन **गोकुल**समाश्रयणबोधनात् तादृशतद्वतः तस्य **नाथः** पतिः अखिलकृत्येषु दैहिकधर्मक्षुधादिनिवृत्त्यर्थमपि मुहुः अर्थनीयः स्वविप्रयोगतापोपतापकः स्वैश्वर्येण सर्वावस्थासु रक्षकः सर्वफलरूपः दावाग्निपानगोवर्धनोद्धरणादिषु तथा द्रष्टत्वात्. तस्य यः **संगमः** सम्यक्तया स्वाधीनत्वेन प्राप्तिः तत्र या **सुधा** सर्वाभोग्या, तस्याः **सम्यग्** बाह्याभ्यन्तरभेदेन **प्रापकं** प्रकर्षेण आपकं फलप्रापकम् इति अर्थः. एतेन विलक्षणरवित्वम्

उक्तं भवति. तत्प्रकटितमार्गस्य फलाप्तिसाधनत्वम् एतस्य फलरूपत्वं साक्षात् फलप्रापकत्वं च इति भावः.

ननु मार्गप्राकट्येऽपि चलनाद्यायाससाध्यत्वात् फलस्य अत्र को विशेषः ? इति चेत् तत्र आहुः **तत्क्षणाद्** इति. एतेन अस्य मार्गस्य सूक्ष्मत्वमपि उत्पथवद् उक्तं भवति प्रवेशमात्रेण फलप्राप्तेः. ननु एतादृशोत्कृष्टफलसाधकमार्गसत्त्वे कथं सर्वोऽपि न प्रवर्तते ? इति आशङ्क्य आहुः **दुष्प्रापम्** इति, दुःखेन प्राप्तुं शक्यते इति अर्थः. अस्य तादृश भगवदनुग्रहैकलभ्यत्वेन एतत्प्रवृत्तेः स्वकृत्यसाध्यत्वात्. यद्वा अन्यैः **दुष्प्रापं** कष्टप्राप्यम् इति अर्थः. तदीयानान्तु तत्कृपया सुखसाध्यत्वेऽपि अन्येषां तदाश्रिताश्रयादिभिरपि प्राप्यं नतु अप्राप्यं इति भावः. यद्वा अयंहि मार्गः तापात्मकः तस्य तद्दिदृक्षार्तिजन्यत्वेन दुःखप्राप्यत्वात् दुष्प्रापम् इति उक्तम्.

अथवा **दुःखेन प्रकर्षेण आप्तुं शक्यम्** इति, तथा प्राप्तिः दुःखेनैव मुखारविन्दभक्तेः दुःखप्राप्यत्वात्. अतएव "**सिञ्च अङ्ग नः त्वदधरामृतपूरकेण**" (भाग.पुरा.१०।२६।३५) इत्यादिवाक्यानि. यद्वा **दुष्प्रापम्** इति भगवद्दिदृक्षाजनितक्लेशेनैव तत् प्राप्तं भवतीति दुःखप्राप्तिरेव तत्प्राप्तिः, तस्य तदात्मकत्वाद् इति भावः. यद्वा **दुष्प्रापं प्रकटं चकार** इति समभिव्याहारात् प्रकटस्यापि स्वजनमात्रोपयोगित्वेन न अन्येषां प्राप्तिः, अन्यदुरापत्वेनैव प्रकटनाद् इति भावः. अथवा **प्रकटं वर्त्म दुष्प्रापं चकार** सेवारूपत्वेन सुखसेव्यत्वेऽपि स्वस्य रविरूपत्वेन तापकत्वात् दुःखेन प्राप्यं चकार इति अर्थः.

ननु मार्गस्य ईदृशत्वे किं प्रमाणम् ? इति आशङ्क्य आहुः **प्रकटम्** इति, प्रत्यक्षस्यैव अत्र प्रमाणत्वम् इति भावः. एतेन श्रीव्रजसीमन्तिनीकौण्डिन्यादिषु प्रसिद्धस्य विद्यमानस्य स्वप्रमेयबलेन स्वाङ्गीकृतजन-तत्सम्बन्धेच्छया प्रकटनं न नवीनरचना इति उक्तं भवति. ननु मार्गप्राकट्येऽपि न रागवत्त्वम् इति कथं सूर्यरूपत्वम् इति आशङ्क्य आहुः **करुणारागातिसम्मोहनः** इति, **करुणा** हि निरुपधिपरदुःखप्रहाणेच्छा सैव **रागः** सकलजनमनोऽनुरञ्जक-

त्वेन तयावा यो **रागो** अनुरागः स्वीयविषयकः तेन **सम्यग्** अन्यविषयत्याजनपूर्वकं स्वमात्रविषयतया सर्वान् मोहयतीति तथा. एतेन प्रसिद्धरवेः वैलक्षण्यम् उक्तं भवति. सर्वदा रागसाहित्येन अखिलजनमनोमोहकत्वाद् इति भावः. यद्वा करुणासहितो यो रागः स्नेहः स्वकीयविषयः तेन **सम्यग्** उत्तमप्रकारेण मोहयतीति तथा. अथवा **करुणया** कृपया अर्थाद् दत्तो यः स्वीयेषु रागो भगवद्विषयकः तेन **सम्यग्** ग्रहादिष्वपि भगवदर्थत्वेन मोहयति इति अर्थः. **''त्वन्मायया आत्मात्मजदारगेहेषु आसक्तचित्तस्य न नाथ भूयात्''** (भाग.पुरा.६।११।२७) इत्यादिवाक्यैः तादृशमोहस्य प्रार्थनीयत्वाद् इति भावः. अतएव **'अतिकरुणः'** (श्रीवल्ल.१) इति प्रभोः श्रीवल्लभाष्टके नाम.

ननु लौकिकरवेः वेदात्मकत्वेन प्रसिद्धेः प्रकृते तदभावम् आशङ्क्य आहुः **स** इति, वागधिपतित्वेन प्रभोः प्रसिद्धतया तद्वाचो भेदरूपत्वेन तदात्मकत्वम् इति भावः. ननु प्रसिद्धरवेः दूरस्थस्यैव सर्वकर्तृत्वम् इति प्रकृते तद्भावं वैलक्षण्याय आहुः **श्रीवल्लभभानुः** इति, **'श्रीवल्लभ'** इत्यनेन भुवि प्रकटः उच्यते. तथाच सर्वत्र प्रकटीभूय सर्वफलदातृत्वात् तद्विलक्षणो भुवि भानुः इति सिद्धम्. अतएव **''भूमिभाग्यम्''** (सर्वो.३२) इति मन्नाथस्य सर्वोत्तमे नाम. एतेन भगवच्चक्षूरूपत्वम् उक्तम्. तथाच यथा भगवच्चक्षुषैव तत्सम्बन्धि-सर्वप्रकाशो **''दिव्यं ददामि ते चक्षुः''** (भ.गी.११।८) इति वाक्यात् तथा आचार्यैरेव कृपया आविर्भावित-तच्चक्षूरूपैतत्सम्बन्धि-सर्वविषयकज्ञानम् इति भावः. ननु अन्तर्भगवत्स्थित्यभावे कथं सूर्यत्वम् इति आशङ्क्य आहुः **श्रीवल्लवीशान्तरः**, श्रीसहिताः याः **वल्लव्यो** व्रजस्त्रियः तासाम् **ईशः** तन्मात्रप्रकटनीयैश्वर्यवान्, स **आन्तरो** हृदयमध्यस्थो यस्य इति अर्थः. **'वल्लवीश'**पदेन तल्लीलानुशयसूचकेन नारायणनिभत्वं लीलासहितस्थित्या वैलक्षण्यमपि उक्तम्. अथवा **'वल्लवीश'**-पदेन भावात्मकप्रभुः उच्यते. तथाच ''नारं जीवसमूहः तदयनं स्थानं यस्य'' इति व्युत्पत्त्या भावात्मकत्वेन भक्तहृदयदेशएव स्थितेः तथात्वस्य अत्रापि सम्भवात्. तथाच यथा सूर्यमण्डलान्तर्वर्तिनो नारायणस्य क्षणमपि तद् विहाय स्थित्यभावः तत्प्राकट्यएव प्राकट्यं 'सूर्यनारायणः' इति

तन्नामपूर्वकमेव स्वव्यपदेशः स्वाधारैक्यं तथा अत्रापि इति भावः.

यद्वा ननु एवं मण्डलसादृश्येन न आधिदैविकत्वम् आयातीति अरुच्या अर्थान्तरम् आहुः **वल्लवीनां** तद्-**ईशस्य च आन्तरो** मुखारविन्दभक्तिरूपत्वेन सर्वान्तर्विद्यमानत्वात्. तथाच भक्तसहितप्रभुमण्डलमध्यवर्तित्वेन अधिदैविकत्व-मपि उक्तम्. अथवा **'वल्लवीश'**पदेन तासामिव भावरूपः तदर्थमेव कोटिकन्दर्पाधिकलावण्यं प्रकटीकृत्य प्रकटः 'कृष्णः' उच्यते तस्य **आन्तरो** मध्यस्थो मुखारविन्दभक्तिरूपत्वेन भक्तानां भगवतः च अन्योन्यप्राप्तिसाधन-त्वात्. तथाच मण्डलरूपोभयमध्यप्रकटएव एतस्मिन् उभयोः अखिलजन-स्वस्वरूप-सम्बन्धि-पदार्थजात-प्रकाशकता इति भावः॥३॥

एवं वीर्यं निरूप्य यशो निरूपयन्तः सर्वाधिकासाधारण-निखिलगुणवत्त्वेन तद्वत्त्वमिति परिशेषेण अखिलगुणाशश्रयत्वम् आहुः—

क्वचित् पाण्डित्यं चेत् न निगमगतिः सापि यदि न
क्रिया सा सापि स्याद् यदि न हरिमार्गे परिचयः।।
यदि स्यात् सोऽपि श्रीव्रजपति-रतिर् नेति निखिलैः
गुणैरन्यः को वा विलसति विना वल्लभवरम्।।४।।

क्वचिद् इति, क्वचिद् आधारविशेषे. तेन बहवो व्यावर्तिताः. **पाण्डित्यं** ''पण्डा बुद्धिः यस्य, सा वा सञ्जाता यस्य'' इति व्युत्पत्तिभ्याम् आगन्तुकानागन्तुकबुद्धिमान् हि पण्डितः तस्य भावः तत्त्वम्. पाठ(?ठित!)शास्त्रे-तरबुद्धिमूलकशास्त्रविषयकबुद्धिमत्त्वं न्यायादिशास्त्रज्ञत्वम् इति यावत्. तत् **चेत्** कदापि स्यात् तथापि ''नितरां ब्रह्म गमयति'' इति **निगमो** वेदः, तस्य **गतिः** प्राप्तिः अध्ययनं ज्ञानं च **न** अस्ति इति अर्थः. तथाच निगमगतिविशिष्टपाण्डित्याभावः इति भावः. एवम् अग्रेऽपि स्वयम् ऊह्यम्. **'चेद्'** इति पदेन तस्यापि तथाभूतस्य अभावो यद्यपि; तथापि, तर्किता तदुक्तिः इति ज्ञेयम्. यद्वा **निगमस्य** वेदस्य गतिरिव **गतिः न** अस्ति

इति अर्थः. तथा वेदस्य गतिः ब्रह्ममात्रविषया नेह तथा. तद्विरुद्धन्यायादिशास्त्रविचारकत्वाद् इति भावः. अथवा **निगमे** वेदे गतिः गमनं **न** अस्ति इति अर्थः, ''पतिते शास्त्रविचारे युक्तिमनन्यां हि मृगयन्ति, नतु श्रुतिमिति ते बाह्याः न पण्डितैः पण्डिताः ज्ञेयाः'' इति भावः. अतएव **चेद्** इति उक्तम्. ननु दृश्यतएव विद्वत्सु वेदवेदान्तादिविचारादिः. कथं निषेधः ? इति आशङ्क्य आहुः **सापि यदि** इति. वस्तुतो अन्यथैव वेदवेदान्तार्थनिरूपणात् नास्त्येव. ''तुष्यतु दुर्जनः'' इति न्यायेन यदि अङ्गीक्रियेत तथापि सा वेदोदिताचरणरूपा क्रिया सत्यामपि निगमगतौ नास्ति इति अर्थः. ननु सन्त्यैव श्रुतितो अखिलकर्म कुर्वाणाः बहवः इति कथं निषेधः ? इत्यतः आहुः **सापि स्याद् यदि** इति. वस्तुतो अयथाज्ञानतः कर्मकरणाद् नास्त्येव तथापि कदाचिद् भगवच्छास्त्रश्रवणेन **''ब्रह्मार्पणम्...''** (भग.गीता.४।२४) इत्यादिवाक्यैः ब्रह्मात्मावगतिः भवति इति **स्याद् यदि** इति उक्तं वस्तुतो न भवत्येव, तेषां भगवच्छास्त्रे अप्रवृत्तेः **''विमुखाः हरिमेधसः कथायां कथनीयोरुविक्रमस्य मधुद्विषः''** (भाग.पुरा.३।३२।१८) इति वाक्यात्. अथ कदाचित् तत्सत्त्वेऽपि **''धर्मः सत्यदयोपेतः...''** (भाग.पुरा.११।१४।२२) **''धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसाम्''** (भाग.पुरा.१।२।८) **''नैष्कर्म्यम्... ''** (भाग.पुरा.१।५।१२) इत्यादिवाक्यात् यदभावे तद्वैफल्यं तदभावम् आहुः **न हरिमार्गे परिचयः** इति. **हरेः** सर्वप्रकारेण सर्वदुःखहर्तुः **मार्गे** तत्प्राप्तिसाधनतया अन्वेषणीये **परिचयः** सामान्यज्ञानमपि न इति अर्थः. ननु पूजादिमार्गप्रविष्टा बहवएव सन्तीति कथं तथा इति आशङ्क्य आहुः **यदि स्यात् सोऽपि** इति. यद्यपि न तस्य हरिमार्गत्वं **'हरि'**पदस्य साधनाभावविशिष्ट-स्वमात्ररक्षणीय-गजेन्द्रसदृश-पुरुषविशेषार्थ-प्रादुर्भाववत्-पुरुषोत्तमवाचकत्वात्. तथापि तद्विभूतिरूपस्य परम्परया तद्रूपत्वम् आदाय **स्यात् सोऽपि** इति उक्तं वस्तुतस्तु नास्त्येव, पूज्यस्य विभूतित्वेन अज्ञानात् **''यो अन्यथा सन्तम्...''** (महाभा.१।६८।२६) इत्यादिवाक्यैः दोषश्रवणात् च. ननु तथापि **''यथा अद्रिप्रभवाः नद्यः...''** (भाग.पुरा.१०।३७।१०) इत्यादिवाक्यात् परम्परया पुरुषोत्तमप्राप्तेरेव फलत्वेन तन्मार्गत्वमेव इत्यतः आहुः **श्रीव्रजपतिरतिर् नेति** (इति) **''श्रयत इन्दिरा''** (भाग.पुरा.१०।२८।१)

इति वाक्यात् श्रीयुक्तो यो व्रजः यत्रैव भक्तहृदयादौ भगवद्गतिः तत्र गमनशीलः सर्वथा निःसाधनः तस्य पतिः, सर्वथा सर्वभावेभ्यो रक्षकः, तत्र कदाचित् पूजासत्त्वेऽपि **रतिः** प्रीतिः न इति अर्थः. यद्वा रती रमणं तेन अन्यत्र कदाचित् प्रीतिसम्भवेऽपि तथा फलानुभवाभावः इति भावः. **इति** इति हेतौ. तथाच यतो हेतोः पूर्वोक्तरीत्या सर्वत्र विशिष्टाभावो अतो हेतोः **निखिलैः** एतैः उक्तैः अनुक्तैः च **गुणैः अन्यः** एतद्भिन्नः **को वा विलसति!** इति अर्थः. एतदीयस्यतु कदाचित् कृपया कार्यार्थं भगवद्गुणप्राकट्यात् व्यासादेरिव एतद्गुणप्राकट्यात् तच्छोभावत्वं नतु अन्यस्य इति भावः. **को वा!** इति न द्रष्टः-श्रुतः इति भावः. यद्वा **कः** चतुर्मुखोऽपि एतैः **गुणैः विलसति!** इति काकूक्तिः. ननु कदाचिद् गुणैः स्वस्वरूपं ख्यापयन्ति अन्येऽपि इत्यतः आहुः **गुणैः विलसति** इति, स्वगुणैः भक्तानां हृदि तिष्ठन् विविधभावान् उत्पादयन् स्वविरहतीव्रवेदनातो निवर्त्य स्वस्वरूपस्थितिं सम्पादयन् कदाचित् स्वगुणविलीनान् कुर्वन् कः क्रीडति! इति अर्थः. यद्वा **गुणैः सः विलसति** इति, अन्येषां गुणैरेव शोभा न तदभावे अत्रतु तेषामपि एतत्साहित्येन स्वतन्त्रशोभाधारकत्वम् इति भावः. यद्वा **गुणैरेव विलसति** इति निर्दोषत्वं पूर्णगुणत्वं च उक्तम्. यद्वा **गुणैः** इत्यत्र सहार्थकाप्रधानतृतीयया स्वरूपापेक्षया गुणशोभायाः इह अप्राधान्यम् उक्तम्. तथाच तद्द्वारा स्वरूपस्य सकलहृदयंगमत्वात् स्वरूपोपयोगित्वं दूतवद् इति तथा इति भावः. अतएव **''स्वयशोगानसंहृष्टहृदया-म्भोजविष्टरः''** (सर्वो.२८) इति मत्स्वामिनः सर्वोत्तमे नाम. अथवा **गुणैः सः विलसति** इति गुणानां नित्यस्वरूपसाहित्यात् तद्वदेव गुणानामपि नित्यत्वम् अभिन्नत्वं च इति अर्थः. ननु तत्रापि सर्वगुणसत्त्वे किं प्रमाणम् इति आशङ्क्य आहुः **विना वल्लभवरम्** इति. **वल्लभेषु भगवत्प्रियेष्वपि वरः** श्रेष्ठः. तथाच निर्दोषपूर्णगुणस्य प्रभोः अतिप्रियत्वे सर्वसाहित्यम् उचितम् इति भावः. यद्वा **वल्लभवरम्** इति, वरत्वेन गुणानां भार्यारूपत्वाद् न अन्यगामित्वम् इति अर्थः. यद्वा वरणीयः इति अर्थः, यथा लोकेषु अखिलेषु सत्स्वपि कन्या वरणीयमेव वृणुते तथा गुणैरपि अनन्यगतिभिः अयमेव वृतः इति भावः ॥४॥

एवं यशो निरूप्य श्रियं निरूपयन्तो ज्ञानेन स्वरूपेण क्रियया च सेति सर्वोत्कृष्टश्रीमत्त्वाय त्रिविधामपि श्रियं निरूपयन्तः प्रथमं विशेषणद्वयेन ज्ञानरूपां श्रियं निरूपयन्ति —

मायावादि-करीन्द्र-दर्प- दलनेनास्येन्दु-राजोद्गत-
श्रीमद्-भागवताख्य-दुर्लभ-सुधा-वर्षेण वेदोक्तभिः ॥
राधावल्लभ-सेवया तदुचित-प्रेम्णोपदेशैरपि
'श्रीमद्वल्लभ'नामधेय-सदृशो भावि न भूतोऽस्त्यपि ॥५॥

मायावादि... इति, **मायावादिन**एव मत्ततया स्वपराद्यनुसन्धानरहिताः निमीलितदृशः श्रुतिपथाप्रेक्षकाः ज्ञानदुर्बलव्यामोहकाः **करीन्द्राः** करिषु नैयायिकादिषु श्रेष्ठाः, तेषां यो भक्तिपथप्रतिपक्षकृतो **दर्पः** तस्य **दलनेन** प्रतिपदतन्मतविदूषणात् विशीर्णकरणेन इति अर्थः. दूष्ये माहात्म्यकथनं दूषकमाहात्म्याय. एतेन ज्ञानस्य आसमन्ताद् व्यावर्तनेन तन्निराकरणरूपो गुण उक्तः. यद्वा **मायावादिषु** ये **करीन्द्राः** मत्ताः अतितामसबुद्धयः साधुजनपीडकाः तेषां तैः वा तत्साहाय्येन तदीयानां **दर्पो** अस्थाप्यस्थापनरूपः **तद्दलनेन** पटवत् शकलीकरणेन इति अर्थः.

सन्मतनिरूपणरूपं ज्ञानगुणम् आहुः **आस्येन्दुराजोद्गतश्रीमद्भागवताख्यदुर्लभसुधावर्षेण** इति आचार्याणाम् **आस्यं** श्रुतिसमूहैः आसितुम् उपवेशितुं योग्यं मुखं तदेव **इन्दुः** आधिदैविकत्वात् परमैश्वर्यं प्राप्तो अखिलसंसारतापनिवर्तके मायावादतमोपहम् अन्धकारेऽपि प्रकाशवान्. **राजत्वात्** पूर्णो निष्कलङ्कः सदैव राजमानो अस्तमयसम्भावनारहितः. ततः **उद्गताद्** मुखसम्बन्धेनैव उत्कृष्टतया निर्गता ज्ञाता प्राप्ता वा या **श्रीमत्** सदैव लक्ष्मीसाहित्यवत् निगमकल्पतरुनिर्गलितफलरूपत्वेन अष्टादशपुराणातिशयित-शोभावद् वा यद् **भगवतः** सर्वसमर्थस्य तद्द्वारा उद्धारकर्तुः सम्बन्धिचरित्र-माहात्म्य-प्रतिपादकत्वेन भगवतो रूपान्तरं वा, सैव **आख्या** अभिधानं यस्याः, एतादृशी या लोकवेदयोः कर्मज्ञानमार्गयोः भक्तिमार्गबहिर्भूतानां **दुःखेन** प्रयासेन सतततदीयसेवया तद्द्वारा भगवतो अङ्गीकरणेन **लब्धुं** प्राप्तुं शक्या. वस्तुतोऽपि

दुर्लभा दुःखेन भगवद्विषयकार्त्यैव नतु पुण्यादिभिः, तस्याः सदा **वर्षो** वर्षणं तेन स्वजनसकलाङ्गसार्द्रतासम्पादकेन इति अर्थः. एतेन अन्येषामपि सन्मतनिरूपणेन स्वज्ञानव्याप्त्या सार्द्रतासम्पादकस्य किं वक्तव्यं स्वस्य तथात्वम् इति कैमुतिकन्यायः प्रदर्शितः.

ननु श्रीभागवतनिरूपणेऽपि न ज्ञानोत्कर्षो वेदविज्ञानाभावे पौराणिकज्ञानस्य लोके अनादरणीयत्वाद् इति आशङ्क्य आहुः **वेदोक्तिभिः** इति, वेदानां या **उक्तयो** वाक्यानि तैः सह इति अर्थः. एतेन वेदार्थाविरोधेन प्रतिप्रसङ्गं तदुपन्यासपुरःसरं श्रीभागवतार्थनिरूपणम् इति भावः. यद्वा स्वस्य भगवन्मुखारविन्दरूपत्वेन **वेदरूपा** याः **स्वोक्तयः** ताभिः सह इति अर्थः. एतेन श्रीभागवतान्तर्गतव्याख्यानरूपाचार्योक्तानां वेदवद् मूर्धन्यप्रमाणत्वं सकलफलसाधकत्वम् — एतद्विरोधिवक्तुः वेदबाह्यत्वं — नित्यत्वम् अलौकिकत्वं च सूचितं भवति इति भावः.

एवं ज्ञानोत्कर्षश्रियम् उक्त्वा स्वरूपोत्कर्षश्रियम् आहुः **राधावल्लभसेवया** इति **राधायाः** भगवतः सिद्धिरूपायाः यो **वल्लभः** अतिप्रियः सौन्दर्यादिगुणवान् तद्वशीकृतानामपि सौन्दर्यादिमत्त्वं सिद्धमिति तत्सेवायां तादृशेनैव भाव्यमिति तत्सेवया हेतुभूतया स्वरूपसौन्दर्यमेव निरूपितं भवति. अतएव "**दर्शनीयतिलकः...**" (भाग.पुरा.१०।३२।१०) इति पद्ये पक्षिणाम् अनेकविधरूपवतां रूपभेदाविदामेव तद्रूपवशीकारेण सर्वत्यागपूर्वकं मौनमुद्रया समीपोपवेशनं वेणुनादश्रवणं च उच्यते. यद्वा **राधा वल्लभा** यस्य इति अर्थः. सतीष्वपि लक्ष्म्यादिषु तत्सौन्दर्यादिवशीकृतस्य तन्मात्रनिष्ठप्रीतेः **सेवायां** तथाभूतेनैव भाव्यम् इति भावः.

ननु स्वरूपसौन्दर्ये सत्यपि भावसौन्दर्याभावे न्यूनतेति आशङ्क्य आहुः **तदुचितप्रेम्णा** इति, **तयोः** राधावल्लभयोः **उचितं** फलरूपदास्योपयोगि यत् **प्रेम** तेन इति अर्थः. ननु किं तदुचितं प्रेम? इति चेद् भगवान् हि "**रसो वै सः**" (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुतेः रसरूपः, ताअपि

तदात्मकत्वेन तथाभूताइति तदुभयमध्यस्थता, उभयत्रापि वाक्यैः अनुकूलतासम्पादनरूपा, भगवति तासु च समानं तदुचितं प्रेम इति अर्थः.

एवं स्वरूपश्रियम् उक्त्वा क्रियोत्कर्षश्रियम् आहुः **उपदेशैः** इति, अध्ययनादि-क्रियापेक्षया उपदेशक्रियोत्कर्षस्य प्रसिद्धत्वाद् इति भाव. उपदेशैः करुणावत्त्वमपि द्योतितं तेन करुणाविशिष्टक्रियायाः उत्कर्षस्य अनुक्तसिद्धत्वाद् इति भावः. बहुत्वम् उपदेशेषु प्रभोः अतिकरुणावत्त्वद्योतनाय. यद्वा **उपदेशैः** इति **'उप'**=समीपे **देशः** परमफलस्य अतिसर्जनं दानं येषु एतादृशवाक्यैः इति अर्थः. एतेन अन्यमन्त्रोपदेशवद् न साधनापेक्षया फलदायकत्वम् एतदुपदेशानां किन्तु स्वकथनसमयेऽपि फलोपहारकत्वेन फलोन्मुखत्वम् इति उक्तं भवति. एवञ्च त्रिविधश्रिया **श्रीमतो** **'वल्लभः'**इति **नामधेयं** यस्य तस्य **सदृशो न भावी** इदानीमेव एतत्प्राकट्यात्, **न भूतो** अश्रुतत्वात्, **न अस्ति** अदृष्टत्वाद् इति अर्थः. **अपि** इति स्वस्मिन् तत्साम्ये सत्यपि स्वदैन्याविष्कृतये तदतिरिक्ते तादृशत्वसम्भावनाभावद्योतनाय च. किञ्च **नामधेय** इत्यनेन क्व रूपसाम्यं नामसाम्यस्यापि दुर्लभत्वम् इति ज्ञापितम्. यद्वा **श्रीमतां** सेवायोग्यगुणैः शोभमानानां दासानां **वल्लभः** इति अर्थः. तथाच तादृशैरेव कृतपुण्यपुञ्जैः सकलगुणसम्पन्नैः तत्सेवा कर्तुं शक्येति क्व तत्साम्यसम्भावना इति भाव॥५॥

एवं श्रियं निरूप्य ज्ञानं निरूपयन्तो दुःखनिवर्तकं कालासम्बन्धसम्पादकं भगवत्प्रसादकृद्भक्तिसाधकम् अक्षरात्मकं तदिति तच्चरणे तथा गुणसाधकत्वम् आहुः —

यदङ्घ्रि-नख-मण्डल-प्रसृत-वारि-पीयुष- युग्-
वराङ्ग-हृदयैः कलिस् तृणमिवेह तुच्छीकृतः॥
व्रजाधिपतिरिन्दिरा-प्रभृति-मृग्य-पादाम्बुजः
क्षणेन परितोषितः तदनुगत्वमेवास्तु मे॥६॥

यदङ्घ्रि...इति, **यस्य** प्रभोः **अङ्घ्र्योः** चरणयोः **नखानां मण्डलानि**

चक्रवालानि तेषु स्निग्धत्वेन स्थित्ययोग्यतया **प्रसृतं** बहुलीभूतं यद् **वारि** सकलजनाप्यायनयोग्यं जलं तदेव लौकिक-देहादि-सम्पादकतया **पीयूषं** तेन **युक्** युक्तं तच्चरण-सम्बन्ध-योग्यतया **वराङ्गं** मस्तकं, तच्चरण-स्मरण-योग्यतया, हृदि परान्तःकरणे अयते गच्छतीति तथाभूतं **हृदयं** च येषाम् इति अर्थः. यद्वा **यस्य अङ्घ्र्योः** चरणयोः **नखरूपाः** ये भक्ताः तेषां **मण्डलं** समूहः तत्र **प्रसृतं** विसृतं यद् **वारिपीयूषं** विरल-रसरूप-कथामृतं तेन **युञ्जि** युक्तानि यानि **वराङ्गानां** सार्थकशरीराणां **हृदयानि** तैः इति अर्थः. तेन यत्सम्बन्धि-कथामृत-सम्बन्धि-हृदयैः **कलितुच्छीकरणं** तत्र साक्षात्सम्बन्धि-निखिलेन्द्रियैः तथाकरणं किं चित्रम्! इति भावः. यद्वा नखानां विधुत्वं मण्डलत्वेन व्यज्यते. तथाच तेषां **नखविधूनां मण्डलानि** तेषु **प्रसृतं** वर्षणार्थतया द्रुतं यद् **वारिपीयूषं** जलरूपम् अमृतं पानयोग्यं **तद्युग्वराणि** यानि **अङ्गानि** भगवदङ्गानि तेषामपि चिन्तकतया सम्बन्धि च **हृदयं** येषाम् इति अर्थः. तथाच भगवदववविचारकचेतसामपि एतच्चरणामृतसिक्तानामेव तथा सामर्थ्यम् इति भावः.

अथवा **यदङ्घ्र्योः** विद्यमानं **यद् नखमण्डलम्** आकाशगत-विधु-मण्डलेतरद् नखमण्डलमेव तत्र **प्रकर्षेण** तदमृतापेक्षया अलौकिकदेहादि-सम्पादकत्वरूपेण **प्रसृतं** गतं प्राप्तं ज्ञातं **वारिरूपं पीयूषं** नेत्रपेयलावण्यामृतं **तद्युग्वराङ्गानि** येन तादृशम् अलौकिकशरीर-सम्पादनोन्मुखं **हृदयं** येषाम् इति अर्थः. तथाच पुष्टिहृदयैरपि आचार्यचरणामृत-सम्बन्धिभिरेव तथाकरणम्. अन्येषान्तु क्षणेन कलिदोषाभिभवः इति भावः.

यद्वा **यदङ्घ्रिनखविधूनां मण्डलं** समुदायः तत्र यद् **वारि** स्नान-क्षालन-सामयिकं तदेव विधुगतत्वेन **पीयूषम्** अमृतं **तद्युग्वराङ्ग** येषां भक्तानां तेषु **हृदयं** चेतो येषां तैरपि **कलिः** कालः इह भूमावेव अस्मिन्नेव जन्मनि साधनदशायां **तुच्छीकृतो** अगणितः इति अर्थः. अन्येषाम् अतिभयानकतया अतुच्छोऽपि तैरेव तथा कृतइति. यद्वा इह भूमौ इति अर्थः. तथाच स्वसम्बन्धिनामपि भूमिष्ठानां सम्बन्धमात्रतः कलिदोषानभिभवात्

तथाकरणम् इति भावः. अथवा **इह तुच्छीकृतः** परत्रतु ''**मर्त्यो मृत्यु...**'', ''**नो मे अनिमिषो लेढि हेतिः**'' (भाग.पुरा.१०।३।२७, ३।२५।३८) इत्यादिवाक्यैः तुच्छएव इति भावः. ननु शूरैरिव हृदि प्रादुर्भवद्भ्यैरपि स्वशूरतररक्षणाय व्याघ्र्याद्यवगणनवत् कलिभीतैरेव स्वधर्मरक्षणाय अगणनम् इति आशङ्क्य आहुः **तृणमिव** इति. तथाच एतच्चरणविमर्दनीयत्वेन कलेः क्व भयजनकत्वम्! इति भावः. दृष्टान्ते नपुंसकलिङ्गप्रयोगेण तद्दार्ष्टान्तिकेऽपि अकिञ्चित्करत्वं द्योतितम् इति भावः. अनेन कालादि-सम्बन्धवारणत्व-रूपज्ञानं प्रथमं कार्यम् उक्तम्.

भगवत्प्रपत्त्युपयोगि-प्रसाद-साधकत्वरूपम् उत्तरकार्यम् आहुः **व्रजाधि-पतिः क्षणेन परितोषितः** इति, अनेन अनिष्टनिवृत्तीष्टप्राप्तिरूपमपि ज्ञानकार्यम् उक्तम्. **व्रजस्य** निःसाधनस्य **अधिपतिः** अधिकः पतिः तन्मात्रपतिः इति अर्थः. यद्वा **व्रजस्यैव अधिपतिः** स्वीकृतैकपत्नीव्रतो, अनन्यगोकुलस्वामित्वाद् इति अर्थः. अथवा **व्रजस्य आधिः** मानसी व्यथा तत्र उद्धवादिप्रेषणेन **पतिः** रक्षकः, स **क्षणेन** सूक्ष्मकालेन **परि**तः कायेन वाचा अन्तःकरणेन **तोषितः** प्रसादितः इति अर्थः. यद्वा **क्षणेन** उत्सवेन इति अर्थः. यद्वा अन्यत्र कर्मादिमार्गेषु निर्बन्धेनैव प्रभुप्रसादात्, तद् उक्तम् आचार्यचरणैः ''**सहनं खननम्...**'' (त.दी.नि.२।३१४) इत्यादिना निबन्धे.

ननु किम् इदम् अपूर्वं व्रजाधिपतिपरितोषणं यतः स परमकृपालुः पशुपक्ष्यादिभ्योऽपि प्रसीदति इति आशङ्क्य आहुः **इन्दिराप्रभृतिमृग्यपादा-म्बुजः** इति, **इन्दिरा**श्रुत्यादिभिः **मृग्यं** परामृश्यं **पादाम्बुजं** यस्य इति अर्थः. तथाच लक्ष्म्यादीनां यदगम्यं तदन्येषां क्व प्राप्यं पशुपक्ष्यादीनान्तु लीलासृष्टिस्थत्वेन सर्वविलक्षणत्वाद् इति भावः. यद्वा इन्दिराप्रभृतिषु श्रीस्वामिन्यादिषु मृग्यं द्रष्टव्यत्वेन शोध्यं पादाम्बुजं न अन्यत्र तस्य तद्वृन्दमात्रप्रकटनीयत्वाद् इति भावः. अथवा **इन्दिराप्रभृतिभिः** लक्ष्मीस्वामि-न्यादिभिः कृत्वैव **मृग्यं** शोध्यं **पादाम्बुजं** यस्य तद्द्वारैव तत्प्राप्तेः इति भावः. अतएव उक्तं ''**तद्द्वारा पुरुषे भवेत्**'' (सुबो.१०।२६।०/का.२)

इति. अतःपरं ज्ञानवत्कृत्यं भक्तिमार्गप्रवेशः इति ज्ञापयितुं तथा प्रार्थयन्ति **तदनुगत्वमेवास्तु मे. तस्य** प्रभोः **अनु** पश्चाद् गच्छति यो अन्तरो सेवकः, यदभावे न प्रभोः क्वापि गतिः, तस्य भावः तत्त्वं भवतु इति अर्थः. एतेन प्रभुचरणनलिनहृदयागतिम् अन्तरा न आचार्याणां प्रभोः **च** सदा अनुगत्वम् इति उक्तम्. फलान्तरव्यवच्छेदाय आहुः **एव** इति. साधनासाध्यत्वबोधनाय प्रार्थ्यते **अस्तु** इति. अन्येषाम् एतन्मनोरथासम्भवेऽपि मम एतदेव अस्तु इति आशयेन आहुः **मे** इति. यद्वा **मे** इति सम्बन्धषष्ठी तेन मत्सम्बन्धिनां सर्वेषामपि तदेव **अस्तु** न अन्यद् इति अर्थः. अथवा **मे** मत्सम्बन्ध्येव **तदनुगत्वं** सर्वेषां मदीयानाम् **अस्तु** इति अर्थः. प्रभुपदसरोजसमाश्रयणमन्तरा तदनुगत्वासिद्धेः ॥६॥

वैराग्यं निरूपयन्तो भगवतो भक्तकरुणया इतरजनरागाभाववत्त्वं तद् इत्यत्रापि स्वसफलकृपालुत्वम् आहुः—

अघौघ-तमसावृतं कलि-भुजङ्गमासादितम्
जगद्-विषय-सागरे पतितम् अस्वधर्मे रतम्।।
यदीक्षण-सुधा-निधि-समुदितोऽनुकम्पामृताद्
अमृत्युम् अकरोत् क्षणाद् अरणम् अस्तु मे तत्पदम्।।७।।

श्रीविट्ठलेश्वरविरचितं स्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोस्त्रं सम्पूर्णम्

अघौघतमसावृतम् इति, **यदीक्षणसुधानिधिः समुदितः क्षणाद् जगद् अमृत्युम् अकरोत् तत्पदं अरणं मे अस्तु** इति सम्बन्धः. **अघानां** कायिकादिभेदेन आधिभौतिकादिभेदेन वा त्रिविधानामपि पापानां यः **ओघः** सएव **तमः** समग्रवस्तु-साक्षात्कार-प्रतिबन्धकत्वेन तेन **आवृतम्** आसमन्ताद् बाह्याभ्यन्तरभेदेन वृतम् इति अर्थः. यद्वा **अघानां** प्रतिबन्धकरूपाणाम् **ओघः** समुदायो येषां नराणां ततसम्बन्धि यद् मायावादादिरूपं **तमः** तेन इति अर्थः. अथवा **अघानां** पापानाम् **ओघैः** यत् **तमः** क्रोधाज्ञानादिः तेन तथा इति अर्थः. ननु तमोनिवृत्तिः सूर्यत्वनिरूपणेनैव सिद्धेति किम्

ईक्षणे सुधानिधित्वकथनेन इति आशङ्क्य आहुः **कलिभुजंगमासादितम्** इति, **कलिरेव भुजंगमः** समाघ्राणमात्रेण सर्वमारकः तेन आसमन्तात् **सादितं** प्राप्तं भक्षितम् इति अर्थः. यद्वा **कलौ** ये **भुजंगमाः,** "विषं यान्ति" इति व्युत्पत्त्या तद्वत्त्वेन, **विषयाः** तैः **आसमन्तात् सादितं** प्राप्तं विशीर्णं पीडितं वा इति अर्थः. अथवा **कलिरेव भुजंगमो** बाहुगतिविलक्षणगतिः साधुपीडा-ऽसाधुसुख-सम्पादकतया सन्मार्गाविश्वासदायकः तेन **आसमन्तात् सादितं** तदधीनतां गतम् इति अर्थः. तथाच तदधीनानां सन्मार्गविश्वासएव न भवतीति क्व एतादृशजगतः तत्करुणामन्तरा कृतार्थत्वसम्भावना! इति भावः. यद्वा **कलिः भुजंगमः** सर्पइव बाधको येषां भगवद्भक्तानां तैः असत्संगनिदानभूतैः **आसमन्तात् सादितं** पीडितम् इति. दुःसंगरूप-महादोष-ग्रस्तत्वादपि न कृतार्थत्वसम्भावना इति भावः.

ननु तथापि वैराग्येण कदाचित् कलिदोषाभिभवः इति आशङ्क्य आहुः **विषयसागरे पतितम्** इति, **विषयाएव सागराः** अत्यगाधाः क्षारजलवद् अपेयरसाः कामक्रोधादिवातैः उच्छलितवासनातरङ्गाः स्वसुखभ्रमैः नक्रादिभिः पतितगिलनसमर्थाः सर्वथा नीचसेवितगतयः तेषु **पतितम्** इति अर्थः. अथवा विषयसम्बन्धिनो ये **सागराः** संसारसिन्धवः सर्वथा **पतित**जीवनसम्भावनाभावसूचकाः. **गरो** विषं तेन **स**ह वर्तते इति **सगरः** तत्सम्बन्धित्वेन सविषाः, पतनमात्रेण मृत्युसम्भवे विषदानेनापि मारणसमर्थाः. तेष्वपि पतितं नतु स्थितम् अधोमुखतया तद्गतत्वेन बहिःसंवेदनाभावः सूचितः. यद्वा **'जगद्'**इति पदम् आवृत्त्या योजनीयम्. तथाच जगत्सम्बन्धिनो ये विषयाः नतु अलौकिकाः भगवत्सम्बन्धिनः तेषु तथा इति अर्थः. ननु विषयसागरपतितत्वेऽपि तेषु भगवत्प्रसादबुद्धौ परम्परया तदुपयोगित्वबुद्धौ वा किं बाधकम्? इति चेत् तत्र आहुः **अस्वधर्मे रतम्** इति, **स्वधर्मो** भगवद्धर्मः सर्वत्र भगवत्सम्बन्धित्वभावनं तद्भिन्नः संसारः सांसारिकरीत्या सर्वानुभवः प्रावाहिकधर्मः तत्र **रतं** पश्चात्तापराहित्येन प्रीतियुतम् इति अर्थः. यद्वा **स्वधर्मः** आत्मधर्मः तद्भिन्नो यो देहधर्मः तत्र रतम्. अथवा न विद्यते स्व आत्मा स्वरूपं येषु एतादृशाः ये केवलाः भगवदसम्बन्धिनो ये

धर्माः सविधाअपि तेषु तथा इति अर्थः. स्वरूपसहितधर्मपरत्वे पूर्वोक्तबाधकानाम् अबाधकत्वं **"सर्वधर्मान् परित्यज्य"** (भ.गी.१८।६६) इत्यादिवाक्यैः इति भावः.

ननु एतादृशस्य जगतः कथं निस्तारः? इति आशङ्क्य आहुः **यदीक्षणसुधानिधिः** इति, यस्य प्रभोः **ईक्षणम्** अवलोकनमेव **अघौघतमोनाशकत्वेन** स्वकरुणामृतैः कालभुजंगमविषवारकत्वेन स्वोदयोदिततरङ्गैः विक्षेपरूपैः विषयसागर-पतितोत्क्षेपण-सामर्थ्येन **सुधानिधिः** चन्द्रः सो अनुकम्पा, **"'कपि' चलने"** (पाणि.धा.पा.भ्वादि.३९८) **अनु** पश्चाद् भक्तानां **कम्पते** चलति, यत्र-यत्र ते गच्छन्ति तत्र-तत्र तत्सहायतया गमनशीला कृपा सैव **अमृतम्** अलौकिकदेहोत्पादकम् अखिलतापनिवर्तकं क्षुधादिदोषनिवारकं स्वमात्रतर्पिताखिल-तर्षकेतराकाङ्क्षा- समापकं तस्माद् इति अर्थः. कृपयैव भक्तानाम् अलौकिकदेहादिप्राप्त्या तापादिदोषनिवृत्तेः.

ननु ईक्षणं चन्द्रेणापि स्वपूर्णतावसरे तथा करणीयं स्वानुदयक्षीणतादिकालेतु का गतिः? इति आशङ्क्य आहुः **समुदित**...इति **सम्यग् उदित**इति न अस्तमयक्षीणतादिकालसम्भावना इति भावः. **अमृत्युम्** इति, न विद्यते मृत्युः मरणं यस्य तादृशं जगल्लीलासृष्टिप्रवेशेन नित्यतासम्पादकेन **अकरोद्** इति अर्थः. अत्र **जगद्** इति सप्तम्यर्थे द्वितीया **"जगत् क्रीडति..."** (त.दी.नि.१।१) इतिवत्. तथाच पूर्वोक्तधर्मवति तस्मिन् अमृत्युं मृत्वभावम् इति अर्थः. अत्यन्ततमसा कालसर्पदंशेन सागरपतिततया जगतो मृत्युसम्भवाद् इति भावः. यद्वा **यदीक्षण**मेव **सुधानिधि**रूपा यत्र तादृशं मुखमेव अनन्तचन्द्रसमुदायरूपः चन्द्रः, **अनुकम्पया** कृपया भक्तार्थम् अर्थाद् उत्पादितं यद् **अमृतं** लावण्यामृतं तस्मात् तथाविधं **जगद्** मृत्युः कालसम्बन्धः तद्रहितम् **अकरोद्** इति अर्थः. भूतार्थप्रयोगेण पूर्वमेव अनुकम्पामृताद् अङ्गीकृतं जगत् तथा कृत्वा स्थापितम् इति नासम्भावना, स्वविषयककृपायाम् उद्धारे फलसम्बन्धे वा आधुनिकैः विधेया इति भावः. **क्षणाद्** इति विलम्बाभावः सूचितः. अतःपरं फलमिव प्रार्थयन्तः तदिरिक्तस्य अफलत्वमिति तच्चरणशरणमेव प्रार्थयन्ते **अरणमस्तु मे तत्पदम्** इति, **तेषां** श्रीमदाचार्याणां

पदं '''पद' गतौ'' (पाणि.धा.पा.दिवा.६४) सकलगत्याश्रयं पदमेव **मे अरणं** गृहं सर्वदा निवासस्थानम् अत्यासक्तिसम्पादकम् अखिलाहंताममतानिदानभूतं त्रिवर्गसुखकृत् स्वास्थ्यकारणम् अन्यत्र गमनेऽपि दुर्लभत्वाद् **अस्तु** इति प्रार्थ्यते इति अर्थ:. यद्वा तस्य पूर्वोक्तेक्षणचन्द्रस्य **पदं** स्थानं यत्र उदयः तदेव **शरणम्** आश्रयो **अस्तु**! तदाश्रयाश्रये तच्चन्द्रकिरणसम्बन्धस्य सुलभत्वाद् इति भावः. अथवा तत् प्रसिद्धं पुष्टिमार्गीयत्वेन **पदं** शरणं तथा **अस्तु** इति अर्थः. अथवा पद्यते गम्यते प्राप्यते ज्ञायते वा येन तद्वाक्यमेव रतिपथप्रवर्तकतया अखिलाधिकफलदायकत्वेन **अरणं** सर्वकार्यसाधकम् **अस्तु** इति अर्थ:. अन्यस्य अन्यत्रापि फलबुद्धिः अस्तु तथा अस्माकन्तु तदेव अस्तु इति आशयेन आहुः **मे** इति. यद्वा मे मत्सम्बन्धि **तत्पदं** चरणं स्थानं वा पूर्वोक्तं चन्द्रोदयस्य अर्थात् तदेव सर्वेषां मत्सम्बन्धिनाम् **अरणं** शरणम् **अस्तु** इति अर्थः. एतेन आचार्यचरणानाम् एतत्सम्बन्धित्वेन एतदाश्रितानामेव आचार्यचरणाश्रयणं सिद्ध्यति इति भावः. अथवा **मे** मत्सम्बन्धिनां सर्वेषामेव **तत्** पूर्वोक्तं पदमेव आचार्याणां शरणं रक्षकम् **अस्तु** इति स्वीयार्थे प्रार्थनाव्याजेन वरदानमेवेति प्राप्तवरैः एतच्चरणनलिनमकरन्द-मधुपायमानमानसैः एतदाश्रयमात्रबलसकलफलाशैः सर्वैः निश्चिन्ततया स्थेयम् इति दिक्।।७।।

इति श्रीवल्लभाचार्यकृपामात्रैकसाधनः।।
हरिरायः* सप्तपद्याश्चक्रे विवृतिमुत्तमाम्।।१।।
यद्यपि नैव प्रसरति बुद्धिर्जीवस्य तत्कृताख्याने।।
तत्कृपया यदशक्यं साधयितुं शक्यते दासैः।।२।।
प्रभुवागन्तःपतितं मद्वचनं तत् सतां ग्राह्यम्।।
मिलितं रथ्योदकमपि गङ्गानीरेण निन्द्यते नैव।।३।।
एतन्मम नोचितमपि रचितं बालस्वभावेन।।
क्षन्तव्यं मत्प्रभुणा तदीयदीनेऽतिकरुणेन।।४।।
यद्यपि वचनं यादृग् भाषितमपि तादृशं भवति।।

*हरिरायश् चकारेमां विवृत्तिं स्वार्थसिद्धये।(पाठभेदः).

एतत्सम्बन्धि यतः शोभनमिति शोभते जगति।।५।।
मयानयः कृतो भूयान् यत्तद्रूपनिरूपणम्।।
कृतं स मे महादोषः क्षन्तव्यः प्रभुणा स्वतः।।६।।
एतावदेव विज्ञाप्यम् एवमेव सदा मनः।।
वसतु श्रीमदाचार्यचरणेऽनन्यतां गतम्।।७।।
बालेन बालभावेन बालकृष्णोक्तिमात्रतः।।
किञ्चिन् निगदितं तेन प्रसन्नोऽस्तु प्रभुर्मम।।८।।

इति श्रीमदाचार्यचरणसरसिजरजोभिषेक-
प्राप्तमहाराज्यश्रीहरिरायविरचिता
सप्तश्लोकीविवृतिः
सम्पूर्णा



संस्कृतपरिशिष्टम्

।। श्रीमहाप्रभुसर्वावतारसाम्यनिरूपणम् ।।

(१)यथा श्रीमद्वराहेण दंष्ट्र्या चोद्धृता मही ।।
हिरण्याक्षश्च निहतो गोद्विजामरदुःखदः ।।१ ।।
तथा श्रीवागधीशेन नष्टा भक्तिः समुद्धृता ।।
निहत्य भक्तद्वेष्टारं दुष्टसंगं भयप्रदम् ।।२।।
यतोऽयं वल्लभाधीशो विख्यातः पृथ्वीतले ।।
'रोषदृक्पातसम्प्लुष्टभक्तद्विड्' इति नामतः ।।३।।
इति वाराहसाम्यम्.

(२)सनन्दनादयो देवा ब्रह्मचर्यप्रकाशकाः ।।
बभूवुर् ब्रह्मणः पुत्राः शुद्धमार्गप्रवर्तकाः ।।४।।
तथाऽयमपि वागीशो ह्यन्यस्त्रीसङ्गम् अत्यजत् ।।
अतएवास्य नामास्ति **'सुपूरित'-'रहप्रियः'** ।।५।।
'पतिव्रतापतिः' चेति तद्वद् बभूव सः ।।
ब्रह्मचर्यत्वसंसिद्धिस् तेन जाता महाप्रभोः ।।६।।
इति सनकादिसाम्यम्.

(३)यथा श्रीनारदः पञ्चरात्रं व्यरचयत् प्रभुः ।।
यस्मिन् सेवाप्रकारं च स्फुटं श्रीमान् अकल्पयत् ।।७।।
'भक्त्याचारोपदेष्टा'ऽभूत् **'कर्ममार्गप्रवर्तकः** ।।
येनाचारश्च यज्ञश्च पुष्टिमार्गे प्रवर्तितः ।।८।।
ततोऽयं **'यज्ञकर्ता'** च **'यज्ञभोक्ते'**ति विश्रुतः ।।
इति नारदसाम्यम्.

(४)यथा नारायणो देवो गन्धमादनवासभाक् ।।
कामसेनां विजित्याशु तिष्ठत्येकान्त ईश्वरः ।।९।।
तथाऽयमपि दुष्टौघं विजित्य करुणानिधिः ।।

कृष्णप्रिये व्रजेऽवासीद् यतोऽयं श्री**'व्रजप्रियः'** ।।१०।।
इति नारायणसाम्यम्.

(५)यथा श्रीकपिलः सांख्यम् उक्त्वाऽज्ञानम् उपाहरन् ।।
जीवानां दुष्टमनसां देवहूतिप्रियावहः ।।११।।
तथाणुभाष्यव्याख्यानाद् अयमप्यखिलेश्वरः ।।
विनाश्याज्ञानपटलं चरतां निजवर्त्मनि ।।१२।।
बभौ सर्वत्र विजयी श्री-इलम्माप्रियावहः ।।
अतएवास्य नामोक्तं **'सूत्रभाष्यप्रवर्तकः'** ।।१३।।
इति कपिलसाम्यम्.

(६)आन्विक्षिकीं यथा दत्तः प्रह्लादादिभ्य उक्तवान् ।।
नानावाक्यप्रचारेण दृढीकृत्य सतां मतम् ।।१५।।
तथाचायमपि वागीशः समाश्रित्य सतां मतम् ।।
'भक्त्याचारोपदेशार्थं नानावाक्यनिरूपकः' ।।१६।।
तदर्थमेव भगवान् कथयामास वै बहून् ।।
स्तवान् कृष्णाश्रयाद्यांश्च **'प्रभुः'-'श्रीकृष्णहार्दवित्'** ।।१७।।
इति दत्तसाम्यम्.

(७)यथा यज्ञावतारश्च यमादिद्वादशात्मजैः ।।
सार्धं गुणगणाब्धिश्चारक्षत् स्वायम्भुवान्तरम् ।।१८।।
तथा श्रीवल्लभाधीशः कुमाराभ्यां च नप्तृभिः ।।
दूरीकृत्यासुरान् सर्वान् अपात् सारस्वतान्तरम् ।।१९।।
इति यज्ञावतारसाम्यम्.

(८)यथा श्रीऋषभो देवः पुत्राणां ज्ञानदोऽभवत् ।।
अज्ञातान्तर्द्धिर् अमलः पुंसां मोहाब्धिमज्जताम् ।।२०।।
तथायं चा**'ऽज्ञातलीलो'**नाम्ना ख्यातश्च भूतले ।।
'स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमाहात्म्य'श्च सोऽभवत् ।।२१।।
इति ऋषभदेवसाम्यम्.

(९)यथा श्रीपृथुराजा च गोरूपोर्वीं दुदोह वै ।।
सर्वजीवार्थमनघो महाराजोपसेवितः ।।२२।।

तथा महेन्दिरास्वामी सामवेदसमुद्भवाः ॥
ऋग्धेनूः सन्दुदोहायं **'भक्तेच्छापूरका'**ह्वयः ॥२३॥
पुष्टिमार्गप्रचारार्थं शुद्धाद्वैतमताप्तये ॥
'लीलामृतरसाद्राद्रीकृताखिलशरीरभृद्॥२४॥
इति पृथुसाम्यम्.

(१०)भक्तं यथैकं मत्स्यस्तु सत्यवन्तम् अपात् प्रभुः ॥
जलात् प्रलयकालीनान् मात्स्यं संश्रावयद् जनान् ॥२५॥
तथा श्रीवल्लभेशस्तु संसारभयवारिधेः ॥
भक्तान् अपाद् बहून् श्रीशः श्रावयित्वा सुबोधिनीम् ॥२६॥
इति मत्स्यसाम्यम्.

(११)सुरासुराणाम् उदधिं मथ्नताम् अमृतं यदा ॥
तदप्राप्तामृतानां च क्लिश्यतां तेन कर्मणा ॥२७॥
तदा श्रीकमठः साक्षाद् दध्रे मन्दरपर्वतम् ॥
पृष्ठे च हाटकमयं लक्षयोजनविस्तृते ॥२८॥
तथैव दैवजीवानाम् आसुराणां च **'वाक्पतिः'** ॥
क्लिश्यतां भवसिन्धौ च मोक्षपीयूषहेतवे ॥२९॥
गृहीत्वा ज्ञानसर्पस्य मुखपुच्छौ महाप्रभुः ॥
तदा प्रलुप्तं निगमपर्वतं चोद्दधार ह ॥३०॥
दुष्टोत्थापितपाषण्डविषं भूरिपराक्रमम् ॥
'पत्रावलम्बन'क्लेशविषं पीत्वा शिवोऽभवद्॥३१॥
इति कमठमहादेवसाम्यम्.

(१२)यथा धन्वन्तरिः पुंसां स्मृतिमात्रार्तिनाशनः ॥
तथा सताम् अयमपि **'स्मृतिमात्रार्तिनाशनः'**॥३२॥
इति धन्वन्तरिसाम्यम्.

(१३)यथा श्रीमोहिनी दैत्यान् मोहयित्वाथ चाक्षुषैः ॥
दैत्योत्सङ्गगतं पात्रं सुधायाः प्राप्य निर्मलम् ॥३३॥
सुरेभ्यश्चामृतं भूयो ददौ दैत्येभ्यएव न ॥
पुरुषोऽपि महाविष्णुः धृत्वा स्त्रीरूपमद्भुतम् ॥३४॥

एवं श्रीवल्लभोऽपीशो नष्टं वेदमनुत्तमम् ॥
उद्धृत्य जगतां नाथो निजभक्तार्थम् आदरात् ॥३५॥
विरुद्धाश्रयतो दुष्टान् मोहयित्वा महाप्रभुः ॥
तेन संमथ्य निगमगिरिणास्मिन् भवे शुभम् ॥३६॥
पुष्टिरूपामृतमयं निष्कास्य गुणवारिधेः ॥
दैवेभ्योऽदादासुरेभ्यो न ददौ भक्तवत्सलः ॥३७॥
पूर्वम् आसीत् स्वयमपि **'वल्लभो'**ऽथ द्वितीयके ॥
अवतारे सम्बभूव **'वाक्पतिः'**पुरुषाकृतिः ॥३८॥
इति मोहिनीसाम्यम्.

(१४)अथ सकलजगदार्ति-तटिनीपति-निवारको भगवान् नरसिंहो यथा स्तम्भाद् आविर्भूय हिरण्यकशिपुं कराग्रेण विदार्य निजभक्तं प्रह्लादं ररक्ष; एवं, भगवान् श्रीवल्लभाधीशोऽपि चम्पकारण्ये वीतिहोत्रात् प्रकटीभूय अखिलदुःखदातारं जीवाज्ञानरूपमहादैत्यं सद्वाक्यप्रचारणखैः भित्त्वा प्रह्लादरूपवैष्णववृन्दम् अरक्षद्. इत्यतएव **'उग्रप्रतापः'** इति नामनिर्देशः इति ॥३९॥

इति नृसिंहसाम्यम्.

(१५)अथच यथा अखिलगीर्वाणकदम्ब-समीडितगरिष्ठ-गुणगणपटलो भगवान् वामनः कश्यपसुतः आदौ भिक्षुरूपं गृहीत्वा बलेः सर्वस्वम् आच्छिद्य ववृधे, पुनश्च तेन सम्पूजितः तमनुगृह्य अन्तर्दधे; तथैव, भगवान् इलापतिः श्रीलक्ष्मणराजकुमारः शुद्धभिक्षुवद् रूपं समाश्रित्य तत्रच महदभिमानिपण्डितसमूहं विजित्य आचार्यपदवीं च प्राप्य विद्यानगराधीश्वम् अनुगृह्य तेषां निरुत्तराणां जयेन पुष्टिमार्गमार्तण्डोदयं कृत्वा मातुलाभिमानं च आहत्य कनकाभिषेकाप्तयशःप्रसारेण वृद्धिं प्राप्य पृथिवीं पर्यक्रामद् इति ॥४०॥

इति वामनसाम्यम्.

(१६)यथा द्विजद्रोहकरान् जघान क्षत्रियान् बहून् ॥

तीक्ष्णं परशुम् आदाय रेणुकानन्दवर्धनः ॥४१॥
तथा श्रौतद्रोहकरान् यः स्मार्तान्नासुरान् प्रभुः ॥
पत्रावलम्बखण्डेन जित्वा चक्रे निरुत्तरान् ॥४२॥

इति परशुरामसाम्यम्.

(१७)कलिकालमलग्रस्तान् जीवान् आलोक्य दुर्मतीन् ॥
मन्दभाग्यान् तथा दुष्टान् श्रीमान् सत्यवतीसुतः ॥४३॥
श्रीमद्भागवतालापाद् उद्धार दयापरः ॥
पाषण्डतिमिराक्रान्तजीवजालदिवाकरः ॥४४॥
तथा महाप्रभुरपि दुष्टाध्वार्णवमज्जितान् ॥
जीवान् आलोक्य भगवान् पुष्टिमार्गोपदेशतः ॥४५॥
अङ्गीकृत्य मन्त्रदानात् चक्रे भयविवर्जितान् ॥
पुत्रपौत्रप्रपौत्राद्यैः करोति च करिष्यति ॥४६॥

इति श्रीवेदव्याससाम्यम्.

(१८)अयोध्याधिपती रामः सेतुं कृत्वा यथार्णवे ॥
स्वसेनां स्थापयामास जिग्येऽसुरचमूः द्रुतम् ॥४७॥
तथेलम्माकुमारोऽपि श्रीमद्भागवतार्णवे ॥
सेतुं सुबोधिनीरूपं विधायातारयद् जनान् ॥४८॥
जिगायासुरवर्गं च वैष्णवद्वेषकारकम् ॥
'श्रीभागवतपीयूषसमुद्रमथनक्षमः' ॥४९॥

इति दाशरथिसाम्यम्.

(१९)अथ यथा सकलजगदभीष्टसम्पादको भगवान् श्रीनन्दराजकुमारो निजसहोदरेण श्रीरेवतीरमणेन पूर्णरेवतीरमणसदृशेन सारस्वतकल्पे अवतीर्य दुष्टकदम्बरूपं भूमारम् उज्जहार स्वहस्तमारणेन च तन्मोक्षं चकार; एवम्, असावपि भगवान् पुरुषोत्तमो नारायणादिदीक्षितानां सोमयागफलस्वरूपः श्रीलक्ष्मणाङ्गजः कलौ अवतीर्य पुत्राभ्यां श्रीगोपीनाथविट्ठलाभ्यां सह अष्टाक्षरदानेन निवेदनगद्यदानेन च केनचिदपराधविशेषेण विनष्टमतीन् अतएव गोलोकच्युतान् जीवान् उद्धार इति ॥५०॥

इति श्रीकृष्णसाम्यम्.

(२०)यथा हलधरः श्रीमान् निजानन्दाब्धिमज्जितः ॥
कृष्णसौख्यप्रयत्नात्मा रोहिण्यानन्दवर्धनः ॥५१॥
निजक्रीडाभाण्डस्थाभीष्टदाताथ रेवतीप्रेष्ठः ॥
श्रीपुष्टिमार्गसंस्थैः सद्भिः सेव्यो व्रजेशवद् नित्यः ॥५२॥
तथायमपि वागीशो,नामभिस् तत्सदृक्षकैः ॥
विख्यातस्त्रिषु लोकेषु कृष्णानुग्रहभाजनः ॥५३॥
'आनन्दः' 'परमानन्दः' 'पूर्णानन्दो' जगद्गुरुः ॥
'स्वानन्दतुन्दिलश्चे' इलम्मानन्दवर्धनः ॥५४॥
'अदेयदानदक्ष'श्च श्रीअक्काप्राणवल्लभः ॥
'भक्तेच्छापूरकः' 'कृष्णभक्तिकृद्' 'निखिलेष्टदः' ॥५५॥

इति हलधरसाम्यम्.

(२१)अथच यथा भगवान् बुद्धो देवकार्यार्थं सर्वान् विनिन्द्य विश्वविपरीतकर्म आचरन् सर्वान् देवान् मोहयमास; तथा, अयमपि भगवान् **'श्रीकृष्णास्यः'**, **'प्राकृतानुकृतिव्याज-मोहितासुरमानुषः'** इति नामानुकरणसम्पन्नो वैष्णवानां विपरीतं कर्म प्रकाशयन् **'निगूढहृदय'**त्वं च दर्शयन् संन्यासधारणम् अङ्गीकृत्य आसुरमोहलीलाम् आचचार इति ॥५६॥

इति बुद्धसाम्यम्.

(२२)हयग्रीवो यथा नष्टवेदाविर्भावकारकः ॥
तथायमपि वेदोक्तं नष्टमार्गम् अदर्शयत् ॥५७॥

इति हयग्रीवसाम्यम्.

(२३)हंसो यथाच महतां पुत्राणां ब्रह्मणः पुरा ॥
ज्ञानदः सम्बभूवेह ब्रह्मानुभवकारकः ॥५८॥
तथा महाप्रभुरपि महतां **'ज्ञानदो'** ऽभवत् ॥
हनुमत्सदृशानाञ्च रामसन्तोषकारकः ॥५९॥

इति हंससाम्यम्.

(२४)कल्किर् यथा कलेर् अन्ते जीवाज्ञानं विनाशयन्॥
भद्रप्रदश्च जीवानां सम्भविष्यति सर्वतः॥६०॥
एवं वैश्वानरोऽपीशः कलिनष्टं दुर्बलम्॥
पुष्टिमार्गं पुनः श्रीमान् द्योतयिष्यति निर्मलम्॥६१॥
पुष्टिमार्गन्तु भगवान् सर्वकालेषु रक्षति॥
पुत्रपौत्रादिरूपैश्च 'दुर्लभांघ्रिसरोरुहः'॥६२॥
भूतेषु च भविष्यत्सु वर्तमानेष्वपीश्वरः॥
चतुर्युगेषु कृतभुग् मार्गं रक्षति-रक्षति॥६३॥
इति कल्किसाम्यम्.

(२४)एवं सर्वावताराणां गुणकर्मपराक्रमान्॥
दधाति नितरां सोऽयं श्रीमांल्लक्ष्मणनन्दनः॥६४॥
तस्मात् सर्वैः वैष्णवैश्च त्रैलोक्ये 'विबुधेश्वरः'॥
प्रकीर्तितः कृष्णरूपः श्रीपूर्णपुरुषोत्तमः॥६५॥
अतः सएव संसेव्यो वैष्णवैः पापाभीरुभिः॥
ध्यातव्यः स्मरणीयश्च तैलङ्गतिलकः प्रभुः॥६६॥
अस्य श्रवणपाठात् प्रभवेत् पुसाम् अभेदत्वम्॥
श्रीमन्नन्दकुमारकवाक्पत्योश्चापि नूनमूर्व्यां वै॥६७॥
एतन्मदुदितं बालस्वभावाद् वंशवत्सलः॥
श्रीवल्लभाचार्यनामा प्रभुः क्षाम्यतु सर्वथा॥६८॥
स्वकीयं श्रीवल्लभीयं माम् आनन्दनिधिर् हरिः॥
निःसाधनं च वृणुते श्रीकृष्णः शरणं मम॥६९॥

इति श्रीहरिदासविरचितं श्रीमहाप्रभुसर्वावतारसाम्यनिरूपणम्

वस्तुतः श्रीहरिरायजीकी ही कृति है या अन्य किसीकी यह निश्चित न होनेपर भी सर्वोत्तमस्तोत्रकी एक विलक्षण व्याख्या होनेसे यहां देना सर्वथा योग्य ही है (सम्पादकीय).

॥ श्रीहरिः ॥

※श्रीवल्लभाष्टोत्तरशतनामानि※

श्रीवल्लभाख्यस्वस्वामिनामानि स्वीयतुष्टये।
यथामति वदिष्यामि तदाश्रितजनाश्रितः॥

(१) श्रीवल्लभाय नमः.
(२) महालक्ष्मीपतये नमः.
(३) श्रीगोपीनाथजनकाय नमः.
(४) श्रीविठ्ठलेशेष्वखिलमाहात्म्यस्थापकाय नमः.
(५) तीर्थयात्राचरणसञ्चारकत्रे नमः.
(६) वादिवृन्दमुखध्वंसकाय नमः.
(७) मायामतखण्डकाय नमः.
(८) भक्तिपथप्रवर्तकाय नमः.
(९) शुद्धब्रह्मवादबोधकाय नमः.
(१०) स्वजनहृदयशोधकाय नमः.
(११) स्वसंनिधिमात्रदत्तस्वभाय नमः.
(१२) स्वतन्त्रभक्तिरूपाय नमः.
(१३) सर्वोद्धारकाय नमः.
(१४) श्रीकृष्णाज्ञामात्रप्रकटाय नमः.
(१५) करुणानिधये नमः.
(१६) श्रीकृष्णास्याय नमः.
(१७) कृष्णविरहविरक्ताय नमः.
(१८) सदानन्दासक्ताय नमः.
(१९) दैवजीवजनिसार्थकतासम्पादकाय नमः.
(२०) अतिकरुणाय नमः.

(२१) अलौकिकवह्नये नमः.

(२२) विषयासक्तिविदूषकाय नमः.

(२३) निजजनहृदयविभूषकाय नमः.

(२४) तापात्मने नमः.

(२५) सर्वनिरपेक्षाय नमः.

(२६) भक्तिरक्षकाय नमः.

(२७) पतितसंग्राहकाय नमः.

(२८) अशरणशरणाय नमः.

(२९) सर्वकरणाय नमः.

(३०) अन्तःस्थिकृष्णाय नमः.

(३१) अखिललीलासभराक्रान्ताय नमः.

(३२) अनुगृहीतभ्रान्ताय नमः.

(३३) आनन्दमात्राय नमः.

(३४) निजानन्दहेतवे नमः.

(३५) रतिपथकेतवे नमः.

(३६) भगवद्धर्मसेतवे नमः.

(३७) ब्रह्मसम्बन्धकरणाय नमः.

(३८) सर्वदोषनाशकाय नमः.

(३९) शुद्धभावविकासकाय नमः.

(४०) श्रीभागवताप्तरसतरणये नमः.

(४१) साथापितभक्तिसरणये नमः.

(४२) स्वजनभाग्यरूपाय नमः.

(४३) निजजनदत्तवैराग्याय नमः.

(४४) रसज्ञशिरोमणये नमः.

(४५) निःसाधनस्वकीयार्थकृताखिलप्रयत्नाय नमः.

(४६) अस्मत्पतयेनमः.

(४७) स्वजनैकगतये नमः.

(४८) रहोरतये नमः.

(४९) भावभावनैकमतये नमः.

(५०) शुद्धपुष्टिपतये नमः.

(५१) वियोगयोगिने नमः.

(५२) भावरसभोगिने नमः.

(५३) भावात्मकाय नमः.

(५४) भाववदाश्रयाय नमः.

(५५) भावदात्रे नमः.

(५६) स्त्रीशूद्रहितकर्त्रे नमः.

(५७) फलरूपाय नमः.

(५८) फलसेवाप्रदर्शकाय नमः.

(५९) मनोमात्रसेव्याय नमः.

(६०) मनोविनोदहेतवेनमः.

(६१) अखिलविस्मारकाय नमः.

(६२) पतिततारकाय नमः.

(६३) श्रुतिपथमर्यादाधारकाय नमः.

(६४) निजजनक्लेशहारकाय नमः.

(६५) अपारसुखकारकाय नमः.

(६६) कृपापूर्णाय नमः.

(६७) विविधापराधक्षमाय नमः.

(६८) भक्तवश्याय नमः.

(६९) भक्तकृपार्थकृष्णाज्ञाद्वयोल्लंघनाय नमः.

(७०) रसघनाय नमः.

(७१) स्वजनजीवनधनाय नमः.

(७२) विहितस्वजनाय नमः.

(७३स्मरणमात्रार्तिनाशनाय नमः.

(७४) हरिप्रियाय नमः.

(७५) यमुनाप्रार्थकाय नमः.

(७६) तत्सम्पादितनूतनतनवे नमः.

(७७) राजीवलोचनाय नमः.

(७८) भक्तदुःखविमोचनाय नमः.

(७९) रासलीलारसपरायणाय नमः.

(८०) सेवकसमूहसेवितचरणाय नमः.

(८१) फलरूपचरणरेणवेनमः.

(८२) कृष्णाश्रयहृदयाय नमः.

(८३) लीलामयाय नमः.

(८४) लीलाशयस्वहृदयविचारकाय नमः.

(८५) आनन्दमूर्तये नमः.

(८६) विरचितस्वजनमनोरथपूर्तये नमः.

(८७) स्वजनद्वेषिदाहकाय नमः.

(८८) स्वपक्षपोषकाय नमः.

(८९) वाक्पीयूषवृष्टिस्वहृदयसन्तोषकाय नमः.

(९०) मदनाभिरामाय नमः.

(९१) पूर्णकामाय नमः.

(९२) कृतदिग्विजयाय नमः.

(९३) विहितस्वजनदुरितविलयाय नमः.

(९४) अभयप्रदाय नमः.

(९५) कालादिभद्रहेतवे नमः.

(९६) निःसाधनावलम्बनाय नमः.

(९७) भावभूषणभूषिताय नमः.

(९८) सौभाग्यभाजनस्वजनाय नमः.

(९९) दास्यकरणोचितस्वरूपाय नमः.

(१००) फलरूपदास्यायनमः.

(१०१) मुखशोभितमन्दहास्याय नमः.

(१०२) सानुकम्पनयनाय नमः.

(१०३) विस्मृतलौकिकाय नमः.

(१०४) वारितस्वजनसंसाराय नमः.

(१०५) चित्तनिवृत्तलोकवेदकृतिस्मृतये नमः.

(१०६) परमान्दसुधाभरभरितमूर्तये नमः.

(१०७) हरिदासनाथाय नमः.

(१०८) अस्मत्सर्वस्वरूपाय नमः.

इति नामानि जप्यानि श्रीवल्लभमहाप्रभोः।
तत्पदाम्भोजयुगलभक्तिमात्रार्थिभिः सदा॥

इति श्रीहरिदासविरचितानि श्रीवल्लभाष्टोत्तरशतनामानि समाप्तानि



श्री गोवर्धननोद्धरणधीरश्रीनवनीतप्रियाभ्यां नमः ॥

श्रीभागवतपीयूषसमुद्रमथनक्षमान् ॥
नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान् तन्नामोद्धरणं ब्रुवे ॥१॥
सम्पूर्णा दशमस्कन्धाध्यायास्त्वेकविंशतिः ॥
एकादशासप्तमाद् द्विसप्तविंशान्तमेव वै ॥२॥
श्रीमदाचार्यनामार्थविवृताः तत्कृपाबलात् ॥
अतस्तेभ्यस्तदुद्धारः कृतो गोस्वामिभूषणैः ॥३॥
श्रीमद्विट्ठलनाथैर्हीत्यनुमेयं मया सदा ॥

तथाहि दशमस्य प्रथमे 'आनन्दः' इति प्रथमनाम :

यथा आनन्दः.

आदिष्टा प्रभुणांशेन (भाग.पुरा.१०।१।२५). वासुदेव कलानन्तः (१०।१।२४). ज्ञातयो बन्धुसुहृदोः (१०।१।६३) ॥१॥

द्वितीये **परमानन्दः.**

दिष्ट्याम्ब ते कुक्षिगतः परःपुमानंशेन (१०।२।४१). भार्यास्ते नन्दगोकुले (१०।२।७) ॥२॥

श्रीकृष्णास्यं.

श्रीवत्सलक्ष्मं (१०।३।९). कृष्णावतारोत्सवसम्भ्रमोऽस्पृशन् (१०।३।-११). त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान् (१०।३।१९) ॥३॥

कृपानिधिः.

कृपणा करुणं सती (१०।४।४). शिशवः पावकोपमाः (१०।४।५).

भुवि भौमानि भूतानि (१०।४।१९). स हि सर्वसुराध्यक्षो (१०।४।४२) ॥४॥

दैवोद्धारप्रयत्नात्मा.

आहूय विप्रान् वेदज्ञान् (१०।५।१). यशोदायाः सुतोद्भवम् (१०।५।९). व्यालोलकुण्डलपयोधरहारशोभाः (१०।५।११). प्रजा यत् समपद्यत (१०।५।२३). तिलाद्रीन् सप्त रत्नौघशातकौम्भाम्बरावृतान् (१०।५।३). आत्मानं भूषयाञ्चक्रुः वस्त्राकल्पाञ्जनादिभिः (१०।५।९) ॥५॥

स्मृतिमात्रार्तिनाशनः.

उन्मादा ये ह्यपस्माराः (१०।६।२८). बालं प्रतिच्छन्ननिजोरुतेजसं (१०।६।७). योषित्वा माययात्मानम् (१०।६।४). प्रस्विन्नगात्रा क्षिपती रुरोद ह (१०।६।११). कुर्वन्ति सात्वतां भर्तुः (१०।६।३). प्राणान् नारायणोऽवतु (१०।६।२४). हृत् केशवस् त्वदुर ईश इनः (१०।६।२२) ॥६॥

श्रीभागवत-गूढार्थ-प्रकाशन-परायणः.

श्रीशुकउवाच — श्रिया कीर्त्यानुभावेन (१०।८।१६). स्वाङ्कम् आरोप्य भामिनी (१०।७।३४). भगवान् हरिरीश्वरः (१०।७।१). तदेव हारं वद मन्यसे चेत् (१०।७।२). गावः सर्वगुणोपेताः (१०।७।१६). एकदाऽऽरोहमारूढं (१०।७।१८). आत्मजाभ्युदयार्थाय (१०।७।१६). मनोज्ञानि च नः प्रभो (१०।७।१). चकार सूनोः अभिषेचनं सती (१०।७।४). अधः शयानस्य (१०।७।७). नन्दस्य पत्नी कृतमज्जनादिकम् (१०।७।५). मुखं लालयती राजन् (१०।७।३५). दिष्टचा स्वबन्धून् प्रणयन् उपस्थितः (१०।७।३२) ॥७॥

साकार-ब्रह्म-वादैक-स्थापकः.

सा गृहीत्वा करे कृष्णम् (१०।८।३३). चकार नाम करणं (१०।८।११). त्वं हि ब्रह्मविदां श्रेष्ठः (१०।८।६). वासुदेव इति श्रीमान् (१०।८।१४). तान्यहं वेद नो जनाः (१०।८।१५). एकदा क्रीडमानास्ते रामाद्याः (१०।८।३२). जगत् स्थास्नु च खं दिशः (१०।८।३७). पुरानेन व्रजपते

(१०।८।१७). क्रीडामनुजबालकः (१०।८।३६) ॥८॥

वेदपारगः.

अतृप्तम् उत्सृज्य जवेन सा ययौ (१०।९।५). दधिनिर्मंथने काले (१०।९।२). तमङ्कम् आरूढम् अपाययत् स्तनम् (१०।९।५). रज्ज्वाकर्षश्रमभुजचलत् (१०।९।३). स्वार्भकस्य कृतागसः (१०।९।१५) ॥९॥

मायावाद-निराकर्ता.

आत्मनिर्वेशमात्रेण (१०।१०।२६). तत्र श्रिया परमया (१०।१०।२८). वासुदेवस्य सान्निध्यं (१०।१०।२२). किं वेद निरयो यतः (१०।१०।१०). अम्भोजवनराजिनि (१०।१०।४). सत्यं कर्तुं वचो हरिः (१०।१०।२४). बालेन निर्ष्कर्षयता (१०।१०।२७) ॥१०॥

सर्ववादि-निरासकृत्.

सर्वोपकरणानि च (१०।११।३१). क्वचिद् वादयतो वेणुं क्षेपणैः (१०।११।३८). गोधनानि पुरस्कृत्य (१०।११।३२). गोपालायत्ता आत्तशरासनाः (१०।११।३१). प्रियकृद् रामकृष्णयोः (१०।११।२२) ॥११॥

भक्तिमार्गाब्जमार्तण्डः.

निरीक्ष्य रन्तुं भगवान् मनो दधे (१०।१५।३). सूक्तैश्च कोकीलगणा गृहम् आगताय धन्या वनौकस ईयान् हि सतां निसर्गः (१०।१५।७). तन्माधवो वेणुम् उदीरयन् वृतः (१०।१५।२). अन्ये तदनुरुपाणि (१०।१५।१८). फलानाम् पतताम् शब्दं (१०।१५।२९). तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्हः (१०।१५।४२). उपगीयमानचरितः (१०।१५।१०). ततश्च पौगण्डवयः श्रितौ व्रजे (१०।१५।१) ॥१२॥

स्त्रीशूद्राद्युद्धृतिक्षमः.

स्त्रीणां नः साधुशोच्यानां (१०।१६।५२). शून्यं प्रियव्यतिहृतं

(१०।१६।२०). विश्वाय तदुपद्रष्ट्रे (१०।१६।४१). देवादींस्तर्पयेज्जलैः (१०।१६।६२). स्थित्वा मुहूर्तम् उदतिष्ठद् उरङ्गबन्धात् (१०।१६।२३). हृषीकेश नमस्तेस्तु (१०।१६।४७). यदिच्छतः स्याद् विभवः समक्षः॥ (१०।१६।३८) ॥१३॥)

अंगीकृत्यैव गोपीश-वल्लभी-कृत-मानवः.

परिष्वज्याङ्कमारोप्य (१०।१७।१९). नन्दो गोप्यो गावश्च कौरव (१०।१७।१५). कदर्थीकृत्य गरुडं (१०।१७।४). एष घोरतमो वह्निस्तावकान्ः (१०।१७।२२). गोपीनाथायात्मनः सर्वे (१०।१७।३). अनंतोनंतशक्तिधृक् (१०।१७।२४). नरा नार्यो वृषा वत्सा (१०।१७।१६). आसँल्लब्धमानोरथाः (१०।१७।१५). अवात्सी द्गरुडाद् भीतः (१०।१७।१२). कृतं किं वा सुपर्णस्य (१०।१७।१). मायामानुषम् ईश्वरम् (१०।१७।२१). पक्षेण सव्येन हिरण्यरोचिषा (१०।१७।७). गुरवः सकलत्रकाः (१०।१७।१७) ॥१४॥

अंगीकृतौ समर्यादः.

अम्बरे चरन् प्रदीप्तदृग्भृकुटितटोग्रदंष्ट्रकम् (१०।१८।२७). अनुगीयमानो न्यविशद् (१०।१८।१). अथ कृष्णः परिवृतः (१०।१८।१). एवं तौ लोकसिद्धाभिः (१०।१८।१६). स च वृन्दावनगुणैः (१०।१८।३). ग्रीष्मो नामर्तुरभवन्नातिप्रेयान् (१०।१८।२). उडुपतिमानिव अम्बुदः (१०।१८।२६)।-।१५॥तइ७०९महाकारुणिकः.

कृष्ण कृष्ण महावीर्य (१०।१९।९). ईषीकाटवीं निविविशुः (१०।१९।२). ततश्च तेऽक्षीण्युन्मील्य पुनर्भाण्डीरमापिताः (१०।१९।१३). क्षयकृद्वनौकसाम् (१०।१९।७). सहरामो जनार्दनः (१०।१९।१५) ॥१६॥

विभुः.

विद्योतमानपरिधिः (१०।२०।३). भुवः पंङ्कम् अपां मलम् (१०।२०।३४) ॥१७॥

अदेय-दान-दक्षश्च.

अक्षण्वतां फलमिदं (१०।२१।७). देव्यो विमानगतयः (१०।२१।१२). दामोदराधरसुधामपि यः (भाग.पुर.१०।२१।९). रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः (१०।२१।१८) ॥१८॥

महोदार-चरित्रवान्.

कात्यायनि महाभागे (१०।२२।४). उषस्युत्थाय गोत्रैः स्वैः (१०।२२।६). नद्यां कदाचिद् आगत्य (१०।२२।७). गन्धैः माल्यैः सुरभिभिः (१०।२२।३). पूजां चक्रुः कुमारिकाः (१०।२२।४). वयस्यैः आगतस् तत्र (१०।२२।८). भगवान् तद् अभिप्रेत्य (१०।२२।८) ॥१९॥

प्राकृतानुकृतिव्याज-मोहितासुरमानुषः.

प्राह प्रहसिताननः (१०।२३।२४). दृष्ट्वा स्त्रीणांः (१०।२३।३८). धातुप्रवालनटवेषम् अनुव्रतांसे (१०।२३।२२). कृताऽञ्जलिपुटा विप्रान् दन्डवत् पतिता भुवि (१०।२३।५). व्याजहार पुनर्गोपान् (१०।२३।१३). यन्मायामोहितधियः (१०।२३।४८). प्राप्ता आत्मदिदृक्षया (१०।२३।२४). अन्तःप्रवेश्य सुचिरं परिरभ्य तापं (१०।२३।२३). देहं कर्मानुबन्धनम् (१०।२३।३४). स वैष आद्यः पुरुषः (१०।२३।४९) ॥२१॥

वैश्वानरः.

सवै नाप्नोति शोभनम् (१०।२४।११). अस्ति चेद् ईश्वरः कश्चित् (१०।२४।१४). आजीव्यैकतरं भावं (१०।२४।१९). पारम्पर्यागतं नरः (१०।२४।११) ॥२१॥

वल्लभाख्यः.

कुपिताद् भक्तवत्सलः (१०।२५।१३). नहि मद्भावयुक्तानां सुराणाम् ईशविस्मयः (१०।२५।१७). खं व्यभ्रम् उदितादित्यं (१०।२५।२५) ॥२२॥

सद्रूपः.

बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः (१०।२६।१८) ॥२३॥

सतां हितकृत्.

हिताय च इच्छातनुभिः समीहसे (१०।२७।६). एवं संकीर्तितः कृष्णोः प्रहसन् इदम् अब्रवीत् (१०।२७।१४). क्रियतां मे अनुशासनम् (१०।२७।१७) ॥२४॥

जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृद्.

जनो वै लोक एतस्मिन् (१०।२८।१२). प्रविष्टम् उदकम् निशि (१०।२८।२). अपि नः स्वगतिं सूक्ष्मां (१०।२८।१०). आनीतोऽयं तव पिता (१०।२८।७). कृष्णे च सन्नतिं तेषां (१०।२८।१०). एवं प्रसादितः कृष्णः (१०।२८।८). यत्पादभाजो भगवन् (१०।२८।५). तद् भवान् क्षन्तुम् अर्हति (१०।२८।७). कृपयैतद् अचिन्तयत् (१०।२८।११) ॥२५॥

निखिलेष्टदः.

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं (१०।२९।४). ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते (१०।२९।३५). संमोहितार्यचरिताद् न चलेत् त्रिलोक्याम् (१०।२९।४०). लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्. तद् वद् वयं च तव पादरजःप्रपन्नाः (१०।२९।३७) ॥२६॥

सर्व-लक्षण-सम्पन्नः.

तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिम् अच्युत एषः (१०।३०।११). लक्ष्यन्ते हि ध्वजाम्भोजचक्रांङ्कुशयवादिभिः (१०।३०।२५). अपि एणपत्नी उपगतः (१०।३०।११). गायन्त्य उच्चैः अमुमेव संहताः (१०।३०।४) ॥२७॥

श्रीकृष्ण-ज्ञानदः.

तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम्. कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम् (१०।३१।७). विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते (१०।३१।४). बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण (१०।३१।८). जलरुहाननं चारु दर्शय (१०।३१।६). रहसि संविदो या हृदिस्पृशः (१०।३१।१०)॥२८॥

गुरुः .

अकृतज्ञाः गुरुद्रुहः (१०।३२।१९)॥२९॥

स्वानन्दतुन्दिलः.

स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः (१०।३३।३८). मानं दधत्यः ऋषभस्य (१०।३३।२२). ताभिः युतः श्रमम् अपोहितुं (१०।३३।२३). दिवौकसां सदाराणां (१०।३३।४). रेमे स्वयं स्वरतिः अत्र गजेन्द्रलीलः (१०।३३।२४)॥३०॥

पद्म-दलायत-विलोचनः.

पदा स्पृष्टो हताशुभः ·(१०।३४।१४). मल्लिकागन्धमत्तालिजुष्टं कुमुदवायुना (१०।३४।२२). गोपालाः जाताकौतुकाः (१०।३४।१). यदृच्छयागतो नन्दं (१०।३४।५). तन्नाथं प्रमदाजनं (१०।३४।२६). विलोक्य स्वपरिग्रहं (१०।३४।२७). पश्यन्तीनां च योषिताम् (१०।३४।३२). मनःश्रवणमंगलम् (१०।३४।२३)॥३१॥

कृपादृग्वृष्टिसंहृष्ट-दासदासीप्रियः.

कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो (१०।३५।१). प्रणतभारविटपा मधुधाराः (१०।३५।९). हन्त मीलितदृशो धृतमौनाः (१०।३५।११). वृन्दशो व्रजवृषा मृगगावो (१०।३५।५). गाः समाह्वयति यत्र मुकुन्दः (१०।३५।६). अनुचरैः समनुवर्णितवीर्यः (१०।३५।८). प्रेमहृष्टतनवः ससृजुः स्म (१०।३५।९). कुन्ददामकृतकौतुकवेषो (१०।३५।२०). सरसि सारसहंसवि-

हङ्गा (१०।३५।११). कुजगतिं गमिता न विदामः (१०।३५।१७). दिव्यगन्धतुलसीमधुमत्तैः (१०।३५।१०). छायया च विदधत् प्रतपत्रम् (१०।३५।१३). एवं व्रजस्त्रियो (१०।३५।२६)॥३२॥

पतिः.

निशम्य तद् भोजपतिः (१०।३६।१८)॥३३॥

रोषदृक्पातसम्प्लुष्ट-भक्तद्विट्.

भागवतप्रवरो मुनिः (१०।३७।२५). रहस्येतदभाषत (१०।३७।१०). द्रक्ष्यामि अर्जुनसारथेः (१०।३७।२२). पपात लेण्डं विसृजन् क्षितौ व्यसुः (१०।३७।८). सटाऽवधूताऽभ्रविमानसंकुलं (१०।३७।१). ते केशिनस्तप्तमयः (१०।३७।७). विनिर्मिताऽशेषविशेषकल्पनम् (१०।३७।२४). उद्वाहं वीरकन्यानां (१०।३७।१८). कृष्णम् अक्लिष्टकर्माणं (१०।३७।१०). भगवानपि गोविन्दो (१०।३७।२६). इच्छन् विमोक्तुम् आत्मानं (१०।३७।३२). अक्षौहिणीनां निधनं (१०।३७।२२). जघान पदभ्यां (१०।३७।४). विकटास्यकोटरो (१०।३७।२)॥३४॥

भक्तसेवितः.

तथापि भक्तान् भजते (१०।३८।२२). स्वसेतुपालामरवर्यशर्मकृत् (१०।३८।१३). अप्यद्य विष्णोः (१०।३८।१०). भक्तिं पराम् उपगतः (१०।३८।२)॥३५॥

सुखसेव्यः.

सुखोपविष्टः पर्यङ्के (१०।३९।१). चक्षुर्हि दत्तं हरसे (१०।३९।२१). बभूवुर्व्यथिता भृशम् (१०।३९।१३). स्वागतं भद्रमस्तु वः (१०।३९।४)॥३६॥

दुराराध्यो .

सोऽहं तवाऽङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं (१०। ४०।२८). नारायणं

पुरुषमाद्यमव्ययम् (१०।४०।१). साध्यात्मं साधिभूतं च (१०।४०।४). मुदा गायन्ति ते यशः (१०।४०।१६)॥३७॥

दुर्लभाङ्घ्रिसरोरुहः.

प्रसूनदीपाऽऽवलिभिः सपल्लवैः (१०।४१।२३). प्रीता दृष्टिं न चाऽऽददुः (१०।४१।७). भक्तं ते भक्तवत्सलः (१०।४१।११). अवनिज्याऽङ्घ्रियुगलम् (१०।४१।१४). सनाथान् कुर्वधोक्षज (१०।४१।१२). पुरोपवनमासाद्य (१०।४१।८). हर्म्याणि चैवाऽऽरुरुहुर्नृपोत्सुकाः (१०।४१।-२४). प्राह नः सार्थकं जन्म (१०।४१।४५)॥३८॥

उग्रप्रतापो.

उभयोरनुलेपनम्॥ (१०।४२।४). स्रग्गन्धैः साऽग्रजोऽर्चितः॥ (१०।४२।-१३). प्रसन्नो भगवान् कुब्जां॥ (१०।४२।६). दास्यस्म्यहं सुन्दरवर्य सम्मता॥ (१०।४२।३). हसिताऽऽलापवीक्षितैः॥ (१०।४२।४)॥३९॥

वाक्सीधु-पूरिताशेष-सेवकः.

चाणूरो वाक्यम् अब्रवीत् (१०।४३।३१). भूतानि नः प्रसीदन्ति (१०।४३।३५). भगवान् मधुसूदनः (१०।४३।१३). पूतना अनेन नीता अन्तं (१०।४३।२५). प्रागल्भ्यस्मारिताइव (१०।४३।२२). अवतीर्णौ इह अंशेन (१०।४३।२३). एष वै किल देवक्यां (१०।४३।२४). गोपुच्छेनेव बालकः (१०।४३।९)॥४०॥

श्रीभागवतपीयूष-समुद्रमथनक्षमः.

एकान्तधामयशसः श्रिय ऐश्वरस्य (१०।४४।१४). वाताहतइव अंघ्रिपः (१०।४४।२५). परिरम्भावपातनैः (१०।४४।४). भगवद्गात्रनिष्पातैः (१०।४४।२०). वल्गन्तौ रुतनपुरौ (१०।४४।२९). गोप्यस्तपः किमचरन् (१०।४४।१४). युयुधाते यथाऽन्योन्यं (१०।४४।१९). उरुक्रमचिन्तयानाः (१०।४४।१५). एवं प्रभाषमाणासु (१०।४४।१७). समेताः सर्वयोषितः (१०।४४।६). पश्यन्ति सस्मितमुखं सदयाऽवलोकम् (१०।४४।१६). मल्लौ शैलेन्द्रसन्निभौ (१०।४४।८). या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेंखेक्षणार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ (१०।४४।१५). रामः प्रहरतां वरः (१०।४४।२६)॥४१॥

तत्सारभूत-रासस्त्री-भावपूरित-विग्रहः.

तत् क्षन्तुमर्हथस्तात (१०।४५।९). साग्रजः सात्वतर्षभः (१०।४५।२). गुप्ता लब्धमनोरथाः(१०।४५।१७). मा भूदिति निजां मायां ततान जनमोहिनीम् (१०।४५।१). हरेः विश्वात्मनो गिरा (१०।४५।१०). सभाजितान् समाश्वास्य (१०।४५।१६). लब्धसंस्कारौ (१०।४५।२९). गायत्रं व्रतमास्थितौ (१०।४५।२९). जगदीश्वरौ (१०।४५।३०). सम्मन्त्र्य पत्न्या स महार्णवे मृतं बालं प्रभासे वरयाम्बभूव ह (१०।४५।३७). पूरयन् अश्रुभिः नेत्रे (१०।४५।२५). परिष्वज्याऽपतुः मुदम् (१०।४५।१०). जनितः पोषितो यतः (१०।४५।५). विदेशावासकर्शितान् (१०।४५।१६). योऽसाविह त्वया ग्रस्तः (१०।४५।३९). वीक्षन्तोऽहरहः प्रीताः (१०।४५।१८)॥४२॥

सान्निध्य-मात्र-दत्त-श्रीकृष्णप्रेमा.

मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे (१०।४६।५). श्रीमान् निम्लोचति विभावसौ (१०।४६।८). वासितार्थे अभियुध्यद्भिः (१०।४६।९). धूपदीपैश्च माल्यैश्च (१०।४६।१२). तालत्रयं महासारं (१०।४६।२५). प्रययौ नन्दगोकुलम् (१०।४६।७). उद्धवो बुद्धिसत्तमः (१०।४६।१). प्राप्तौ नन्दव्रजं (१०।४६।८). स्मरतां कृष्णवीर्याणि (१०।४६।२१). प्रेमप्रसरविह्वलः (१०।४६।२७). आगमिष्यत्यदीर्घेण (१०।४६।३४)॥४३॥

विमुक्तिदः.

विमुक्ताऽशेषवृत्ति यत् (१०।४७।३६). गोविन्दः प्रस्तुते क्वचित् (१०।४७।४२)॥४४॥

रासलीलैक-तात्पर्यः.

प्रगृह्य शय्यामधिवेश्य रामया (१०।४८।६). सभाजयामास सदासनादिभिः (१०।४८।३). सव्रीडलीलोत्स्मितविभ्रमेक्षितैः (१०।४८।५). स्यातां निकामस्त्वयि नोऽविवेकः (१०।४८।२२). प्रसादिताऽऽत्मोपससार माधवं (१०।४८।५). किंचित् परमस्ति न चाऽपरम् (१०।४८।१८). किञ्चिच्चिकीर्षयन् प्रागाद् (१०।४८।१२)॥४५॥

कृपयैतत्-कथा-प्रदः.

कृतं च धार्तराष्ट्रैर्यद् (१०।४९।६). पाण्डवान् सुहृदोऽपरान् (१०।४९।२). पुष्णाति यानधर्मेण (१०।४९।२३). एक एव च दुष्कृतम् (१०।४९।२१). तस्मात् समत्वे वर्तस्व (१०।४९।१९). कर्हिचित् केनचित् सः (१०।४९।२०). विद्युत् सौदामनी यथा (१०।४९।२७). समः शान्तो भव प्रभो (१०।४९।२५). तैस्त्यक्तो नाऽर्थकोविदः (१०।४९।२४)॥४६॥

विरहानुभवैकार्थ-सर्वत्यागोपदेशकः.

विकीर्यमाणः कुसुमैः (१०।५०।३६). रथावुपस्थितौ सद्यः (१०।५०।११). महामरकतस्थलैः (१०।५०।५३). हरिः कारणमानुषः (१०।५०।६). चिन्तयामास भगवान् (१०।५०।६). न वै शूरा विकत्थन्ते (१०।५०।२०). आकाशात् सूर्यवर्चसौ (१०।५०।११). एतदर्थोऽवतारोऽयं (१०।५०।९). न्यरुणत् सर्वतोदिशम् (१०।५०।४). अक्षौहिणीभिर्विंशत्या (१०।५०।४). पश्चार्य व्यसनं प्राप्तं (१०।५०।१३). तद्देशकालाऽनुगुणं (१०।५०।६). महामरकतस्थलैः (१०।५०।५३)॥४७॥

भक्त्याचारोपदेष्टा.

भक्तिर्मय्यनपायिनी (१०।५१।६२). आत्मानं दर्शयामास (१०।५१।२३). चारुप्रसन्नवदनं (१०।५१।२५). चतुर्भुजं रोचमानं (१०।५१।२५). हरिणा स पदे (१०।५१।७). अशयिष्ट गुहाविष्टः (१०।५१।२१). आराध्य कस्त्वां ह्यपवर्गदं (१०।५१।५६). प्रजाश्च तुल्यकालीनाः (१०।५१।१८)

॥४८॥

कर्ममार्गप्रवर्तकः.

ब्रह्मन् कृष्णकथाः पुण्या (१०।५२।२०). धर्मस्ते वृद्धसम्मतः (१०।५२।३०). गृहागतैः गीयमानाः तं (१०।५२।२३). यतः त्वम् आगतो दुर्गं (१०।५२।३५). प्राविशद् गन्धमादनम् (१०।५२।३). वर्तते नातिकृच्छ्रेण (१०।५२।३०). को नु तृप्येत शृण्वानः (१०।५२।२०)॥४९॥

यागादौ भक्तिमार्गैक-साधनत्वोपदेशकः.

वाचयामास मङ्गलम् (१०।५३।१०). कन्या चान्तः पुरात् प्रागाद् (१०।५३।३९). वदन्ति स्म पुरौकसः (१०।५३।३९). श्रुत्वा एतद् भगवान् रामो (१०।५३।२०). निशम्य यदुनन्दनः (१०।५३।१). रुक्मिण्या मधुसूदनः (१०।५३।४). प्रत्यापत्तिम् अपश्यन्ती (१०।५३।२२). मार्गरथ्याचतुष्पथम् (१०।५३।८). आनर्ताद् एकरात्रेण (१०।५३।६). चक्रुः सामर्ग्यजुर्मन्त्रैः (१०।५३।१२). संमाल्यभूषणैः (१०।५३।४७). मत्पराम् अनवद्याङ्गी (१०।५३।३). त्वरितः कुण्डिनं प्रागाद् (१०।५३।२१). उपस्पृश्य शुचिः शान्ता (१०।५३।४४). मत्सन्देशहरो द्विजः (१०।५३।२३). कन्यां कलहशङ्कितः (१०।५३।२०)॥५०॥

पूर्णानन्दः.

रम्भापूगोपशोभिता (१०।५४।५७). गदसंकर्षणादयः (१०।५४।६). यथा शयान आत्मानं (१०।५४।४८)॥५१॥

पूर्णकामो.

पूरं नीतो विहायसा (१०।५५।२५). उपाजहुरुपायनम् (१०।५५।५). नातिदीर्घेन कालेन (१०।५५।९). कामस्तु वासुदेवांशो (१०।५५।९)॥५२॥

वाक्पतिः.

स्वयमुद्यम्य दत्तवान् (१०।५६।१). याञ्चाभङ्गमतर्कयत् (१०।५६।-

१२). वयमृक्षपते बिलम् (१०।५६।३१). नृणां चक्षूंषि तिग्मगुः (१०।५६।७)॥५३॥

विबुधेश्वरः.

विज्ञाताऽर्थोऽपि गोविन्दो (१०।५७।१). लब्ध्वैतदन्तरं राजन् (१०।५७।३). उच्छिलन्ध्रमिवाऽर्भकः (१०।५७।१६). एवं सामभिरारब्धः (१०।५७।४०). नाऽहमीश्वरयोः कुर्यां (१०।५७।१२)॥५४॥

कृष्णनामसहस्रस्य वक्ता.

कृष्णस्यासन् सहस्रशः (१०।५८।५८). नग्नजिन्नाम कौरव्य (१०।५८।३२). साऽनुरागस्मितं वक्त्रं (१०।५८।३). कृष्णे सक्तां न्यषेधताम् (१०।५८।३०)॥५५॥

भक्तपरायणः.

भक्तेच्छोपात्तरुपाय (१०।५९।२५). पराऽवरात्मन् भूतात्मन् (१०।५९।-२८). युगाऽन्तसूर्याऽनलशोचिरुल्बणः (१०।५९।७)॥५६॥

भक्त्याचारोपदेशार्थ-नानावाक्यनिरूपकः.

स न्ति हि ए का न्त भ क्ता याः (१०।६०।५०). मयि च अनतिरिक्तदृष्टेः (१०।६०।४६). त व पा द स रो ज ग न्ध म् (१०।६०।४२). प यः फे न नि भे शुभ्रे (१०।६०।६). तेन वीजयती देवी (१०।६०।७). इति त्रि लो के श प ते (१०।६०।२२). त्वं वै समस्तपुरुषाऽर्थमयः (१०।६०।३८). वायुनोद्यानशालिना (१०।६०।५). यद्वाक्यैः चाल्यमानायाः (१०।६०।५१). प्रियया भीरु भामिनि (१०।६०।३१). भ्रातुर्विरूपकरणं (१०।६०।५६)॥५७॥

स्वार्थोज्झिताखिल-प्राण-प्रियः.

भानुः सुभानुः स्वर्भानुः (१०।६१।१०). सिद्धाऽखिलार्था मधुसूदनाऽश्रयाः (१०।६१।४०). प्रत्युद्गमाऽऽसनवराऽर्हणपादशौच (१०।६१।-

४०). राज्ञः समेतान् निर्जित्य (१०।६१।२१). तासां या दशपुत्राणां (१०।६१।७). प्रादाद् दुहितरं युधि (१०।६१।२०). धर्मेण च्छलमाश्रितः (१०।६१।३२).स्वसुः प्रियचिकीर्षया (१०।६१।२५)॥५८॥

तादृश-वेष्टितः.

मनोहर्ता तमादिश (१०।६२।१८). कीदृशस्ते मनोरथः (१०।६२।१५). भटा आवेदयाञ्चक्रु (१०।६२।२८). विचेष्टितं लक्षयामः (१०।६२।२८). वाक्यैः शुश्रूषयार्चितः (१०।६२।२५)॥५९॥

स्वदासार्थ-कृताशेष-साधनः.

विशीर्यमाणं स्वबलं (१०।६३।१७). नारदात्तदुपाकर्ण्य (१०।६३।२). समन्तात् सात्वतर्षभाः (१०।६३।४). विपर्ययेन्द्रियाऽर्थाऽर्थं (१०।६३।४२). सुवाससमलंकृतम् (१०।६३।५१). चत्वारोऽस्य भुजाः शिष्टा (१०।६३।४९). रोमाणि वृक्षौषधयोऽम्बुवाहाः (१०।६३।३६). सारथिं रथमश्वांश्च (१०।६३।११). शरैः शाङ्र्गच्युतैर्भृशम् (१०।६३।११). रामकृष्णाऽनुवर्तिनः (१०।६३।३)॥६०॥

सर्वशक्तिधृक्.

नमस्ते सर्वभावाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये (१०।६४।२९). ----- सीदत्कुटुम्बेभ्य ऋतव्रतेभ्यः (१०।६४।१४). स्वर्गयद्भूताऽलंकरणाऽम्बरस्रक् (१०।६४।६)॥६१॥

भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत्.

अनुसेवां महाभुजः (१०।६५।१०). विश्रान्तं सुखमासीनं (१०।६५।५) प्रपन्नां भक्तवत्सल (१०।६५।२७). इति प्रहसितं शौरेर्जल्पितं चारु वीक्षितम् (१०।६५।१५). गोपीनां रतिमावहन् (१०।६५।१७). एककुण्डलो मत्तो (१०।६५।२२). वचः कृतघ्नस्य बुधाः (१०।६५।१३). जगती जगतः पते (१०।६५।२६). स्मिताऽवलोकोच्छ्वसितस्मरातुराः (१०।६५।१३). यूयं

दारसुताऽन्विताः (१०।६५।७). यमुनाऽऽकृष्टवर्त्मना (१०।६५।३१)॥६२॥

पिता.

कृष्णोऽपि रथमास्थाय (१०।६६।१०). मा भैष्टेत्यविताऽस्म्यहम् (१०।६६।३७)॥६३॥

स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमाहात्म्यः.

दर्शयन् स्वगुदं तासां (१०।६७।१३). एवं देशान् विप्रकुर्वन् (१०।६७।८). नरकस्य सखा कश्चिद् (१०।६७।२). एवं युध्यन् भगवता (१०।६७।२२). क्वचित् समुद्रमध्यस्थो (१०।६७।५). यादवेन्द्रोऽपि तं दोर्भ्यां (१०।६७।२५). ता हेलयामास कपिः (१०।६७।१३). तत्राऽपश्यद् यदुपतिं (१०।६७।९). एवं निहत्य द्विविदं (१०।६७।२८). अदूषयच्छकृन्मूत्रैः (१०।६७।६). जनैः स्वपुरमाविशत् (१०।६७।२८). संस्तूयमानो भगवान् (१०।६७।२८). हास्यप्रिया विजहसुः (१०।६७।१२). आत्मानं सम्प्रदर्शयन् (१०।६७।११). दूषयंश्च कुलस्त्रियः (१०।६७।८)॥६४॥

स्मयापहः.

...॥६५॥

पतिव्रतापतिः.

रुक्मदण्डेन सात्वतपतिं परिवीजयन्त्या (१०।६९।१३). सव्रीडसौहृदनिरीक्षणहासजुष्टः (१०।६९।४४). अथाऽपि ब्रूहि नो ब्रह्मन् (१०।६९।२२). पतत्पताकाध्वजवारिताऽऽतपाम् (१०।६९।६). जगद्गुरुतरोऽपि सतां पतिर्हि (१०।६९।१५)॥६६॥

पारलौकिकैहिकदानकृत्.

परमेष्ठ्यकामो नृपतिः (१०।७०।४१). लोके भवाञ्जगदिनः (१०।७०।२७). गंगेति चेह चरणाऽम्बु पुनीति विश्वम् (१०।७०।४४).

साध्वीनां मौक्तिकस्रजाम् (१०।७०।८). मन्दारवनवायुभिः (१०।७०।२). कृच्छ्राद् विसृष्टो निरगात् (१०।७०।१६)॥६७॥

निगूढहृदयः.

निशम्य तद्व्यवसितमाहृताऽर्हणो (१०।७१।१८). नार्यो विकीर्य कुसुमैर्मनसोपगुह्य (१०।७१।३५). कृष्णं सभार्यमुपलभ्य गृहाधिरूढाः (१०।७१।३५). दृष्ट्वा विक्लिन्नहृदयः (१०।७१।२५)॥६८॥

अनन्य-भक्तेषु ज्ञापिताशयः.

अनयोः मातुलेयं मां (१०।७२।२९). राजन्यबन्धून् विज्ञाय (१०।७२।२२). निशम्य भगवद्गीतं (१०।७२।१२). भ्रातॄन् दिग्विजयेऽयुङ्क्त (१०।७२।१२). इत्थं तयोः प्रहतयोः (१०।७२।३८). गृहेषु गृहमेधिनम् (१०।७२।१७). तद् विज्ञाय महासत्त्वो (१०।७२।४४). सर्वेषामपि भूतानाम् (१०।७२।८). तेजसा यशसा श्रिया (१०।७२।११). ब्रह्मलिंगधराः त्रयः (१०।७२।१६)॥६९॥

उपासनादि-मार्गाति-मुग्ध-मोह-निवारकः.

उपासितव्यं स्पृहयामहे विभो (१०।७३।१४). मलिना मलवाससः (१०।७३।१). निवीतं वनमालया (१०।७३।५). ते निर्गता गिरिद्रोण्या (१०।७३।१). घ्नन्तः प्रजाः स्वा इतिनिर्घृणाः (१०।७३।१२). राजभिर्मुक्तबन्धनैः (१०।७३।१७). नैनं नाथाऽन्वसूयामो (१०।७३।९). सहदेवेन पूजितः (१०।७३।३१). निशम्य धर्मराजस्तत् (१०।७३।३५). कृष्णाय वासुदेवाय (१०।७३।१६). वेनो रावणो नरको (१०।७३।२०)॥७०॥

भक्तिमार्गे सर्वमार्ग-वैलक्षण्यानुभूतिकृत्.

रामो भार्गवो आसुरिः (१०।७४।९). ममाऽहमिति माधव (१०।७४।५). सर्वे लोकाः सहेश्वराः (१०।७४।२). ययौ सभार्यः साऽमात्यः (१०।७४।४९). पैलः पराशरो गर्गो वैशम्पायन एव च (१०।७४।८). श्रेयो धर्मादिलक्षणम्

(१०।७४।२२). कृष्णाऽनुमोदितः पार्थो (१०।७४।६). सर्वभूतात्मभूताय (१०।७४।२४). साधु साध्विति सत्तमाः (१०।७४।२५). कृष्णस्य चानुभावं तं श्रुत्वा प्रीतस्तमब्रवीत् (१०।७४।१)॥७१॥

पृथक्-शरण-मार्गोपदेष्टा.

यत् पृष्टोऽहमिह त्वया (१०।७५।४०). चक्रुस्ततस्त्वभृथस्नपनं द्यु नद्याम् ऋत्विक्सदस्यबहुवित्सु सुहृत्तमेषु (१०।७५।८). तेषां स दिवमस्पृशत् (१०।७५।१०). तत्र कारमुच्यताम् (१०।७५।२). ता मातुलेयसखिभिः। गुप्ता नृभिर्निरगमन् (१०।७५।१६). विश्वसृजोपक्लृप्ताः (१०।७५।२२). देवर्षिपितृगन्धर्वा (१०।७५।१३). अजातशत्रोस्तां दृष्वा (१०।७५।१)॥७२॥

श्रीकृष्ण-हार्दवित्.

श्रृणु कर्माऽद्भुतं महत् (१०।७६।१). इति मूढः प्रतिज्ञाय (१०।७६।४). अथाऽन्यदपि कृष्णस्य (१०।७६।१). हार्दिक्यो भानुविन्दश्च (१०।७६।१४). दुर्विभाव्यं परैरभूत (१०।७६।२१)॥७३॥

प्रतिक्षण-निकुञ्जस्थ-लीला-रस-सुपूरितः.

प्रतिहत्य प्रत्यविध्यन्नाराचैरष्टभिः। विधमन्तं स्वसैन्यानि(१०।७७।२). निरुप्य पुररक्षणम् (१०।७७।९). जहार तेनैव शिरः सकुण्डलं (१०।७७।३६). नेदुर्दुन्दुभयो राजन् (१०।७७।३७). सौभस्थमालोक्य(१०।७७।२९). अपस्पृश्य सलिलम् (१०।७७।१). इत्युक्तश्छोदयामास (१०।७७।११). पिता ते पितृवत्सल (१०।७७।२२). आह चाऽमिहायात (१०।७७।८). अविध्यच्छरसन्दोहैः (१०।७७।१४). वसुदेवमिवाऽनीय (१०।७७।२५). तं शस्त्रपूगैः प्रहरन्तम्। शाल्वं शरैः शौरिः (१०।७७।३३). ध्युमन्तं रुक्मिणीसुतः (१०।७७।२)॥७४॥

तत्कथाक्षिप्त-चित्तस्.

आशंसितं यत्तद् ब्रूत (१०।७८।३४). ब्रूताऽहं करवाण्यथ (१०।७८।३७). यथा भवेद् वचः सत्यं (१०।७८।३५). कुर्वन् पारोक्ष्यसौहृदम्

(१०।७८।१). इति वेदाऽनुशासनम् (१०।७८।३६). अवप्लुत्य रथात् कृष्णः (१०।७८।३). अजानस्त्वपचितिं (१०।७८।३७). परीत्य सुसमाहितः (१०।७८।४०)॥७५॥

तदविस्मृतान्यः.

न तद्वाक्यं जगृहतु (१०।७९।२८). भगवान् व्यतरद् विभुः (१०।७९।३१). अनुस्मरन्तावन्योऽन्यं (१०।७९।२८)॥७६॥

व्रजप्रियः.

पतिव्रता पतिं प्राह (१०।८०।८). किन्नु अर्थकामान् भजते (१०।८०।११). सख्युः प्रियस्य विप्रर्षे (१०।८०।१९)॥७७॥

प्रिय-व्रज-स्थितिः.

भगवान् प्रहसन् प्रियम् (१०।८१।२).पतिव्रता पतिं दृष्ट्वा(१०।८१।-२६). स्वयं जहार किमिदम्(१०।८१।८). किमिदं कस्य वा स्थानं (१०।८१।२३). इति मुष्टिं सकृज्जग्ध्वा (१०।८१।१०). प्रेक्षन् खलु सतां गतिः (१०।८१।२)॥७८॥

पुष्टि-लीला-कर्ता.

पुरस्तादेव सर्वतः(१०।८२।२). यत्राऽस्पृष्टोऽपि कर्मणा(१०।८२।४). कृष्णे नो भक्तिरस्त्विति (१०।८२।११). वासःसग्रुक्ममालिनीः (१०।८२।-१०). ईजे च भगवान् रामो (१०।८२।४). आश्लिष्य गाढं नयनस्रवज्जला (१०।८२।१५). अथैकदा द्वारकायां (१०।८२।१). यद्वा आपत्सु मद्वार्ताम् (१०।८२।१९)॥७९॥

रहःप्रियः.

युधिष्ठिरमथाऽपृच्छत् (१०।८३।१). तत्पादेकक्षाहताऽहस परिपृष्टाः सुसत्कृताः (१०।८३।२). य इत्थं वीर्यशुल्कां माम् (१०।८३।१४).

श्रीमत्पादरजः श्रियः (१०।८३।४२) ॥८०॥

भक्तेच्छा-पूरकः.

अथोऽनुगृहाण भक्तान् (१०।८४।२६). भौम इज्यधीः (१०।८४।-१३). मायाजवनिकाच्छन्न। आत्मानं कालमीश्वाम् (१०।८४।२३). ततः कामैः पूर्यमाणः (१०।८४।६७). द्वैपायनो नारदश्च (१०।८४।३). अनीह एतद् बहुधैक (१०।८४।१७) ॥८१॥

सर्वा-ज्ञातलीलः.

भवान् सर्वमिदं जगत् (१०।८५।१७). आविस्तारोऽल्पभूर्येको (१०।८५।२५). संजज्ञ इत्यनुयुगं (१०।८५।२०). अवतीर्णौ तथाऽऽत्थ ह (१०।८५।१८). ईश्वरावादिपुरुषौ (१०।८५।२९). विश्वोत्पत्तिलयोदयाः (१०।८५।३१) ॥८२॥

अति-मोहनः.

हृदिस्थोऽप्यतिदूरस्थः (१०।८६।४७). नमोस्तु तेऽध्यात्मविदां (१०।८६।४८). प्रहसंस्तमुवाच ह (१०।८६।५०). अन्तरं प्रेप्सुरर्जुनः (१०।८६।८) ॥८३॥

सर्वासक्तः.

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता (१०।८७।३०). उपदिशन्ति त आरुपितैः (१०।८७।२५). स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्ड (१०।८७।२३) ॥८४॥

भक्तमात्रासक्तः.

विरुद्धा भजतां (१०।८८।२). शाकुनेय भवान् व्यक्तं (१०।८८।२९). चिन्मात्रं सदनन्तकम् (१०।८८।१०). आत्माऽयं सर्वकामधुक् (१०।८८।२९). न यद् वक्ताऽनृतं पुनः (१०।८८।३४) ॥८५॥

पतित-पावनः.

पतित्वा पादयोर्देवी (१०।८९।६). तत उत्थाय भगवान् (१०।८९।८). पादोदकेन भवतस्तीर्थानाम् (१०।८९।११). भक्त्युत्कंठोऽश्रुलोचनः (१०।८९।-१३) ॥८६॥

स्वयशोगानसंहृष्ट-हृदयाम्भोजविष्टरः.

सुखं स्वपुर्यां निवसन् द्वारकायां श्रियः पतिः (१०।९०।१). निर्विशद्भृङ्गविहगै (१०।९०।४). उरुगायोरुगीतानां (१०।९०।२६). नवयौवनकान्तिभिः (१०।९०।२). याः सम्पर्यचरन् प्रेम्णा (१०।९०।२७). हृदिरयसि नः स्मरम् (१०।९०।१९). अप्राप्य मुष्टहृदयाः (१०।९०।२३). कुमुदाऽम्भोजरेणुभिः (१०।९०।६). विजहार विगाह्याऽम्भो (१०।९०।७). भो भोः सदा निष्टनसे उदन्वन्नलब्ध। निद्रोऽधिप्रजागरः (१०।९०।१७) ॥८७॥

यशःपीयूषलहरी-प्लावितान्यरसः.

आयुषो यशसः श्रियः(११।७।२७). प्रोक्तस्त्यागः सन्यासलक्षणः (११।७।१४). अत्राप्युदाहरन्तीम (११।७।२४). कुमारी शरकृत् शर्प (११।७।३४). पुरीं च प्लावयिष्यति (११।७।३). त्वन्मायया विरचितात्मनि (११।७।१६). अन्योन्यं विष्णु मायया (११।७।६१). यदोरमिततेजसः (११।७।२४) ॥८८॥

परः.

वा नारायणपरो मुनिः (११।८।६) ॥८९॥

लीलामृत-रसार्द्रार्द्री-कृताखिल-शरीर-भृत्.

शालीन् रहसि पार्थिव (११।९।६). केवलात्मानुभावेन (११।९।१९). तत्त्वान्यनेन विमृशामि (११।९।२५). यद् यत्प्रियतमं नृणाम् (११।९।१). परमानन्द आप्लुतौ (११।९।४). सा तज्जुगुप्सितं मत्वा (११।९।७). स्वयं तानर्हयामास (११।९।५). वैराग्याभ्यासयोगेन (११।९।११). भवेद्

वार्ता द्वयोरपि (११।९।१०). एकचार्यनिकेतः स्याद् (११।९।१४). क्वचित् कुमारी त्वात्मानम् (११।९।५). कीटः पेशस्कृतं ध्यायन् (११।९।२३). आत्माधारोऽखिलाश्रयः (११।९।१७). सृष्ट्वा पुराणि विविधा (११।९।२८). जायात्मजार्थपशुभृत्यगृहाप्तवर्गान् (११।९।२६). परावराणां परम (११।९।१८). एक एव चरेत्तस्मात् (११।९।१०)॥९०॥

गोवर्धनस्थित्युत्साहः.

गत्वा यात्युल्बणं तमः (११।१०।२८). वर्णाश्रमकुलाचारम् (११।१०।१). द्विपरार्धपरायुषः (११।१०।३०). गुणेषु तत्त्वध्यानेन (११।१०।२). तेनापि निर्जितं स्थानं। यदि धर्मः स्वनुष्ठितः (११।१०।२२). इति मां बहुधा प्राहुः (११।१०।३४). उदासिनः समं पश्यन् (११।१०।७). () दाहकोन्यः प्रकाशकः (११।१०।८)॥९१॥

तल्लीला-प्रेम-पूरितः.

तत्तन्निवेदयेद् मह्यं (११।११।४१). लीलावतारेप्सितजन्म (११।१-१।२०). प्रणतायानुरक्ताय (११।११।२७). इष्टापूर्तेन मामेवं (११।११।-४७). परिचर्या स्तुतिः (११।११।३४). व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः (११।११।१)॥९२॥

यज्ञभोक्ता.

यज्ञपत्न्यस्तथापरे (११।१२।६). केवलेन हि भावेन (११।१२।८). उद्धवोत्सृज्य (११।१२।१४). अव्यक्त एको वयसा स आद्यः (११।१२।२-०). अव्रतातप्ततपसः (११।१२।७)॥९३॥

यज्ञकर्ता.

जानीत मागतं यज्ञम् (११।१३।३८). कालः कर्म च जन्म (११।१-३।४). तासां विलक्षणो जीवः (११।१३।२७)॥९४॥

चतुर्वर्गविशारदः.

दीर्घचारुचतुर्भुजम् (११।१४।३८). वदन्ति कृष्णः श्रेयांसि (११।१४।-१). प्राणस्य शोधयेन्मार्गम् (११।१४।३३). तेषां विकल्पप्राधान्यम् (११।१-४।१). शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः (११।१४।१७). रक्षः किम्पुरुषाद-यः (११।१४।६)॥९५॥

सत्यप्रतिज्ञः.

मयि सत्ये मनो युञ्जंस्तथा (११।१५।२६ आज्ञाप्रतिहतागतिः (११।-१५।७). त्रिकालज्ञत्वमद्वन्द्वं (११।१५।८). जिताश्वासस्य योगिनः (११।-१५।१)॥९६॥

त्रिगुणातीतः.

सुपर्णोऽहं पतत्रिणाम् (११।१६।१५). गुणानां चाप्यहं साम्यम् (११।१६।१०). तीर्थानां स्रोतसां गङ्गा (११।१६।२०). धीराणां देवलोऽसि-तः (११।१६।२८)॥९७॥

नयविशारदः.

जन्मोपनयनं द्विजः (११।१७।२२). न प्रायो भविता मर्त्यलोके प्राग-नुशासितः (११।१७।४). स्वधर्मेणारविन्दाक्ष (११।१७।२). वेदः प्रणवएव अग्रे (११।१७।११)॥९८॥

स्वकीर्तिवर्धनः.

स्वयं संचिनुयात् सर्व (११।१८।६). इहामुत्र चिकीर्षितात् (११।१८।-२६). मैध्यैर्वृत्तिं प्रकल्पयेत् (११।१८।२), वर्षास्वासारषाड्ज जले (११।१८-।४). भक्त्योद्धवानपायिन्या (११।१८।४५). आत्मवान् समदर्शनः (११।१८-।२०) ॥९९॥

तत्त्वसूत्र-भाष्यप्रदर्शकः.

यो विद्याश्रुतसम्पन्न (११।१९।१). वचोभिः आसिञ्च महानुभाव (११।१९।१०). कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते (११।१९।२४). अजातशत्रुः प्रपच्छ (११।१९।११). ज्ञानं चैकात्म्यदर्शनम् (११।१९।२७). कः शमः को दमः कृष्ण (११।१९।२८) ॥१००॥

मायावादाख्य-तूलाग्निः.

पुमान् भवाब्धिं न तरेत् (११।२०।१७). न याति स्वर्गनरकौ (११।२-०।१०). निगमेन अपवादश्च (११।२०।५). सांख्येन सर्वभावानां (११।२०।-२२). जातश्रद्धस्तु यः पुमान् (११।२०।८). अनाशीःकाम उद्धव (११।२०।-१०). द्रव्यदेशवयःकालान् (११।२०।२). न ज्ञानं न च वैराग्यं (११।२०।३-१). निःश्रेयसं कथं नृणां (११।२०।३) ॥१०१॥

ब्रह्ममवादनिरूपकः.

शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं (११।२१।३६). परोक्षवादा ऋषयः (११।२१।-३५). भूम्यम्ब्वग्न्यनिलाकाशाः (११।२१।५). वेदेन नामरूपाणि (११।२१।-६). स दोषोऽकर्मकः स्मृतः (११।२१।९) ॥१०२॥

अप्राकृताखिलाकल्प-भूषितः.

अपरे पञ्चविंशतिम् (११।२२।२). केचित् सप्तदश प्राहुः (११।२२।-३). प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः (११।२२।१२). कति तत्त्वानि विश्वेश (११।२२।-१). स्वया अनुभूत्या अखिलसिद्धसिद्धः (११।२२।३१). आत्मा यद् एषाम् अपरो यः आद्यः (११।२२।३१). विकल्पः पुरुषर्षभ (११।२२।२९). सर्व-भावेन भूरिद (११।२२।३९). संख्यातानि ऋषिभिः प्रभो (११।२२।१). प्रधानमूलाद् महतः प्रसूतः (११।२२।३२) ॥१०३॥

सहजस्मितः.

सहसोत्सृज्य सौहृदम् (११।२३।२१). लब्ध्वा जन्मामरप्रार्थ्यं (११।२-३।२२). स्मरता धृतियुक्तेन (११।२३।५). इतिहासम् इह उद्धव (११।२३-।४). स एवमाशंसित (११।२३।१) ॥१०४॥

त्रिलोकीभूषणं.

त्रिलोक्यां गतयः सर्वाः (११।२४।१३). भूमेरोकोऽसृजत् प्रभुः (११।-२४।१३). एष सांख्यविधिः प्रोक्तः (११।२४।२९). कारणं चिदचिन्मयः (११।२४।७)॥१०५॥

भूमिभाग्यं.

चित्तजायैस्तु भूतानां (११।२५।१३). गुणानामसमिश्राणां (११।२५-।१). मद्भावाय प्रपद्यते (११।२५।३२). तुष्टिस्त्यागोऽस्पृहा श्रद्धा (११।२५-।२). तपः सत्यं दया स्मृतिः (११।२५।२) ॥१०६॥

सहज-सुन्दरः.

आत्मस्थं समुपैति माम् (११।२६।१). अगायत बृहच्छ्रवाः (११।२६-।४). तेजः ईशत्वमेव वा (११।२६।११). भगवन्तं विभावसुम् (११।२६।-३१). न वेद यान्तीर्नाया... (११।२६।६). मे मोहविस्तारः (११।२६।७) ॥१०७॥

अशेषभक्त-सम्प्रार्थ्य-चरणाब्ज-रजोधनः.

अभ्यङ्गोन्मर्दनादर्श (११।२७।३५). इति शेषां मया दत्तां (११।२७।-४७). भक्तस्य च यथा लब्धैः (११।२७।१५). संक्षिप्तं वर्णयिष्यामि (११।-२७।६). द्विजत्वं प्राप्य पुरुषः (११।२७।८). पाद्यार्घ्याचमनीयार्थं (११।२७।२-२). व्याप्ते सम्पूज्य तन्मयः (११।२७।२४). क्रियायोगं समाचक्ष्व (११।२७-।१). भक्ताय चानुरक्ताय (११।२७।५). एतद्धि सर्ववर्णानां (११।२७।४). भक्तस्य च यथा लब्धैः (११।२७।१५). यदाह भगवानजः (११।२७।३). ब्रूहि विश्वेश्वरेश्वरः (११।२७।५). यदाह भगवानजः (११।२७।३). भगव-दाराधनं प्रभो (११।२७।१). सर्वात्माहमवस्थितः (११।२७।४८)॥१०८॥

इति सर्वोत्तमोद्धारः श्रीमद्भागवतात्कृतः ॥
श्रीमद्गोस्वामिचरणैः सएवानूदितो मया ॥१॥
इति श्रीमद्गोस्वामिमथुरानाथतनुजद्वारिकेश्वरोदितः
श्रीमद्भागवतदशमैकादशस्कन्दमध्यात् सर्वोत्तमस्तोत्रनामोद्धारः
समाप्तः



✼ श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रीयाष्टोत्तरशतनामसु प्रमाणादिचतुष्टयम् ✼

(१) प्रमाणनिरूपकनामानि

श्रीभागवतगूढार्थप्रकाशनपरायणः, साकारब्रह्मवादैकस्थापकः, वेदपारगः, मायावादनिराकर्ता, सर्ववादिनिरासकृत्, भक्तिमार्गाब्जमार्तण्डः, श्रीकृष्णज्ञानदः, गुरुः, श्रीभागवतपीयूषसमुद्र-मथनक्षमः, कृपयैतत्कथाप्रदः, वाक्पतिः, विबुधेश्वरः, कृष्णनामसहस्रस्य वक्ता, स्मयापहः, उपासनादिमार्गातिमुग्ध-मोहनिवारकः, भक्तिमार्गे सर्वमार्गवैलक्षण्यानुभूतिकृत्, श्रीकृष्णहार्दवित्, सत्यप्रतिज्ञः, चतुर्वर्गविशारदः, नयविशारदः, स्वकीर्तिवर्धनः, तत्त्वसूत्रभाष्यप्रदर्शकः, मायावादाख्य-तूलाग्निः, ब्रह्मवादनिरूपकः - इत्येतानि २४ नामानि.

(२) प्रमेयनिरूपकनामानि

श्रीकृष्णास्यं, प्राकृतानुकृतिव्याज-मोहितासुरमानुषः, वैश्वानरो, वल्लभाख्यः, सद्रूपो, सर्वलक्षणसम्पन्नः, पद्मदलायतविलोचनः, तत्सारभूत-रासस्त्रीभावपूरितविग्रहः, रासलीलैकतात्पर्यः, स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमाहात्म्यः, पतिव्रतापतिः, निगूढहृदयः, अनन्यभक्तेषु ज्ञापिताशयः, रहःप्रियः, सर्वाज्ञात-लीलो, अतिमोहनः, सर्वासक्तो, भक्तमात्रासक्तः, स्वयशोगानसंहृष्ट-

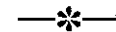
हृदयाम्भोजविष्टरः, परः, गोवर्धनस्थित्युत्साहः, त्रिगुणातीतो, अप्राकृताखिलाकल्पभूषितः, सहजस्मितः, त्रिलोकीभूषणं, सहजसुन्दरः - इत्येतानि २६ नामानि.

(३) साधननिरूपकनामानि

कृपानिधिः, दैवोद्धारप्रयत्नात्मा, स्त्रीशूद्राद्युद्धृतिक्षमः, अंगीकृतौ समर्यादः, महाकारुणिको, विभुः, अदेयदानदक्षः, हितकृत् सताम्, जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृत्, भक्तसेवितः, दुराराध्यो, दुर्लभांघ्रिसरोरुहः, उग्रप्रतापो, वाक्सीधुपूरिताशेषसेवकः, सान्निध्यमात्रदत्त-श्रीकृष्णप्रेमा, विरहानुभवैकार्थ-सर्वत्यागोपदेशकः, भक्त्याचारोपदेष्टा, कर्ममार्गप्रवर्तकः, यागादौ भक्तिमार्गैक-साधनत्वोपदेशकः, भक्तपरायणः, भक्त्याचारोपदेशार्थ-नानावाक्यनिरूपकः, स्वादासार्थकृताशेषसाधनः, सर्वशक्तिधृक्, भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वय-कृत्, पिता, पृथक्शरणमार्गोपदेष्टा, पतितपावनः, यशःपीयूषलहरी-प्लावितान्यरसः, यज्ञकर्ता - इत्येतानि २९ नामानि.

(४) फलनिरूपकनामानि

आनन्दः, परमानन्दः. स्मृतिमात्रार्तिनाशनः, अंगीकृत्यैव गोपीशवल्लभी-कृतमानवः, महोदारचरित्रवान्, निखिलेष्टदः, स्वानन्दतुन्दिलः, कृपादृग्वृष्टिसंहृष्ट-दासदासीप्रियः, पतिः, रोषदृक्पातसम्प्लुष्ट-भक्तद्विट्, सुखसेव्यो, विमुक्तिदः, पूर्णानन्दः, पूर्णकामः, स्वार्थोज्झिताखिलप्राणप्रियः, तादृशवेष्टितः, पारलौकिकैहिकदानकृत्, प्रतिक्षणनिकुञ्जस्थ-लीलारससुपूरितः, तत्कथाक्षिप्तचित्तः, तद्-विस्मृतान्यो, व्रजप्रियः, प्रियव्रजस्थितिः, पुष्टिलीलाकर्ता, भक्तेच्छापूरकः, लीलामृतरसार्द्रार्द्रीकृताखिलशरीरभृत्, तल्लीलाप्रेमपूरितः, यज्ञभोक्ता, भूमि-भाग्यं, अशेषभक्तसम्प्रार्थ्य-चरणाब्जरजोधनः - इत्येतानि २९ नामानि.



✼ श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रीयाष्टोत्तरशतनामसु ऐश्वर्यादिसप्तकम् ✼

(१) ऐश्वर्यनिरूपकनामानि

कृपानिधिः, स्त्रीशूद्राद्युद्धृतिक्षमः, महाकारुणिको, विभुः, अदेयदानदक्षः, महोदारचरित्रवान्, निखिलेष्टदः, विमुक्तिदः, कृपयैतत्कथाप्रदः, विबुधेश्वरः, सर्वशक्तिधृक्, पारलौकिकैहिकदानकृत्, भक्तेच्छापूरकः, पतितपावनः, यज्ञभोक्ता - इत्येतानि १५ नामानि.

(२) वीर्यनिरूपकनामानि

दैवोद्धारप्रयत्नात्मा, स्मृतिमात्रार्तिनाशनः, अंगीकृत्यैव गोपीशवल्लभीकृतमानवः, रोषदृक्पातसम्प्लुष्ट-भक्तद्विट्, उग्रप्रतापो, स्वदासार्थकृताशेषसाधनः, यज्ञकर्ता, त्रिगुणातीतो, मायावादाख्य-तूलाग्निः - इत्येतानि ९ नामानि.

(३) यशोनिरूपकनामानि

हितकृत् सताम्, जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृत्, कृपादृग्वृष्टिसंहृष्टदासदासीप्रियः, पतिः, भक्तसेवितः, सुखसेव्यो, वाक्सीधुपूरिताशेषसेवकः, कर्ममार्गप्रवर्तकः, वाक्पतिः, भक्तपरायणः, भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत्, पिता, भक्तिमार्गे सर्वमार्गवैलक्षण्यानुभूतिकृत्, भक्तमात्रासक्तः, स्वयशोगानसंहृष्ट-हृदयाम्भोजविष्टरः, यशःपीयूषलहरीप्लावितान्यरसः, सत्यप्रतिज्ञः, स्वकीर्तिवर्धनः, तत्त्वसूत्रभाष्यप्रदर्शकः, अशेषभक्तसम्प्रार्थ्य-चरणाब्जरजोधनः - इत्येतानि २० नामानि.

(४) श्रीनिरूपकनामानि

सर्वलक्षणसम्पन्नः, पद्मदलायतविलोचनः, तत्कथाक्षिप्तचित्तः, प्रियव्रजस्थितिः, गोवर्धनस्थित्युत्साहः, अप्राकृताखिलाकल्पभूषितः, सहजस्मितः, त्रिलोकीभूषणं, भूमिभाग्यं, सहजसुन्दरः - इत्येतानि १० नामानि.

(५) ज्ञाननिरूपकनामानि

श्रीभागवतगूढार्थप्रकाशनपरायणः, साकारब्रह्मवादैकस्थापको, वेदपारगः, मायावादनिराकर्ता, सर्ववादिनिरासकृत्, भक्तिमार्गाब्जमार्तण्डः, अंगीकृतौ समर्यादो, श्रीकृष्णज्ञानदो, गुरुः, श्रीभागवतपीयूषसमुद्रमथनक्षमः, रासलीलैकतात्पर्यः, भक्त्याचारोपदेष्टा, यागादौ भक्तिमार्गैकसाधनत्वोपदेशकः, कृष्णनामसहस्रस्य वक्ता, भक्त्याचारोपदेशार्थ-नानावाक्यनिरूपकः, स्मयापहः, अनन्यभक्तेषु ज्ञापिताशयः, उपासनादिमार्गातिमुग्धमोहनिवारकः, पृथक्शरणमार्गोपदेष्टा, श्रीकृष्णहार्दवित्, चतुर्वर्गविशारदः, नयविशारदः, ब्रह्मवादनिरूपकः - इत्येतानि २३ नामानि.

(६) वैराग्यनिरूपकनामानि

प्राकृतानुकृतिव्याज-मोहितासुरमानुषः, स्वानन्दतुन्दिलः, दुराराध्यो, दुर्लभांघ्रिसरोरुहः, विरहानुभवैकार्थ-सर्वत्यागोपदेशकः, स्वार्थोज्झिताखिलप्राणप्रियः, तादृशवेष्टितः, तद्विस्मृतान्यो, रहःप्रियः, सर्वाज्ञातलीलो, अतिमोहनः, सर्वासक्तो, निगूढहृदयः - इत्येतानि १३ नामानि.

(७) धर्मिनिरूपकनामानि

आनन्दः, परमानन्दः, श्रीकृष्णास्यं, वैश्वानरो, वल्लभाख्यः, सद्रूपो, तत्सारभूत-रासस्त्रीभावपूरितविग्रहः, सान्निध्यमात्रदत्त-श्रीकृष्णप्रेमा, पूर्णानन्दः, पूर्णकामः, स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमाहात्म्यः, पतिव्रतापतिः, प्रतिक्षणनिकुञ्जस्थ-लीलारससुपूरितः, व्रजप्रियः, पुष्टिलीलाकर्ता, परः, लीलामृतरसार्द्रार्द्रीकृताखिलशरीरभृत्, तल्लीलाप्रेमपूरितः - इत्येतानि १८ नामानि.

इति शाहोपाह्वेन चिरञ्जीविना श्रीमदसितेन विरचितं सर्वोत्तमोष्टोत्तरशतनामसु
प्रमाणादिचतुष्टयैश्वर्यादिधर्मधर्मिसप्तकविवेचनम्
सम्पूर्णम्



भाषापरिशिष्टम्

॥श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रके अष्टोत्तरशतपद॥

श्रीगोविन्ददास

(०१) राग : भैरव

प्राकृत धर्मरहित अप्राकृत निखिल धर्मसहित साकार॥
निगम निरूपित सुद्ध पुरुषोत्तम वदनानल श्रीवल्लभ अवतार॥१॥
स्तुति करों सदानन्दपद सेवों सुजस स्रवन करों गुनगान॥
चितमें चिंतन करों रैनदिन सुबोधिनी अरु वचनामृतपान॥२॥
करुना करि कलि प्रकट भए बिन होत न दैवी जन-उद्धार॥
श्रीविट्ठल निजपदनौका दै 'गोविन्द' उतारौ(करो!) भवसागरपार॥३॥

(०२) राग : बिभास

विदुषजनदृष्टि कलिकाल महातिमिरतें
निगमनवनीतको हार्द नाहिं लह्यो॥
ब्रह्म साकारको भेद जाने बिना
आसुरावेश-तें विरुद्ध हि कह्यो॥१॥
भूमिके जीव मतिहीन वैकुण्ठकी
बातकों कहो कैसे मंद जानै॥
ब्रह्म साकारको रूप जाने बिना
मूढ़ अति अज्ञान क्यों जु मानै॥२॥
तस्य संप्रतीति तातें नहिं होत है
उग्र माहात्म्य कौन पार पावै॥
श्रीविट्ठल-पद-कमल-रजधन 'गोविन्द'
जन हरि-वदन-वह्नि-गुन गावै॥३॥

(०३) राग : रामकली

जब श्रीहरि भई यह इच्छा निज महिमा प्रगटावे काज॥
व्रजपति वदन-अनल आनन्दमय प्रगट किए वाक्पति द्विजराज॥१॥
सो स्वरूप प्रगट्यौ भूतलपे विद्यानिधि विदुषन् सिरताज॥
दरस परस उपज्यौ उर आनन्द तीनों भुवन रहे सब गाज॥२॥
दैवीजन सब करत बधाई चिंता गई सबनकी भाज॥
कहत 'गोविन्द'यह गान करौ नित बाल वृद्ध सब जोरि समाज॥३॥

(०४) राग : बिलावल

अति तदुक्त दुर्बोध जानि जिय कियौ सुबोध श्रीविट्ठलेस॥
शत-अष्टोत्तर नाम दान दै महा अघ हर्यो मिट्यो कलेस॥१॥
पढ़ौ सुनौ चितमें चिंतन करि कछु मति धरौ चिंताको लेस॥
एकै रसना कहौ कहा बरनों थकी सारदा सहसमुख सेस॥२॥
यह अवतार न काहू बरन्यो स्रुति स्मृति सास्त्र पुरान विसेस॥
दैवीजन-उद्धरनकौं प्रगटे भूतल 'गोविन्द' प्रभु श्रीव्रजेस॥३॥

(०५) राग : आसावरी

ऋषिमें ऋषिराज श्रीमद् अग्निकुमार॥
आनन्दमय नखसिखपर लेहौं-वारौं कोटिक मार॥१॥
नाम्नां छन्दो जगत्यसौ सो मन वच क्रम निरधार॥
श्रीकृष्णास्य देवता श्रीमद् धृत द्विज-अवतार॥२॥
करुणा बीज प्रभु प्रमेयबल कियो जगत उद्धार॥
षट गुन पूरन श्रीवल्लभके अगनित गुन 'गोविन्द' अपार॥३॥

(०६) राग : टोडी

भक्तियोग-प्रतिबंध निवारन कारन सर्वोत्तम विनियोग॥
सिद्धिः श्रीकृष्णाधरामृतास्वाद फल निःसंशय यह आस्य उपयोग॥१॥

जो रस सिव चतुरानन दुर्लभ धनपति जलपति गनपति भावै॥
सुरपति दिनपति अरु राकापति दरसन करि समाधि नित ध्यावै॥२॥
यह नित नियम करौ जिय अपने पढ़ौ सुनौ चित चिंतन कीजै।
श्रीविठ्ठल करुना करिकै 'गोविन्द' कों सर्वोत्तम दीजै॥३॥

…✻…

(१) राग : बिलावल

आनन्दरूप श्रीवल्लभकौं अपने जिय जानो॥
और सबै तुम छांड़िके इनहिकों मानो॥१॥
तीन लोकमें कोऊ नाहि पटतर को आवै।
देव कोटी तैंतीसमें कोउ पार न पावै॥२॥
आनन्द नाम रटौ रसनातें करि-करि अर्थ विचार।
पैये 'गोविन्द' जन जप किए पुष्टिपदारथ चार॥३॥

(२) राग : बिभास

तन मन धन मम यह मेरौ सर्वस परमानन्द॥
श्रीवल्लभ भजहु निसि-दिन गान करहु सुछन्द॥१॥
निरखि-निरखि मेरे नैननि सिराऊं श्रीहरि वदन मुखचंद।
आनन्द मगन सदा रहूं रविदरसन मानहुं अरविंद॥२॥
सुभग मूरति जिनि नैननि निरखे सो जन परे प्रेमके फंद।
यह महानिधि मेरे हृदै कमलतैं छिन मति टारौ कहत 'गोविन्द'॥३॥

(३) राग : धनाश्री

मेरौ सर्वस श्रीकृष्णास्य॥
मायावाद-निवारन-कारन कीनौ है अणुभाष्य॥१॥
सुर नर मुनि देव कोटि तैंतीसों करत हैं सदा उपास्य॥
यह तजि और तत्त्व काहे रे माने होहि लोक-उपहास॥२॥
श्रीवल्लभ-चरनकमल-सेवक जन सबतें रहत उदास॥

श्रीविठ्ठल पदरज 'गोविन्द' करत बहिर्मुखकों हास॥३॥

(४) राग : भैरव

कृपानिधि कृपा कीनी दरस दिखायो॥
भटकि भटकि सब तीन लोकमें अब यह निधि पायो॥१॥
स्रुति-स्मृति-सूत्र-पुरान-अगोचर सुर नर मुनि कोउ पार न पायो॥
श्रीहरिवदन वह्नि करुना करि निजस्वरूप-महिमा बतायो॥२॥
षट्-साधन-अधिकार नष्ट भए कलिमें कृष्ण भजन सु सिखायो॥
यह विवेक जानि जिय अपने जन 'गोविन्द' विमल जस गायो॥३॥

(५) राग : बसन्त

दैवोद्धारप्रयत्नात्माकों आधी निमिष न बिसराऊं॥
चितमें चिंतन करौं अहर्निसि उर आनन्द उपजाऊं॥१॥
और द्वन्द जिय जानि छांड़ि दै श्रीवल्लभ-गुन गाऊं॥
मेरौ सर्वस सुभग मूरति बिनु कहूं न सीस नवाऊं॥२॥
वचनामृत सुबोधिनी सुनिके श्रीवल्लभ उर लाऊं॥
गोद पसारि मांगत 'गोविन्द' जन चरनकमल-रज पाऊं॥३॥

(६) राग : ईमन

स्मृतिमात्रार्तिनाशन सुमिरे बढ़त आनन्द॥
आनि उपाय उपाधि जानि जिय
तजि चित भजि श्रीवल्लभ मुखचंद॥१॥
रसना रटत नैंकु नहिं छांड़त
फूलि रहे निजजन अरविंद॥
हंसत परस्पर करत कुलाहल
सब ही परे प्रेमके फंद॥२॥
भूतल फिरत महारस भीने
निजजन अति-मदमत्त गयंद॥

श्रीविठ्ठल-पदरज-प्रताप-बल
निर्भर फिरत सदा 'गोविन्द' ॥३॥

(७) राग : श्री

श्रीभागवत-गूढार्थप्रकाशन-परायणकों
महिमा मैं जानि तातें मेरौ मन अटक्यो ॥
जबलौं श्रीवल्लभकी महिमा मैं जानी नहीं
तौलौं हों याचत ठौर-ठौर भटक्यो ॥१॥
चर्षणीकी संगतितैं मेरौ मन भ्रष्ट भयौ
कछु विवेक समुझे बिनु रह्यो बीच लटक्यो ॥
श्रीवल्लभसंगतितैं मेरे हृदै उपज्यो ज्ञान
साधुसंग कीनों मैं और सबै पटक्यो ॥२॥
अब जियमें जानत हौं आयुष तौ वृथा जात
काम क्रोध लोभ मोह मत्सर तैं सटक्यो ॥
अबहु कछु चेत मूढ़ सुभग मूर्ति हृदै धरि
और सब परिहरौ तुम 'गोविन्द'जन संग गटक्यो ॥३॥

(८) राग : आसावरी

साकार-ब्रह्मवादैक-स्थापक प्रगट भये ॥
सुनि स्रवननि निज दैवी सृष्टि सबके दुख दूर गये ॥१॥
हरिवदनानल प्रगटे बिन सब जगत हु जात बह्यो ॥
स्रुति-स्मृति-सूत्र-पुरानन हारद सुर-नर-मुनि न लह्यो ॥२॥
करुना करि कृष्णपदसेवा कलियुगमें सिखये।
जन 'गोविन्द' सोइ बडभागी जिनि यह तती निभये ॥३॥

(९) राग : रामगिरि

करहु वेदपारग सुखद चरनसेवा ॥
अन्य आलाप तजि वह्निपदकमल भजि

श्रीवल्लभ सकल देवाधिदेवा ॥१॥
कलिकल्मषापहं सकलदुखदारणम्
भवसिंधुतारणं परमममलम् ॥
साधन सबही तजौ निसिदिना वल्लभ भजौ
अतिसुखद सुवह्निपदयुगलकमलम् ॥२॥
परमसुखदायिनी भक्तिरनपायिनी
देत हैं हरि-वदनवह्नि दाता ॥
तीनहु लोकमें बिना श्रीवल्लभवर
'गोविन्द' सुने न अन्य कोऊ भयत्राता ॥३॥

(१०) राग : टोडी

मायावादनिराकर्ता प्रकटे श्रीवल्लभद्विजराज ॥
श्रीहरि प्रगट किए मुखमूरति पुष्टि प्रगटबे काज ॥१॥
महिमा स्रवन सुनत कुमुदिनिसे फूले भक्तसमाज ॥
अब उद्धार विषयिनी चिंता गई सबनिकी भाज ॥२॥
जयजयकार भयौ त्रिभुवनमें रहे भुवन सब गाज ॥
सुमिरनतें आनन्द होत है 'गोविन्द' जन सिरताज ॥३॥

(११) राग : टोडी

सर्ववादिनिरासकृत्को को जन पावत पार ॥
श्रुति स्मृति शास्त्र पुरान अगोचर पुरुषोत्तम निराधार ॥१॥
धरनीतलमें प्रकट भए बिनु बसुधा बूड़त भार ॥
प्राकृतरूप असुर मोहनकों अप्राकृत प्रान अधार ॥२॥
बिनु साधन उद्धरत निजजनकों प्रगट कृष्ण अवतार।
जो सर्वसु श्रीवजजनको दै सो 'गोविन्द'को है रखवार ॥३॥

(१२) राग : टोडी

भक्तिमार्गाब्जमार्तण्ड अवनि उदय जानि जिय दैवीजनकमल फूले ॥

श्रीवल्लभ प्राकृतरूप देखि आसुरसृष्टि मोहितअति विदुषवृन्द भूले॥१॥
कलिकलुषहरन हरि आपु अपनो वदन वह्नि ह्वै निजदास दरस दीन्हों॥
द्विजवर अवतार धरि प्रेमसों भक्ति करि सिखाए निजदास सब गुनप्रबीनों॥२॥
श्रुतिपथ भयो प्रकास मायावादतिमिर गयो सुभगमूरति निरखि उपज्यो आनन्द॥
मन वच कर्म करि कहत 'गोविन्द' जप किए सहजसों पैहै सुखद आनन्द॥३॥

(१३) राग : टोडी

स्त्रीशूद्राद्युद्धृतिक्षमको जस व्यापि रह्यो त्रैलोक्य मांहि॥
बिन साधन ब्रजपतिकों सोंपत श्रीवल्लभवर दृढ़ करि गहि बांहि॥१॥
उर आनन्द न समात पुष्टिजन करत अहर्निसि वही गुनगान॥
पटतर तनक न पावत कोऊ सुर नर मुनि जन करत बखान॥२॥
भूत भविष्य स्रवन नहिं सुनियत करि करुना अब दरस दिखायो॥
यह निधि साधनतें नहिं पैयत श्रीविठ्ठलपदरज 'गोविन्द'॥३॥

(१४) राग : आसावरी

अंगीकृत्यैव गोपीश-वल्लभीकृत-मानव नाम॥
करि करुना कलिकालमें निजजनके पूरे काम॥१॥
अवनितलमें आनन्द भयो घर-घर आठौं जाम॥
सुभगमूरत श्रीवल्लभ हैं देखे नखशिख अभिराम॥२॥
अब चिन्ता सब मिट गई प्रगट भयो सुखकौ धाम।
फूल्यो फिरत 'गोविन्द' सदा पायो निजपद गोकुल गाम॥३॥

(१५) राग : सारंग

अंगीकृतौ समर्यादो पुरुषोत्तम प्रगट भए
स्रवन सुनत निजजन उपज्यो आनन्द॥
करि करुना हरिवदनानल श्रीवल्लभदास दियो
बिछुर्यौ मन-वच-कर्म करि प्रगट गोकुलचन्द॥१॥
नखसिख सब अति अनुपम प्रगट भए धर्मयूप-

रूप वसुधा पान करत सबै विदुषवृन्द॥
सुर नर मुनि करि समाधि एकचित्त ह्वै ध्यान धरत
पावत नहिं पार कछु मायावादी मत्तगयंद॥२॥
देखियत प्राकृतरूप निश्चय है अप्राकृत
मानुषाकृति देखि परे फंद॥
पुष्टिसृष्टि उद्धरनकों द्विजवर अवतार धर्यौं
मायामतखण्डनकों प्रगट 'गोविन्द'॥३॥

(१६) राग : देवगंधार

अबके महाकारुणिक कहियत॥
तजि निजधाम अवनितल प्रगट भए सबके मन भाए॥१॥
अपनी प्रतिज्ञा सत्य करि तुम निजजन नेह निबाहे॥
सब परिकर लै सरन भयो सो तव पद-सरोज-रज पाए॥२॥
जिन नहिं जाने श्रीहरि-मुख-मूरति तिननें वृथा जनम गंवाए॥
सर्वसु श्रीवल्लभ निजजनकों सो 'गोविन्द' जन जस गाए॥३॥

(१७) राग : रामगिरि-देवगंधार

विभु तुम अबके मोहि उद्धारौ॥
अति हि समर्थ स्रवन सुनियत है श्रीवल्लभ नाम तिहारौ॥१॥
उधरे अधम अनेक साधन बिनु अपने जिय विचारौ।
कोटि जनमकौ महा अपराधी मेरे औगुन सबै बिसारौ॥२॥
नि:साधन हों रंक जानि जिय दुस्तर भवसागर तारौ।
विनति सुनहु रंक 'गोविन्द'की अपनी प्रतिज्ञा पारौ॥३॥

(१८) राग : नट

अदेयदानदक्ष स्रवन सुनिके हौं सरन आयो॥
सिव विरंचि सुर नर मुनि कोउ पार न पायो॥१॥
है अप्राकृत रूप आपुनौ प्राकृत रूप दिखायो॥

दैवी जीव बिना असुर सबकों मोह उपजायो॥२॥
तिहारी महिमा स्रवन भयी मेरो मन भायो॥
श्रीवल्लभ-पद-रजधन 'गोविन्द' प्रेम सहित गुन गायो॥३॥

(१९) राग : बिभास

महोदारचरित्रवान्‌की पदरज हौं पाऊं॥
असदालाप असत्संगति और सबै बिसराऊं॥१॥
सुभग मूरति श्रीवल्लभ बिन कहुं ना सीस नवाऊं॥
हरिसेवा हरिकथा छांड़िके अनत कहूं नहिं जाऊं॥२॥
निसिदिन गुनगान करौं नैननि हृदै सिराऊं॥
'गोविन्द' जन इतनौ चाहत दास तिहारौ कहाऊं॥३॥

(२०) राग : सारंग

प्राकृतानुकृति-व्याज-मोहितासुरमानुष प्रभु
सुर नर मुनि ध्यान धरत पार कछु न पावै॥
दिवि भुवि पातालमें कोउ पटतर नाहिं
प्राकृत रूप दिखाय आसुर मोह उपजावै॥१॥
कोटि जनम भटकि-भटकि अब मनमें हार मानि
साधन करि वृथा क्योंहि जनम यह गमावै॥
और सब उपाधि छांड़ि असत्संगकों निवारि
संशय सब मनकौ काढ्यो अपने जिय आवै॥२॥
वचनामृत स्रवन सुनौ हरिसेवा हितसों करौ
दुस्तर भवसिंधु तरौ वल्लभ उर लावै॥
कहत 'गोविन्द' कलिजुगमें और कछु उपाय नाहिं
मन वचन कर्म करि श्रीवल्लभ गुन गावै॥३॥

(२१) राग : भैरव

'वैश्वानर' नाम सुनत आसुर जीव जरि मरें॥

मायावादि मत्त गयंद सुनत उपज्यो त्रास
अति उजास देखि आकास आई सबै पांयनि परे॥१॥
जो अपने जिय जानि सरनागत होइ रहै
बिन साधन करुना करि कलिजुगमें उद्धरे॥
मन वचन कर्म करि अन्य सब उपाय तजौ
'गोविन्द' प्रभुचरन भजौ भवसागरतें तरे॥२॥

(२२) राग : गोडी

वल्लभाख्य मोकों लागे वल्लभ अति॥
रसना दिनरैन करहों रटन लगन लागि रहै सुनहुं प्रानपति॥१॥
तिहारे दरस बिन दुख पावत हौं करहु कृपा रंकपर द्विजपति॥
महालक्ष्मीपति सुनहु विनंति सदा रहौ ऐसी मेरी मति॥२॥
दुर्लभांघ्रि सदा हौं सुनहुं सुबोधिनी वचनामृत निति॥
और सबै तजि सरन भयौ हौं तुम बिन 'गोविन्द'की न और गति॥३॥

(२३) राग : देवगंधार

'सद्रूप' श्रीवल्लभ! नाम तिहारौ॥
करि करुना करुनानिधान प्रभु अपनी प्रतीज्ञा आपु प्रतिपारौ॥१॥
तिहारे चरनकमल आश्रय बिन भय उपजत है भारौ॥
सेवा कथा बिना मोहि लागत विषसम सब संसारौ॥२॥
चितमें चिन्तन करत अहर्निसि कटत कोटि जंजारौ॥
"श्रीवल्लभ-वल्लभ" करि 'गोविन्द' मन वचन क्रम निरधारौ॥३॥

(२४) राग : ईमन

हितकृत्सतां विनती सुनहु हमारी॥
कालब्यालकी सत्त्वर गति देखि भय उपजत है भारी॥१॥
बिन साधन उद्धरे अनेक जन मन वचन कर्म निरधारी॥
तजि निज धाम अवनितल प्रगटे अपनी प्रतिज्ञा पारी॥२॥

तिहारौ नाम उच्चार कियेतै कटत कोटि जंजारी॥
'गोविन्द' जन मांगत है अंघ्रिरज नहिं चाहत संसारी॥३॥

(२५) राग : भैरव

जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृद् गुन गाइये॥
साधनतैं अति दुर्लभ सो सहज ही पाइये॥१॥
या समान और कछु अबलौं हम सुन्यो नाहि
श्रीवल्लभ बिना कोउ अभय दान दीनों॥
तातैं सब साधन तजि सरनागत होइ रहौ
हरिवदनानल श्रीवल्लभ सबै गुन प्रबीनो॥२॥
रासरसिक लीलामृत उदधि निसिवासर
रहःप्रिय श्रीवल्लभवर रहत है रसभीनों॥
कहत 'गोविन्द' और सब साधन तजि चरन भजौ
सो तो सज्ञान जाने एही लूटि लीनों॥३॥

(२६) राग : बिभास

'निखिलेष्टद' नामहि सुनत सुख उपजत
मन सुभग मूरति निरखि मेरे नैन सिराऊं॥
श्रीवल्लभ महाउदार सरनागत रक्षपाल
महिमा अपार जानि सदा सीस नाऊं॥१॥
दुर्लभ दरस दियो मोहि विनती कहा करौं तोहि
पर्यो रहौं तिहारी पौरि निसि-दिन गुन गाऊं॥
और सबै छांड़ि देहुं खर्व जिय जानि मेरे जियमें लाऊं॥२॥
तिहारे गुन सुनौं सुनाऊं असत्संग विरमाऊं
असदालाप अन्याश्रय और सबै बिसराऊं॥
तिहारी बात सबै सुहात और विष सी
लागत और कहा कहूं बेर-बेर लजाऊं॥३॥
रंक दीन जानि प्रभु कलियुगमें कृपा कीनि

अब इतनों चाहत 'गोविन्द' तिहारौ दास कहाऊं॥
तीन भुवनमें तुम समान दूजौ कोउ आवत नाहीं
निजजन-हित जानि देहु चरन-रेनु पाऊं॥४॥

(२७) राग : बिभास

सर्वलक्षणसम्पन्न सुमिरेतैं परम सुख होत॥
बिन साधन किए उद्धारत हैं कुल एकोत्तर गोत॥१॥
ऐसी निधि बहुर्‌यो नहिं पावत श्रीवल्लभ-चरन-सरोज॥
सिव विरंचि सचिपति सुर नर मुनि हारे करि-करि खोज॥२॥
दैवीजन-हितकारन प्रगटे द्विजवर अवतार॥
कहत 'गोविन्द' श्रीवल्लभ सुमिरे बिन होत नाहिं निस्तार॥३॥

(२८) राग : भैरव

श्रीकृष्णज्ञानद सो मेरे मन भाए॥
करि करुना कलिजुगमें निज धाम तजि
कृपानिधि दैवीजन उद्धरनकों अवनीतल आए॥१॥
अन्यभजन असदालाप असत्संग असमर्पित
काम क्रोध लोभ मोह मत्सर मिटाए॥
अपने जीव जानि दया करि सरनागतवत्सल
सिद्धान्त-वचनामृत सुबोधिनी सुनाए॥२॥
निज स्वरूप गुप्तरूप जानत है कोऊ नहिं
करुना करि श्रीवल्लभ आप सब बताए॥
श्रीविठ्ठलवर सरोज रज घन 'गोविन्द'पै
अद्‌भुत अति महिमा सुजस सब गवाए॥३॥

(२९) राग : बिभास

गुरु तौ श्रीवल्लभ महाराज॥
और गुरु कहावैं मिथ्या हरिविमुख करनके काज॥१॥

चौदह विद्या-निधि श्रीवल्लभ विदुषवृन्द-सिरताज॥
मारग पुष्टि कियौ प्रगट भूतल रह्यौ भुवन सब गाज॥२॥
श्रीवल्लभ भानु दरसतैं कमलसे फूले भक्त समाज॥
आसा परिपूरन भयी 'गोविन्द' गए सकल दुख भाज॥३॥

(३०) राग : गौडी

स्वानन्दतुन्दिल स्वानन्द निज जन ही देत॥
बिन साधन कलिकाल घोरमें निज सुत गृहिनी समेत॥१॥
व्रजपति वह्नि आनन्दमयाऽऽदि दुर्गम संकेत॥
मायावाद निवारि अवनीतल बांधि भक्ति दृढ़ सेत॥२॥
मानुष देहधारी समुझे बिन जीवत जैसे प्रेत॥
श्रीविठ्ठलपदरज 'गोविन्द' जन निरखि बलैयां लेत॥३॥

(३१) राग : बिहाग

सेवक-सुखदायी पद्मदलायतविलोचन॥
निजजन-उद्धरन हेत अवनीतल दरस दियो
श्रीभागवत करि प्रकास संतन दुःखमोचन॥१॥
मायावाद तिमिर टारि पुष्टिभक्ति कियो प्रचार
हरिसेवा दई दिखाय अभयदान दीनों॥
दिवि भुवि पातालमें कोउ सुर नर मुनि श्रीवल्लभ
पटतर कोउ पावत नाहिं बडौ साखी कीनों॥२॥
देस काल द्रव्य कर्ता कर्म मन्त्र नष्ट भये
तातें कछु होत नाहीं कृष्णाश्रय कीजै॥
श्रीविठ्ठल पदरज 'गोविन्द'जन एही कहत
मन वचन कर्म करि सदा वचनामृत पीजै॥३॥

(३२) राग : आसावरी

कृपादृग्-वृष्टि-संहृष्ट-दासदासी-प्रिय सुनौ बात॥

तिहारे दरसके कारन मैं तजे मात अरु तात॥१॥
और न कछु सुहात है मोहे अष्टप्रहर निसि प्रात॥
ये ही ध्यान हिरदै धरौं मोपै रह्यो नाहिन जात॥२॥
रंक मोहि जिय जानिकै प्रभु देहु दरसकौ दान॥
कीजै 'गोविन्द'कों कृपा करि करै तिहारे गुनगान॥३॥

(३३) राग : रामगिरि

पति तौ तुम ही हो महाराज!॥
लोकवेद-मरजाद तजी हम श्रीमुख-दरसन काज॥१॥
तीन भुवनमें तिहारी पटुता पावत नाहिंन कोई॥
तिहारी कृपाकटाक्ष-वृष्टितें सो व्रजपति प्रिय होई॥२॥
गोद पसारि करत हौं विनती अबकें मोहि उद्धारौ॥
ऐक बेरि करुना करिकें कहौ 'गोविन्द' रंक हमारौ॥३॥

(३४) राग : नटनारायनी

रोषदृक्पात-संप्लुष्ट-भक्तद्विट् मेरे मन बसौ॥
काम तज्यौ क्रोध तज्यौ लोभ तज्यौ मोह तज्यौ
मत्सर तजि सरन आयो अब इत उत मत राखो॥१॥
हौं सबसाधन-हीन तुम सबकला-प्रवीन
रंक जानि मोहि कछुक कृपा कीजै॥
कलियुगमें सुनियत हैं षट् साधन नष्ट भए
तातैं कछु होत नहीं अभयदान दीजै॥२॥
तुम तो हो महाउदार सरनागत रक्षपाल
करुनाकर कलिजुगमें खंजों साजो कीनों॥
निसिवासर सज्जन संग करि समाज सुजसगान
करत 'गोविन्द' प्रभु जनमन रहत है रसभीनों॥३॥

(३५) राग : मल्हार

हौं कैसें करि भक्तसेवित पद पाऊं॥
सर्वस्व समर्पन करिकै लेहों तिहारे सरन हौं जाऊं॥१॥
और उपाय कछु सूझत नाहीं कहा दिन वृथा गवाऊं॥
तिहारी सेवा-कथा करौं-सुनौं सब प्रपञ्च बिसराऊं॥२॥
काम क्रोध लोभ मोह मद मत्सर ताके ढिंग नहिं जाऊं॥
चितमें चिंतन करौं तुम्हारौ तिहारे ही गुन गाऊं॥३॥
कालब्याल डर उपजत भारी निर्भय पद उर लाऊं॥
करत 'गोविन्द' कर जोरि विनंती तव प्रसाद हौं पाऊं॥४॥

(३६) राग : सारंग

सुखसेव्य स्रवन सुनत उपज्यो मन आनन्द॥
प्रगट भयौ धर्मयूप नखसिख आनन्द रूप
अवनि भूप सरन गए निरखि श्रीमुखचंद्र॥१॥
द्विजराज उदय भयौ मायामत तिमिर गयौ
चहुंदिसि उडुगनसे लपटि रहे विदुषवृंद॥
पानि उदर आनन पद आनन्दमय सकल अंग
निरखत सब दैवीजन फूले मुखारविंद॥२॥
मंद अति मंदभाग्य अति उपद्रव देखि कलिमें
अल्पायुष जीव सब उपजे मतिमंद॥
करुना करि बिनु साधन उद्धरनकों
अपने जिय जानि श्रीवल्लभ प्रगटे 'गोविन्द'॥३॥

(३७) राग : बसन्त

दुराराध्य स्रवन नाम सुनिकै असुरन उपज्यो त्रास॥
सूर श्रीवल्लभ प्रगटके कीनों मायावाद विनास॥१॥
श्रीवल्लभ भानु उदयो अवनितल स्रुतिपथ भयो प्रकास॥
बिन साधन अनेक उद्धारे दैवीजन पूरी आस॥२॥
जयजयकार भयो भूतलमें जस प्रसर्‍यौ आकास॥

श्रीविट्ठल पदरज जन प्रमुदित गुन गावत 'गोविन्ददास'॥३॥

(३८) राग : बसन्त

दुर्लभांध्रिसरोरुह पदयुग लालच लागि रही॥
उर अंतरकी विरह-वेदना जात न काहु कही॥१॥
प्रीतिकी रीति अनित्य जानत जे तिनसों न जात न कही॥
खानपान सुख बिसरि गयो विरहानल देह दही॥२॥
अति दुर्लभ आयुकी घटिका जात है सब बही॥
यह जिय जानि समर्प्यो सर्वसु तब 'गोविन्द' निबही॥३॥

(३९) राग : भैरव

उग्रप्रताप अवनितल प्रगट भए स्रवननि सुनि दैवीजन
घर-घर सब करत हैं बधाई॥
हरिवदनानल श्रीवल्लभ करुना करि कलिजुगमें
द्विजवपु धरि बहुर्‍यो दई दिखाई॥१॥
अगनित महिमा कहांलौं इक रसना करौं बखान बडभागी
दैवीसृष्टि रंक महानिधि पाई॥
चौसठ कला प्रवीन विद्यानिधि वल्लभवर प्राकृत वपु देखि
मोहे कछुक पार न पाई॥२॥
अबलौं ऐसौ स्वरूप देख्यो नहीं स्रवन सुन्यो निजजन उद्धरन
यह बानिक बनि आई॥
कहत 'गोविन्द' सुमिरौ सदा निसिबासर आठौ जाम
आदरसों जीव हौं गुन गाई।३॥

(४०) राग : जैतश्री

वाक्सीधुपूरिताशेषसेवक विनती सुनौ॥
कोटि जनमके मेरे अवगुन कछु मति गिनौ॥१॥
तुमसे महा उदार न कोउ आगे देखे न पाछे सुने
अब यह विधि बनी सबै दैवीजन काज।

करि करुना सब परिकर सहित प्रगटे भूतलमें
सुरनर मुनि देखि कहत जय-जय महाराज॥२॥
उग्र प्रताप देखि कहत बहुर्यो प्रगट गोकुलेस
वपु धरिकैं कीनौं कलिजुगमें साखौ।
कहत 'गोविन्द' सब समर्पि श्रीवल्लभके सरन जाऊं
सुनियत हैं बिनु साधन पूरत मन इच्छा अभिलाखौ॥३॥

(४१) राग : विभास

श्रीभागवतपीयूषसमुद्रमथनक्षम श्रीवल्लभके नामपै कोटि नाम वारूं॥
और उपाय सबै तजौं श्रीवल्लभ पदकमल भजौं
सुभग मूरति मम हृदयमें आनि निमिष न बिसारुं॥१॥
जागत सोवत रैनदिन रसनातैं छांडू नाहिं
लगन लागि रही मन वच कर्म निरधारौ॥
पुनि प्रकटे श्रीवल्लभाधीश वदनवह्नि आनन्दमय
श्रीवल्लभ दिनमनि कियो जगत उजारौ॥२॥
मायावाद तिमिर गयो स्रुतिपथ प्रगट भयो
मायावादी मत्त गयंदको उपज्यौ सिंघ भारौ॥
कहत 'गोविन्द'अन्य सबै उपाय उपाधि जानि तज्यौ
हानि होत जातैं कह्यौ सुनौ हमारौ॥३॥

(४२) राग : जेतश्री

तत्सारभूतरासस्त्रीभावपूरितविग्रह प्रभु
रासरसिक लीलामृत रहत सदा भीनों।
निज प्रमेयबल करिकै विन साधन कलिजुगमें
उद्धरे अनेक जीव भूमिसों जस लीनों॥१॥
मारग पुष्टि स्रुति स्मृति पुरान सास्त्र अति अगोचर
मायावाद खण्डन करि सो तौ प्रगट कीनों।
हरि सेवा विधि विवेक करुनाकर दैवी जीवनकौं सिखाइ

विबुध जननमें बडौ साखौ कीनों॥२॥
श्रीवल्लभ स्वरूप महिमा कोऊ जानत नहीं
सदानन्द वदनवह्नि सब कला प्रवीनो।
आनन्दनिधि अगनित जस लीलामृत सागरमें
निसिवासर क्रीडत तहां 'गोविन्द' जन भीनों॥३॥

(४३) राग : जैतश्री

सांनिध्यमात्रदत्त श्रीकृष्णप्रेम सो श्रीवल्लभ कहाये॥
नखसिख सुन्दर देखि चकित भए लोक सब
छांडि दइ रहत हैं सिर नाये॥१॥
जोग यज्ञ तीरथ दान व्रत ज्ञान
इन समान आवत नहीं
इनैं जानि जीय सबतें बिरमाये॥
कहत 'गोविन्द' सबै तजौ श्रीवल्लभचरन भजौ
सुरनर मुनि ध्यान धरत कछु पार नाये॥२॥
भ्रमत भए कोटिजनम फल पायौ नाहीं
न कछु यह बातन कैसें लोग महापद पाये॥
सत्संगति करौ मित्र प्रभु प्रसन्नता निमित्त
दैवीजन सरन भए सो सबै फल पाये॥३॥

(४४) राग : धन्याश्री

विमुक्तद निर्भयपद सुखदाई॥
जो पदरज दुर्लभ सुरनर मुनि सो सुलभ करि पाई॥१॥
साधनतैं पैयत नहिं कबहूं मन वचन निर्धार॥
बिन श्रीवल्लभपद नौका क्यों पावै भवसागर पार॥२॥
नामोच्चारणमात्रतैं निश्चय कटत कोटि जंजार॥
श्रीविट्ठल पदरज 'गोविन्द'कौ श्रीवल्लभ प्रान अधार॥३॥

(४५) राग : पूरवी

रासलीलैकतात्पर्य हारद है अति दुर्लभ॥
अतिकर्म जनम करम प्रवीन तातैं होत नहीं बिना कृपा श्रीवल्लभ॥१॥
यद्यपि रूप गुन सील सुधरता इनि बातनिसों जनम सिराइये॥
समुझि विवेक सबै सर्वस लै सरन भए सब पाइए॥२॥
यह सुख अति दुर्लभ सुर नर मुनि सब पचिहारे॥
'गोविन्द'सो सुख लूटि लियौ मन वचन कर्म निरधारे॥३॥

(४६) राग : भैरव

कृपयैतत्कथाप्रद प्रभु बड़ी कृपा तुम कीनीं॥
सन्मनुष्याकृति द्विजवरवपु धरि अधिधरनीतल
दैवीजनोद्धरनकों हरिसेवा दीनीं॥१॥
विद्या तप ज्ञान हीन सब साधन रहित दीन
अपने जिय जानि करुना करि दरस दास दीजै।
तुम हौ सब कलाप्रवीन महोदार चरित्रवान
अदेय दानदक्ष सो तौ नाम सत्य कीजै॥२॥
और कछु करि सकत नाहीं विनती सुनौ श्रीवल्लभ
तव पदरज अति दुर्लभ सो प्रसाद पाऊं।
रंक 'गोविन्ददास' तिहारौ
निर्भय निःसंक व्हैकै तिहारे गुन गाऊं॥३॥

(४७) राग : बिहाग

विरहानुभवैकार्थसर्वत्यागोपदेशक प्रभु॥
तिहारे चरनरज पावत स्रवन सुनि
तिहारे सरन आयो मोहि राखि लेहु विभु॥१॥
तुम तौ मारग पुष्टि प्रगट कियौ
भुवि भक्ति प्रचार कारन कीनों है कृपा करि॥
ब्रह्मसम्बन्ध करवाय कीने दोष पञ्च परिहार
सदानन्द सेवाके निमित्त सत्य नाम कीनों श्रीहरि॥२॥

यह नित्य ध्यान धरौं और संग परिहरौ
संसारसागर तरौ तिहारे गुन गाऊं॥
अवगुन सबै बिसारो अबकै मोहिं उद्धारौ
जन 'गोविन्द' कहत निर्भय तब पद पाऊं॥३॥

(४८) राग : वसंत

भक्त्याचारोपदेष्टा चरननिमें मन लागि रह्यो॥
कहा करौ कित जाऊं कृपानिधि जात न मोपै कह्यो॥१॥
आधी निमिष कल्प सम वीतत बिरहानल देह दह्यो॥
तिहारे दरस बिना मोपै नाहिंन जात रह्यो॥२॥
तिहारे जन संगति करने बिनु मैं कछु नाहीं लह्यो॥
बांह गहे बिनु भवसागरमें 'गोविन्द' जात बह्यो॥३॥

(४९) राग : वसंत

कर्ममार्गप्रवर्तक सुनिकै मो मन भयौ आनन्द॥
चलहु वेगि देखनकों जैसे श्रीवल्लभ मुखचंद॥१॥
यज्ञपुरुष पुरुषोत्तम प्रगटे सुनि मोहे जनवृंद॥
कोटि काम वारौ यह छबि पर श्रीवल्लभ आनन्दकन्द॥२॥
सिव विरंचि सुरनर मुनि निसदिन गावत गीत सुछन्द॥
दैवी जीव उद्धारन प्रगटे पूरन परमानन्द॥३॥

(५०) राग : बिहाग

यागादौ भक्तिमार्गैकसाधनत्वोपदेशक प्रभु॥
तिहारी कृपा बिन मर्यादा-पुष्टिको
भेद ना जानत कोउ बिनती सुनिहो प्रभु॥१॥
प्रतारकसास्त्र स्रवन सुनि भ्रष्ट भयौ लहत ना
स्रुतिपथकों भय उपजत है भारो॥
तुम बिन दैवीजनकौ त्रिलोकमें ढूंढ देख्यो

नाहिंन कोऊ रखवारो॥२॥
धर्म अर्थ काम मोक्ष सबहि तुमहि हौ
तिहारे चरन बिन कछु हम न जान्यो॥
कहत 'गोविन्द' जन मन वचन कर्म करि
हरिवदनानल श्रीवल्लभ मन मान्यो॥३॥

(५१) राग : रामकली

पूर्णानन्द यथारथ नाम॥
आनन्द पूरन किए निज जन सब श्रीवल्लभरूप परम अभिराम॥१॥
मनवांच्छित फल देत कृपानिधि ऐहिक आमुष्मिक सब काम॥
जो बड़भागी सोई समुझै यह छांड़त नाहीं आठौ जाम॥२॥
जाके हिये लगन लागी गहे श्रीवल्लभ सुखकौ धाम॥
'गोविन्द' सदा विमल जस गावत डोलत फिरत श्रीगोकुलधाम॥३॥

(५२) राग : धन्याश्री

पूरनकाम श्रीवल्लभ नाम॥
नखसिख सुंदर सुभग मूरतिकों निरखहुं आठौं जाम॥१॥
सुरनर मुनिजन दिवि भुवि पातालमें न आवै कोउ समान॥
दैवी सृष्टि उद्धारन प्रगटे निर्भय दीने दान॥२॥
बिनु साधन उद्धरे अनेक जन श्रीवल्लभ महा उदार॥
द्विजवर व्है प्रगटे 'गोविन्द' प्रभु निज जन प्रान अधार॥३॥

(५३) राग : धन्याश्री

कृपा करि वाक्पति रूप न धरते॥
या कलिकाल घोरमें तब कैसे निजजन निस्तरते॥१॥
वह्निवदन प्रगटे बिनु सब कोउ धर्मराज बस परते॥
अति आवर्त सहित भवसागरतें कहौ कैसे उतरते॥२॥
कोटि काम लावन्य श्रीमुखछबि बिन देखें सब मरते॥

अष्टमहासिद्धि सो सब पाये जो 'गोविन्द' प्रभु वरते॥३॥

(५४) राग : बिलावल

बिबुधेश्वरकी ब्रात अटपटी॥
जौलौं स्रवन परी नहिं मेरे तौलौं नाहीं होत चटपटी॥१॥
भोग सिंगार रीति सेवाकी मन वचन कर्म सर्व लटपटी॥
यह विवेक बूझत नहिं कोऊ करत हैं सब अपनी जु अरभटी॥२॥
करिकै सिखवत है सबै निज दासनकों ज्यों समुझे सब वेगि झटपटी॥
श्रीविठ्ठलपदरज 'गोविन्द'की असुरनसों नित होत खटपटी॥३॥

(५५) राग : भैरव

कृष्णनामसहस्रस्य वक्ताके गुन गाइये॥
बिनु साधन या कलियुगमें अष्टमहासिद्धि पाइये॥१॥
अन्य ध्यान सब छांड़ि श्रीवल्लभकौं उर लाइये॥
हरिवदनानलकी महिमा काहूसों न जनाइये॥२॥
सुभग मूरति पदसरोजसों अपनी लगन लगाइये॥
कहत 'गोविन्द' कर जोरि विनंती इनहिंकौं जु सुनाइये॥३॥

(५६) राग : कल्यान

भक्तपरायण भूतल प्रगटे॥
निजजनके कलिकाल घोरमें बिनु साधन अब महा-अघ कटे।१॥
यह छबि अबहि बनि आई भरि भरि नैनन निरखौं॥
सुभग मूरतिकौ रूपसुधामृत पान करौं हृदयमें रखौं॥२॥
सुजस सुनौं नाम कीर्तनकौ सुमरहु आठौं जाम॥
'गोविन्द' श्रीवल्लभ पर लै वारौं कोटिक काम॥३॥

(५७) राग : केदारौ

भक्त्याचारोपदेशार्थनानावाक्यनिरूपक
वचनामृत स्रवन सुनत मृत जिवाए निजजन॥

अंघ्रिसरोरुह हृदय धरौं और सब परिहरौं
चित चिन्तन करौं सुजस सुनौं स्रवन॥१॥
जैसी तुम कृपा करी वैसी कोउ करै नांही
बिन साधन कलिमें उद्धारे अधमन॥
सुभग मूरति बिन और न सुहात कछु
प्रेम उदधि मध्य मगन भयो मन॥२॥
मनुष्य देह पाइकै श्रीवल्लभके शरण बिना
कोटिक साधन कीने वृथा होत आयुषधन॥
दैवीजन जीवन श्रीवल्लभपदरजधन
श्रीविठ्ठल करुणातें राखहु 'गोविन्द' प्रन॥३॥

(५८) राग : सामेरी

स्वार्थोज्झिताखिलप्राणप्रिय तुम करि कृष्ण सेवाफल दीनों॥
साधनतें सुपने जानै सो सब निज प्रमेयबल कीनों॥१॥
यह बिधि अबहि बनी आई सो सब दैवी सृष्टि मनभाई॥
सेवा करिकै आप सिखाइ जो निगम पुरानमे कहूं न बताइ॥२॥
शिव सनाकादि सुरेश चतुरानन करि समाधि कछु न पाये॥
सो श्रीविठ्ठल करुणातें 'गोविन्द' आनन्द मगन हवै सदा गुन गाए॥३॥

(५९) राग : गौडी

हे तादृशवेष्टित! हौं जन तिहारौ॥
साधनहीन बलहीन जानि जिय भय उपजत है भारौ॥१॥
तप स्वाध्याय वैराग्य जोग ज्ञान बल भक्ति रहित पर नैक तिहारौ॥
तजि निजधाम अवनीतल प्रगटे अपनी प्रतिज्ञा आपु प्रतिपारौ॥२॥
ऐसी कबहु भई सुनियत नहिं बिन साधन सब जगत उद्धारौ॥
यह सुनि सरन तिहारे आयो रंक 'गोविन्द'कों कहौ हमारौ॥३॥

(६०) राग : मल्हार

स्वदासार्थकृताशेषसाधन तुमपर लै सर्वस्व वारि डारौं॥

तीनहुं लोकमें तिहारी बातको
मरम को जानत यह मन वचन कर्म निर्धारौ॥१॥
तिहारी चरनरज है अति पावन
परसत तनकौ कटत अघ भारौ॥
मंदमति मंदभाग्य कोटि उपद्रव हैं कलिमें
साधन षट् नष्ट भए सब पावत नहिं भवपारौ॥२॥
महिमामृत पान जिन सब साधन तजि कियो
सरनागतनकी पलकनिसौं मग झारौं॥
'गोविन्द' प्रभु नवघन वरषा करि
अंतर ताप मिटाइ अपनी प्रतिज्ञा पारौ॥३॥

(६१) राग : गौडी

सर्वशक्तिधृक् श्रीवल्लभ गति परत न जानी॥
स्रुति स्मृति सास्त्र पुरानमें अति गोप्य कोउ जानत नहीं
श्रीहरि स्वास्य प्रगट करि कलिमें बखानी॥१॥
आसुर जीव प्रतारनकों कीनों
मायावाद मारग भूतनाथ द्वारा तामें मोहे अज्ञानी॥
जौलौं उदयो वल्लभ भानु तौलौं भूतल तिमिर बाढ़ौ
अब उजास स्रुति प्रकास किए कृतारथ प्रानी॥२॥
मायावाद मत्त गयंद वल्लभ सिंह प्रगट सुनिकें
उपज्यौ त्रास भयौ उपहास भागे अति अभिमानी॥
श्रीविठ्ठल प्रतापबलतें गुन गावत 'गोविन्द' जन
पुष्टिप्रभुकी गति सबहिं मन मानी॥३॥

(६२) राग : ईमन

भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत्॥
दैवीजन उद्धारनकों द्विजवर-वपुधृत्॥१॥
ब्रह्मसम्बन्ध कराइ कीनों पञ्चदोष-निवर्तन॥

स्वसिद्धान्त सुनाइकें कीनों पुष्टिभक्ति प्रवर्तन॥२॥
कलिमें बहु कृतारथ कीनें दीनी हरिकी सेवा॥
'गोविन्द' प्रभु श्रीवल्लभ सब देवनकौ देवा॥३॥

(६३) राग : कल्यान

दैवी जीवनको श्रीवल्लभ बिन और न कोउ पिता॥
तीनि लोकमें सुर नर मुनि जन नहिं पावत कछु समता॥१॥
पुष्टिसृष्टि उद्धरनकों कल्पतरु प्रसरी प्रेमलता॥
यह विवेक समुझे बिनु मनकी मिटत नहीं भ्रमता॥२॥
सिव विरञ्चि सचिपति मन लाजत देखि सबै प्रभुता॥
कहत 'गोविन्द' श्रीवल्लभ-पद बिन कहूं न निर्भयता॥३॥

(६४) राग : बिभास

स्ववंशे स्थापिताशेषमाहात्म्य करिकै जु प्रभु
वसुधातल सुख दै पुष्टिमारग प्रगट कीनों॥
द्विजवर अवतार धर्यौ बिनु साधन जगत उद्धर्यौ
हरिसेवा करि सिखाइ अभयदान दीनों॥१॥
रासरसिक मूरति श्रीव्रजपतिकी लीला सुजस
निसि-वासर ध्यान धरत रहत हृदय भीनों॥
चौदह विद्या-निधान द्वाविंशत लक्षन-जुत
षड्गुन-सहित चतुहु-षष्टि कला-प्रवीनों॥२॥
और सब ध्यान छांड़ि सरन भयो मन वचन
कर्म करि अपनौ करि लै मन ताके मिट्यो अभिमानों॥
'गोविन्द'कों सर्वस श्रीविठ्ठल-पदरजधन
वल्लभवरतें सबै जगत लागत है हीनों॥३॥

(६५) राग : भैरव

श्रीस्मयापहकी चरनेंनु पलकनी करि झारौं॥
मनभाविनी सुभग मूरति नैंननितें निहारौं॥१॥

आनन्दमय अनलवदन हृदयसरोज लाऊं॥
असदालाप असत्संग और सबै बिसराऊं॥२॥
तिहारे चरनकमल छांड़ि और कहूँ न जाऊं॥
कहत 'गोविन्द' तिहारौ सुजस जनम गाऊं॥३॥

(६६) राग : ईमन

पतिव्रतापति तुम हौ॥
हौं पतिव्रता दासी तिहारी तुम पतिव्रत निबहौ॥१॥
स्वर्ग मृत्यु पाताल के तुम पति मति कोऊ और कहौ॥
श्रीवल्लभ तुम हौ जु जगतपति सदा मम हिरदै रहौ॥२॥
परम महानिधि पाये पुष्टिजन मति कोऊ आनि लहौ॥
भवसागर बूड़त अपनों करि 'गोविन्द' बांह गहौ॥३॥

(६७) राग : नट

पारलौकिकैहिकदानकृत् चित्त धरौ॥
अन्य आलाप सब वृथा जिय जानिकें
सुभग मूरति सुजस गुनगान करौ॥१॥
सुखद सेवा करौ और सब परिहरौ
स्रवन कीर्तन करौ आठौ जाम॥
चित्त चिंतन करौ होत है परमसुख
सुनत हैं श्रीवल्लभ पूरनकाम॥२॥
नाममहिमा नहीं प्रकट भूलोकमें
स्रुति स्मृति सास्त्र पुरान गूढ़॥
कहत 'गोविन्द' जन सृष्टि दैवी बिना
और जानत नहीं असुर मूढ़॥३॥

(६८) राग : रामश्री

निगूढ़ हृदय श्रीवल्लभ व्रजेश॥

सुजस श्रवन सुनत होत आनन्द अति
जनम कोटि कौ हरत क्लेश॥१॥
चरन-रज धरत सिर कोटि तैंतीस सुर
पार पावत न ब्रह्मा महेश॥
अन्य अवतारमें मुख्य अवतार यह श्रीहरि विशेष॥२॥
अन्य आलाप तजि ध्यान हिरदै धरौ
प्रगट श्रीवल्लभ अवनितल परेश॥
कहत 'गोविन्द' जन बहु दरसन दियौ
घोषपति विदित द्विजराज-वेश॥३॥

(६९) राग : सारंग

अनन्यभक्तेषु ज्ञापिताशय॥
श्रुति-हारदकों श्रीवल्लभ बिनु समुझत नहीं सुर आशय॥१॥
पतिव्रता अपने पति आगें स्वहारद सब विनती करै॥
सों पति श्रीहरि वदनानल बिनु भवसागरकों परिहरै॥२॥
सों बड़भागि भरतखंड प्रगटे, बिन साधन भवसागर तरै॥
यह विवेक समुझ्यो जन 'गोविन्द' श्रीवल्लभ हृदे धरै॥३॥

(७०) राग : सारंग

उपासनादिमार्गातिमुग्धमोहनिवारक प्रभु
प्रगट होइ कीने हैं निगम-पथ-परकास॥
सिव विरञ्चि सचिपति देवकोटि तैंतिस भयौ आनन्द
सुरसुन्दरी चढ़ि विमान छायो आकास॥१॥
सुर नर मुनि प्रफुलित मन सुजस विमल करत गान
मायावादी विदुषवृन्द उपज्यौ मन त्रास॥
श्रीवल्लभ भानु दरस सब दैवीजन कमल फूले देखत अणुभाष्य॥२॥
चौदह विद्या-निधान षट्गुन प्रभु पूरनकाम
चतुःषष्टि कला-सहित स्व-आस्य॥

श्रीविट्ठल पदरज-धन 'गोविन्द'कों मन वच क्रम
और कछु नाहीं श्रीवल्लभ-पद उपास्य॥३॥

(७१) राग : सामेरी

श्रीवल्लभ स्ववदनानलकों करि करुना हरि प्रगट किये॥
द्विविध पुष्टिमरजाद भक्तिको भेद प्रगटकों आज्ञा किये॥१॥
सो श्रीवल्लभ प्रभुआज्ञातें भुवि सन्मनुष्याकृति द्विजवपु बिभ्रत्॥
भक्तिमार्गे सर्वमार्गवैलक्षण्यानुभूतिकृत्॥२॥
मरजादामें मंत्र करि हरि विभूति करिके भजौ॥
पुष्टिमें एक स्नेहकों कारन कहै
'गोविन्द' वह्नि बिन सब तजौ॥३॥

(७२) राग : बिभास

पृथक्शरणमार्गोपदेष्टा सुखद पदकमल
अन्य आलाप तजि हिरदे राखौ॥
चित्त चिंतन करौ और सब परिहरौ
सुजस श्रवण करौ वदन भाखौ॥१॥
सकल साधन तजि श्रीवल्लभपद भजौ
असत्संग छांड़िकै गति दाखौ॥
देव दुर्लभ दरस सों सुलभ होत है
मनुषदेह पाइ यह साखौ॥२॥
अवनितल प्रगटे निज दास हित जानी
जीय पूरत हैं सबनिके मन अभिलाखौ॥
कहत 'गोविन्द' जन तीनहि लोकमें
तुमहि बिन मोहि नहीं और पाखौ॥३॥

(७३) राग : भैरव

दिवि भुवि पाताल में कोऊ नाहीं श्रीकृष्णहार्दवित्॥

पुष्टिसृष्टि उद्धरनकों करुना करि कलिजुगमें
श्रीहरि निज वदन वह्नि प्रगटे हैं निजजन हित ॥१॥
सो स्वरूप श्रीवल्लभ श्रीभागवत गूढ़ार्थ करि प्रकास
सदानन्द सेवाविधि सब सिखवत ॥
तीरथ व्रत धर्म कर्म दान देहदमन सबै छांड़ि
भजौ श्रीवल्लभ जिनि भूतल निज देह बिभ्रत ॥२॥
ब्रह्म साकार स्थापन करि दैविजन किये कृतारथ
श्रुति विरोध टारि सबै बह्नि मायावाद भित् ॥
व्रजपति मुनि दरस भयो भूतल आनन्द भयो
कुंज निकुंज डोलत है व्रजप्रिय 'गोविन्द' सहित ॥३॥

(७४) राग : भैरव

प्रतिक्षणनिकुंजलीलास्थलरससुपूरित कौ स्वरूप हृदयमें धारै ॥
तिनके भाग्य कहां लौं वरनौ
लीलारस अगाध सागर श्रीवल्लभ हृदय तैं न टारै ॥१॥
छिन छिन प्रति रोम रोम लीलारस उच्छलत होंत
जो निसिदिन ऐसौ रूप विचारै ॥
वृंदावन निकुंजलीला सहित व्रजपति
तिनतें कबहूँ होत न न्यारै ॥२॥
तिनकी पावन पदरज परम तैं
दरसन मात्र तैं कटत हैं अघ भारै ॥
कहत 'गोविन्द' ऐसेन की संगति तिनकों
मिलै जापे श्रीविट्ठल हों हि कृपारै ॥३॥

(७५) राग : भैरव

तत्कथाक्षिप्तचित्तस्य पदसरोज पाऊं ॥
आनि आलाप सब तजों श्रीवल्लभशरण जाऊं ॥१॥
सेवा अरु कथा छांड़ि नहीं क्यहुं ललचाऊं ॥

विमल सुजस छांड़ि कबहुं और न गाऊं ॥२॥
सुभग मूरति छांड़ि नहीं और उर लाऊं ॥
'गोविन्द' इतनौ मांगत तिहारौ दास कहाऊं ॥३॥

(७६) राग : ईमन कल्याण

विस्मृतान्यरसके चरनकमलतें सब सुख पैयै ॥
अन्य आलाप करो जिन कोऊ अति सुखदायक
श्रीवल्लभकौ विमल सदा जस गैयै ॥१॥
अति दुर्लभ श्रीवल्लभ दरसकों
विविध महादु:ख सबतैं सहियै ॥
साधन कोटि करो जिन कोऊ कायाकों
वृथा भटकि दिन खोवत सरनागत व्है रहियै ॥२॥
यह निधि एक उपायतैं पैयत
ले सर्वस समर्पन करै तब श्रीवल्लभ धैयै ॥
सेवा कथा साधु संगति करि निसि-दिन
सुभग मूरति चित्तमें धरिकै 'गोविन्द' नेह निबहियै ॥३॥

(७७) राग : वसंत

व्रजप्रिय प्रिय निजधाम बतायौ ॥
चतुरानन अपने सुत भृगुकों स्रुतिरूपाको भाव जतायौ ॥१॥
सुर नर मुनि समाधि किये पै पार कछु न पायौ ॥
रास-रसिक मूरति किशोराकृति गोधनके संग धायौ ॥२॥
व्रज व्रजजन पति पद-रज-धन निगम निरूढ़ं बतायौ ॥
सौ सब सर्वस 'गोविन्द' जनकौ सो अबहि भयौ मनभायौ ॥३॥

(७८) राग : इमन कल्यान

तबलों प्रिय व्रजस्थितिकौ हारद कछु न लह्यौ ॥

जों लों वदन-वह्नि श्रीवल्लभ आपुन नांहि कह्यौ॥१॥
साधन करि पचहारि मूढ़मति कारज कछु न सर्यौ॥
सर्वस कियो समर्पन प्रभुकों तब अब यह निबह्यौ॥२॥
श्रीवल्लभ-पदरज-महिमा बिनु जानै भवसिंधुमें जात बह्यौ॥
श्रीविट्ठल-पदरज-धन 'गोविन्द' एहि उपाय कह्यौ॥३॥

(७९) राग : गौडी

पुष्टिलीलाकर्ता दुर्लभ दरस तिहारौ॥
साधनतैं कछु होत नाहीं मन वचन कर्म निर्धारौ॥१॥
जे जन सर्वसु लै सरन भये पदनौका दै भवसागर-पार उतारौ॥
जो जन विमुख श्रीवल्लभचरननतैं सों तो सर्वस हारौ॥२॥
अबतो आई बनि जिय मेरे तुम बिन और न कोउ रखवारौ॥
सत्यप्रतिज्ञ चरनरज 'गोविन्द' रंक जानिकै कहो हमारौ॥३॥

(८०) राग : बिलावल

रह:प्रिय सदा एकान्त हि भावै॥
लीला सदा द्विविध व्रजपतिकी अनुभव करत न और न सुहावै॥१॥
दैवीजन निजपद नौका दै बिन साधन भवसागर तारौ॥
महा कलिकाल व्याल दु:सह भय टारि अपनी प्रतिज्ञा पारौ॥२॥
अब निर्भय भजौ श्रीवल्लभ पदकमल सुपरिमल पीजै॥
कहत 'गोविन्द' तजौ सब साधन मन वचन कर्म लूटि रस लीजै॥३॥

(८१/क) राग : धनाश्री

भक्तेच्छापूरक दरसन दीजै॥
तुम तौ महा उदार सुनियत है मोपै कृपा जु कीजै॥१॥
तुम बिन और नाहीं कछु समुझौं मोहि अपनौ करि लीजै॥
हों नि:साधन रंक तिहारौ निज चरणाश्रय दीजै॥२॥
तिहारे निज संग बिना मेरौ नहिं उर अन्तर भींजै॥

कहत 'गोविन्द' चरणामृत तजिकै कहां समर्पित जल पीजै॥३॥

(८१/ख) राग : सारंग

भक्तेच्छापूरक नाम श्रीवल्लभ॥
तीनि लोकमें सुर नर मुनि कों पदरज अति दुर्लभ॥१॥
बिन साधन कलिकाल घोरमें श्रीवल्लभ महा उदार॥
निजपद नौका दइ स्वकीयनकों भवसिंधु उतारे पार॥२॥
सेस सारदा कहां लौं बरनै अगनित गुन जु अपार॥
प्रगटे व्रजपति वन्हि 'गोविन्द' दासके प्रान अधार॥३॥

(८२) राग : देस

सर्वाज्ञातलीलासों पटतर कोऊ न आवै॥
तीन लोकमें सुर नर मुनि कोऊ पार न पावै॥१॥
अद्भुत सुजस विमलकों सेस सहस्र-मुख गावै॥
तात मात भ्रात भगिनी ग्रहिनी नाहिं सुहावै॥२॥
यह महिमा जब स्रवननि सुनि तब और कछु नहिं भावै॥
साधन सब तजि 'गोविन्द' निसिदिन श्रीवल्लभ उर लावै॥३॥

(८३) राग : बिलावल

अतिमोहनकी अटपटी रीति॥
तीनि भुवनमें स्रवननि सुनियत देखत लगत सबै विपरीति॥१॥
साधन किएं होत नाहिंन कछु मिटत ना कालकी नीति॥
श्रीवल्लभ करुना-कटाच्छतैं होत है सदानन्द-पद-प्रीति॥२॥
यह विवेक जाने बिन सब कोउ करत है क्रिया सबै जु अनीति॥
महिमा जिन जान्यो सो 'गोविन्द' सो जन गयो सबनिकों जीति॥३॥

(८४) राग : सारंग

सर्वासक्तसों मन मान्यो॥

ऐसौ और नहीं त्रिभुवनमें मन बचन कर्म करि जान्यो॥१॥
अब कछु और सुहात नाहीं तज्यौ खान अरु पानी॥
मन अटक्यो फेर्यो न फिरत है सुदृढ़ प्रेमसों सानी॥२॥
यह महिमा जाने बिन भूतल बड़ी होत है हानी॥
श्रीविठ्ठल-करुनातें 'गोविन्द'जन सरबस करि ठानी॥३॥

(८५) राग : गौडी

भजो भक्तमात्रासक्त-सुखद-चरणं॥
कलिमलनिवारणं भवसिन्धुतारणं निजजन-उद्धरणं अशरणशरणं॥१॥
कोटिकन्दर्प-लावण्य-व्रजपतिवदन निरखि निजजन हृदय फूले॥
अतुल महिमा स्रवन सुनत थकित भए सुर नर मुनि सिव समाधि भूले॥२॥
पृथक् करि पुष्टिपथ प्रगट भूतल कियौ बिना साधन सगरौ जगत उद्धारौ॥
कहत 'गोविन्द' जन अन्य आश्रय तजौ सुनियत श्रीवल्लभ उद्धर्यो जगत सारौ॥३॥

(८६) राग : रामश्री

तिहारौ 'पतितपावन' नाम॥
व्रजपति सुनहु मेरी विनती हौं सब पतितनिकौ धाम॥१॥
सत्यप्रतिज्ञ स्रवन सुनत हौं बसत श्रीगोकुल गाम॥
बिना साधन जगत उद्धर्यो पूरे जन-मनके काम॥२॥
अद्भुत तिहारी महिमा सुनि हौं सुमिरौं आठों जाम॥
ब्रह्मवाद 'गोविन्द'-स्थापना खण्डन कियो मत बाम॥३॥

(८७) राग : बिभास

स्व-यशोगान-संहृष्ट-हृदयाम्भोज-विष्टर
पदकमल-युगल-परिमलकौ मोहि मधुकर कीजै॥॥१॥
धर्मरहित कर्मरहित विद्या अरु ज्ञान हीन
रंक दीन जानि जिय निज पदाश्रय कीजै॥१॥॥
अबलौं जनम कोटि भटकि-भटकि हार मानि

समुझ्यौ नहिं कछु विवेक अबहि महिमा जान्यौ।
हरिवदनानल श्रीवल्लभ आनन्दमय अवनितल
प्रगट भए सुनि सुभग मूरति सो मन मान्यौ॥२॥
तिहारी कृपा कटाक्षतें अतिदुर्लभ फल
पावत सदानन्दकी सेवा सों प्रेमतें निबहै।
कहत 'गोविन्द' सब तजौ श्रीवल्लभचरन भजौ
महिमा अतिगूढ़ है सो कलिमें ना कोऊ लहै॥३॥

(८८) राग : आसावरी

यश:पीयूषलहरीप्लावितान्यरस॥
तुम समान त्रिभुवनमें नाहीं और सबै नीरस तुमपर सर्वस लै वारौं॥१॥
जो उपाय कहे जु कृपा करि निजजन उद्धरन हेतु॥
निगम-विरोध निवारनकों प्रभु बांधी भक्ति दृढ़ सेतु॥२॥
वह प्रताप स्रवन सुनिकै असुरनि उपज्यो त्रास॥
श्रीवल्लभकौ विमल जस निसिदिन गावत 'गोविन्ददास'॥३॥

(८९) राग : धनाश्री

परात्पर मम वल्लभ सद्रूप॥
करि करुना कलिजुगमें प्रगटे निगम-कल्पतरु-रूप॥१॥
नखसिख सुन्दर आनन्दमय वपु द्वादस अंग अनूप॥
सुभग मूरतिकों नैननि निरखत मोहत अवनी रूप॥२॥
यह स्वरूप महिमा बिनु जाने जगत पर्यो भवकूप॥
'गोविन्द' चिंता मिटी सबै जब निरख्यो सुखद स्वरूप॥३॥

(९०) राग : भैरव

लीलामृतरसार्द्रार्द्रीकृताखिलशरीरभृत्
तिहारे दरस बिनु कैसें करि जीजिए॥
औगुन सबैं बिसारि कृपाद्रष्टिसों निहारी

अपनी प्रतिज्ञा पारि दरस मोहि दीजिये॥१॥
धर्म-कर्म-हीन आचारक्रिया भ्रष्ट सबै
ज्ञानभ्रष्ट जीव सबै बिन साधन उद्धरे॥
यह प्रताप स्रवन सुनिकै सुर नर मुनि थकित भए
अपने जिय जानि पास आए पाईंन परे॥२॥
असुरनकों उपज्यौ त्रास निजजन मन भयो हुलास
बाल बिरध नरनारी सबनिके मन भाए॥
श्रीविट्ठल-पद-पराग-धन सर्वस 'गोविन्द' जन
और सबै छांड़ि श्रीवल्लभ गुन गाए॥३॥

(९१) राग : गौड़ सारंग

गोवर्द्धनस्थित्युत्साह हमारौ जीवन प्रान अधार॥
व्रजाधीश-वदन श्रीवल्लभ मन वचन कर्म निरधार॥१॥
करि करुना कलिकाल घोरमें निजजन कियौ उद्धार॥
बिन साधन अपने प्रमेय करिकै धृत द्विजवर अवतार॥२॥
माया तिमिर निवारनकों प्रगट भए स्रुति-सार॥
'गोविन्द' सर्वस श्रीवल्लभ अगनित गुन जु अपार॥३॥

(९२) राग : नटनारायन

तल्लीलाप्रेममूरति श्रीवल्लभ मन भाए॥
तजि वैकुण्ठ परमानन्द निजजन-उद्धरन-हेतु
करुना करि कृपानिधान अवनीतल आए॥१॥
सिव विरञ्चि सचीपति देव कोटि तैतीसों
सुर नर मुनि करि समाधि हार मानि पार कोउ न पाए॥
सुक सनकादिक नारद व्यास जु करत बखान
सेस वदन-सहस्र सदा सुजस गुन गाए॥२॥
सुखद सुबोधिनी सुनाइ स्ववचनामृत पान कराइ
गोकुलपति दिए बताइ श्रीलछमनसूनु॥

श्रीविट्ठल पदरज 'गोविन्द'कौ सर्वस है
श्रीवल्लभकी जयजय करि चढ़ि विमान बरसत प्रसून॥३॥

(९३) राग : गौरी

यज्ञभोक्ता दिनमणि उदयौ भूतल भयौ प्रकास॥
जयजयकार भयौ त्रिभुवनमें स्रुतिपथ भयौ विकास॥१॥
देव कोटि तैतीसौं देखत चढ़ि विमान छायौ आकास॥
दिवि दुंदुभी बजावन लागे सुर नर मुनि पूरी आस॥२॥
मायावादी मत्त गयन्द-मन यज्ञपुरुष देखि उपज्यो त्रास॥
यह महिमा कोऊ कहिं जानत गावत विमल जस 'गोविन्द'॥३॥

(९४) राग : वसंत

यज्ञकर्ता बहुरि प्रगटे श्रीलक्ष्मणके गेह॥
श्रीहरि प्रगट किए सुख-मूरति सन्मनुष्याकृति धरि देह॥१॥
सो स्वरूप श्रीवल्लभकौ कोउ जन पार न पावै॥
प्राकृत रूप देखि भ्रम उपजत असुरन मोह उपजावै॥२॥
यह महिमा है निगम अगोचर काहुके ह्रदै न पावै॥
श्रीविट्ठल करुना कटाच्छ-बल 'गोविन्द' जन जस गावै॥३॥

(९५) राग : वसंत

चतुर्वर्गविशारद प्रभु स्वजन प्रतिपाल॥
तिहारौ नाम उच्चार किएतै मिटत कोटि जंजार॥१॥
श्रीभागवतप्रतिपदमणिवरभावांशुभुषिता मूर्ति॥
तिहारे चरन-सरोज-रजतैं होत स्रुतिपथ स्फूर्ति॥२॥
तुमसे प्रभु सुने नहीं कबहुं देखे आगै नाहीं॥
ब्रह्मसम्बन्ध कराइ सौंपत है ग्रहि दृढ़ करि बांहि॥३॥
तिहारी सिगरी बात मोतैं नाहिंन कही जात॥
सेवा कथा करत अरु 'गोविन्द' जन गुन गात॥४॥

(९६) राग : पंचम

सत्यप्रतिज्ञ प्रतिज्ञा पारौ निःसाधन हौं रंक तिहारौ॥
व्रजपति वदनानल बिन कलिमें नाहिंन और कोउ रखवारौ॥१॥
गोद पसारि करत हौं विनती मन वचन कर्म करिकै निर्धारौ॥
करौ करुना करुनानिधान मोकों कलिभुजंगतें भय उपजत भारौ॥२॥
अति आवर्त्त सहित दुस्तर भवसागर पदनौका दै तारौ॥
श्रीवट्ठल-पदरज 'गोविन्द' कहै तिहारे सरन बिन नाहिंन निस्तारौ॥३॥

(९७) राग : धनाश्री

त्रिगुणातीत जीवन-धन प्रान॥
तीनि लोकमें व्यापि रह्चो जस सुर नर मुनि करै गान॥१॥
दैवीजनकौ सर्वस श्रीमद्वल्लभ इन बिनु कोउ न आन॥
षटगुन पूरन द्विजवर-वपु धरि निजजनको राख्यौ है मान॥२॥
श्रीहरि-वदनानल आनन्दमय देत अभयपद दान॥
कहत 'गोविन्द' उपाधि सबै तजि सुखद सुजस करौ पान॥३॥

(९८) राग : कल्यान

नयविशारदकौ विमल जस भावै॥
अपनी बुद्धि-अनुसार कहत सब कोऊ पार न पावै॥१॥
सिव विरञ्चि मोहित सुर नर मुनि सब मिलि कहुं कछुक बतावैं॥
श्रीहरिवदनानल-महिमा-गुन सेस सहस्र-मुख गावै॥२॥
श्रीवल्लभ भानु अवनीतल उदयो माया-तिमिर-निबिड़ सुनसावै॥
रंक 'गोविन्द' श्रीवल्लभ-पद बिन अनत न सीस नमावै॥३॥

(९९) राग : सारंग

स्वकीर्तिवर्द्धनकी कीर्ति जगमें फैल रही॥
आनन्द रूप करत ताहीकों जिनके हृदय आइ छही॥१॥
हरि बस होंय सदा तिनिहीके जो यह निसिदिन गावै॥

हरिलीलारस रोम-रोममें तिनिहीके में आवै॥२॥
तिनिके दरसन अरु नाम मात्रतैं कोटि दुष्कृत भाजै॥
कहत 'गोविन्द' ऐसेनकी संगतितै निर्भय होइ नित गाजै॥३॥

(१००) राग : बिभास

तत्वसूत्रभाष्यप्रवर्तककौ अति अद्भुत सुजस विमल तीनि भुवन व्याप्यो॥
करि करुना कलिजुगमें द्विजवर अवतार धर्यो
मायामत खण्डन करि ब्रह्मवाद स्थाप्यो॥१॥
तिहारी कला अंस प्रगटे वामन बलिराज छल्यो
चरन एक करि त्रिविक्रम तीन भवन माप्यो॥
स्रवन सुनत सुरसुन्दरी चढ़ि विमान छायो
नभ देखि आकास अति उजास पंचम आलाप्यो॥२॥
तिहारे चरन विमुख जीव नेंकु नाहीं धरत धीर
असुरनतैं सब वृथा जन्म काप्यो॥
अजहूं कछु चेतत नहीं भटकत हैं निसिवासर
सम्पतिके हेत मन करत है विलाप्यो॥३॥
काम क्रोध लोभ मोह मत्सर करि साधु संग
छांड़ि असदालाप असुरमति जगत संताप्यो॥
सत्संगति करकै श्रीविट्ठल पदसरोज-रज जगतमें व्यापि रह्चौ
'गोविन्द' जन सीस धरि छाप्यो॥४॥

(१०१) राग : सामेरी

मायावादाख्यतूलाग्नि तुम कलिमें भूतल दरस दीनौं॥
ऐसी गैंन नहीं भई बहुरि यह विधि सबहि प्रगट अब कीनौं॥१॥
जो बात सुनी नहिं कबहु सो तुम्हारी कृपाबलतैं हम चीनौं॥
यह हारद काहू जान्यो जिन मान्यो सो रहत रसभीनौं॥२॥
कलिमे सुनत सब बतियां तातैं भरि आवत मेरी छतियां॥
श्रीविट्ठल पदरज 'गोविन्द'कों दीनों प्रमेयबल यह सब भतियां॥३॥

(१०२) राग : पूर्वी

ब्रह्मवादनिरूपक पदरज पावनकौ ध्यान धरत दिनरात॥
दरस-परस हौं तिहारौ चाहत और कछु नहीं तुम बिन मोय सुहात॥१॥
मन मेरौ अटक्यो इनि बातनि खानपान अब कियो न जात॥
लगन लागि रही श्रीवल्लभसों कहत न काहूसों मो मन बहुत लजात॥२॥
अपने मनतै मेरे मनकी इच्छा तुमतैं निबहात॥
'गोविन्द' तिहारो सुजस विमल अति प्रफुलित मन गुन गावत न अघात॥३॥

(१०३) राग : मल्हार

अप्राकृताखिलाकल्पभूषित मोपर कृपा करौ॥
कोटिक जनम भए भटकत कारज कछु न सरौ॥१॥
अब कहीं जु महानिधि पाई बूड़त बांह पकरौ॥
जबै सुधि होत श्रीवल्लभकी तब बिसरत दु:ख सगरौ॥२॥
ब्रह्मवाद हारद जाने बिनु करत असुर झगरौ॥
'गोविन्द' प्रभु कलिमें उद्धरत हैं मति साधन करि जु गरौ॥३॥

(१०४) राग : बिहागरो

सहजस्मित श्रीवल्लभ वल्लभ मोकों अति॥
और कछु समुझत नाहींन सुभग मूरतिसों लागि रही रति॥१॥
दैवी सृष्टि-उद्धारन कारन बहुरे प्रगटे अवनीतल व्रजपति॥
तिहारे चरनसरोरुह तजिकें नाहिंन चाहत कबहुं और गति॥२॥
मो मन लगन लागी रहै आधी निमिष नहीं होत है विस्मृति॥
विनती सुनहुं कृपानिधि मेरी इनि नैननि निरखौं नित्यप्रति॥३॥
रैनिदिनां रसना कहि जीवित हौं कर जोरि करौं विनंती॥
'गोविन्द' जनकौ तन मन धन जीवन सर्वसु श्रीमद्वल्लभ महामति॥४॥

(१०५) राग : धनाश्री

त्रिलोकीभूषण प्रान-आधार॥
देवी जीव-उद्धारन-कारन धृत द्विजवर अवतार॥१॥
स्रुति स्मृति सास्त्र पुरान के कोऊ न पावत पार॥
श्रीहरि-वदनवन्हि आनन्दमय श्रीवल्लभ निरधार॥२॥
श्रीभागवत-सुधा-समुद्र मथि कीनों भक्ति-प्रचार॥
करि सीखिवे सेवा निजजनकों बताइ दिए स्रुतिसार॥३॥
करुना करि कलिमें करुनानिधि श्रीवल्लभ महा उदार॥
जो अवनीतल दरस न देते तौ वसुधा बूड़त भार॥४॥
साधन कोटि करौ जिन कोऊ होत नहीं उद्धार॥
कहत 'गोविन्द' श्रीवल्लभ सुमिरे बिन होत नहीं निस्तार॥५॥

(१०६) राग : केदारो

भूमिभाग्य कलिमें जु दरस दियौ लक्ष्मण-अमृत-उदधि द्विजराज॥
निबिड़ तिमिर मायावादिनिकौ वचन कीरतन गयो जु भाज॥१॥
जयजयकार भयो त्रिभुवनमें सुर नर मुनि के जुरे समाज॥
अब मति करौ सोच कोउ मनमें पुष्टिभक्ति दृढ़ बांधि पाज॥२॥
नि:साधन तिहारे सरन भयो रंक जानि अब राखौ लाज॥
सदा बिराजौ सीस 'गोविन्द'के श्रीवल्लभ विदुषवृन्द-सिरताज॥३॥

(१०७) राग : कान्हरो

सहजसुंदर सुभग मूरति मेरे मन बसौ॥
अन्य आलापतैं वृथा आयुष होत
अवगुन सब बिसारि मम दृगतैं मति खसौ॥१॥
सुखसेव्य स्रवन सुनि तिहारे आयो
सरन अपने जिय जानिकै मम हृदयमें धसौ॥
द्विविध लज्जा छांड़ि कहत 'गोविन्द' जन
देखि मोकों वल्लभपद विमुख सब हंसौ॥२॥

(१०८) राग : गौड़ सारंग

अशेषभक्तसम्प्रार्थ्यचरणाब्जरजोधन ॥
जो है पुष्टिसृष्टिकौ सर्वस लागि रहौ तासों मो मन ॥१॥
जो अति दुर्लभ सुर नर मुनिन कों सब मांगत हैं रैनदिन ॥
जौलौं कृपा न होइ तिहारी तौलौं दहत सबै तन ॥२॥
जब जान्यो श्रीवल्लभमहिमा तब सब तज्यो श्रीवल्लभ बिन ॥
सो श्रीवल्लभ-श्रीविट्ठल-करुनातैं पायौ 'गोविन्द' जन ॥३॥

राग : बिलावल

आनन्दनिधिके शत-अष्टोत्तर नामोच्चार करौ धरि प्रेम ॥
श्रद्धाविशुद्धबुद्धिसों पढौ अनुदिन तौ उपजै वह्नि-पद-प्रेम ॥१॥
तदैकमन व्है जपो गुप्त अति पावौ सिद्धि अरु मुक्ति ॥
बिन साधन जु महाफल पैयत निःसन्देह होइ आसक्ति ॥२॥
तदप्राप्तौ वृथा ही मोक्षफल तत्प्राप्तौ हि गतार्थता ॥
अनायास करतैं साधन त्यजत सर्वोत्तमतै निर्भयता ॥३॥
श्रीमदग्निकुमार श्रीविठ्ठल प्रगट किये दैवीजन काज ॥
कृष्णरसार्थी जपौ कहै 'गोविन्द' हृदै बसे श्रीवल्लभ महाराज ॥४॥



॥ श्रीसर्वोत्तम-दोहा ॥

श्रीद्वारकेश(घन्नू)जी-कृत

श्रीवल्लभ श्रीपञ्चद्युत, स्वबल विशद यह ग्रन्थ ॥
अन्य ग्रन्थ प्रति नाम बल, सर्वोत्तम यह पन्थ ॥१॥
प्राकृतधर्म निवृत्त करि, अप्राकृतवपु धर्म ॥
निगम-कथित अति शुद्ध ये, श्रुति साकृति निज मर्म ॥२॥
तमच्छन्न दृग विदुषके, यह कलिकाल प्रकास ॥
भागवत रस गोचर नहीं, भुविमें होइ विकास ॥३॥
परम दया निज भक्तपर, निजरस प्रगटन काज ॥
हरिबानी निजवदन प्रति, निजजन करी समाज ॥४॥
स्वास्य-उक्ति दुर्बोध है, जैसे होइ सुबोध ॥
अष्टोत्तरशत नाममें, प्रतिबन्धक अघ शोध ॥५॥
पुष्टिभक्ति ऋषि अग्निसुत, जगती नामकौ छन्द ॥
श्रीकृष्णास्य सु देवता, करुना बीज अमन्द ॥६॥
भक्तिविषै प्रतिबन्ध सब, नाश करन विनियोग ॥
कृष्णाधरामृत त्रिविध, निश्चय सिद्धि विभोग ॥७॥
प्रथम नाम आनन्द है पूर्वदल संयोग ॥
इक दल विशकलितानुभव, धर्म द्विदल प्रयोग ॥८॥
परमानन्द वियोग है, विप्रयोग उद्बुद्ध ॥
संवलित अनुभव द्विदलमें, रस शृंगार प्रबुद्ध ॥९॥
द्विदल श्रीकृष्णास्य है, जो श्रीकृष्ण अनूप ॥
आदि मध्य अवसान रस, विहरत एक स्वरूप ॥१०॥
सदा कृपानिधि दैवीपर, प्रतिक्षण उठत तरंग ॥
निकट देशकौं भग्न करि, दुरित असुर बहिरंग ॥११॥
दैवीन्के उद्धार प्रति, अन्तःकरन प्रयत्न ॥

जागरूक इच्छा प्रबल, ज्यों समुद्रतैं रत्न॥१२॥
स्वस्मृतिमात्र प्रकाश करि, आरति प्रगट समाइ॥
जैसे वनमें वेणुकृत, नाद द्वारा आइ॥१३॥
गूढ़ अर्थ श्रीभागवत, शास्त्र आदितैं सप्त॥
करत बोध रस सोध करि, आरति करि जे तप्त॥१४॥
स्थापक ये साकार के, ब्रह्मवाद है एक॥
असद्वाद सब शून्य है, ज्यों पावसके भेक॥१५॥
जो पारंगत वेदके, सो जानत यह भेद॥
खंडज्ञान प्रमान नहिं, क्यों संशय उच्छेद॥१६॥
गई अविद्या जीवकी, ब्रह्म भयो अविवाद॥
विद्यापर्व तब उर रह्यो, द्वेषित मायावाद॥१७॥
सर्व कुवाद निरास करि, चौप्रमाणतैं अस्त॥
वेद सूत्र गीता मिलित, श्रीभागवत प्रशस्त॥१८॥
भक्तिमार्ग भुवि कमल है, मार्त्तण्ड यह एक॥
अब्ज-प्रकाशक भानु है, करत कुमुद व्यतिरेक॥१९॥
स्त्री-शूद्रादि समर्थ नहिं, तिनहूंकौ उद्धार॥
ब्रह्म क्षत्रिय, भक्ति करि, क्यों न होइ निस्तार॥२०॥
अंगीकृत सामर्थ्यतैं, प्रिय लागत गोपीश॥
ज्यों श्रीयमुना संगतैं, गंगा प्रति व्रज-ईश॥२१॥
अंगीकृत दैवी नियत, आसुरी प्रति मर्याद॥
देहभाव बाधक नहीं, आसुर जीव विषाद॥२२॥
जो मागै सो देह तब, लक्षण करुनायुक्त॥
बहुत देत मांगे बिना, महादया-संयुक्त॥२३॥
विभु व्यापक निज भक्त उर, जैसौ स्वहृदय भाव॥
सो निजभाव प्रकाश करि, परम-कृपाल स्वभाव॥२४॥
देत अदेय विदग्धतैं, सुधा सु सर्वाभोग॥
वेणुनाद बिन शब्द गुण, वेणुगीत उपयोग॥२५॥
भगवद्भोग्य-सुधा अपर, महा उदार चरित्र॥

देवभोग्यकौ दान तौ, है कैमुत्य न चित्र॥२६॥
प्राकृत अनुकृत व्याज करि, आसुर मानव मोह॥
श्रीमद् द्विज अवतारमें, उद्धृत दैवी जोइ॥२७॥
वैश्वानर चित धर्ममुख, विविध अलौकिक वह्नि॥
दावानल पान करि उष्ण हिम, ताप निवारक अग्नि॥२८॥
वल्लभ त्रितयानन्द है, श्रीवल्लभ उपनाम॥
स्वरति कृष्ण श्रीकृष्ण तब, निज प्रति सुन्दर स्याम॥२९॥
शुद्धसत्त्व सद्रूप है, चिदानन्द सद्धर्म॥
सत् चित् आनन्द कृष्ण पति, व्युत्क्रम सम्पुट मर्म॥३०॥
सत् सों सत्त्व विशुद्ध है, हरि प्राकट्यस्थान॥
निश्चय हितकृत सिद्ध हैं, ऐसे कृपानिधान॥३१॥
कृष्ण-प्रेम-सेवा करत, सेवक शिक्षित होत॥
ज्यों अंगुलि अक्षर लिखै, बालककौ उद्योत॥३२॥
मूरति वृद्धि निवृत्त करि, निखिल देत जो इष्ट॥
प्रतिबन्धक माया टरै, सो प्रसाद उच्छिष्ट॥३३॥
सर्वलक्षण विद्या कला, पूरण गुण सम्पन्न॥
जाकौ जेसौ उचित फल, तैसो देत प्रसन्न॥३४॥
ज्ञान देत श्रीकृष्णकौ, भक्तिसहित जो भाव॥
त्रिविध अलौकिक गुण कहै, तम रज सत्त्व सुभाव॥३५॥
गुरु जब दक्षिण कर्णमें, मन्त्र करत उपदेश॥
बहिरन्तर पूरण भयो, सिद्ध भगवदादेश॥३६॥
दान देत तउ पूर्ण है, तुन्दिलकर स्वानन्द॥
ज्यों जल रश्मिग्रहणतैं, सागर विसद अमन्द॥३७॥
पद्म प्रफुल्लित दलसदृश, आयत लोचनकोर॥
अन्तःस्थित जो गुप्त रस, प्रगट करत रस जोर॥३८॥
कृपादृष्टिकी वृष्टि करि, हर्षित दासी दास॥
तिनकों प्रिय लागत सकल, दृढ़ उपजत विश्वास॥३९॥
पतिलक्षण रक्षण नियत, कालादिक-भय जात॥

आप सबनतैं भय रहित, पतिनिश्चय विख्यात ॥४०॥
रोषदृष्टिके पात करि, भक्तद्वेषी दाह ॥
भगवदीय-कामादि सब, स्थापन करत सराह ॥४१॥
पुष्टि पुष्टिसेवा करत, शुद्धभक्ति जब पुष्टि ॥
सेवा साधन मानसी, फलरूपा सन्तुष्टि ॥४२॥
सुखसेवन तनुवित्तजा, पूर्वदल संयोग ॥
एकादस संलाप सब, इन्द्रिय हरिकृत भोग ॥४३॥
दु:ख अधिक आराध्य है, फल मानसी उपयोग ॥
चक्षूरुचि पञ्चत्व लौं, ये दस दसा वियोग ॥४४॥
दुर्लभ जिनकों लाभ है, ऐसे अन्घ्रिसरोज ॥
अन्य तजौ येही भजौ, छबि लखि व्यक्ति मनोज ॥४५॥
उग्र प्रकृष्ट प्रताप है, सबकों लल्य अशक्य ॥
भक्तिवृद्धि जाकों भई, शीतल सेवन शक्य ॥४६॥
वाग्-अमृत पूरित करत, सेवक रसिक अशेष ॥
असमर्पित तजि विषय मति, अन्याश्रयण विशेष ॥४७॥
श्रीभागवत-सुधा-जलधि-मथन-विचार-समर्थ ॥
श्रुतिरूपा वर्णन करत, ताकौ विवरण अर्थ ॥४८॥
सुधासिन्धु श्रीभागवत, अमृत सारकौ सार ॥
रास-व्रजस्त्री-भाव सब, पूरित वपु निर्धार ॥४९॥
जो जन सानिध्य लहै, देत प्रेम श्रीकृष्ण ॥
तब निरोध फल व्यसन लौं, पूरण सब ही तृष्ण ॥५०॥
तब विशेष गति देत है, चहुंदिसि चित एकत्र ॥
यह विमुक्तकौ रूप है, कृष्णभाव सर्वत्र ॥५१॥
प्रथम प्रमाण प्रमेय अरु, साधन फल रसरास ॥
शुक बरनत लीला सकल, रास-प्रकास-विकास ॥५२॥
कृपादृष्टि जाकों मिलत, कृपापात्र वह दास ॥
प्रकरण फलकी निज कथा, ता प्रति कहत प्रकास ॥५३॥
विरह एक अनुभव करन, त्याग करत उपदेश ॥

अन्तर्हित तब चन्द्र लखि, गोपीगीत सुदेश ॥५४॥
भजनभेद त्रिय प्रश्न कहि, न भजे भजिए ध्येय ॥
भजन परस्पर गौण है, दोई मुख्य है हेय ॥५५॥
आराधन सो कर्मपथ, यह उत्तम सत्कर्म ॥
केशग्रथन पुष्पावचय, रमण-वरणकौ मर्म ॥५६॥
यागादिक निष्काम विधि, करत सकल भक्ति अंग ॥
यह उपदेश अशेष जन, श्रुति स्मृति भक्ति प्रसंग ॥५७॥
याग करत निष्काम तैं, होत मोक्ष अति स्वच्छ ॥
आपुन पूर्णानन्द हैं, नहि इच्छा यह तुच्छ ॥५८॥
याग सकाम बिमान फल, अमृत भोग यह स्वर्ग ॥
काम पूर्ण जिनकों सबै, कहा स्वर्ग अपवर्ग ॥५९॥
निगम वाक्पति आप हैं, उभय स्वर्गफल हाथ ॥
जाको जैसी कामना, पूरत अविकृत नाथ ॥६०॥
जिनकों बोध विशेष है, तिनहींके ये ईस ॥
करन अकरन अन्यथाकरन, नियत जगदीस ॥६१॥
वक्ता नाम-सहस्रके, कृष्णनाम सब मूल ॥
श्रीभागवत प्रकास करि, स्मरण सकल अनुकूल ॥६२॥
स्मरण सिद्ध जिनकों भयो, शुद्ध सत्य उपयुक्त ॥
स्वस्थिति नियत निवास उर, शेष भाव संयुक्त ॥६३॥
शुद्धभक्ति-विस्तारकों, नाना-वाक्य-निरुक्ति ॥
वाणीमात्र प्रमाण है, मिलत भक्तिकी युक्ति ॥६४॥
स्वार्थ उज्झित प्राणसुख, मन क्रम वचन प्रिय ॥
सुदृढ़ अलौकिक भाव करि, सेवत सदा स्वकीय ॥६५॥
कर्म गौण सेवा अधिक, चित्त शुद्धि किहिं हेत ॥
आप कर्म करि दासकों, चित्तशुद्धिफल देत ॥६६॥
स्वकृत कर्मफल स्वीयहित, सर्वशक्ति प्रतिपाल ॥
राजरुद्ध मगधेश त्यों, तिन प्रति कृष्ण कृपाल ॥६७॥
आज्ञा लौं जग दरस दै, जीव करत उद्धार ॥

आगे भक्ति प्रसारकों, बंस कियो विस्तार॥६८॥
विद्यादिक-कृत बंसमें, मुख्य बंस पितृ-रीति॥
आत्मसृष्टि-वैषम्य नहिं, हरि-प्रणीत निज प्रीति॥६९॥
शेषभाव विग्रह हृदय, भावुक फल तादात्म्य॥
जन-उद्धरण-अशेष सुत-वंश स्थापि माहात्म्य॥७०॥
स्मय जो गर्व निवृत्त करी, स्वकुल सर्व निष्कलंक॥
आत्मसात् श्रीकृष्णकृत, तातें भाव निःशंक॥७१॥
पतिकौ व्रत जिनकौं नियत, तिनके पति निर्धार॥
चातक अरु ब्रह्मास्त्रवत् यह प्रण निश्चय धार॥७२॥
द्वै सुख यह परलोक कौ, दान दैनकौ नेम॥
ज्यों अनन्य चिन्तन करै, देत योग अरु क्षेम॥७३॥
महदाशय अनुभव महत्, यातें हृदय निगूढ़॥
ऐसे प्रभुके सरन नहिं ते जग उपजे मूढ़॥७४॥
जे अनन्य निजभक्त हें, तिन प्रति आसय दान॥
ज्ञापित करत प्रसन्न व्है, भगवदीय सम्मान॥७५॥
उपासनादिक पन्थमें, सरन कहे अतिमोह॥
सो निवारि निज गति दई, कर्म-धर्म-सन्दोह॥७६॥
दानादिक साधन किये, ज्यों उपजत है भक्ति॥
सगुन इक्यासी भेदमें, सरन निषेध-प्रसक्ति॥७७॥
पृथकभाव गुनतें पृथक, पृथक सरन उपदेश॥
निर्गुनभक्ति निकेत है, दुर्लभ लाभ व्रजेश॥७८॥
हारद जो श्रीकृष्णको, सो जानत हैं आप॥
पृथक-शरण-उपदेश दै, पुष्टिभक्ति दृढ़ छाप॥७९
लीला कुंज-निकुंजकी प्रतिक्षण पूरित भाव॥
पूर्वदल संयोग रस, संनिधान अनुभाव॥८०॥
भोग अनौसरके विषै, उत्तरदल उपयोग॥
कहत कथा रसमग्न व्है, दरसन स्रवन वियोग॥८१॥
बाहर अनुसन्धान नहिं, अन्तःप्रेम-समृद्धि॥

भ्रमरगीत आश्रम तुरीय, विप्रयोग रसवृद्धि॥८२॥
व्रजस्त्रीनकौं प्रिय सदा, श्रीवल्लभ प्रिय नाम॥
लोकव्यापि वैकुण्ठप्रिय, यातै प्रिय है धाम॥८३॥
व्रजकी स्थिति प्रिय लगत है, त्यों प्रिय लगत व्रजीय॥
उभय अलौकिक प्रीति है, उभय अलौकिक स्वीय॥८४॥
लीला पुष्टिप्रकास करि परम अनुग्रह कोष॥
सर्वानन्द अलभ्य नहिं, कृपानन्द सन्तोष॥८५॥
जो लीलाभावन करत, सो वपु धरै प्रकास॥
रहसि परम प्रिय लगत है, अनुभव जब अवकास॥८६॥
अधिकृत इच्छा भक्तकी, पूरत कृपानिधान॥
सर्वेश्वर सर्वात्मा ज्यों, जन-इच्छा निज मान॥८७॥
पुष्टिभक्ति-उपदेस बिन, यह लीला अज्ञात॥
ज्यों गायत्रीमन्त्र बिन, द्विज प्रति वेद छिपात॥८८॥
अतिमोहन मनकौ हरन, ऐसे निजजन साथ॥
लीलावेश रसज्ञ करि पुष्टिभक्तके नाथ॥८९॥
सर्व-असक्त अभक्त सों, अनुभव नहीं विवेक॥
पंकज मधु मधुकर ग्रहत, पंक भखत है भेक॥९०॥
भक्तमात्र-आसक्त ते, मुख्य भक्त यह छाप॥
भू समुद्र कुंभज वियत, हरिपद जन हृद थाप॥९१॥
पतित-देह पावन करत, जीनकौ ग्रह प्रतिबंध॥
गायत्री श्रुतिपन्थमें, भक्ति ब्रह्मसम्बन्ध॥९२॥
स्वयसगानतै हृदयकमल, प्रफुलित निज सुस्थान॥
ज्यों श्रीजमुनारेनु पर, रस उत्तरीय प्रधान॥९३॥
अमृतसिन्धु रसलहरितैं, अन्य तुच्छ रसमग्न॥
ज्यों मिसरीके स्वादतैं, गुड़की राव विभिन्न॥९४॥
यह रस पर उत्कृष्ट है, अन्य कुरस जग फंद॥
मुक्ति ब्रह्मानन्दतैं उद्धृत भजनानन्द॥९५॥
लीला-रस-पीयूषतैं, आर्द्र-आर्द्र जन कीन॥

शुष्कवस्त्र जलसहित सों, संग लगै तल्लीन॥९६॥
श्रीगोवर्धनवर्य जन, स्थितिकौ अति उत्साह॥
निकट पुलिंदी भक्त करि, सर्वगतादि प्रवाह॥९७॥
लीला गिरि उद्धरन सुनि, भक्त तजत कृष्ण सप्त॥
आत्मयोग अनुभावतैं, प्रेमपूर्ति गति तप्त॥९८॥
यज्ञभोग हरि शैलबलि, भोजन मुखको धर्म॥
इन्द्रिय द्वै इक गोल मधि, रसचित-बानी कर्म॥९९॥
पूजा गिरिकी यज्ञ कृति, मुखतैं आज्ञा देत॥
यज्ञभोग पहिलै कह्यो, इन्द्रवृष्टि प्रति हेत॥१००॥
चतुर्वर्ग पुरुषार्थ दै, दास्य धर्म हरि अर्थ॥
काम दिदृक्षा मोक्ष सो, चित्त श्रीकृष्ण समर्थ॥१०१॥
जागरुक इच्छा प्रबल, तातें सत्यप्रतिज्ञ॥
पुष्टि चतुर्विध देत है, इंगित कृष्ण अभिज्ञ॥१०२॥
सत्यप्रतिज्ञ करत यों, निश्चय त्रिगुणातीत॥
प्रकृतिजन्य रज सत्त्व तम, ते प्राकृतकी रीत॥१०३॥
सुनय-विशारद सहज गुन, दैवी जीवके भाग॥
गोकुलेशलीला सकल, स्थापित निज अनुराग॥१०४॥
कीर्त्तिवर्धन सुद्ध निज, कृष्ण सुद्ध त्यों भक्त॥
सबतैं मारग सुद्ध यह, सुद्ध भगवदासक्ति॥१०५॥
तत्त्वसूत्रके भाष्यतैं, कीर्ति वृद्धि विशुद्ध॥
साकृति ब्रह्म प्रपञ्च नित, अणु है जीव प्रबुद्ध॥१०६॥
व्यापक जीव असत्य जग, ब्रह्म निराकृति एक॥
मायावाद वितूल प्रति, अग्निरूप परछेक॥१०७॥
ब्रह्मवाद साकार है, शून्यवाद सब ओर॥
ध्यान शून्यकौ करत हैं, जाकौ कहुं नहिं ठौर॥१०८॥
अप्राकृत आभरण सब, प्रतिपद श्रीभागवत॥
षड्गुण मय ऐश्वर्य यह, उद्धारक उद्योत॥१०९॥
सहज स्मित सो वीर्य है, दैवीको नहिं मोह॥

असुर मोहमें मग्न है, प्रकट पराक्रम जोह॥११०॥
भूषण यश दूषणरहित स्वजन समग्र त्रिलोक॥
पुष्पमालकी गन्ध ज्यों, हरियश प्रसरि विलोक॥१११॥
भूमिभाग्य श्री धर्म है, सेवक तादृश रूप॥
गुणवैषम्य स्वभाव है, गुणसम प्रकृति अनूप॥११२॥
सुन्दर सहज स्वरूप है, नहिं मायाकृत लेस॥
ज्ञानसुद्ध तब जानिए, नित्य भगवदावेश॥११३॥
सर्वभक्तसम्प्रार्थ्य हैं, चरणाब्जरज भाग्य॥
सर्वनिवेदन प्रीतिकर, सेवा दृढ़ वैराग्य॥११४॥
कहै विसद आनन्दनिधि, अष्टोत्तरशत नाम॥
श्रद्धा बुद्धि विशुद्ध करि, अनुदिन पढ़ि विस्राम॥११५॥
हरत मृत्यु शत आयुकों, टारत नाम कुदोष॥
द्वयानन्द षड्गुन सहित, अष्टोत्तरशत तोष॥११६॥
उक्त सिद्धि निर्धार यों, वदत अग्निसुत सत्य॥
कृपादृष्टि कारन नियत, दारा कहा अपत्य॥११७॥
उक्त सिद्धिकी प्राप्ति बिनु, मुक्ति भई तौ व्यर्थ॥
उक्त सिद्धि निश्चय भई, इच्छा मुक्ति निरर्थ॥११८॥
निज सर्वोत्तम ग्रन्थमें, सदानन्द रस लक्ष्य॥
आवै तब लौं पाठ करि, फिर जब भावुक अक्ष॥११९॥
नील जलद सुस्थिर लखै, स्थिर दामिनी मिलि लहोत॥
स्थिरता मनकी होइ, जब स्थिर सुभाग्य उद्योत॥१२०॥
पुरुषोत्तमलीलाजलधि, सुस्थित विग्रह शेष॥
प्रचुर भावतैं दान निज, 'द्वारकेश' सन्देश॥१२१॥

॥ श्रीसर्वोत्तमजीनुं धोल॥

भले प्रकट्या श्रीवल्लभदेव, श्रीपुरुषोत्तम भूतल फरीजी॥
नहीं प्राकृत धर्मनो लेश, अप्राकृत निजवपु धरीजी॥१॥

करे निगम निरूपण एम, ते साकारनी स्तुति करीजी॥
महा कलिकालादिक दोष, पंडितनी दृष्टि तिमिर भरीजी॥२॥
महिमा नव जाणे जेह, ते कहीए खरा सुरअरिजी॥
वहाले दया करी मुखरूप, निजलीला प्रकट करीजी॥३॥
जेनी वाणी अति दुर्बोध, थाय सुबोध जेणे करीजी॥
तेनां अष्टोत्तरशत नाम, ते कहीए महाअघहरीजी॥४॥
जेना ऋषिवर अग्निकुमार, जगती छंद नामे धरीजी॥
श्रीकृष्ण कमलमुख देव, बीज दृष्टि करुणाभरीजी॥५॥
जेनी भक्तिमां अन्तराय, ते नाशनुं प्रयोजन सहिजी॥
आपे अधरामृतनी सिद्धि, ते मध्ये निश्चे करीजी॥६॥

ढाळ

वहालो आनन्द परमानन्द कहेवाय॥
श्रीकृष्ण कमलमुख कृपानिधि थाय॥७॥
वहालो दैवी उद्धारण प्रयत्न उपाय॥
जेना स्मरण मात्रथी आरति जाय॥८॥
श्रीभागवत गूढार्थ प्रकटाय॥
साकार ब्रह्मनो वाद स्थपाय॥९॥
वेदपारग चौद भुवन कहेवाय॥
मायावाद निराकृत सौ मिली गाय॥१०॥
सर्ववादि निरास कीधा ते लखाय॥
भक्तिमार्ग सरस कमल विकसाय॥११॥
स्त्रीशूद्रादिकने उद्धारवा समर्थ॥
जेना साधन बळथी न थाय अर्थ॥१२॥
अंगीकार मात्रथी सर्व स्वकीये॥
कीधा श्रीगोपीजन पतिने प्रिये॥१३॥
अंगीकार करे मर्यादानुसार॥
महाकरुणावंत समर्थ अपार॥१४॥

वहालो अदेयदान देवाने चतुर॥
महाउदार चरित्र करे बहुपूर॥१५॥
लीला देखाडी प्राकृतनी जेह॥
ते मिषे मोह्या सुर रिपु तेह॥१६॥
वैश्वानर श्रीवल्लभ छे नाम॥
वहालो सुंदररूप स्वजन हितकाम॥१७॥
कृष्ण भक्ति करे जनशिक्षाकाज॥
आपे अखिल इष्ट श्रीवल्लभराज॥१८॥
सर्व लक्षणथी सम्पन्न विवेक॥
श्रीकृष्ण ज्ञानदाता गुरु एक॥१९॥
पोताना आनन्द थकी बहु पुष्ट॥
एना कमल पत्रसे नेत्र संतुष्ट॥२०॥
कृपादृष्टिनी वृष्टिथी हरख्यां मन॥
ते दास दासी प्रिय पतिने अनन्य॥२१॥
रोषदृष्टि करे भक्ति शत्रु प्रजाळ॥
भक्त सेवंता सुख सेवा रसाळ॥२२॥
जीरे भक्ति विना नहीं सेवा साध्य॥
ते कारणथी कहीए दुराराध्य॥२३॥
जेना चरण सरोज दुर्लभ दर्शाय॥
तेना उग्र प्रताप त्रैलोक कहेवाय॥२४॥
वचनामृत करी पूर्या सेवकना अर्थ॥
श्रीभागवत अमृतमथन समर्थ॥२५॥
तेनो सार कहीए व्रज सुंदरीनो भाव॥
तेणे परिपूरण छे देह भराव॥२६॥
सान्निध्य मात्रथी दान करे कृष्णप्रेम॥
भक्ति मुक्ति देवानुं एहुने नेम॥२७॥
एक रासलीलामां तेमनुं तान॥
प्रभु कृपा करीने करे कथानुं दान॥२८॥

वहालो विरहना अनुभवने हित काज॥
सर्व त्याग जणाव्यो श्रीवल्लभराज॥२९॥
उपदेश कर्यो भक्तिमार्ग आचार॥
लोक मांहे कर्यो कर्ममार्ग प्रचार॥३०॥
वेदशास्त्र कह्यां यज्ञादिक दान॥
तेनुं फळ मर्यादाभक्तिनुं दान॥३१॥
प्रभु पूर्णानन्द छे पूरण काम॥
सरस्वतीना पति देव ईश अभिराम॥३२॥
वहाले सहस्त्र कह्यां पुरुषोत्तम नाम॥
निजजनने आश्रयनुं छे धाम॥३३॥
भक्तिमार्गनी रीते करवा उपदेश॥
बहु ग्रन्थ करीने टाळ्यो संशयनो लेश॥३४॥
जेने पामवाने छोड्या प्राणथी प्रिये॥
एवा भक्त समाज बिराजे श्रीये॥३५॥
आप साधन करे निज दासने काज॥
एवा समर्थ श्रीवल्लभ महाराज॥३६॥
करवा भक्ति प्रचार भूतल मांही॥
वंश कीधा पिता थइने ग्रही बांही॥३७॥
सर्वे सामर्थ्य धर्युं पोताने वंश॥
गर्व दूर करी टाळ्यो संशयनो अंश॥३८॥
प्रभु पतिव्रताना पति साक्षात॥
करे यह लोक परलोक दान विख्यात॥३९॥
जेना अन्तःकरण छे गूढ अपार॥
अंगीकृतने जणाव्यो मननो विचार॥४०॥
उपासनादिक मार्ग जे अन्य॥
तेनो मोह टाळीने कीधो सेवक अनन्य॥४१॥
कर्यो निश्यय जे भक्ति सर्वथी विशेष॥
कीधो शरण मार्गनो जुवो उपदेश॥४२॥

श्रीकृष्णना मननी जाणे वात॥
लीला कुंजबिहारी परिपूरण गात॥४३॥
कथारस मग्न सदा छे चित्त॥
विसर्युं सौ ते थकी बीजुं वित्त॥४४॥
प्रिय छे घणुं व्रजने व्रजनो वास॥
करे पुष्टिलीला एकांत विलास॥४५॥
करे भक्तेच्छा परिपूरण दान॥
नहीं निज लीलानुं कोईने ज्ञान॥४६॥
अतिमोहित जेनुं शील घणुं॥
नहिं लोक विषे आसक्ति अणु॥४७॥
निज भक्त विषे आसक्ति छे एक॥
प्रभु पावन कीधा पतित अनेक॥४८॥
जे करे पोताना गुणनुं गान॥
तेना हृदय कमल रहेवानुं स्थान॥४९॥
निज यशरूपी अमृत लहेरी॥
तेथी भींजवी सर्व रस वासना हरी॥५०॥
प्रभु पोते सर्व थकी छे पर॥
न करे तुल्यता कोई अवर॥५१॥
लीलारस अमृत तरंग बहू॥
भीजव्या छे भक्त शरीर सहु॥५२॥
रुचि आपे गोवर्द्धन गिरि वास॥
ते लीलामां छे अतिशय उल्हास॥५३॥
करे यज्ञभोग ने यज्ञकर्म॥
आपे अर्थ काम ने मोक्ष धर्म॥५४॥
प्रभु सत्य वचन छे त्रिगुणातीत॥
नीति चतुराई छे अति अगणित॥५५॥
करवा पोतानी कीर्ति प्रकाश॥
कर्युं व्याससूत्रनुं नूतन भाष्य॥५६॥

अति तुच्छ तूल्य जे मायावाद॥
करी भस्माग्नि स्थाप्यो ब्रह्मवाद॥५७॥
अप्राकृत भूषणनी अति कांति॥
हसता मुख शोभे छे बहु भांति॥५८॥
प्रभु त्रण लोकना भूषण सार॥
प्रकट्या धरणीनुं भाग्य अपार॥५९॥
प्रभु सुंदरता छे अति अनूप॥
केम वर्णन करी शकुं ए स्वरूप॥६०॥
सौ मार्ग छे पोताना जन॥
चरणारविंदनी रज जे धन॥६१॥
ए कह्यां एकसोने आठे नाम॥
श्रीवल्लभ आनन्दनुं छे धाम॥६२॥

वलण

जे कोई श्रद्धा करी नित्य गायेरे॥
तेनुं मन पहेलुं स्थिर थायेरे॥६३॥
अधरामृतनी सिद्धि पामेरे॥
तेमां संशयनुं नहीं नामेरे॥६४॥
ए पाम्या विना मोक्ष छे हीनरे॥

तेना फलमां मुक्ति छे लीनरे॥६५॥
तेथी सर्वोत्तम जप करवोरे॥
श्रीकृष्ण रसे मन भरवोरे॥६६॥
श्रीविठ्ठल उच्चरित ए नामरे॥
जे गाये पूरे तेना कामरे॥६७॥
तेनो जन्म सफल करी लेखेरे॥
श्रीव्रजभूषणजी तेनां सुख देखेरे॥६८॥

इति श्रीसर्वोत्तमजीनुं धोळ समाप्त.

॥ श्रीसर्वोत्तम-बधाई ॥

श्रीगिरिधरजी (तृतीय गृह) कृत

राग : नट

जोपै श्रीवल्लभरूप न जानै॥
तो कैसे यह लीलाके नित सम्बन्ध करि मानै॥१॥
प्राकृत निखिल धर्म नहि परसत अप्राकृत जो बखानै॥
प्रतिपादित निगमादिक वचनन साकृत सिद्धि निदानै॥२॥
कलिकालादि दोषके तमकर पंडित हू नहि जानै॥
संप्रति अविषय ताहीतैं है भुव प्रादुर्भाव कहानै॥३॥
दया देखि निज भाव प्रकटकों देत माहात्म्य दानै॥
बाणी कर जब तब तनज मुखकौ प्रादुर्भाव बखाने॥४॥
तिनकों कह्यो अबोध सबनकों तुरत सुबोध बखाने॥
अष्टोत्तशत नाम जपन कर पाप होत सब हानै॥५॥
अग्निकुमार ऋषीश्वर बरन्यों जगती छन्द बखानै॥
सेव्यरूप श्रीकृणरसानन बीज कारुनिक जानै॥६॥
करि विनियोग भक्तियोगमें प्रतिबन्धै सब हानै॥
अधरामृत रसस्वादकृष्णकौ यह सिद्धि कर मानै॥७॥
आनन्द परमानन्द रूपमय कृष्णमुखाकृति आनै॥
कृपासिन्धु दैवी जीवोद्धारक स्मृति आर्ति हि नसानै॥८॥
श्रीभागवतगूढार्थनकों प्रकट परायण जानै॥
गोवर्धनधर साकृत निश्चय स्थापक वेद बखानै॥९॥
मायावाद निराकरन कर सकल वाद बल हानै॥
मार्ग भक्ति कमल कर बरनों तिनके रविकर मानै॥१०॥
नरनारी उद्धार करनकों समरथ प्रकट कहानै॥
अंगीकृत करि गोपीपति मानव निज वश करि गहि आनै॥११॥

अंगीकृत-मर्यादा-बोधक करुना करि विभु गानै॥
नाहिंन दियौ काहुने ऐसौ दान परायन जानै॥१२॥
महाउदार चरित्र जिनके निज गावत निगम बखानै॥
करि प्राकृत अनुकृति मोहे सुररिपु जन वृंद समानै॥१३॥
जोपै अग्निरूप वल्लभरूप जलधि नाहिं आनै॥
भक्तनके हित कारन ऐसे नहिं देखे न कहानै॥१४॥
सेवक जन शिक्षाके कारन कृष्णभक्ति प्रकटानै॥
निखिल सृष्टि इष्टके दाता इच्छा यह मन मानै॥१५॥
लक्षण सर्वसम्पन्न महाप्रभु कृष्ण ज्ञान यह दानै॥
याही तै गुरु वेद पुरान पुकारे कहत परमानै॥१६॥
आनन्दभर परिपूरन अंबुजनयन देखि ललचावै॥
कृपादृष्टि आनन्द दै दास दासी प्रिया पति जानै॥१७॥
रोषदृष्टिके पात भए तें भक्त वृंद रिपु हानै॥
याही तै भक्तन करि सेवित यह निर्धार बखानै॥१८॥
सुक कौ सेवन करिये जाकौ दुराराध्य करि मानै॥
दुर्लभ चरनकमल जाके निज उग्र प्रताप कहानै॥१९॥
बानी करि पूरत सेवक जन निज सरनागति आनै॥
श्रीभागवत समुद्र मथन करि रास रूप हरि जानै॥२०॥
सान्निध्य तै जु दियौ हित हरि कौ भक्ति मुक्तिके दानै॥
लीला रास विलास एक रचि कृपा कथा परमानै॥२१॥
अनुभव विरह करनकों सबकौ त्याग एक मन मानै॥
भक्ति आचार दिखायो जनकों मारग कर्म निदानै॥२२॥
यागादिक भक्तिनके साधक मन कमे वच करि जानै॥
पूर्णानन्द पूरन रतिपति वागधीश गुन गानै॥२३॥
याही तैं विबुधेश्वर पदकी कहियत सितमें निसानै॥
कृष्ण सहस्रनामके दायक भक्त परायण मानै॥२४॥
भक्ति आचार विविध बोधनकों नाना वचन बखानै॥
अपने काज तजे प्रानन तै प्रिय पदारथ जानै॥२५॥

तादृश भक्तनि करि परिवेष्टित देकत मति हिरानै॥
दास जननके हितके कारन साधन सब दरसानै॥२६॥
सकल सक्ति यह रूप दिखावत श्रीवल्लभ हरि मानै॥
भूतल पुष्टि प्रकट करिवेकों श्रीविठ्ठल निधि आनै॥२७॥
पिता भए राख्यौ महिमा सब अपने कुल मधि जानै॥
दूरि कियौ हरि मायामतकों गर्व आप धरि मानै॥२८॥
पतिव्रता पति पारलौकिक यह लौकिक वरदानै॥
गूढ़ हृदय भक्तन मन आसय दायक पर गुन गानै॥२९॥
उपासनादिक मार्ग करिके मुग्ध मोह नसानै॥
मार्ग भक्ति प्रकट करि सबतैं वैलक्षण्य ठहरानै॥३०॥
सरन आए तै लिए ज्ञान कृष्ण हृदयकी जानै॥
प्रतिक्षण नव निकुंज लीलारस पूरन निज मन मानै॥३१॥
तिनकी कथा विवस चित व्हैके बिसरे सब गुन आनै॥
व्रजपति प्रिय ताहिकों कहियत प्रिय व्रजवास बखानै॥३२॥
लीला पुष्टि करन ए कहियत भक्त काम धर्म दानै॥
सबनि अजानी लीला इनिकी मोह रूप कहानै॥३३॥
सबतै दृढ़ आसक्त भई भक्तवस पतित पवित्र बखानै॥
यस अपने गुनगान स्रवन तै अनन्द बखानै॥३४॥
यशपीयूसलहरीन करि छांडे अन्य भाव पर जानै॥
लीलामृतरस करि पोषै सब कहत फिरत महारानै॥३५॥
गोवर्धनवास उत्साह एकचित लीलाप्रेम समानै॥
यज्ञभोग बलि यज्ञ करनकों चार वेद विकसानै॥३६॥
सत्यप्रतिज्ञा त्रिगुनातीत सुनि नोतिविसारद जानै॥
कीर्ति बढन महातत्त्व सूत्र प्रकासक मानै॥३७॥
मायावाद तूल उन्मूलन अग्नि रूप कहि गानै॥
ब्रह्मवाद उद्धारन कारनकों भूतल जन्म बखानै॥३८॥
अप्राकृत भूषन परिभूषित सहज हास मुख ठानै॥
ब्रह्मलोक भुवलोक रसातलके भूषन युत जाने॥३९॥

उधरे भाग्य अवनितलके निज सुंदर सहज कहानै॥
भक्तनि करि सेवित निज पदरज तेई बहु धन दानै॥४०॥
यह प्रकार आनन्दनिधि प्रभुके नाम पदारथ गानै॥
अष्टोत्तरगत ते कथित जे अपने सर्वस्व मानै॥४१॥
श्रद्दा निर्मल बुद्धि करि जे नित्य पढत भक्तजन मानै॥
एकचित्त करिकै अधरामृत सिद्धि याही तै जानै॥४२॥
वृथा मुक्ति बिन पाये ताके पाये यह गति मानै॥
कृष्ण पदारथ रस गहिबेकों जप करियत है रानै॥४३॥
इहि विधि द्विजकुल पतिके गिरिधर नाम बितान बखानै॥
श्रीवल्लभ श्रीविठ्ठल प्रभुकों निज अनुचर करि मानै॥४४॥

श्रीसर्वोत्तम धमार

श्रीव्रजभूषणजी (तृतीय गृह) कृत

राग : काफी

श्रीवल्लभ मेरे मन बसो हो।अबहो मेरे ललना॥
अब मोकों और न कछु सुहाय।
ए सोभा त्रिभुवनमें न समाय, वदन छबि निरखत मन न अधाय॥
ध्रुव॥१॥

कनवाडौ सीमा अति सुंदर, सुखद कांकरवारौ गाम॥
बलिजाउ मास वैसाख कृष्ण एकादसी प्रकटे श्रीलक्ष्मण धाम॥२॥
प्राकृत रूप रहित अप्राकृत, धर्म सहित साकार॥
निगम निरूपित श्रीपुरुषोत्तम, वदन अनिल अवतार॥३॥
करि करुना निज महिमा श्रीहरि, प्रकट करनके काज॥
स्ववदन अनल रूप आनन्दमय, प्रकट श्रीवल्लभराज॥४॥
दैवी जीव उद्धारन हित हरि, धर्‍यो द्विजवर अवतार॥

भूतनाथ प्रकटित मार्ग तै, नाहिन होत निस्तार॥५॥
मायावाद तम बढ्यौ भूतलमें, रवि बिनु नाहिं उजास॥
सूर श्रीवल्लभ प्रकट होइके स्रुतिपथ कियो है प्रकास॥६॥
श्रीभागवत् प्रतिपद मणिवर, भूषित भूषित अंग॥
सकल पुरान सास्त्र स्रुति स्मृति कौ, कीनौ विरोधको भंग॥७॥
श्रीभागवत अमृत उदधि रस, निज जन पान कराय॥
प्रेम सहित व्रजजनकी सेवा, सिखवत आप बताय॥८॥
निगम बखानत भूतल स्वर्गमें उदयौ इन्दु॥
परमानन्द रूप तै प्रकटे कृष्ण सेवारस सिन्धु॥९॥
साधन रहित जीव कलियुगके, दैवी किए सनाथ॥
पकरि बांह पुरुषोत्तम सौंपे, जन सिर धरि निज हाथ॥१०॥
सूत्र भाष्य सुबोधिनी कीनी, नाना ग्रन्थ निबन्ध॥
ब्रह्मवाद साकार प्रकटायो, टार्‍यो स्वीय प्रतिबन्ध॥११॥
कृपादृष्टि वृष्टि अमृतरस, सींचे दासी दास॥
रोष दृष्टि दावानल श्रीप्रभु, निजजन आनन्द बढ़ाइ॥१३॥
करि करुना करुनानिधान प्रभु, देत अभय पद दान॥
बुद्धिहीन कर्म जड जीवनकों, टार्‍यो अति अभिमान॥१४॥
श्रीवल्लभ जाकों करे अपुनो सो, व्रजपति प्रिय होइ॥
ताके कोटि जन्मके पातक, तत्क्षणमें क्षय होइ॥१५॥
अनुभव निगम ज्ञान ते जेने, श्रीवल्लभराज स्वरूप॥
भूतल भक्ति प्रचार करनकों, अन्वय लिए अनूप॥१६॥
वृंदावन श्रीगोवर्धन प्रिये, प्रिय यमुना तट वास॥
कुमुदिनीगन मन रंजनकों, सहस्र उडुपति उजास॥१७॥
कालिन्दीकी महिमा कलिमें, कीने श्रीलक्ष्मणसूत॥
अष्टसिद्धि पैयत वाही तै, कहत वचन प्रसूत॥१८॥
गोकुलनाथ सदा सुखदायक, नमो सबै करि सीस॥
लीला हृदय बसो निज जनके, ये ही विधि देत असीस॥१९॥
व्रजपति नखसिख अंग माधुरी, बरनौ अनल स्वरूप॥

मधुरे बिधान अष्टक कीर्तन तै, बस होत श्रीगोकुल भूप॥२०॥
ब्रह्मसम्बन्ध कराइके कीने, पञ्च दोष निवृत्त॥
प्रकट दिखाइ पुष्टिमारग प्रभु, जीवकों किए हैं प्रवृत्त॥२१॥
निज आज्ञा उल्लंघन दोष, दिखायो महाप्रभु आप॥
करि प्रबोध सिखवत दासनकों, मिट्यो सकल उर ताप॥२२॥
मारग भक्ति सुधा समुद्र मथि, प्रकट किए है नवरत्न॥
नव विधि चिंता निज दासनकी, निवृत्त किए हैं यत्न॥२३॥
व्रजपति सुखद विरह अनुभव कौ, सर्वसु त्याग उपदेस॥
नाम सहस्र नन्दनन्दनके, प्रकट किए हैं नरेस॥२४॥
सर्ग आदि लीला दस विधि मधि, जाकौ निरोध है नाम॥
प्रेमासक्तिव्यसन त्रिविध फल, त्रिविध लीला अभिराम॥२५॥
पुष्टि प्रवाह मर्यादा मारग, तिनकों दिखायो भेद॥
दैवी जीव क्रीडा साधन फल, सबको प्रमान है वेद॥२६॥
सकल सन्देह निवारनकों, जलभेद कियो व्रजईस॥
भक्तिभाव दिखाए सबनिकों, भेद बतावत बीस॥२७॥
बालबोध कीनों करुणानिधि, बालक पति जिय जान॥
सकल सिद्धान्त जनाय स्वीयनको, टार्‌यो सकल अज्ञान॥२८॥
देसादिक पट साधन कीने, तातै नहीं निस्तार॥
दै वरदान कृष्णाश्रय कीनों, दीने पदारथ चार॥२९॥
दृढ़ आश्रयके कारन कीने, धैर्य विवेक विचार॥
कलियुग जीव उद्धारे श्रीवल्लभ, निज-जन-प्रान-अधार॥३०॥
क्षर प्रपञ्च अक्षरतै उत्तम, त्रिगुनातीत महाराज॥
श्रीहरिवदन जो प्रकट न होते, ता बूडत वेद जहाज॥३१॥
दैवी सृष्टि हेतु करुनानिधि, श्रीहरि बांधी पाज॥
अति आवर्त सकल दुस्तरनकों, भवसागर उतरन काज॥३२॥
श्रीपुरुषोत्तम भजन हेतु तै, कीनों स्मरन पुष्टि॥
तामें मर्यादामारगकों, साधन नाहिंन इष्ट॥३३॥
श्रीवल्लभ तै विमुख जीव जेते, बूडत भवसिन्धु॥

जाकों निरोध किए श्रीवल्लभ, निसिदिन लहत आनन्द॥३४॥
कहत निरोध पदारथकों यह, सबहिन कौ अज्ञान॥
करि लक्षणा निरोध बतायौ, श्रीलक्ष्मणसुवन सुजान॥३५॥
साधन सकल किए है महाप्रभु, निज दासनिके काज॥
अति कृपालु करुनानिधि वल्लभ, सेवकजन सिरताज॥३६॥
निजानन्द पुष्टि अति विग्रह, अम्बुज-नयन-विसाल॥
षट्गुन सहित पूरन पुरुषोत्तम, निर्मल रसिक रसाल॥३७॥
त्रिविध सृष्टि भक्ति नव लक्षण, कियो विवेक विचार॥
साधन सहित मानसी सेवा, पुष्टिरथ चार॥३८॥
भूमिभाग्य सहज अति सुन्दर, श्रीपरिवृढ मुखचन्द॥
अदेय दान दक्ष अति मोहन, सुखद चरनारविन्द॥३९॥
सर्व सिद्धान्त सिरोमनि पत्र लिखि, बांध्यो गोकुलराय॥
माया तिमिर निबिड भूतलमें, निरखत ताप नसाय॥४०॥
नवलक्षणा भक्ति मधि वाई, याहि रीति विनियोग॥
रंचक वस्तु समर्पै स्नेह सों, ताकों करत प्रभु भोग॥४१॥
व्रजसुन्दरी भाव रस पूरित, आनन्दनिधिको अंग॥
ऋतु वसंत हरषत श्रीवल्लभ, निरखित लजत अनंग॥४२॥
केसरि धोती उपरना केसरि, केसरी भीनी पाग॥
श्रीवल्लभ गिरिधर वन बिहरत, अन्तर अति अनुराग॥४३॥
चोबा चन्दन अबीर कुंकुमा, उडत गुलाल सुरंग॥
ताल पखावज झांझ डफ बाजत, सरस स्वांग सुढंग॥४४॥
सबै समाज साजि वन विहरत, बोलति कोकिला कीर॥
त्रिविध पवन बहत सुखकारी, सूरसुताजूके तीर॥४५॥
अति सुगन्धमत्त मधुपगन, करत मधुर सुर गान॥
दादुर मोर चकोर रोर मानो, लेत सप्त सुर तान॥४६॥
जो सुख अमरलोकमें नाहीं, सो सुख गोकुल मांहि॥
सुखद सदा सरनागति जिनिकी, श्रीवल्लभ कल्पतरु छांहि॥४७॥
मन वच कर्म करी श्रीवल्लभ भज, नाहिंन और उपाय॥

साधन कोटि करौ जिन कोऊ, यह फल कबहुं न पाय ॥४८॥
खेलि फाग अनुराग सिन्धु बढ्यो, मची अरगजा कीच ॥
निज जन कुमुदिनीगन फूल्यौ, निरखि वल्लभ ससि बीच ॥४९॥
जो यह अनल आनन्दरूपको, निसिदिन करे विचार ॥
पावै सदा आनन्द अधरामृत, रसकृत मुक्ति प्रचार ॥५०॥
जो यह लीला सुनै सुनावै, प्रभु सन्मुख करे गान ॥
ताके हृदय कमल बिच परसत, प्रभुजी करे स्वज्ञान ॥५१॥
दास अनन्य चरन-रज-धनकी, करत बहुत मन आस ॥
श्रीवल्लभ-पदरज-प्रतापतै, गावत जन हरिदास ॥५२॥

अथ श्रीसर्वोत्तमस्तोत्र-भाषा

भारतेन्दु बाबु श्रीहरिश्चन्द्र

जयति आनन्दरूप परमानन्द कृष्णमुख कृपानिधि देवी उद्धारकारी ॥
स्मृतिमात्र सकल आरतिहरन गूढ़गुन भागवत अर्थ लीनो विचारी ॥१॥
एक साकार परब्रह्म स्थापन करन चारहु वेदके पारगामी ॥
हरन मायावाद बहुवाद नाश करि भक्तिपथकमलके दिवसस्वामी ॥२॥
शूद्र ललना लोक उद्धरन सामर्थ गोपिकाधीशकृत अंगिकारी ॥
वल्लभीकृत मनुज अंगीकृतजनन पे धरन मर्याद बहु करणधारी ॥३॥
जगतव्यापक दान करत सब वस्तुको चरित जाके सकल अतिउदारी ॥
आसुरीजनन मोहन करन हेतु यह व्याजसों प्रकृति इव रूपधारी ॥४॥
अगनिअवतार वल्लभनाम शुभरूप सदा सज्जननहित करत जानी ॥
लोकशिक्षाकरन कृष्णकी भक्ति करि निखिलजग इष्टके आप दानी ॥५॥
सर्व लक्षननि सम्पन्न श्रीकृष्णको ज्ञान प्रभु देत गुरु रूप धारी ॥
सदा स्वानन्दतुन्दिल पद्मदलसरसनयनजुग जगत सन्तापहारी ॥६॥
कृपा करि दृष्टिकी वृष्टि वर्धित किये दासिका दास पति परमप्यारे ॥

रोषदृग करन मूर्छित भक्तिद्वेष हरन भक्त जन चरन सेवित दुलारे ॥७॥
भक्तजन मुखसेव्य अति दुराराध्य दुरलभ कंजपद उग्र तेज धारी ॥
वाक्य रस करन पूरन सकल जननमन भागवतपयसिंधुमथनकारी ॥८॥
सार ताको जानि रास वनितानके भाव सो सकल पूरित सुभेसा ॥
होत सनमुख देत प्रेम श्रीकृष्णको अविमुक्ति देत लखि बहत देसा ॥९॥
रासलीलैक-तात्पर्यमय रूप मुनि देत करि कृपा बहु कथा ताकी ॥
त्यागि सब एक अनुभव करहु विरहको यहै उपदेशबानी सुनाही ॥१०॥
भक्ति-आचार-उपदेश नित करत पुनि कर्ममारग प्रवर्तन सुकीनो ॥
सदा यागादिमें भक्ति मारग एक करहु साधनहि उपदेश दीनो ॥११॥
पूर्णआनन्दमय सदा पूरनकाम वाक्यपति निखिलजग विबुध भूपा ॥
कृष्णके सहस शुभनाम निजमुख कहे भक्तिपर एक जाको सुरूपा ॥१२॥
भक्ति-आचार उपदेश हित शास्त्रके वाक्य नाना निरूपन सुकीने ॥
भक्तजन सदा घेरे रहत जिनन निज प्रेमहित प्रानप्रनत्यागि दीने ॥१३॥
निजदासअर्थ साधन अनेकन किये जदपि प्रभु आप सब शक्तिकारी ॥
एक भुव लोक प्रचलित करन भक्तिपथ कियो निज वंश पितु-रूप-धारी ॥१४॥
निज विमल वंशमें परम माहात्म्य प्रभु धर्यो सब जगत सन्देहहारी ॥
पतिव्रतापति पारलौकिकैहिक-दान करत अधिकार जनको बिचारी ॥१५॥
गूढ़मतिहृदय निज-अन्य-अनभक्तकों सकल आशय आपु कहत प्यारे ॥
जग उपासन आदि मारगादीनमें मुग्ध-जन-मोहके हरनवारे ॥१६॥
सकल मारगनसों भक्तिमारग बीच अति विलक्षनसु अनुभवहि मानै ॥
पृथक कहि शरनको मार्ग उपदेश करि कृष्णके हृदयकी बात जानै ॥१७॥
प्रतिक्षण गुप्तलीला नवनिकुंजकी भरि रही चित्तमें सदा जाके ॥
सोइ कथास्मर्ण करि चित्तआक्षिप्तवत भूलि गइ सकलसुधि आये ताके ॥१८॥
व्रजप्रिय व्रजवास अतिहि प्रिय पुष्टि लीला करन सदा एकान्तचारी ॥
भक्तजन सकल इच्छा सुपूरन करन अतिहि अज्ञात-लीला-विहारी ॥१९॥
अतिहि मोहन निरासक्तजग भक्त मात्रासक्त पतितपावन कहाई ॥
जसगान करत जे भक्त तिनके हृदय कमलमें वास जाको सदाई ॥२०॥
स्वच्छपीयूषलहरीसदृश निज जसनि तुच्छ करि अन्य रस दिये बहाई ॥

पररूप कृष्णलीला अमृत रस अखिल सींचि प्रेममें दिये भिजाई॥२१॥
सदा उत्साह गिरिराजके वासमें सोई लीला प्रेम पूर गाता॥
यज्ञहवि हरत पुनि यज्ञ आपुहि करत अतिविशद चारहु फलके दाता॥२२॥
शुभप्रतिज्ञा सत्य जगद्-उद्धारकी प्रकृतिसों दूरि बहु-नीति-ज्ञाता॥
कीर्तिवर्धन करी सूत्रको भाष्य करि कृष्ण इक तत्त्वके ज्ञानदाता॥२३॥
तूल-मायावाद-दहन हित अग्निबपु ब्रह्मको बाद जग प्रगट कीनो॥
निखिल प्राकृतरहित गुननभूषित सदा मन्द मुसुकानि मन चोरि लीनो॥२४॥
तीनहूँ लोक भूषण भूमिभाग्यवर सहज सुंदर रूप वेद सारम्॥
सदा सब भक्त प्रार्थित-चरन-कमल-रज घनरूप नौमि लक्षणकुमारम्॥२५॥
एक सत आठ ए नाम अभिराम नित प्रेमसों जे जगत माहि गावै॥
परम दुरलभ कृष्ण अधर अमृत पान स्वाद करि सुलभ ते सदा पावै॥२६॥
नाम आनन्द निधि वल्लभाधीशको विठ्ठलेश्वर प्रगट करि दिखायो॥
छोड़ि साधन सकल एक यह गहिकै परम सन्तोष 'हरिचन्द' पायो॥२७॥



॥ श्रीसर्वोत्तमजीनुं धोल ॥

भले प्रकट्या श्रीवल्लभदेव, श्रीपुरुषोत्तम भूतल फरीजी॥
नहीं प्राकृत धर्मनो लेश, अप्राकृत निजवपु धरीजी॥१॥
करे निगम निरूपण एम, ते साकारनी स्तुति करीजी॥
महा कलिकालादिक दोष, पंडितनी दृष्टि तिमिर भरीजी॥२॥
महिमा नव जाणे जेह, ते कहीए खरा सुरअरिजी॥
वहाले दया करी मुखरूप, निजलीला प्रकट करीजी॥३॥
जेनी वाणी अति दुर्बोध, थाय सुबोध जेणे करीजी॥
तेनां अष्टोत्तरशत नाम, ते कहीए महाअघहरीजी॥४॥
जेना ऋषिवर अग्निकुमार, जगती छंद नामे धरीजी॥
श्रीकृष्ण कमलमुख देव, बीज दृष्टि करुणाभरीजी॥५॥
जेनी भक्तिमां अन्तराय, ते नाशनुं प्रयोजन सहिजी॥
आपे अधरामृतनी सिद्धि, ते मध्ये निश्चे करीजी॥६॥

ढाळ

वहालो आनन्द परमानन्द कहेवाय॥
श्रीकृष्ण कमलमुख कृपानिधि थाय॥७॥
वहालो दैवी उद्धारण प्रयत्न उपाय॥
जेना स्मरण मात्रथी आरति जाय॥८॥
श्रीभागवत गूढार्थ प्रकटाय॥
साकार ब्रह्मनो वाद स्थपाय॥९॥
वेदपारग चौद भुवन कहेवाय॥
मायावाद निराकृत सौ मिली गाय॥१०॥
सर्ववादि निरास कीधा ते लखाय॥
भक्तिमार्ग सरस कमल विकसाय॥११॥

स्त्रीशूद्रादिकने उद्धारवा समर्थ॥
जेना साधन बळथी न थाय अर्थ॥१२॥
अंगीकार मात्रथी सर्व स्वकीये॥
कीधा श्रीगोपीजन पतिने प्रिये॥१३॥
अंगीकार करे मर्यादानुसार॥
महाकरुणावंत समर्थ अपार॥१४॥
वहालो अदेयदान देवाने चतुर॥
महाउदार चरित्र करे बहुपूर॥१५॥
लीला देखाडी प्राकृतनी जेह॥
ते मिषे मोह्या सुर रिपु तेह॥१६॥
वैश्वानर श्रीवल्लभ छे नाम॥
वहालो सुंदररूप स्वजन हितकाम॥१७॥
कृष्ण भक्ति करे जनशिक्षाकाज॥
आपे अखिल इष्ट श्रीवल्लभराज॥१८॥
सर्व लक्षणथी सम्पन्न विवेक॥
श्रीकृष्ण ज्ञानदाता गुरु एक॥१९॥
पोताना आनन्द थकी बहु पुष्ट॥
एना कमल पत्रसे नेत्र संतुष्ट॥२०॥
कृपादृष्टिनी वृष्टिथी हरख्यां मन॥
ते दास दासी प्रिय पतिने अनन्य॥२१॥
रोषदृष्टि करे भक्ति शत्रु प्रजाळ॥
भक्त सेवंता सुख सेवा रसाळ॥२२॥
जीरे भक्ति विना नहीं सेवा साध्य॥
ते कारणथी कहीए दुराराध्य॥२३॥
जेना चरण सरोज दुर्लभ दर्शाय॥
तेना उग्र प्रताप त्रैलोक कहेवाय॥२४॥
वचनामृत करी पूर्या सेवकना अर्थ॥
श्रीभागवत अमृतमथन समर्थ॥२५॥

तेनो सार कहीए व्रज सुंदरीनो भाव॥
तेणे परिपूरण छे देह भराव॥२६॥
सान्निध्य मात्रथी दान करे कृष्णप्रेम॥
भक्ति मुक्ति देवानुं एहुने नेम॥२७॥
एक रासलीलामां तेमनुं तान॥
प्रभु कृपा करीने करे कथानुं दान॥२८॥
वहालो विरहना अनुभवने हित काज॥
सर्व त्याग जणाव्यो श्रीवल्लभराज॥२९॥
उपदेश कर्यो भक्तिमार्ग आचार॥
लोक मांहे कर्यो कर्ममार्ग प्रचार॥३०॥
वेदशास्त्र कह्यां यज्ञादिक दान॥
तेनुं फळ मर्यादाभक्तिनुं दान॥३१॥
प्रभु पूर्णानन्द छे पूरण काम॥
सरस्वतीना पति देव ईश अभिराम॥३२॥
वहाले सहस्त्र कह्यां पुरुषोत्तम नाम॥
निजजनने आश्रयनुं छे धाम॥३३॥
भक्तिमार्गनी रीते करवा उपदेश॥
बहु ग्रन्थ करीने टाळ्यो संशयनो लेश॥३४॥
जेने पामवाने छोड्या प्राणथी प्रिये॥
एवा भक्त समाज बिराजे श्रीये॥३५॥
आप साधन करे निज दासने काज॥
एवा समर्थ श्रीवल्लभ महाराज॥३६॥
करवा भक्ति प्रचार भूतल मांही॥
वंश कीधा पिता थइने ग्रही बांही॥३७॥
सर्वे सामर्थ्य धर्युं पोताने वंश॥
गर्व दूर करी टाळ्यो संशयनो अंश॥३८॥
प्रभु पतिव्रताना पति साक्षात॥
करे यह लोक परलोक दान विख्यात॥३९॥

जेना अन्तःकरण छे गूढ अपार॥
अंगीकृतने जणाव्यो मननो विचार॥४०॥
उपासनादिक मार्ग जे अन्य॥
तेनो मोह टाळीने कीधो सेवक अनन्य॥४१॥
कर्यो निश्चय जे भक्ति सर्वथी विशेष॥
कीधो शरण मार्गनो जुवो उपदेश॥४२॥
श्रीकृष्णना मननी जाणे वात॥
लीला कुंजबिहारी परिपूरण गात॥४३॥
कथारस मग्न सदा छे चित्त॥
विसर्युं सौ ते थकी बीजुं वित्त॥४४॥
प्रिय छे घणुं व्रजने व्रजनो वास॥
करे पुष्टिलीला एकांत विलास॥४५॥
करे भक्तेच्छा परिपूरण दान॥
नहीं निज लीलानुं कोईने ज्ञान॥४६॥
अतिमोहित जेनुं शील घणुं॥
नहिं लोक विषे आसक्ति अणु॥४७॥
निज भक्त विषे आसक्ति छे एक॥
प्रभु पावन कीधा पतित अनेक॥४८॥
जे करे पोताना गुणनुं गान॥
तेना हृदय कमल रहेवानुं स्थान॥४९॥
निज यशरूपी अमृत लहेरी॥
तेथी भींजवी सर्व रस वासना हरी॥५०॥
प्रभु पोते सर्व थकी छे पर॥
न करे तुल्यता कोई अवर॥५१॥
लीलारस अमृत तरंग बहू॥
भीजव्या छे भक्त शरीर सहु॥५२॥
रुचि आपे गोवर्द्धन गिरि वास॥
ते लीलामां छे अतिशय उल्हास॥५३॥

करे यज्ञभोग ने यज्ञकर्म॥
आपे अर्थ काम ने मोक्ष धर्म॥५४॥
प्रभु सत्य वचन छे त्रिगुणातीत॥
नीति चतुराई छे अति अगणित॥५५॥
करवा पोतानी कीर्ति प्रकाश॥
कर्युं व्याससूत्रनुं नूतन भाष्य॥५६॥
अति तुच्छ तूल्य जे मायावाद॥
करी भस्माग्नि स्थाप्यो ब्रह्मवाद॥५७॥
अप्राकृत भूषणनी अति कांति॥
हसता मुख शोभे छे बहु भांति॥५८॥
प्रभु त्रण लोकना भूषण सार॥
प्रकट्या धरणीनुं भाग्य अपार॥५९॥
प्रभु सुंदरता छे अति अनूप॥
केम वर्णन करी शकुं ए स्वरूप॥६०॥
सौ मार्ग छे पोताना जन॥
चरणारविंदनी रज जे धन॥६१॥
ए कह्यां एकसोने आठे नाम॥
श्रीवल्लभ आनन्दनुं छे धाम॥६२॥

वलण

जे कोई श्रद्धा करी नित्य गायेरे॥
तेनुं मन पहेलुं स्थिर थायेरे॥६३॥
अधरामृतनी सिद्धि पामेरे॥
तेमां संशयनुं नहीं नामेरे॥६४॥
ए पाम्या विना मोक्ष छे हीनरे॥

तेना फलमां मुक्ति छे लीनरे॥६५॥
तेथी सर्वोत्तम जप करवोरे॥
श्रीकृष्ण रसे मन भरवोरे॥६६॥

श्रीविठ्ठल उच्चरित ए नामरे॥
जे गाये पूरे तेना कामरे॥६७॥
तेनो जन्म सफल करी लेखेरे॥
श्रीव्रजभूषणजी तेनां सुख देखेरे॥६८॥

इति श्रीसर्वोत्तमजीनुं धोळ समाप्त.

॥ श्रीसर्वोत्तम-बधाई ॥

श्रीगिरिधरजी (तृतीय गृह) कृत

राग : नट

जोपै श्रीवल्लभरूप न जानै॥
तो कैसे यह जन लीलाके नित्य सम्बन्ध करि मानै॥१॥
प्राकृत निखिल धर्म नहि परसत अप्राकृत जो बखानै॥
प्रतिपादित निगमादिक वचनन साकृत सिद्धि निदानै॥२॥
कलिकालादि दोषके तमकर पंडित हू नहि जानै॥
संप्रति अविषय ताहीतैं है भुव प्रादुर्भाव कहानै॥३॥
दया देखि निज भाव प्रकटकों देत माहातम दानै॥
बाणी कर जब तब निजमुखकौ प्रादुर्भाव बखाने॥४॥
तिनकों कह्यो अबोध सबनकों तुरत सुबोध बखाने॥
अष्टोत्तरशत नाम जपन कर पाप होत सब हानै॥५॥
अग्निकुमार ऋषीश्वर बरन्यों जगती छन्द बखानै॥
देवरूप श्रीकृणरसानन बीज कारुणिक जानै॥६॥
करि विनियोग भक्तियोगमें प्रतिबन्धै सब हानै॥
अधरामृत रसस्वाद कृष्णकौ यह सिद्धि कर मानै॥७॥
आनन्द परमानन्द रूपमय कृष्णमुखाकृति आनै॥

कृपासिन्धु दैवी जो उद्धारक स्मृति आरति हि नसानै॥८॥
श्रीभागवतगूढार्थनकों प्रकट परायण जानै॥
गोवर्धनधर साकृत निश्चय स्थापक वेद बखानै॥९॥
मायावाद निराकरन कर सकल वाद बल हानै॥
मार्ग भक्ति कमल कर बरनों तिनके रवि कर मानै॥१०॥
नरनारी उद्धार करनकों समरथ प्रकट कहानै॥
अंगीकृत करि गोपीपति मानव निजवश कर गहि आनै॥११॥
अंगीकृत-मर्यादा-बोधक करुना करि विभु गानै॥
नाहिंन दियौ काहुने ऐसौ दान परायन जानै॥१२॥
महाउदार चरित्र निज जिनके गावत निगम बखानै॥
करि प्राकृत अनुकृति मोहे सुररिपु जनवृंद समानै॥१३॥
जोपै अग्निरूप तन वल्लभ रूपजलधि नाहिं आनै॥
भक्तनके हित कारन ऐसे नहिं देखे न कहानै॥१४॥
सेवक जन शिक्षाके कारन कृष्णभक्ति प्रकटानै॥
निखिल सृष्टि इष्टके दाता इच्छा यह मन मानै॥१५॥
लक्षण सर्वसम्पन्न महाप्रभु कृष्णज्ञान यह दानै॥
याहीतै गुरु वेद पुरान पुकार कहत परमानै॥१६॥
आनन्दभर परिपूरन अंबुज नयन देखि ललचानै॥
कृपादृष्टि आनन्द दै दासी दास प्रिया पति जानै॥१७॥
रोषदृष्टिके पात भएतें भक्त वृंद रिपु हानै॥
याहीतै भक्तन करि सेवित यह निर्धार बखानै॥१८॥
सुखसों सेवन करिये जाकौं दुराराध्य करि मानै॥
दुर्लभ चरनकमल जाके निज उग्र प्रताप कहानै॥१९॥
बानी करि पूरत सेवक जन निज सरनागति आनै॥
श्रीभागवतसमुद्रमथन करि रासरूप हरि जानै॥२०॥
सान्निध्यतै जु दियौ हित हरिकौ भक्ति मुक्तिके दानै॥
लीला रास विलास एक रचि कृपा कथा परमानै॥२१॥
अनुभव विरह करनकों सबकौ त्याग एक मन आनै॥

भक्ति आचार दिखायो जनकों मारगकर्म निदानै॥२२॥
यागादिक भक्तिनके साधक मन क्रम वच करि जानै॥
पूर्णानन्द पूरन रतिपति वागधीश गुनगानै॥२३॥
याहीतैं विबुधेश्वर पदकी कहियत चितमें निसानै॥
कृष्ण सहस्रनामके दायक भक्तपरायण मानै॥२४॥
भक्ति आचार विविध बोधनकों नाना वचन बखानै॥
अपने काज तजे प्रानन तै प्रिय पदारथ जानै॥२५॥
तादृश भक्तनि करि परिवेष्टित देखत मति हिरानै॥
दास जननके हितके कारन साधन सब दरसानै॥२६॥
सकल सक्ति ह्वै रूप दिखावत श्रीवल्लभ हरि मानै॥
भूतल पुष्टि प्रकट करिवेकों श्रीविठ्ठलनिधि आनै॥२७॥
पिता भए राख्यौ महिमा सब अपने कुल मधि जानै॥
दूरि कियौ हरि मायामतकों गर्व आप धरि मानै॥२८॥
पतिव्रतापति पारलौकिक यह लौकिक वरदानै॥
गूढ़ हृदय भक्तन मन आसय दायक पर गुन गानै॥२९॥
उपासनादिक मारग करिके मुग्धन् मोह नसानै॥
मार्ग भक्ति प्रकट करि सबतैं वैलक्षण्य ठहरानै॥३०॥
सरन आएतै लए ज्ञान कृष्ण हृदयकी जानै॥
प्रतिक्षण नव निकुंज लीलारस पूरन निज मन मानै॥३१॥
तिनकी कथा विवस चित व्हैके बिसरे सब गुन आनै॥
व्रजपति प्रिय ताहिकों कहियत प्रिय व्रजवास बखानै॥३२॥
लीला पुष्टि करन ए कहियत भक्त काम धर्म दानै॥
सबन अजानी लीला इनकी मोहन रूप कहानै॥३३॥
सबतैं दृढ़ आसक्त भए भक्तवस पतित पवित्र बखानै॥
जस अपने गुनगानस्रवनतैं आनन्द हृदें बखानै॥३४॥
यशपीयूषलहरीन करि छांडे अन्यभाव पर जानै॥
लीलामृतरस करि पोषै सब कहत फिरत महारानै॥३५॥
गोवर्धनवास उत्साह एकचित लीलाप्रेम समानै॥

यज्ञभोग बलि यज्ञ करनकों चार वेद विकसानै॥३६॥
सत्यप्रतिज्ञा त्रिगुनातीत सुनि नीतिविसारद जानै॥
कीर्ति बढ़न महा तत्त्वसूत्र-प्रकासक मानै॥३७॥
मायावाद तूल उन्मूलन अग्निरूप कहि गानै॥
ब्रह्मवाद उद्धारन कारनकों भूतल जन्म बखानै॥३८॥
अप्राकृत भूषन परिभूषित सहज हास मुख ठानै॥
ब्रह्मलोक भुवलोक रसातलके भूषन युत जाने॥३९॥
उघरे भाग्य अवनितलके निज सुंदर सहज कहानै॥
भक्तनि करि सेवित निज पदरज तेई बहु धन दानै॥४०॥
यह प्रकार आनंदनिधि प्रभुके नाम पदारथ गानै॥
अष्टोत्तरशत ते कहियत जे अपने सर्वस्व जु मानै॥४१॥
श्रद्धा निर्मल बुद्धि कर जे नित्य पढ़त भक्तजन मानै॥
एकचित्त करिकै अधरामृत सिद्धि याहीतैं जानै॥४२॥
वृथा मुक्ति बिन पाये ताके पाये यह गति मानै॥
कृष्ण पदारथ रस गहिबेकों जप करियत है रानै॥४३॥
इहि विधि द्विजकुल पतिके गिरिधर नाम बितान बखानै॥
श्रीवल्लभ श्रीविठ्ठल प्रभुकों निज अनुचर करि मानै॥४४॥

॥ श्रीसर्वोत्तम धमार ॥

श्रीव्रजभूषणजी (तृतीय गृह) कृत

राग : काफी

श्रीवल्लभ मेरे मन बसो हो।अबहो मेरे ललना॥
अब मोकों और न कछु सुहाय।
ए सोभा त्रिभुवनमें न समाय, वदन छबि निरखत मन न अधाय॥

ध्रुव॥१॥

कनवाडौ सीमा अति सुंदर, सुखद कांकरवारौ गाम॥
बलिजाउ मास वैसाख कृष्ण एकादसी प्रकटे श्रीलक्ष्मण धाम॥२॥
प्राकृत रूप रहित अप्राकृत, धर्म सहित साकार॥
निगम निरूपित श्रीपुरुषोत्तम, वदन अनिल अवतार॥३॥
करि करुना निज महिमा श्रीहरि, प्रकट करनके काज॥
स्ववदन अनल रूप आनन्दमय, प्रकट श्रीवल्लभराज॥४॥
दैवी जीव उद्धारन हित हरि, धर्‍यो द्विजवर अवतार॥
भूतनाथ प्रकटित मार्ग तै, नाहिन होत निस्तार॥५॥
मायावाद तम बढ्‌यौ भूतलमें, रवि बिनु नाहिं उजास॥
सूर श्रीवल्लभ प्रकट होइके स्रुतिपथ कियो है प्रकास॥६॥
श्रीभागवत् प्रतिपद मणिवर, भूषित भूषित अंग॥
सकल पुरान सास्त्र स्रुति स्मृति कौ, कीनौ विरोधको भंग॥७॥
श्रीभागवत अमृत उदधि रस, निज जन पान कराय॥
प्रेम सहित व्रजजनकी सेवा, सिखवत आप बताय॥८॥
निगम बखानत भूतल स्वर्गमें उदयौ इन्दु॥
परमानन्द रूप तै प्रकटे कृष्ण सेवारस सिन्धु॥९॥
साधन रहित जीव कलियुगके, दैवी किए सनाथ॥
पकरि बांह पुरुषोत्तम सोंपे, जन सिर धरि निज हाथ॥१०॥
सूत्र भाष्य सुबोधिनी कीनी, नाना ग्रन्थ निबन्ध॥
ब्रह्मवाद साकार प्रकटायो, टार्‍यो स्वीय प्रतिबन्ध॥११॥
कृपादृष्टि वृष्टि अमृतरस, सींचे दासी दास॥
रोष दृष्टि दावानल श्रीप्रभु, निजजन आनन्द बढ़ाइ॥१३॥
करि करुना करुनानिधान प्रभु, देत अभय पद दान॥
बुद्धिहीन कर्म जड जीवनकों, टार्‍यो अति अभिमान॥१४॥
श्रीवल्लभ जाकों करे अपुनो सो, व्रजपति प्रिय होइ॥
ताके कोटि जन्मके पातक, तत्क्षणमें क्षय होइ॥१५॥
अनुभव निगम ज्ञान ते जेने, श्रीवल्लभराज स्वरूप॥
भूतल भक्ति प्रचार करनकों, अन्वय लिए अनूप॥१६॥

वृंदावन श्रीगोवर्धन प्रिये, प्रिय यमुना तट वास॥
कुमुदिनीगन मन रंजनकों, सहस्र उडुपति उजास॥१७॥
कालिन्दीकी महिमा कलिमें, कीने श्रीलक्ष्मणसूत॥
अष्टसिद्धि पैयत वाही तै, कहत वचन प्रसूत॥१८॥
गोकुलनाथ सदा सुखदायक, नमो सबै करि सीस॥
लीला हृदय बसो निज जनके, ये ही विधि देत असीस॥१९॥
व्रजपति नखसिख अंग माधुरी, बरनौ अनल स्वरूप॥
मधुरे बिधान अष्टक कीर्तन तै, बस होत श्रीगोकुल भूप॥२०॥
ब्रह्मसम्बन्ध कराइके कीने, पञ्च दोष निवृत्त॥
प्रकट दिखाइ पुष्टिमारग प्रभु, जीवकों किए हैं प्रवृत्त॥२१॥
निज आज्ञा उल्लंघन दोष, दिखायो महाप्रभु आप॥
करि प्रबोध सिखवत दासनकों,मिट्‌यो सकल उर ताप॥२२॥
मारग भक्ति सुधा समुद्र मथि, प्रकट किए है नवरत्न॥
नव विधि चिंता निज दासनकी, निवृत्त किए हैं यत्न॥२३॥
व्रजपति सुखद विरह अनुभव कौ, सर्वसु त्याग उपदेस॥
नाम सहस्र नन्दनन्दनके, प्रकट किए हैं नरेस॥२४॥
सर्ग आदि लीला दस विधि मधि, जाकौ निरोध है नाम॥
प्रेमासक्तिव्यसन त्रिविध फल, त्रिविध लीला अभिराम॥२५॥
पुष्टि प्रवाह मर्यादा मारग, तिनकों दिखायो भेद॥
दैवी जीव क्रीडा साधन फल, सबको प्रमान है वेद॥२६॥
सकल सन्देह निवारनकों, जलभेद कियो व्रजईस॥
भक्तिभाव दिखाए सबनिकों, भेद बतावत बीस॥२७॥
बालबोध कीनों करुणानिधि, बालक पति जिय जान॥
सकल सिद्धान्त जनाय स्वीयनको, टार्‍यो सकल अज्ञान॥२८॥
देसादिक पट साधन कीने, तातै नहीं निस्तार॥
दै वरदान कृष्णाश्रय कीनों, दीने पदारथ चार॥२९॥
दृढ़ आश्रयके कारन कीने, धैर्य विवेक विचार॥
कलियुग जीव उद्धारे श्रीवल्लभ, निज-जन-प्रान-अधार॥३०॥

क्षर प्रपञ्च अक्षरतै उत्तम, त्रिगुनातीत महाराज॥
श्रीहरिवदन जो प्रकट न होते, ता बूडत वेद जहाज॥३१॥
दैवी सृष्टि हेतु करुनानिधि, श्रीहरि बांधी पाज॥
अति आवर्त सकल दुस्तरनकों, भवसागर उतरन काज॥३२॥
श्रीपुरुषोत्तम भजन हेतु तै, कीनों स्मरन पुष्टि॥
तामें मर्यादामारगकों, साधन नाहिंन इष्ट॥३३॥
श्रीवल्लभ तै विमुख जीव जेते, बूडत भवसिन्धु॥
जाकों निरोध किए श्रीवल्लभ, निसिदिन लहत आनन्द॥३४॥
कहत निरोध पदारथकों यह, सबहिन कौ अज्ञान॥
करि लक्षणा निरोध बतायौ, श्रीलक्ष्मणसुवन सुजान॥३५॥
साधन सकल किए है महाप्रभु, निज दासनिके काज॥
अति कृपालु करुनानिधि वल्लभ, सेवकजन सिरताज॥३६॥
निजानन्द पुष्टि अति विग्रह, अम्बुज-नयन-विसाल॥
षट्गुन सहित पूरन पुरुषोत्तम, निर्मल रसिक रसाल॥३७॥
त्रिविध सृष्टि भक्ति नव लक्षण, कियो विवेक विचार॥
साधन सहित मानसी सेवा, पुष्टिरथ चार॥३८॥
भूमिभाग्य सहज अति सुन्दर, श्रीपरिवृढ मुखचन्द॥
अदेय दान दक्ष अति मोहन, सुखद चरनारविन्द॥३९॥
सर्व सिद्धान्त सिरोमनि पत्र लिखि, बांध्यो गोकुलराय॥
माया तिमिर निबिड भूतलमें, निरखत ताप नसाय॥४०॥
नवलक्षणा भक्ति मधि वाई, याहि रीति विनियोग॥
रंचक वस्तु समर्पै स्नेह सों, ताकों करत प्रभु भोग॥४१॥
व्रजसुन्दरी भाव रस पूरित, आनन्दनिधिको अंग॥
ऋतु वसंत हरषत श्रीवल्लभ, निरखित लजत अनंग॥४२॥
केसरि धोती उपरना केसरि, केसरी भीनी पाग॥
श्रीवल्लभ गिरिधर वन बिहरत, अन्तर अति अनुराग॥४३॥
चोबा चन्दन अबीर कुंकुमा, उडत गुलाल सुरंग॥
ताल पखावज झांझ डफ बाजत, सरस स्वांग सुढंग॥४४॥

सबै समाज साजि वन विहरत, बोलति कोकिला कीर॥
त्रिविध पवन बहत सुखकारी, सूरसुताजूके तीर॥४५॥
अति सुगन्धमत्त मधुपगन, करत मधुर सुर गान॥
दादुर मोर चकोर रोर मानो, लेत सप्त सुर तान॥४६॥
जो सुख अमरलोकमें नाहीं, सो सुख गोकुल मांहि॥
सुखद सदा सरनागति जिनिकी, श्रीवल्लभ कल्पतरु छांहि॥४७॥
मन वच कर्म करी श्रीवल्लभ भज, नाहिंन और उपाय॥
साधन कोटि करौ जिन कोऊ, यह फल कबहुं न पाय॥४८॥
खेलि फाग अनुराग सिन्धु बढ्यो, मची अरगजा कीच॥
निज जन कुमुदिनीगन फूल्यौ, निरखि वल्लभ ससि बीच॥४९॥
जो यह अनल आनन्दरूपको, निसिदिन करे विचार॥
पावै सदा आनन्द अधरामृत, रसकृत मुक्ति प्रचार॥५०॥
जो यह लीला सुनै सुनावै, प्रभु सन्मुख करे गान॥
ताके हृदय कमल बिच परसत, प्रभुजी करे स्वज्ञान॥५१॥
दास अनन्य चरन-रज-धनकी, करत बहुत मन आस॥
श्रीवल्लभ-पदरज-प्रतापतै, गावत जन हरिदास॥५२॥



उद्धृतवचनानुक्रमणिका

(अ-आ)

(इ-ई)

(उ-ऊ)

(ऋ-ॠ)

(ए-ऐ)

(क-ङ)

(च-ज)

(त-न)

(प-म)

(य-व)

(श-ह)

